काव्यप्रदीप-विमर्श

डॉ० ज्योत्स्ना मोहन

NAG
PUBLISHERS

नाग प्रकाशक
जवाहर नगर, दिल्ली-७

This Publication has been brought out with the financial assistance from the Ministry of Human Resource Development Govt of India.

नाग प्रकाशक

1. 11 A/U. A. जवाहरनगर, दिल्ली-110007
2. ४ A/ U. A. 3 जवाहरनगर, दिल्ली-110007
3. जलालपुरमाफी (चुनार-मिर्जापुर) उ० प्र०

ISBN-81-7081-192-9

प्रथम संस्करण
१९८९
मूल्य ::

नागशरण सिंह, नाग प्रकाशक, जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा प्रकाशित
तथा अमर प्रिंटिंग प्रेस, ८।२५ विजय नगर दिल्ली द्वारा मुद्रित ।

विषयानुक्रमणिका

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

शुभाशंसा

डॉ० ज्योत्स्ना मोहन की शोध-परक कृति 'काव्यप्रदीप-विमर्श' से संस्कृत साहित्यशास्त्र के अध्येताओं को परिचित कराने के लिए इन पंक्तियों को लिखने में मुझे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। 'काव्यप्रदीप' मिथिला के प्रसिद्ध विद्वान् गोविन्द ठक्कुर द्वारा कृत मम्मट के काव्यप्रकाश की एक टीका है जो काव्यप्रकाश की केवल कारिकाओं के ऊपर ही वृत्ति के रूप में लिखी गई है। 'काव्यप्रकाश' की टीकाओं में 'काव्यप्रदीप' का विशेष महत्त्व इसलिए भी है कि इसके लेखक गोविन्द ठक्कुर को काव्यप्रकाश की कारिकाएँ तो सम्मत हैं पर मम्मट-कृत वृत्ति उन्हें समुचित प्रतीत नहीं होती। इसलिए उन्होंने कारिकाओं की वृत्ति के रूप में 'काव्यप्रदीप' की रचना की जिसके ऊपर प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश ने 'उद्योत' और नैयायिक वैद्यनाथ ने 'प्रभा' नाम की टीका की है।

काव्यप्रकाश अलंकार शास्त्र की सरणि का व्यवस्थापक ग्रन्थ है, जिसके कर्ता मम्मट ने अपनी पूर्ववर्ती सारी परम्परा को समेटकर काव्यशास्त्रीय विषयों एवं सिद्धान्तों के विषय में निर्णायक दृष्टिकोण उपस्थित किया है। आचार्य मम्मट संस्कृत के वेद, दर्शन, धर्मार्थ एवं काम-विषयक शास्त्र तथा इतिहास, पुराण एवं काव्यादि निखिल वाङ्मय के अखण्ड पण्डित थे, इन्होंने 'काव्यप्रकाश' में निर्गलित प्रस्तुत कर, राजशेखर की उस उक्ति को चरितार्थ किया है जिसमें कहा गया है कि साहित्यविद्या, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति नामक अशेष चारों विद्याओं का निर्गलित है—

> आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतयश्चतस्रो विद्याः।
> पंचमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः।
>
> (काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय)

'काव्यप्रकाश' पर लिखी गयी शताधिक टीकाएँ इस बात का प्रमाण है कि यह ग्रन्थ न केवल साहित्यशास्त्र अपितु समूचे संस्कृत वाङ्मय की अंगुलिगण्य कुछ अत्यन्त महनीय कृतियों में से एक है। मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश'

की कारिकाओं की वृत्तियों को हटाकर नयी वृत्ति की रचना अपने आप में एक साहस का काम है, जिसे गोविन्द ठक्कुर ने बड़ी उत्तमता के साथ सम्पन्न किया है। आधुनिक शोध-पद्धति से गोविन्द ठक्कुर की स्थापनाओं की मम्मट के साथ तुलना करते हुए समीक्षा प्रस्तुत करने की अत्यन्त आवश्यकता थी, जिससे पाठक उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकें। डॉ० ज्योत्स्ना ने इस कार्य को सम्पन्न करने का दायित्व उठाया और उसमें सफलता प्राप्त की। लेखिका का विवेचन तुलनात्मक तो है ही ऐतिहासिक भी है, जिसमें इन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक की काव्यशास्त्रीय निखिल परम्परा का ऊहापोह करते हुए महामहोपाध्याय गोविन्द ठक्कुर की कृति 'काव्यप्रदीप' का यथावत् मूल्यांकन किया है। मेरा विश्वास है कि इनके इस ग्रन्थ के प्रकाशन से संस्कृत साहित्यशास्त्र के विद्वानों एवं जिज्ञासु छात्रों का उपकार होगा। इस उत्तम कार्य के सम्पादन के लिए मैं डॉ० ज्योत्स्ना को बधाई देना चाहता हूँ तथा कामना करता हूँ कि ये इसी प्रकार संस्कृत के ग्रन्थों एवं टीकाओं के अध्ययन द्वारा नए-नए ग्रन्थों की रचना करने में निरंतर संलग्न रहेंगी और स्वयं को यशोभागिनी बनाएँगी।

श्रावणी २०४५

—डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्ररोचना

प्रस्तुत ग्रन्थ 'काव्यप्रदीप-विमर्श' संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रख्यात ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' की श्री गोविन्द ठक्कुर द्वारा विरचित 'काव्यप्रदीप' टीका का समीक्षात्मक अध्ययन है जिसमें विदुषी लेखिका डॉ० ज्योत्स्ना मोहन ने काव्यशास्त्र के दुरूह तत्त्वों का सरल, प्रासादिक शैली में विवेचन किया है। ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आचार्य मम्मट द्वारा विरचित 'काव्यप्रकाश' अपनी सूक्ष्मता एवं विषयगत गम्भीरता के लिए प्रसिद्ध है। इस कारण लगभग १०० टीका ग्रन्थों के होने पर भी यह ग्रन्थ विद्वानों के लिए दुर्गम माना जाता है। इसलिए कहा गया है—

'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीकास् तथाप्येष तथैव दुर्गमः।'

काव्यशास्त्र के इस दुरूह ग्रन्थ पर लिखी गई टीकाओं में १६ वीं शताब्दी में श्री गोविन्द ठक्कुर द्वारा विरचित 'काव्यप्रदीप' टीका का महत्त्व अन्यतम है। इसमें काव्यप्रकाश के दुर्गम स्थलों की सुगम एवं विशद व्याख्या करते हुए अनेक स्थलों पर विश्वनाथ आदि आचार्यों द्वारा मम्मट-प्रतिपादित मतों की आलोचनाओं का खण्डन किया गया है। 'काव्य-लक्षण', 'काव्य-भेद', 'लक्षणा-निरूपण', 'रस-विवेचन' जैसे अनेक स्थलों में इनके मौलिक विचार भी प्रस्फुटित हुए हैं। ऐसे महत्त्वपूर्ण टीका ग्रन्थ का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर लेखिका ने काव्यशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र में एक प्रशंसनीय योगदान किया है।

डॉ० ज्योत्स्ना मोहन ने दस अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्र के प्रायः सभी प्रमुख तत्त्वों—काव्य के प्रयोजन, हेतु, लक्षण एवं भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि (रस विवेचन सहित), काव्य-दोष, गुण एवं अलंकार का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है, साथ ही काव्यप्रकाश का महत्त्व, गोविन्द ठक्कुर का व्यक्तित्व एवं कृतित्व तथा संस्कृत काव्यशास्त्र को इनका योगदान भी इसमें सम्यक् प्रतिपादित हुआ है। 'काव्यप्रदीप' पर उपलब्ध दो टीकाओं—'प्रभा' एवं 'उद्योत' में प्रतिपादित विचारों को भी विषय-वस्तु के विवेचनक्रम में लेखिका ने इसी ग्रन्थ में समाहित किया है। 'काव्यप्रदीप' के पूर्ववर्ती एवं

परवर्ती काव्यशास्त्र के मान्य आचार्यों भामह, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनव-गुप्त, रुय्यक, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित एवं पण्डिराज जगन्नाथ आदि के विचारों एवं ग्रन्थों का उपयोग अपने मत के प्रतिपादन में प्रबुद्ध लेखिका ने इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर किया है। अतएव 'काव्यप्रदीप-विमर्श' अपने आप में एक अद्वितीय तथा सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इस वैदुष्यपूर्ण अवदान के लिए प्रबुद्ध लेखिका डॉ० ज्योत्स्ना मोहन वस्तुतः साधुवाद की पात्र हैं।

आशा है विद्वत् जन, काव्यशास्त्र के जिज्ञासु एवं शोधार्थी इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का अभिनन्दन करेंगे।

डा० कमलाकान्त मिश्र
रीडर, संस्कृत, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली-१६

२८ अगस्त, १९८८

कृतज्ञता ज्ञापन

सर्वप्रथम मैं प्रातः स्मरणीय ईश्वर के प्रति नत हूँ जिनकी असीम अनुकम्पा से मेरा ग्रन्थ पूर्ण हो सका है। ईश्वर से पुनः पुनः यह प्रार्थना की जाती है कि उनकी महती कृपादृष्टि और स्नेह-सिंचित आशीर्वादों का वर्षण सदैव मेरे ऊपर होता रहे।

कृतज्ञता-ज्ञापन के सुखद अवसर पर मैं डा० व्रजमोहन जी चतुर्वेदी, आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रति प्रणत हूँ जिन्होंने अपनी बहुविध व्यस्तताओं के होते हुए भी ग्रन्थ की ग्रन्थियों को खोलने में सहायता प्रदान की तथा प्रस्तुत ग्रन्थ की 'शुभाशंसा' लिखकर मुझे अपना अमोघ आशीर्वाद प्रदान किया है।

डा० कमलाकान्त मिश्र, रीडर, संस्कृत, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली, के प्रति मैं अपना विनम्र कृतज्ञ भाव समर्पित करना चाहती हूँ। वास्तव में प्रस्तुत ग्रन्थ को प्रकाशित करने की प्रेरणा और प्रोत्साहन आपने ही प्रदान किया। समय-समय पर आपने मेरी अनेक समस्याओं का समाधान किया और सभी प्रकार से अपेक्षित सहायता प्रदान की। मात्र धन्यवाद करके मन उऋण नहीं हो सकता। आप मेरे हृदय की भावना को हृदय में ग्रहण करें यही विनम्रता पूर्वक निवेदन है।

मैं श्रद्धेय गुरुवर, संस्कृत काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ, डा० रविशंकर नागर, रीडर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रति आभारी हूँ जिनके निर्देश एवं सहयोग से प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना हो सकी। अपने ग्रन्थ की रचना में आपका प्रभूत स्नेह तथा ज्ञान मुझे सदैव प्राप्त रहा है। विषय-चयन से लेकर, ग्रन्थ की समाप्ति तक आपने जिस लगन, तत्परता और रुचि से निरन्तर दिशा-निर्देश की कृपा की उसे मैं कदापि भूल नहीं सकती। इस ग्रन्थ में जो कुछ कार्य हो सका उसका श्रेय आपको है, कमियों का उत्तरदायित्व मेरा है—

'यदत्र सौष्ठवं किञ्चित् तत् गुरोरेव मे नहि ।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित् तत् ममैव गुरो र्नहि ।।

उन सभी ग्रन्थकारों, विद्वानों, कृपालु सहयोगियों एवं मित्रों की भी ऋणी हूँ जिनके ग्रन्थ एवं विचार प्रस्तुत प्रबन्ध निर्माण में मेरे मार्गदर्शक रहे ।

मैं मानव संसाधन विकास मन्त्रालय के प्रति धन्यवाद करती हूँ जिनके अनुदान से मेरी कृति का प्रकाशन हो सका ।

अन्त में 'नाग प्रकाशक' एवं 'अमर प्रिंटिंग प्रैस' का यथासंभव प्रकाशन और शुद्ध मुद्रण भी स्तुत्य है ।

उपोद्घात

१. 'शब्दब्रह्मसनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित्केनचित् ।
तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत्काश्मीरदेशे पुमान् ॥'

२. 'कस्तस्य स्तुतिमाचरेत्कविरहो को वा गुणान्वेदितुं ।
शक्तः स्यात्किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः ॥'

काव्यप्रकाश ग्रन्थ के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य भीमसेन दीक्षित द्वारा कही गयी उपर्युक्त पंक्तियाँ निस्सन्देह काव्यप्रकाश के प्रणेता मम्मट के पाण्डित्य की कसौटी हैं। एकादश-शताब्दी के उत्तरार्ध में रचित काव्यप्रकाश ग्रन्थ अनेक शताब्दियाँ वीत जाने के उपरान्त आज भी साहित्यशास्त्र के गगन में देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति अपनी प्रकाश-रश्मियाँ विकीर्ण कर रहा है। मम्मट की बहुमुखी प्रतिभा एवं वैदुष्य के कारण काव्यप्रकाश इतना दुरूह एवं दुर्गम हो गया है कि समय-समय पर किसी न किसी विद्वान् का हृदय काव्यप्रकाश ग्रन्थ के अथाह सागर में छिपे सिद्धान्तों को अवगत करने के लिए उत्कण्ठित हुए बिना नहीं रहता। काव्यप्रकाश ग्रन्थ पर निर्मित १०० के लगभग टीकाएँ इस बात का ज्वलन्त प्रमाण हैं कि इस ग्रन्थ पर टीका लिखे बिना वैदुष्य की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती थी। अतएव विद्या के सभी क्षेत्रों के आचार्यों ने काव्यप्रकाश पर टीका लिखने में गौरव अनुभव किया। हम देखते हैं कि टीकाकारों में जहाँ एक ओर विश्वनाथ और रुय्यक सरीखे काव्यशास्त्रीय आचार्य हैं, वहाँ दूसरी ओर जैन माणिक्यचन्द्र, नैयायिक जगदीश एवं नरसिंह-ठक्कुर, वैयाकरण नागोजी भट्ट, मीमांसक कमलाकर भट्ट, वैष्णव बलदेव-विद्याभूषण और तान्त्रिक गोकुलनाथ हैं। इस प्रकार काव्यप्रकाश की टीकाओं की सुदीर्घ परम्परा में माणिक्यचन्द्र, श्रीनरहरिसरस्वतीतीर्थ, चण्डीदास, जयन्तभट्ट, श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य, भीमसेन दीक्षित, वामनाचार्य झलकीकर आदि अनेक टीकाकारों ने अपनी-अपनी टीकाओं के निर्माण द्वारा काव्यप्रकाश ग्रन्थ के सूक्ष्म-रहस्यों की थाह प्राप्त करने के लिए उत्तरोत्तर प्रयास किए। उसी परम्परा में गोविन्द ठक्कुर ने अपनी मौलिक प्रतिभा और प्रखर मेधा द्वारा काव्यप्रकाश के विवेच्य विषयों का सर्वथा नवीन दृष्टि से पुनराख्यान करने के लिए 'काव्यप्रदीप' टीका की रचना की।

काव्यप्रकाश की चिन्तन-परम्परा में गोविन्द ठक्कुर ने पूर्ववर्ती टीकाकारों की अपेक्षा नवीन मार्ग प्रशस्त किया है। सर्वप्रथम प्रदीपकार उच्चकोटि के नैयायिक थे। उनके समय तक दर्शन, व्याकरण आदि क्षेत्रों में गम्भीर-चिन्तन और मनन हो चुका था और नव्य-न्याय की नई प्रणाली का भी आरम्भ हो चुका था। ऐसे समय में गोविन्द ठक्कुर ने एक नवीन दृष्टि लेकर 'काव्य-प्रकाश' ग्रन्थ का मन्थन करके उसका जो सारभूत नवनीत प्राप्त किया, उसे अपनी 'काव्यप्रदीप' टीका के रूप में प्रस्तुत किया। इस दृष्टि से 'काव्यप्रदीप' टीका के स्वतन्त्र रूप से अध्ययन की आवश्यकता है और प्रस्तुत ग्रन्थ उसी आवश्यकता की पूर्ति में एक विनम्र प्रयास है।

आद्यावधि काव्यप्रदीप टीका पर कोई ऐसा स्वतन्त्र कार्य नहीं हुआ है जो गोविन्द ठक्कुर की उपलब्धियों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करता हो। कुछ लब्ध-प्रतिष्ठ आधुनिक विद्वानों ने 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ के पर्यालोचन के संदर्भ में कहीं-कहीं गोविन्द ठक्कुर के मत का उल्लेख करते हुए 'प्रदीप' सम्वन्धी संक्षिप्त टिप्पणियाँ उद्धृत की हैं, जैसे एस. एस. सुखटणकर द्वारा सम्पादित काव्यप्रकाश और ए. वी. गजेन्द्र गदकर द्वारा सम्पादित काव्यप्रकाश (१, २, ३, १० उल्लास) के अन्त में टिप्पण के अन्तर्गत गोविन्द ठक्कुर के मत का उल्लेख किया गया है और यत्र-तत्र खण्डन भी है। साहित्याचार्य पं० मधुसूदन शास्त्री ने भी 'काव्यप्रकाश' का अनुशीलन करते हुए 'बालक्रीड़ा' टीका में कहीं-कहीं गोविन्द ठक्कुर की दृष्टि से काव्यप्रकाश की कारिकाओं की व्याख्या की है। इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर का प्रसंगवश उल्लेख अवश्य हुआ है परन्तु अधिकांशतः वह आनुषंगिक है। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का गंभीर एवं व्यापक अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

'काव्यप्रदीप' टीका का अध्ययन कई दृष्टियों से सम्भव है। अतएव 'प्रदीप' टीका में विवेचित सामग्री का विभिन्न दृष्टियों से अनुशीलन एक ही ग्रन्थ में करना अत्यन्त कठिन हैं। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में 'काव्यप्रदीप' में ही व्यक्त गोविन्द ठक्कुर के नैयायिक एवं कवि रूप के अध्ययन का प्रयास नहीं किया है, कहीं-कहीं संकेत-मात्र दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में 'प्रदीप' टीका का सम्यक् रूप से अध्ययन करने के लिए अन्य टीकाओं के अध्ययन की आवश्यकता अनुभव करते हुए, 'काव्यप्रदीप' टीका से काल और विषय से साम्य रखने वाली कुछ टीकाओं का ऐतिहासिक-तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है जिससे प्रदीप टीका का वैशिष्ट्य उभरकर सामने आए।

'प्रदीप' टीका के विवेच्य विषयों का समीक्षात्मक मूल्यांकन करने के लिए अतीत की उन उपलब्धियों को सामने रखना आवश्यक था जो गोविन्द ठक्कुर के समक्ष आ चुकी थीं। विषय का विस्तार अध्ययन में गहरे पैठने का अवकाश नहीं देता, अतएव काव्यप्रकाश की सभी टीकाओं को न लेकर कुछ विशेष टीकाओं का अवलम्ब लिया है जिनका काल और विषय की दृष्टि से प्रदीप टीका से साम्य है। इस दृष्टि से 'काव्यप्रदीप' से पूर्ववर्ती टीकाओं में माणिक्यचन्द्र की 'संकेत' टीका, श्री नरहरिसरस्वतीतीर्थ की 'बालचित्तानुरंजनी' टीका, चण्डीदास की 'दीपिका' टीका, आचार्य विश्वनाथ की 'दर्पण' टीका, श्री वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य की 'सारबोधिनी' टीका तथा परवर्ती टीकाओं में श्री यशोविजयजी की 'काव्यप्रकाश' टीका, वैद्यनाथ की 'प्रभा' टीका, नागेशभट्ट की 'उद्योत' टीका, भीमसेन दीक्षित की 'सुधासागर' टीका, वामनाचार्य झलकीकर की 'बालबोधिनी' आदि टीकाएँ महत्त्वपूर्ण हैं तथा इन टीकाओं का प्रदीप टीका के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इन टीकाओं के अध्ययन का विशेष उद्देश्य यह है कि प्रथम तो उपर्युक्त सभी टीकाएँ सुगमता से उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त 'काव्यप्रकाश' की प्राचीन प्रारंभिक टीकाएँ होने के कारण 'संकेत' और 'बालचित्तानुरंजनी' 'प्रदीप' टीका के अध्ययन में विशेष सहायक हैं। 'दीपिका' टीका में अधिकांश स्थलों पर काव्यप्रकाश की मान्यताओं का खण्डन किया गया है जिनका उल्लेख गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में किया है। गोविन्द ठक्कुर ने साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ को 'काव्यप्रदीप' में स्थान-स्थान पर उद्धृत किया है, अतएव यथास्थान विश्वनाथ की 'दर्पण' टीका का भी विवेचन किया गया है। नैयायिक श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य की 'सारबोधिनी' टीका का अप्रत्यक्ष रूप से 'काव्यप्रदीप' टीका पर प्रभाव है। 'सुधासागर' टीका तो 'काव्यप्रदीप' का अनुकरण करती है। 'प्रभा' और 'उद्योत' टीकाएँ 'प्रदीप' के विवेचन को सरलता की ओर उन्मुख करती हैं। कुछ अन्य टीकाओं का भी ग्रन्थ में यत्र तत्र उल्लेख किया गया है जैसे नरसिंह ठक्कुर की 'नरसिंहमनीषा' तथा कमलाकर भट्ट की 'कमलाकरी'। ये टीकाएँ वा१नाचार्य झलकीकर की 'बालबोधिनी' में उल्लिखित हैं।

'काव्यप्रदीप' टीका के दस उल्लासों में गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में प्रतिपादित सभी विषयों का गम्भीरतापूर्वक चिन्तन मनन किया है जो विशेष रूप से प्रदीपकार की मौलिकता के परिचायक हैं। जिन विषयों का विवेचन गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के समान ही किया है, उन विषयों का

निरूपण विस्तार भय से नहीं किया गया है, जैसे दोष-प्रकरण में अर्थ-दोष, वाक्यदोष और रस-दोषों में विशेष दोषों का ही विवेचन किया गया है, शेष को छोड़ दिया है। इसी प्रकार अलंकार-विवेचन में गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के ६ शब्दालंकारों और ६१ अर्थालंकारों का निरूपण किया है। परन्तु कहीं-कहीं मम्मट के अलंकार-विवेचन में और गोविन्द ठक्कुर के अलंकार-विवेचन में इतना अधिक साम्य है कि वे अलंकार प्रदीपकार की मौलिकता के सूचक न होने के कारण विशेष चर्चा का विषय नहीं हैं। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थ में ऐसे अलंकारों का भी विवेचन नहीं किया गया है। परन्तु कुछ ऐसे अलंकार हैं जिनके विवेचन में 'काव्यप्रदीप' के टीकाकारों ने गोविन्द ठक्कुर की अपेक्षा अधिक विस्तृत चर्चा की है, उन अलंकारों का भी संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

काव्यप्रदीप टीका के साथ-साथ मूल ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। अतः प्रथम अध्याय में 'काव्यप्रकाश का महत्त्व' और काव्यप्रकाश की कुछ प्रसिद्ध टीकाओं का 'कालक्रमानुसार ऐतिहासिक अध्ययन' प्रस्तुत किया गया है।

काव्यप्रकाश ग्रन्थ को पल्लवित, पुष्पित करने में सभी टीकाओं का न्यूनाधिक रूप में योगदान है परन्तु नवीन युग का सूत्रपात करती हुई गोविन्द-ठक्कुर की 'काव्यप्रदीप' टीका ने काव्यप्रकाश के विवेच्य विषयों को व्यवस्थित, सुनियोजित एवं सारगर्भित ढंग से प्रस्तुत करते हुए उसे प्रकाश पुंज की चरम-दीप्ति में प्रोद्भासित किया है। गोविन्द ठक्कुर ऐसे वंश में उत्पन्न हुए जिसमें परम्परा से विद्याओं का अध्ययन होता आ रहा था और जिसमें अनेक विद्या-वैभव संपन्न विद्वान् उत्पन्न हुए थे। फलस्वरूप ज्ञान का वह भंडार विरासत के रूप में प्रदीपकार को उपलब्ध हुआ। इस प्रकार एक नवीन दृष्टि लेकर पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के मध्य में गोविन्द ठक्कुर ने काव्यप्रकाश पर टीका लिखते समय अपनी नवीन मान्यताओं को स्थापित किया तथा काव्यप्रकाश के विवादग्रस्त स्थलों का सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण दृष्टि से परिष्कार भी किया है।

यद्यपि गोविन्द ठक्कुर ने नूतन काव्य-सिद्धान्त की उद्भावना नहीं की है, तथापि काव्यप्रकाश की टीकाओं की श्रेणी में प्रदीपकार की कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। विभिन्न आचार्यों एवं टीकाकारों को आधार बनाते हुए गोविन्द ठक्कुर ने अपने स्वतन्त्र विचारों का प्रकाशन करने में संकोच नहीं किया है। अन्य टीकाकारों की अपेक्षा गोविन्द ठक्कुर का मौलिक चिन्तन

ही उनकी मेधावी दृष्टि का परिचायक है। 'काव्यप्रदीप' से पूर्ववर्ती या परवर्ती टीकाओं के परिशीलन से ज्ञात होता है कि इन टीकाओं में टीकाकार के मौलिक व्यक्तित्व का अभाव है। वे टीकाएँ या तो अपने से पूर्ववर्ती किसी प्रतिष्ठित आचार्य के ग्रन्थ का पूर्णतः अनुकरण करती हैं या अपनी पूर्ववर्ती टीकाओं का ही अनुकरण हैं। जैसे रस-निष्पत्ति की व्याख्या में माणिक्यचन्द्र ने 'अभिनवभारती' में उद्धृत भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक आदि का मत पूर्णतः वैसे ही अपनी 'संकेत' टीका में उद्धृत कर दिया है जैसा कि 'अभिनवभारती' में विद्यमान है। इसी प्रकार अलंकार-विवेचन में संकेतकार ने रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व' का अक्षरशः अनुकरण किया है। 'काव्यप्रदीप' के टीकाकार नागेश भट्ट ने 'उद्योत' टीका में अनेक स्थलों पर आचार्य जगन्नाथ और आचार्य अप्पय्य दीक्षित के मत का पूर्ण रूप से अनुकरण किया है। आश्चर्य की वात तो यह हैं कि माणिक्यचन्द्र तथा नागेश भट्ट ने इन आचार्यों का अनुकरण करते हुए कहीं भी उनका नामोल्लेख नहीं किया है। 'टीकाओं' में 'सारबोधिनी' टीका, चक्रवर्ती की 'विस्तारिका' का पूर्णतः अनुसरण करती है। सिद्धिचन्द्रगणि की 'काव्यप्रकाशखण्डन' टीका 'सार-बोधिनी' टीका की अनुगामिनी है। श्री यशोविजयीजी की 'काव्यप्रकाश' टीका और आचार्य भीमसेन दीक्षित की 'सुधासागर' टीका कतिपय स्थलों को छोड़कर 'काव्यप्रदीप' टीका का अनुकरण है। इस प्रकार अनुकरण-मात्र होने से उपर्युक्त टीकाओं के विवेचन में टीकाकार का व्यक्तित्व गौण हो गया है और उनके विचारों की मौलिक अभिव्यक्ति न हो सकी। उपर्युक्त टीकाओं के अतिरिक्त कुछ टीकाएँ 'काव्यप्रकाश' का खण्डन करती हैं जैसे चण्डीदास की 'दीपिका' टीका, सिद्धिचन्द्र की 'काव्यप्रकाशखण्डन' आदि टीकाएँ। कुछ टीकाएँ मम्मट के विवेचन से इतना अधिक साम्य रखती हैं कि वे टीकाएँ काव्यप्रकाश की विवृत्ति-मात्र ही हैं। इस दृष्टि से यदि प्रदीप टीका का मूल्यांकन करें तो हम देखते हैं कि प्रदीप टीका उपर्युक्त टीकाओं की भाँति किसी आचार्य के ग्रन्थ का अथवा किसी पूर्ववर्ती टीका का अन्धानु-करण नहीं करती है। 'काव्यप्रदीप' टीका की उपादेयता इस बात में हैं कि वह प्राचीन मान्यताओं की उपेक्षा न करते हुए, अतीत की समस्त उपलब्धियों को अपने में समेटकर, गोविन्द ठक्कुर के मौलिक-चिन्तन को प्रतिफलित करती है। गोविन्द ठक्कुर ने जहाँ कहीं भी पूर्ववर्ती आचार्यों का मत उद्धृत किया है वहाँ उनका नामोल्लेख भी किया है। जैसे 'ध्वनिकारेणोक्तम्'; 'दण्ड्यप्याह', 'अर्वाचीनास्तु'। इससे स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर वैचारिक

पुष्टि एवं स्वमत प्रतिपादन के लिए पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम निर्देश द्वारा उनके प्रति अपने ऋण को स्वीकार करने में संकोच नहीं करते।

'काव्यप्रदीप' टीका में काव्यप्रकाश के विषयों का विवेचन करते हुए गोविन्द ठक्कुर की मौलिक, सूक्ष्मावगाहिनी एवं प्रौढ़ बुद्धि के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। गोविन्द ठक्कुर का 'काव्यलक्षण' विवेचन आद्योपान्त मौलिक हो उठा है। मम्मट का महत्त्व अक्षुण्ण रखते हुए गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के 'काव्यलक्षण' का परिष्कार किया हैं। मम्मट ने अपने से पूर्व लगभग १२०० वर्षों में किए गए भामह, दण्डी आदि के काव्य-लक्षणों का नवनीत लेकर उसमें मौलिकता का पुट देकर 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' काव्य-लक्षण दिया, जो परवर्ती युग में विश्वनाथ आदि आचार्यों द्वारा आलोचना का विषय वना। परन्तु गोविन्द ठक्कुर जैसे टीकाकारों की तर्क एवं प्रतिभा की अग्नि में तपा मम्मट का काव्य-लक्षण आलोचना की कसौटी पर उत्तीर्ण होकर एक नई चमक लेकर उपादेय बना। मम्मट ने काव्य में अस्फुट अलंकारों की स्थिति मानी, परन्तु गोविन्द ठक्कुर का यह कथन—'नीरसे स्फुटालंकारविरहिणि न काव्यत्वम्। यतो रसादिरलंकाराश्च द्वयं चमत्कारहेतुः तथा च यत्र रसादीनामवस्थानं न तत्र स्फुटालंकारापेक्षा···' या 'नीरसेऽप्यस्फुटालंकारे काव्यत्वमिष्टमेवेति ऋजुः पन्थाः', मम्मट के काव्य-लक्षण का परिष्कार करता है। गोविन्द ठक्कुर के उपर्युक्त कथन से यह तथ्य भी प्रकाशित होता है कि उन्होंने सर्वत्र मम्मट के भावों का समर्थन नहीं किया अपितु जहाँ कहीं भी उन्हें मम्मट के विचार स्वीकार नहीं हुए वहाँ स्वमत के प्रतिपादन में संकोच नहीं किया।

'रस-विवेचन' में गोविन्द ठक्कुर की मौलिकता का नया रूप दिखाई पड़ता है। गोविन्द ठक्कुर ने पूर्वपक्ष के रूप में लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक के मत को प्रस्तुत किया और खण्डन भी किया तथा अन्त में अभिनवगुप्त के मत को उद्धृत करते हुए 'अभिव्यक्तिवाद' को रस-भूमि पर प्रतिष्ठित किया, जबकि मम्मट के विवेचन में ऐसा नहीं है। उन्होंने भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मतों को उद्धृत अवश्य किया है परन्तु किसी मत का खण्डन नहीं किया है, जिससे यह जानने में कठिनाई अनुभव होती है कि मम्मट का अभिप्रेत मत कौन सा है।

'रस-विवेचन' में ही गोविन्द ठक्कुर की महान् उपलब्धि है—'साधारणीकरण' सिद्धान्त की व्याख्या। भट्टनायक के मत का विवेचन करते हुए गोविन्द ठक्कुर का यह संक्षिप्त कथन 'साधारणीकरणं चैतदेव यत् सीता-

विशेषांकामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्ध-विशेषानवच्छिन्नत्वेन' साधारणीकरण सिद्धान्त को विशेष महत्त्व प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त शान्त रस विषयक चर्चा, शक्ति विवेचन, गुण विवेचन, दोषों की विस्तृत चर्चा, अलंकारों का विशद विवेचन आदि अनेक ऐसे विषय हैं जहाँ गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की मान्यताओं का दृढतापूर्वक विश्लेषण करके अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। गोविन्द-ठक्कुर ने ग्रन्थकार के प्रति पूर्ण आस्था रखते हुए, उत्तम पद्धति से विषय के अन्तरंग तत्त्वों को प्रस्फुटित करते हुए, दुर्बोध अंशों की स्पष्ट व्याख्या करते हुए सफल टीकाकार के दायित्व का समुचित निर्वाह किया है। जहाँ तक टीका के नामकरण की सार्थकता का प्रश्न है उसका सटीक समाधान टीका के आद्योपान्त पढने पर ही मिलता है, पल्लवग्राही अध्ययन से नहीं। गोविन्द ठक्कुर ने 'प्रदीप' टीका में भाषा के लालित्य को बनाए रखा है। प्रदीपकार ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए सूक्ष्मार्थ-बोधिनी एवं परिपक्व भाषा का प्रयोग किया है, परन्तु कहीं-कहीं उनके नव्य-न्याय के अध्ययन ने भाषा को दुरूहता प्रदान की है।

गोविन्द ठक्कुर विरचित 'काव्यप्रदीप' टीका के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत ग्रन्थ दस अध्यायों में विभक्त है। प्रदीपकार की सामञ्जस्यपूर्ण दृष्टि, अगाध वैदुष्य, सूक्ष्म विषय-विवेचन तथा मौलिकता के विविध रूप हमारे समक्ष आते हैं जिनका विश्लेषण प्रस्तुत ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक किया गया है।

यहाँ यह बता देना अपेक्षित है कि ग्रन्थ विस्तार के भय से प्रस्तुत ग्रन्थ में 'काव्यप्रकाश' और 'काव्यप्रदीप' टीका के उद्धरणों को पूर्णतः नहीं आंशिक रूप से ही उद्धृत किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ के दस अध्यायों में 'काव्यप्रदीप' टीका का अध्ययन न होकर काव्यशास्त्र के प्रमुख विषयों का ही अध्ययन है। इस विवेचन में ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि का अवलम्ब लेकर गोविन्द ठक्कुर के विचारों का परीक्षण हुआ है।

विषय-गम्भीर तथा नैयायिक शैली में रचित 'काव्यप्रदीप' टीका के विवेचन में त्रुटियाँ तथा स्खलन हो सकते हैं। अतः मैं 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार माणिक्यचन्द्र के शब्दों में यह कहना चाहती हूँ—

अदृष्टदोषात् स्मृतिविभ्रमाच्च यदर्थहीनं लिखितं मयाऽत्र।
तत्सर्वमार्यैः परिशोधनीयं, प्रायेण मुह्यन्ति हि ये लिखन्ति।।

विजयादशमी
आश्विन् २०४५

ज्योत्स्ना मोहन

प्रथम अध्याय

काव्यप्रकाश का महत्व

एकादश शताब्दी के उत्तरार्ध में युगान्तकारी कृति की रचना करके मम्मट ने अपनी प्रखर मेधा द्वारा अतीत के शास्त्रीय सिद्धान्तों को समन्वित करते हुए उन्हें यथास्थान विन्यस्त किया तथा परवर्ती साहित्य शास्त्र को आलोकित किया। 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन इतनी सूक्ष्म दृष्टि से किया गया है कि जिसके परिणामस्वरूप यह ग्रन्थ साहित्यशास्त्र में ग्रन्थमणि माना जाने लगा है।[1] मम्मट की सतत साधना 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में प्रतिफलित हुई है। मम्मट अलंकारशास्त्र के प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने साहित्य-जगत् को नवीन दिशा प्रदान की। यदि काव्यप्रकाश ग्रन्थ पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो यह सत्य चरितार्थ होता है कि 'काव्यशास्त्र' ग्रन्थ का महत्त्व उसमें ही निहित विषय-विवेचन की गहनता के कारण उभरा है।

मम्मट का समय और जीवन परिचय

मम्मट की निश्चित तिथि के विषय में प्रामाणिक आधारों का अभाव है। मम्मट ने स्वयं अपने समय का उल्लेख नहीं किया है। अतएव अन्तःसाक्ष्य और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर मम्मट का समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य भाग माना गया है। मम्मट के जीवन परिचय का संकेत उनकी कृति काव्यप्रकाश की टीकाओं में उपलब्ध है। मम्मट सरस्वतीधाम काश्मीर में उत्पन्न, शैवमतानुयायी, जैयट के पुत्र थे और उन्होंने काशी में आकर विविध शास्त्रों का अध्ययन किया था।[2]

---

१. गोकुलनाथ उपाध्याय ने काव्यप्रकाश को ग्रन्थमणि माना है —
'मन्थान-मन्दर-गिरि-भ्रमण-प्रयत्नाद् रत्नानि कानिचन केनचिदुद्धृतानि।
नन्वस्मि साम्प्रतमपार-पयोधिपूर-गर्भावटस्थगित एष गणो मणीनाम्॥
(काव्यप्रकाश टीका विवरण, पृ० ३०४)

२ (i) 'इति शिवागमप्रसिद्ध्या षट्त्रिंशत्तत्त्वदीक्षा-क्षपित-सकल-मल-पटलः प्रकटित-चिदानन्दघनो राजानककुल-तिलको 'मम्मट' नामा देशिकवर...' इत्यादि पंक्तियां। (निदर्शना टीका, बालबोधिनी टीका में उद्धृत पृ० ६)

काव्यप्रकाश की विषय-योजना

'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ के दस उल्लास हैं। दस उल्लासों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रथम उल्लास—काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, काव्य लक्षण तथा काव्य भेदों की चर्चा।

द्वितीय उल्लास—वाचक, लाक्षणिक तथा व्यंजक शब्दों तथा वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थों का वर्णन।

तृतीय उल्लास—आर्थी-व्यंजना का निरूपण।

चतुर्थ उल्लास—ध्वनि भेद निरूपण। रस सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा।

पंचम उल्लास—गुणीभूत व्यंग्य का वर्णन तथा व्यंजना की स्थापना।

षष्ठ उल्लास—चित्रकाव्य का निरूपण।

सप्तम उल्लास—दोषों का विस्तृत विवेचन।

अष्टम उल्लास—गुणों का विवेचन, गुण तथा अलंकार का भेद, तीन गुणों का निर्णय।

नवम एवं दशम उल्लास—शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन।

इस प्रकार नाट्य-संबंधी शास्त्र को छोड़कर काव्यशास्त्र के सभी अंगों का व्यापक विवेचन किया गया है।

काव्यप्रकाश ग्रन्थ के अन्त में कही गई यह उक्ति—

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः॥

(काव्यप्रकाश अन्तिम पद्य)

मम्मट के टीकाकारों में भ्रम उत्पन्न करती है कि काव्यप्रकाश ग्रन्थ की रचना स्वयं मम्मट ने की या मम्मट के साथ किसी अन्य व्यक्ति का भी सहयोग है। प्रसिद्धि यह है कि मम्मट ने परिकर अलंकार पर्यन्त काव्यप्रकाश ग्रन्थ की

(ii) 'सुधासागर' टीका में भी मम्मट का परिचय है—

तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीरदेशे पुमान्॥
श्रीमज्जैयटगेहिनी सुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः। श्रीमन्मम्मटसंज्ञयाश्रित-
तनुं सारस्वतीं सूचयन्॥

+ + +

श्रीमान् कैयट औवटौ ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो,
भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतः।

(सुधासागर, आरंभिक पद्य)

रचना की थी और उसके पश्चात् अलकसूरि या अल्लटसूरि ने इसे पूर्ण किया। मम्मट के टीकाकार माणिक्यचन्द्र, सोमेश्वर भट्ट तथा निदर्शनाकार ने भी यह माना है कि काव्यप्रकाश की रचना 'द्विखण्ड' है और दो व्यक्तियों द्वारा रचित है।[1]

काव्यप्रकाश की शैली

आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ की रचना नवीन पद्धति से की है। आचार्य भामह, आचार्य दण्डी, आचार्य रुद्रट आदि के ग्रन्थ पद्य रूप में है। परन्तु मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के तीन अंश हैं-- १. कारिका, २. वृत्ति, ३. उदाहरण। कारिकाओं की संख्या १४२ है, इन कारिकाओं का २१२ सूत्रों में विभाजन है। परन्तु टीकाकार गोविन्द ठक्कुर, विद्याचक्रवर्ती, नागेश भट्ट, वैद्यनाथ, भीमसेन दीक्षित ने कारिकाओं का सूत्र' नाम से व्यवहार किया है। ग्रन्थ में ६०३ पद्य उदाहरण रूप में उद्धृत किए गए हैं जो विभिन्न ग्रन्थों में संग्रहीत हैं। काव्यप्रकाश की कारिका और वृत्ति के विषय में दो मत हैं। प्रथम मत विद्याभूषण, महेश्वर आदि टीकाकारों का है जो यह मानते हैं कि कारिकाएँ भरत मुनि की हैं और वृत्ति मम्मट की। द्वितीय मत में माणिक्यचन्द्र, जयन्त, सरस्वतीतीर्थ, सोमेश्वर, वैद्यनाथ आदि टीकाकारों ने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि कारिकाकार और वृत्तिकार में भेद नहीं है। श्रीवामनाचार्य झलकीकर तथा म. म. काणेजी आदि अनेक विद्वानों की यह धारणा है कि कारिका और वृत्ति भाग मम्मट द्वारा ही रचित है।[2] यह स्पष्ट है कि आचार्य मम्मट ने ही कारिकाओं की रचना की है परन्तु कहीं-कहीं अन्य आचार्यों द्वारा रचित कारिकाएं भी कुछ परिवर्तन के साथ अपने ग्रन्थ में

---

१. (क) अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण समापितः।
इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशादखण्डायते ॥ (संकेत पृ० ३०४)

(ख) अथ च सुधियां विकासहेतुर्ग्रन्थोऽयं कथंचिदपूर्णत्वादन्येन पूरितशेष इति द्विखण्डोऽपि।'
(सोमेश्वर कृत 'संकेत', बालबोधिनी में उद्धृत पृ० ७८९)

(ग) कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायालकसूरिणा ॥ (निदर्शना वही पृ०)

२. तत्र सर्वासामपि कारिकाणां परिकरालंकारपर्यन्तायाः वृत्तेः तत्पर्यन्तस्योदाहरणोपन्यासस्य च कर्ता मम्मट एव। (बालबोधिनी, पृ० ११)

उद्धृत की हैं।[1] मम्मट की कारिकाएं संक्षिप्त अर्थ को सूचित करती हैं, वृत्ति के द्वारा ही उन कारिकाओं को स्पष्ट किया गया है। परन्तु कहीं-कहीं वृत्ति-ग्रन्थ भी इतना संक्षिप्त है कि वहां मम्मट के अभिप्राय को समझना कठिन हो जाता है। अत: वहां काव्यप्रकाश की टीकाओं के अध्ययन द्वारा पाठक की जिज्ञासा शान्त होती है। मम्मट ने ग्रन्थ में संस्कृत उदाहरणों के अतिरिक्त प्राकृत के उदाहरणों को भी उद्धृत किया है।

काव्यप्रकाश का आधार

'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में मम्मट ने प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों को यथावश्यक उद्धृत किया है तथा यथावसर युक्तियुक्त समीक्षा भी की है। 'काव्यप्रकाश' में मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती जिन आचार्यों का नाम-निर्देश किया वे हैं— भरत, महाभाष्यकार, लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक, उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त। भामह और वामन को बिना नामोल्लेख से उद्धृत किया है। उदाहरण रूप में जिन कवियों या काव्यों को उद्धृत किया है वे हैं— कालिदास, भवभूति, अमरुशतक, कर्पूरमंजरी, कुट्टनीमत, चण्डीशतक, नागानन्द, बालरामायण, भट्टिकाव्य, भर्तृहरि, भास, माघ, रत्नावली, राघवानन्द, विज्जका, विद्धशालभञ्जिका, विष्णुपुराण, वेणीसंहार, हयग्रीववध, हरविजय आदि। इन कवियों के उदाहरणों को उद्धृत करते हुए कवि या कवि की कृति का नाम-निर्देश नहीं किया है।

काव्यप्रकाश की टीकाएँ

'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका तथाप्येष तथैवदुर्गम:' टीकाकार महेश्वर भट्टाचार्य द्वारा कही उक्ति इस तथ्य की सत्यता को प्रमाणित करती है कि काव्यप्रकाश ग्रन्थ की रचना अत्यन्त गंभीर, सारगर्भित एवं सूक्ष्म रहस्यों से परिपूर्ण है। 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ के उद्भव के कुछ समय पश्चात् ही इस ग्रन्थ में छिपे सारतत्त्व को प्राप्त करने के लिए विभिन्न विद्वानों द्वारा टीका निर्माण का कार्य आरंभ हो गया। बारहवीं शताब्दी से लेकर आज तक निरन्तर नवीन शैली में रची गई टीकाएँ इस बात की प्रतीक हैं कि 'काव्यप्रकाश' के प्रति सृजनशील विद्वानों का हृदय आकर्षित हुए बिना नहीं रहता।

---

१. जैसे 'शृङ्गारहास्य' 'रतिर्हासश्च' इत्यादि भरतमुनि की कारिकायें हैं। (काव्यप्रकाश—चतुर्थ-उल्लास)
'निर्वेदग्लानि' इत्यादि कारिका में आंशिक परिवर्तन किया है। सप्तम-उल्लास में 'कर्णावतंसादिपदे' वामनाचार्य के सूत्र तथा वृत्ति से लिया है।

आज सौ के लगभग टीकाएं होने पर भी काव्यप्रकाश ग्रन्थ विद्वानों के लिए दुरूह बना हुआ है। यदि सच पूछा जाए तो विविध टीकाओं का निर्मित होना ही 'ग्रन्थ' की सबसे बड़ी दुर्गमता का कारण है। विभिन्न विद्या में पारंगत विद्वानों द्वारा जिस शैली में टीका की रचना की गई उसने 'काव्य-प्रकाश' ग्रन्थ के भावों को और अधिक जटिल बना दिया। जैसे नैयायिक शैली में रची गई टीकाएं स्वयं में ही इतनी जटिल हो गई हैं कि जिसे समझने के लिए अत्यन्त प्रयास करना पड़ता है।

काव्यप्रकाश की टीकाओं का क्रमबद्ध अध्ययन आगे किया जाएगा। यहां केवल संक्षिप्त रूप में प्रसिद्ध टीकाओं का उल्लेख किया गया है। टीकाएं हैं— माणिक्यचन्द्र की 'संकेत', श्री नरहरिसरस्वतीतीर्थ की 'बालचित्तानुरंजनी', जयन्त भट्ट की 'दीपिका', भास्कर की 'दीपिका', सोमेश्वर की 'संकेत' अथवा आचार्य विश्वनाथ की 'दर्पण', परमानन्द चक्रवर्ती की 'विस्तारिका', आनन्द कवि की 'निदर्शन', श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य की 'सारबोधिनी', गोविन्द-ठक्कुर की 'काव्यप्रदीप', महेश्वर भट्टाचार्य की 'आदर्श' कमलाकरभट्ट की 'काव्यप्रकाश टीका', नरसिंह ठक्कुर की 'नरसिंह मनीषा', वैद्यनाथ की 'उदाहरण चन्द्रिका', भीमसेन दीक्षित की 'सुधासागर' हरिशंकर शर्मा की 'नागेश्वरी' तथा वामनाचार्य झलकीकार की 'बालबोधिनी' टीका। इन टीकाओं के अतिरिक्त अनेक ऐसी टीकाएं हैं जिनका नाम मात्र से यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। कई टीकाएं अप्रकाशित हैं। इस ग्रन्थ पर केवल संस्कृत में ही टीकाएं हैं, ऐसा नहीं अपितु अन्य भाषाओं के विद्वानों ने भी इस ग्रन्थ पर टीका लिखने में अपना गौरव माना। टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा मम्मट के प्रति अपने हृदय के उद्गारों को व्यक्त किया है। भीमसेन-दीक्षित ने मम्मट को साक्षात् सरस्वती देवी का अवतार माना है: 'शब्दब्रह्म-सनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित्केनचित्। तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीरदेशे पुमान्।"[1]

गोविन्द ठक्कुर ने जहां मम्मट पर शैथिल्य का आरोप किया था, वहाँ सुधासागरकार को मम्मट के प्रति दोषारोपण सहन नहीं हुआ और उन्होंने निम्न शब्दों द्वारा गोविन्द-ठक्कुर की निन्दा की –'तस्माद् गोविन्दमहामहोपा-ध्यायानामीर्ष्यामात्रमवशिष्यते। न हि गीर्वाणगुरवोऽपि श्रीवाग्देवतावतारोक्ति

---

१. सुधासागर, भूमिका पद्य

आक्षेप्तुं प्रभवन्ति, किं पुनर्मानुषा मशकाः ।[1]

आचार्य देवनाथ भट्टाचार्य ने भी 'काव्यकौमुदी' टीका में मम्मट का खण्डन करने वालों के प्रति इस प्रकार का भाव व्यक्त किया 'काव्यप्रकाश के कथन पर किसी प्रकार की आपत्ति लाने की इच्छा करना किसी बौने के द्वारा आकाश में चन्द्रमा को पकड़ने की इच्छा करने जैसा है, किसी सियार के द्वारा सिंह के आयल पर आक्रमण करने की इच्छा करने जैसा है तथा शलभ द्वारा आग पर आक्रमण किया जाने जैसा है।"[2]

अतएव स्पष्ट है कि काव्यप्रकाश के टीकाकार मम्मट के प्रति अत्यधिक श्रद्धायुक्त है तथा उनके द्वारा कहे गये पद्य मम्मट की श्रेष्ठता के परिचायक हैं। टीकाओं की विशाल शृंखला देखते हुए म. म. काणे का कथन है कि संस्कृत साहित्य में भगवद्गीता पर इतनी अधिक टीकाएं हैं और उसके पश्चात् 'काव्यप्रकाश' पर। अन्त में वामनाचार्य झलकीकार की यह उक्ति चरितार्थ होती है—'काव्यप्रकाशगम्भीरभाववोधो न चान्यतः। इति हेतोर्मया यत्नः कृतोऽयं विदुषां मुदे।'[3]

मम्मट का पांडित्य

मम्मट वहुमुखी प्रतिभा वाले आचार्य थे। मम्मट की अदम्य शक्ति 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ रचना प्रतिफलित हुई है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में स्वयं को विभिन्न विषयों के ज्ञाता होने का परिचय दिया है। 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय उल्लास में 'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा' की व्याख्या में महाभाष्यकार संमत जात्यादि पक्ष की प्राथमिकता से तथा दशम-उल्लास में 'विरोध' अलंकार के भेदों की चर्चा में 'जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैः' कथन से मम्मट वैयाकरण सिद्ध होते हैं। प्रथम उल्लास में 'उत्तम काव्य' की चर्चा करते हुए मम्मट ने 'इदमिति काव्यं बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्य व्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि।' ध्वनिसिद्धान्त पर व्याकरणशास्त्र के प्रभाव को स्वीकार किया है। ग्रन्थ में

---

१. सुधासागर, पृ० ४२३

२. 'य एप कुरुते मनो विपदि गौरवीणां गिरां
स वामन इवाम्बरे हरिणलाञ्छनं वाञ्छति
लिलङ्घिषति सिंहिकारमणकेसरं फेरुवत्।
पतंग इव पावकं नृहरिमावकं धावति ॥' (काव्यकौमुदी)

३. वालबोधिनी, अन्तिम पद्य

अनेक स्थानों में वैयाकरणों की परिभाषा का प्रयोग किया है। दशम-उल्लास में प्रत्यय, क्यच्, क्यङ्, क्विप् आदि उपमा के भेद व्याकरणशास्त्र के अनुसार किए हैं।

मम्मट मीमांसा शास्त्र के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। इसका परिचय भी काव्यप्रकाश ग्रन्थ में मिलता है। काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास के अधिकांश स्थलों में मीमांसकों के मत की चर्चा की है और यत्र-तत्र खण्डन किया है। मम्मट ने 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्'[1] की व्याख्या में भाट्ट मीमांसकों और प्राभाकर मीमांसकों एवं 'जातिरेव वा' सूत्र की व्याख्या में 'हिमपयः शङ्खाद्याश्रयेषु···जातिरेव' में मीमांसकों चर्चा[2] की है तथा 'गौरनुबन्ध्यः" में प्रसिद्ध मीमांसक मण्डनमिश्र के मत का आचार्य मम्मट ने खण्डन किया है। 'गौर्वाहीकः' में लक्ष्यार्थ को स्पष्ट करते समय भट्टवार्तिक का उदाहरण देना आदि मम्मट के मीमांसाशास्त्र के ज्ञान को स्पष्ट करते हैं।

व्याकरण, मीमांसा के अतिरिक्त **मम्मट के न्यायशास्त्रों के ज्ञान** का भी स्थान-स्थान पर परिचय मिलता है। मंगलाचरण में ब्रह्मा की सृष्टि का वर्णन करते समय 'परमाण्वाद्युपादानकर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा' कथन द्वारा न्यायशास्त्रीय चर्चा, 'सूत्र २९' 'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्' की व्याख्या में मीमांसक और नैयायिक मत की चर्चा, अनुमान तथा असंगति अलंकार की व्याख्या में तार्किक शास्त्रीय पद्धति का विवेचन उनके तर्कशास्त्र के गंभीर ज्ञान का परिचायक है।

मम्मट वेदांत दर्शन के भी ज्ञाता हैं। उन्होंने रस का स्वरूप बतलाते हुए उसकी तुलना ब्रह्मास्वाद से की है। पंचम उल्लास में वेदान्तियों के मत की चर्चा की है तथा उसका खण्डन किया है। इसके अतिरिक्त मम्मट ने अनेक ऐसे उदाहरण उद्धृत किए हैं जिसमें माया, तत्कार्य, प्रपंच, मोक्ष-प्राप्ति आदि का विवेचन है।

इस प्रकार 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में मम्मट का विविध विषयों का ज्ञान प्रकट होता है।

काव्यप्रकाश की विशेषताएं

काव्यप्रकाश ग्रन्थ की सबसे प्रमुख विशेषता है मम्मट का समन्वयवादी दृष्टिकोण। आचार्य मम्मट ने आचार्य भरतमुति से लेकर भोजराज तक के

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ३४

२. वही, पृ० ५०

समय में चर्चित विविध सिद्धान्तों का पुनराख्यान किया और उन्हें समन्वयात्मक रूप प्रदान किया। मम्मट से पूर्ववर्ती आचार्यों का सम्बन्ध किसी न किसी विशेष सम्प्रदाय से रहा जैसे भामह, दण्डी, उद्‌भट आदि अलंकारवादी आचार्य थे, वामन रीतिवादी आचार्य थे, आनन्दवर्धन का संबंध ध्वनि-सम्प्रदाय से था, कुन्तक का संबंध वक्रोक्ति सम्प्रदाय से था और क्षेमेन्द्र का औचित्य-सम्प्रदाय से। परन्तु मम्मट का समय इस दृष्टि से नवीन चेतना के रूप में प्रस्फुटित हुआ क्योंकि मम्मट ने स्वयं को किसी सम्प्रदाय विशेष की परिधि में नहीं रक्खा अपितु उन्होंने तो अपनी पूर्ववर्ती विचारधाराओं को आत्मसात् करते हुए उनका समन्वयात्मक दृष्टि से विवेचन किया। अतएव 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ पूर्ववर्ती आचार्यों की भावनाओं का समन्वयसार तथा परवर्ती आचार्यों की भावनाओं का प्रेरक स्रोत है। मम्मट ने स्वयं 'काव्यप्रकाश' के अन्त में कहा है—

'इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः॥'

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यही है कि मम्मट ने बहुमुखी प्रतिभा द्वारा विविध मान्यताओं का संचय करके 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ रचना द्वारा उन्हें एक सूत्र में पिरोने का अदम्य साहस किया है।

मम्मट के समन्वयवादी दृष्टिकोण की प्रथम झलक 'काव्य-लक्षण' प्रसंग में मिलती है। मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-लक्षण को देखें तो किसी ने केवल शब्दार्थ की बात कही, किसी ने रस, ध्वनि या गुण की चर्चा की, किसी ने काव्य का ग्रहण अलंकार में माना परन्तु मम्मट ने सभी आचार्यों के विचारों को अपने काव्य-लक्षण में समेट लिया। मम्मट ने काव्य के एक पक्ष पर विचार नहीं किया अपितु काव्य के अंतरंग तथा बहिरंग दोनों पक्षों की ओर ध्यान देते हुए 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' काव्य का सर्वाङ्गीन लक्षण प्रस्तुत किया। मम्मट के काव्य-लक्षण को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मम्मट का संबंध विशेष संप्रदाय से नहीं है। आचार्य भामह, दण्डी, वामन या रुद्रट की श्रेणी से अलग हटकर मम्मट ने एक सार्वभौम सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। काव्य के शरीर (शब्द, अर्थ) के साथ-साथ काव्य के आत्म-तत्त्व की ओर भी मम्मट का ध्यान केन्द्रित रहा। कविता-कामिनी को सुसज्जित करने के लिए अलंकारों की अनिवार्यता का भी मम्मट ने उल्लेख किया।

मम्मट के काव्य-लक्षण की एक यह भी विशेषता रही है कि इसके द्वारा

काव्यप्रकाश में प्रतिपादित विषयों का ज्ञान होता है। जैसे 'तत्' से अभिप्राय 'काव्य' से है जिसकी चर्चा प्रथम, चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ उल्लास में है। द्वितीय तथा तृतीय उल्लास में शब्द और अर्थ का विवेचन है। दोष की चर्चा सप्तम उल्लास में, गुण का विवेचन अष्टम उल्लास में तथा नवम एवं दशम-उल्लास में अलंकारों का निरूपण किया गया है। अतएव 'काव्य-लक्षण' मम्मट के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है।

'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती ध्वन्याचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना भी की है। अभिप्राय यह है कि मम्मट के काव्य-प्रकाश पर आचार्य आनन्दवर्धन का अत्यधिक प्रभाव है। विद्वानों की यह धारणा है कि यदि मम्मट का 'काव्यप्रकाश' ध्वनि के समर्थन में हमारे समक्ष न आता तो संभवत: ध्वनि-संप्रदाय की महत्ता पर प्रश्न-चिह्न अवश्य लग जाता। मम्मट ने ध्वन्यालोक के विषय को अधिक पुष्ट, प्रांजल एवं सबल रूप में उपस्थित किया तथा ध्वनि विरोधी सभी मतों का निराकरण करते हुए अन्त में ध्वनि की व्यापकता को सिद्ध किया। ध्वनि को सदा-सदा के लिए प्रतिष्ठित किया। ध्वनि का स्थापन आनन्दवर्धन ने किया तथा अभिनवगुप्त ने ध्वनि संबंधी विचारों को प्रगति दी। वही ध्वनि सिद्धान्त आचार्य मम्मट के हाथों में आकर पूर्णता को प्राप्त हो गया। डॉ० सत्यव्रत सिंह ने काव्यप्रकाश की भूमिका में कहा है 'मम्मट से बढ़कर ध्वनिवाद का प्रचारक कोई नहीं हुआ है और उनका काव्यप्रकाश ही ध्वनिवादी अलंकारशास्त्र का सर्वप्रथम और साथ ही सबसे श्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ है।'

'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ की अन्य विशेषता यह है कि मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत को सर्वत्र ग्रहण किया हो, ऐसी बात नहीं है। यथावसर उन्होंने आचार्यों का युक्तियुक्त खण्डन भी किया है। उदाहरण के लिए मम्मट ने आनन्दवर्धन का पर्याप्त मात्रा में अनुसरण किया, परन्तु सप्तम-उल्लास में 'पाण्डुक्षामं वदनं' उदाहरण (३३२) और 'सत्यं मनोरमा' उदाहरण (३३३) की व्याख्या में मम्मट ने ध्वनिकार का खण्डन किया है। अष्टम उल्लास में वामन और भट्टोद्भट के मत का निराकरण किया गया है। दशम उल्लास में 'भामह' के मत का खण्डन किया गया है। इसके अतिरिक्त द्वितीय उल्लास में मीमांसकों का खण्डन है, पंचम उल्लास में महिमभट्ट का, वेदान्तियों का और मीमांसकों के मत का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। इस प्रकार खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति द्वारा मम्मट की बौद्धिक प्रखरता एवं कलात्मकता का ज्ञान होता है।

मम्मट की साहित्यशास्त्र को देन

अन्त में हम कह सकते हैं कि 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ की रचना द्वारा मम्मट ने साहित्यशास्त्र को अपना ऋणी बना लिया। नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना करके आने वाली पीढ़ी के लिए नवीन मार्ग प्रशस्त किया। आज मम्मट की सबसे बड़ी उपलब्धि है अलंकारशास्त्र में प्रचलित विविध वादों का समन्वय। काव्य के समस्त अंगों का सर्वाङ्गीण विकास। कवि और सहृदय दोनों को दृष्टि में रखते हुए 'काव्य-प्रयोजन' की चर्चा। 'काव्य-हेतु' में शक्ति, निपुणता और अभ्यास को नैयायिक दृष्टि द्वारा सम्मिलित रूप से काव्य हेतु मानना। 'काव्य' का सर्वांगीण लक्षण प्रस्तुत करना जिसमें रस, अलंकार, गुण सभी का समन्वय हो। शब्द अर्थ की विशद व्याख्या करते हुए अन्त में व्यंजना-वृत्ति की स्थापना करना। रस का विस्तृत विवेचन करना। रस-निष्पत्ति में भट्टलोल्लट, शङ्कुक तथा भट्टनायक के मतों का उल्लेख करते हुए अन्त में अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद का समर्थन करना, साधारणीकरण की विशद व्याख्या, 'देवविषयक' रति आदि की भावरूपता मानकर नवरसों की प्रतिष्ठा अर्थात् 'शान्त' नामक नवम रस की सत्ता स्वीकार करना। दोषों का विस्तृत विवेचन, दोषों की अदोषता की भी चर्चा करना। ध्वनिकार का अनुसरण करते हुए गुण और अलंकार का भेद निर्णय, वामन के दस शब्द गुण और दस अर्थगुणों का खण्डन करते हुए तीन गुणों की मान्यता स्वीकार करना। शब्दालंकार, अर्थालंकारों तथा उभयालंकारों की चर्चा एवं इन अलंकारों का विभाजन 'अन्वय-व्यतिरेक' से सिद्ध करना।

इस प्रकार विविध विशेषताओं को देखते हुए यह स्पष्ट है कि मम्मट की अद्‌भुत क्षमता एवं पाण्डित्य प्रदर्शन के कारण 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ 'आकर' ग्रन्थ बन गया। इस ग्रन्थ के गर्भ में न जाने कितने अमूल्य खजाने छिपे हुए हैं जिसे प्राप्त करने के लिए अनेक शताब्दियों से साहित्यशास्त्रीय विद्वानों का प्रयास सराहनीय रहा है। मम्मट के विलक्षण वैशिष्ट्य के प्रति मम्मट की परवर्ती पीढ़ी उसके प्रति नतमस्तक है।

काव्यप्रकाश की प्रमुख टीकाएं

संस्कृत साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का अद्वितीय स्थान है। आज 'काव्यप्रकाश' का महत्त्व इसलिए इतना नहीं कि मम्मट ने क्या लिखा ? अपितु इस बात में है कि 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ पर कितनी टीकाएं लिखी गईं। कहने का अभिप्राय यह है कि 'काव्यप्रकाश' पर लिखी असंख्य

टीकाओं के कारण ही मम्मट का इतना अधिक महत्त्व है। 'काव्यप्रकाश' में मम्मट ने जो लिखा वह तो ग्रहण और चिन्तन का विषय है परन्तु इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र बिखरी हुई काव्यप्रकाश की टीकाओं की जो लम्बी शृंखला है वह भी अध्ययन का विषय है। 'काव्यप्रकाश' पर आज १०० के लगभग टीकाएं हैं। टीकाओं के विषय में स्वयं टीकाकार महेश्वर के शब्दों में—

'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः'

काव्यप्रकाश पर लिखी गई प्रत्येक टीका के संबंध में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती है। कुछ टीकाएं अपूर्ण मिलती हैं, कुछ टीकाओं का केवल नामोल्लेख ही है, कुछ अप्रकाशित हैं। टीकाकारों पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो सर्वप्रथम यह बात स्पष्ट होती है कि 'काव्यप्रकाश' पर केवल साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने ही टीकाएं नहीं लिखी अपितु भिन्न-भिन्न वर्ग के विद्वानों ने अपने-अपने विचार दिए हैं। जहाँ एक ओर विश्वनाथ और रुय्यक सरीखे काव्यशास्त्रीय आचार्य हैं वहाँ दूसरी ओर नैयायिक जगदीश एवं नरसिंह ठक्कुर, वैयाकरण नागोजी भट्ट, मीमांसक कमलाकर भट्ट, वैष्णव बलदेव विद्याभूषण और तान्त्रिक गोकुलनाथ हैं।

अब हम कालक्रमानुसार कुछ प्रमुख टीकाकारों का अध्ययन करेंगे—

१. माणिक्यचन्द्र

उपलब्ध टीकाकारों में माणिक्यचन्द्र प्राचीन टीकाकार हैं। कतिपय विद्वान् इस टीकाकार के विषय में संदेह करते हैं कि क्या माणिक्यचन्द्र ही प्राचीन टीकाकार हैं। माणिक्यचन्द्र के विषय में इस प्रकार का संदेह उठना नयी बात नहीं हैं। संस्कृत साहित्य में अनेकों ऐसे उदाहरण हैं जिनमें यही स्थिति है कि जहां लेखक के नाम, काल एवं स्थान के विषय में शंकाएं होती हैं।

माणिक्यचन्द्र की टीका 'संकेत' नाम से उपलब्ध है। 'संकेत' टीका के अध्ययन से यह तथ्य सामने आता है कि टीका में किसी अन्य टीकाकार का नामोल्लेख न होना इसकी प्राचीनता को सिद्ध करता है।[1] टीका में माणिक्य-

---

१. (I) याऽन्यैर्मुकुलादिभिरुक्त।...मुकुलस्याप्यदोऽनुमतम्"
(संकेत, पृ० १८-१९)

(II) श्रीभोजेन जैमिन्युक्तषट्प्रमाणानि संभवश्चालंकारतयोक्तानि'
(संकेत, पृ० ३०४)

(III) व्याख्याविशेषोलङ्काराणामलङ्कारसर्वस्वात् ज्ञेयः"
(संकेत, पृ० ३५५)

चन्द्र ने मुकुल-भट्ट, भोजराज तथा आचार्य रुय्यक का नामोल्लेख किया है। यदि 'संकेत' से पूर्व काव्यप्रकाश की कोई अन्य टीका होती तो संकेतकार उस टीकाकार का उल्लेख करते।

'संकेत' टीका की रचना का समय स्वयं टीकाकार के शब्दों में—

"रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे मासि माधवे।
काव्ये काव्यप्रकाशस्य संकेतोऽयं समर्थितः।"[1]

इसके अनुसार इस टीका की समाप्ति का समय सन् ११५९ ई० है।

माणिक्यचन्द्र गुजरात प्रदेश के जैन वंशीय लेखक थे। टीका के अन्तिम पद्यों में श्री शीलभद्र, भरतेश्वर, वेरस्वामी और नेमिचन्द्र सूरि का नामोल्लेख करते हुए परम गुरुओं का स्मरण किया हैं।

'संकेत' टीका में प्रत्येक उल्लास के आरंभ में माणिक्यचन्द्र ने अपनी टीका के विषय में कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। 'द्वितीय उल्लास' में अपनी टीका की महत्ता में लिखा—'

'सशब्दार्थ-शररीस्य काऽलङ्कार-व्यवस्थितिः।
यावत् कल्याणमाणिक्य-प्रबन्धो न निरीक्ष्यते॥[2]

नवम उल्लास में "संकेत" को लोकोत्तर बताते हुए मणिक्यचन्द्र लिखते हैं—

"लोकोत्तरोऽयं संकेतः कोऽपि कोविदसम्मतः।
शब्दस्याडम्बरो यत्र भूषणत्वेन निश्चितः॥"[3]

टीका में भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, अभिनवगुप्त, मुकुलभट्ट आदि आचार्यों के अभिप्रायों का उल्लेख हुआ है। टीकाकार ने स्वरचित उदाहरणों की भी यत्र-तत्र चर्चा की है।

'संकेत' टीका में महत्त्वपूर्ण स्थल हैं: लक्षण सूत्र की व्याख्या, 'गंगायां घोषः' पर शास्त्रीय चर्चा, रस-प्रकरण में विभिन्न मतों की चर्चा, रसों के विभाग आदि का निरूपण तथा संकेतकार के स्वरचित उदाहरण।

(१) 'संकेत' टीका का प्रकाशन 'आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना' से १९२१ ई० में हुआ। म० म० अभ्यङ्करशास्त्री ने प्रकाशन की भूमिका लिखी है।

---

१. संकेत, टीका का अन्तिम श्लोक १२
२. संकेत, पृ० १६
३. संकेत, पृ० ३३७

(२) डा० आर० शास्त्री ने १९२२ ई० में सम्पादित किया है। यह टीका 'मैसूरराजकीय ग्रन्थमाला' से प्रकाशित हुई है। 'आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना' से प्रकाशित संस्करण में माणिक्यचन्द्र के अपने विषय में कहे पद्य नहीं मिलते।

२. राजानक रुचक (रुय्यक)

राजानक रुचक की टीका का नाम 'संकेत' टीका है। 'राजानक रुचक' और 'राजानक रुय्यक' यह दोनों एक ही व्यक्ति हैं या भिन्न, इस विषय में मतभेद है। मतभेद का कारण यह है कि 'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार जयरथ ने उपसंहार में 'राजानकरुय्यकस्य राजानकरुचकापरनाम्नोऽलंकारसर्वस्वकृतः' यह पंक्ति लिखी है। इस पंक्ति से यह प्रकट होता है राजानक रुचक ही राजानक रुय्यक है। इसके अतिरिक्त शारद देशवासी होने तथा ईसा की बारहवीं शती का मध्य भाग स्थितिकाल होने के कारण रुचक-रुय्यक ही काव्यप्रकाश के टीकाकार माने गये हैं।[1]

दूसरा पक्ष रुय्यक को मम्मट से पूर्ववर्ती मानकर इस बात को मानता है कि 'रुय्यक और रुचक' एक नहीं हैं।'

रुचक सोमेश्वर टीकाकार से पूर्ववर्ती माने गए हैं। 'संकेत' टीका में प्रमुख-प्रमुख अंशों पर संकेतात्मक टिप्पणी दी गई है। टीका में भामह, उद्भट, रुद्रट आदि आचार्यों के मतों का उल्लेख है तथा कहीं-कहीं मम्मट के मत का खण्डन भी किया गया है। टीका का अन्तिम पद्य है

> 'ज्ञात्वा श्रीतिलकात् सर्वालङ्कारोपनिषद्रसम्।
> काव्यप्रकाशसंकेतो रुचकेनेह लिख्यते ॥

'संकेत' टीका का प्रकाशन पं० शिवप्रसाद भट्टाचार्य के सम्पादकत्व में कलकत्ता ओरिएण्टल जर्नल १९३४-३५ भाग २ में तथा डा० आर. सी. द्विवेदी सम्पादित 'दि पोइटिक लाइट', भाग २ में मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली' ने १९७० ई० में किया है।

३. नरहरि सरस्वतीतीर्थ—

'बालचित्तानुरंजनी' टीका के लेखक श्री नरहरि सरस्वतीतीर्थ हैं। 'बालचित्तानुरंजनी' टीका में किसी भी टीकाकार का नामोल्लेख नहीं किया गया है। केवल 'अष्टम उल्लास' में 'राजा भोजो गुणानाह विंशति चतुरश्च यान्। वामनो दश तान् वाग्मी तत्र त्रीनेव भामहः ।।'[2] यह उल्लेख किया है। अतः

१. अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ १८-२०
२. बालचित्तानुरंजनी; पृ० ३२८

यह भी प्राचीन टीकाकार ही हैं।

श्री सरस्वती तीर्थ ने अपने वंश का परिचय टीका के आरंभिक पद्यों में दिया है। ये आन्ध्रप्रदेश के त्रिभुवनगिरि नामक गांव के निवासी थे। इनका वत्स गोत्र था। इनके पिता का नाम मल्लिनाथ तथा माता का नाम नागम्मा था। ये सोमयाजी थे। नागम्मा के दो पुत्र नारायण और नरहरि थे। नारायण ज्येष्ठ थे। नरहरि का जन्म सन् १२४२ ई० में हुआ।[1] काशी में विद्याध्ययन पश्चात् नरहरि ने संसार की असारता जानकर संन्यास ग्रहण किया तथा 'नरहरि' से इनका नाम 'सरस्वतीतीर्थ' हो गया।[2] काशी में ही काव्यप्रकाश टीका 'वालचित्तानुरंजनी' की रचना की।[3] प्रस्कुत टीका दशमउल्लास तक है। इस टीका के अतिरिक्त 'स्मृतिदर्पण' नामक धर्मशास्त्र-ग्रन्थ और 'तर्करत्न' एवं उसकी 'दीपिका' टीका की रचनाएं भी की थीं।

(१) 'वालचित्तानुरंजनी' टीका प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम उल्लास तक 'एस० एस० सुखटणकार' के सम्पादकत्व में बम्बई से १९३३, १९४१ में प्रकाशित हुई है।

(१) 'डा० गोपराजु रामा तथा डा० जगन्नाथ पाठक के सम्पादकत्व में 'बालचित्तानुरंजनी' टीका 'सारबोधिनी' तथा 'दर्पण' टीका के साथ दशम उल्लास तक गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग से १९७६ में प्रकाशित हुई है।

(२) पाण्डुलिपि के उद्धरण पीठर्सन की रिपोर्ट में भाग १, पृ० ७४ तथा १० सी., भाग ३, पृ० २२५ इत्यादि में छपे हैं।

४. सोमेश्वर

'सोमेश्वर' की टीका का नाम 'संकेत' अथवा 'काव्यादर्श' है। इनकी टीका में भी किसी प्राचीन टीका का नामोल्लेख नहीं किया गया है। केवल भट्टनायक-मुकुल-भट्टतौत-रुद्रट-भामह आदि आचार्यों का नाम मिलता है।

सोमेश्वर के जीवन-संबंध के विषय में विशेष इतिवृत्त नहीं मिलता है।

---

१. वालचित्तानुरंजनी के प्रारंभिक पद्य

२. 'विचार्य सर्वं सुखमेव दुःखं सुधामये ब्रह्मणि लोलुपस्य।
संन्यस्यतस्तस्य बभूव सार्था 'सरस्वतीतीर्थ' इति प्रसिद्धिः॥'

(बालचित्तानुरञ्जनी पृष्ठ २)

३. 'काश्यां सरस्वतीतीर्थमतिना तेन रच्यते।
टीका काव्यप्रकाशस्य बालचित्तानुरंजनी॥' वही।

अपनी टीका की समाप्ति पर स्वयं सोमेश्वर ने अपने विषय में जो संक्षिप्त परिचय दिया है उससे यही जानकारी मिलती है कि सोमेश्वर भरद्वाज गोत्र के भट्टदेवक के पुत्र थे।[1] वामनाचार्य झलकीकर ने सोमेश्वर का संबंध 'कान्यकुब्जदेश' से माना है। अपने कथन की पुष्टि के लिए झलकीकर यह तर्क देते हैं कि काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास की 'एवं देशकालवयोजात्यादीनां वेषव्यवहारादिकमुचितमेवोपनिबद्धव्यम्' व्याख्या में उचित देशवेष आदि के उदाहरण में 'यथा कान्यकुब्जदेशे उद्धतो वेषो भयंकर आकारः परुषं वचनमनुचितम्, म्लेच्छेषु तदेवोचितम्' व्याख्या के आधार पर सोमेश्वर को कान्यकुब्ज का निवासी माना है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि ग्रन्थकार उदाहरण के रूप में अपने देश के पदार्थों का ही उल्लेख करते हैं।

श्री रसिकलाल छोटालाल पारीख ने 'सोमेश्वर' टीका का सम्पादन करते हुए टीका को रुचक से प्रभावित माना है और इस आधार पर सोमेश्वर का समय रुचक से बाद का निर्धारित किया है।

म० म० काणे ने 'काव्यादर्शसंकेत' की एक पाण्डुलिपि में सोमेश्वर का लेखनकाल वि० सं० १२८३ बताया है। इसके अनुसार टीका का समय १२२५ ई० अनुमानित किया जाता है। परन्तु सोमेश्वर का समय विवादास्पद है क्योंकि इनकी अन्य रचना नहीं मिलती है।

टीका का संपादन प्रो० रसिकलाल छोटालाल पारीख ने १९५९ ई० में 'राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर' से दो भागों में किया है।

५. जयन्तभट्ट

'जयन्तभट्ट' की टीका का नाम 'दीपिका' या 'जयन्ती' है। 'दीपिका' टीका में अन्य किसी टीकाकार का नामोल्लेख नहीं है। कहीं-कहीं मुकुलभट्ट का उल्लेख किया है। टीका के अन्त में अपना वंश परिचय दिया है जिससे ज्ञात होता है कि जयन्तभट्ट गुजरात के नरेश सारंगदेव के महामात्य तथा पुरोहित श्री भरद्वाज भट्ट के पुत्र थे। टीका की रचना का उद्देश्य विद्वानों के मन पर विद्यमान अज्ञान का निवारण करना बताया है।

'दीपिका' का रचनाकाल संवत् १३५० अर्थात् १२९४ ई० माना गया है।

इस टीका का संक्षिप्त सार भाण्डारकर की रिपोर्ट १८८३-८४ के परिशिष्ट पष्ठ ३२६ में उपलब्ध है।

---

१. 'भरद्वाजकुलोत्तंसभट्टदेवकसूनुना।
सोमेश्वरेण रचितः काव्यादर्शः सुमेधसा॥'
(संकेत बालबोधिनी में उद्धृत पृ० २५)

६ श्रीधर

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में 'श्रीधर' का नाम अत्यन्त प्राचीन है। 'श्रीधर' की टीका का नाम विवेक है। 'विवेक' टीका प्राचीन टीकाकारों में अधिक विख्यात थी। श्रीधर का जीवन संबंधी परिचय मिथिलातत्त्वविमर्श, तीरभुक्त का इतिहास तथा 'काव्यप्रकाश-विवेक' के अन्त में स्वयं टीकाकार द्वारा रचित पंक्तियों से ज्ञात होता है।[1] श्रीधर मैथिल ब्राह्मण थे। ये तीरभुक्ति के शासक शिवसिंहदेव के 'सान्धिविग्रहिक' थे। श्रेष्ठ टीकाकार चण्डीदास, विश्वनाथ और श्रीविद्याचक्रवर्तिन् आदि ने विभिन्न स्थलों में 'सान्धिविग्रहिक' उपाधि के साथ श्रीधर का उल्लेख किया है। विश्वनाथ आदि आचार्यों द्वारा उद्धृत होने के कारण श्रीधर का समय १३वीं शताव्दी का प्रथम चरण माना गया है।

श्रीधर ने अनेक शास्त्रीय तत्त्वों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। 'विवेक' टीका का महत्त्व उस समय अनुभव होता है जब चण्डीदासादि टीकाकार प्रबल शब्दों में उसकी समीक्षा करते हैं और निष्कर्ष प्राप्त करने में कठिनाई अनुभव करते हैं। 'विवेक' टीका में कुछ असाधारण बहुमूल्य उद्धरण सुरक्षित रूप में हैं जैसे भट्टतौत के 'काव्यकौतुक' और उद्भट के 'भामहविवरण' के उद्धरण। 'रुचक' के 'संकेत' के उद्धरण भी इसमें दिए हैं। उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त अभिनवगुप्त, कुन्तक और महिमभट्ट का नामोल्लेख भी हुआ है। 'श्रीधर' के समय में 'श्रीधर' नाम के तीन व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है परन्तु विवेक टीका के श्रीधर का संबंध मिथिला प्रान्त से है।

'विवेक' टीका का प्रकाशन पं० शिवप्रसाद भट्टाचार्य के सम्पादकत्व में 'संस्कृत कालेज, कलकत्ता से १९५९ ई० में प्रथम चार उल्लास सहित हुआ था तथा द्वितीय भाग (पंचम से दशम उल्लास तक) १८८३ तमे शकवत्सरे में शिवप्रसाद भट्टाचार्य के संपादकत्व में ही प्रकाशित हुआ था।

---

१. 'समस्त-विरुदावली-विराजमान-महाराजाधिराज-श्रीशिवसिंहभुज्यमान , तीरभुक्तौगजरथपुरे सत्प्रक्रियसदुपाध्याय-विद्यापतीनामाज्ञया खौवालसं-श्री देवशर्मावलियाससं-श्रीप्रभाकरभ्यां लिखितैषां पुरस्ती। ल. स. २९१, (ख्री० १३९९), इति।" (विवेक)

७. चण्डीदास

'चण्डीदास' की टीका 'दीपिका' नाम से है। 'दीपिका' के अन्त में दी गई पंक्तियाँ 'इति कापिञ्जल-कुलतिलक-षड्दर्शनीय-चक्रवर्ति-महाकवि-चक्र-चूडामणि-सहृदयगोष्ठीगरिष्ठ-महामहोपाध्याय-महापात्र-श्रीचण्डीदासकृतकाव्य-प्रकाशदीपिकायाम्'[1] से चण्डीदास के जीवन-सम्बन्धी कुछ झलक मिलती है। चण्डीदास उत्कलवासी कापिञ्जलवंशीय विलासदास के पुत्र थे। चण्डीदास को उड़िया, मैथिल और बनारस के विद्वानों ने अपनी-अपनी टीकाओं में उद्धृत किया है। जिनमें गोविन्द ठक्कुर, नरसिंह ठक्कुर, नागोजी भट्ट और विश्वेश्वर आदि विद्वान् हैं। कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि चण्डीदास के वंश में ही आचार्य विश्वनाथ का जन्म हुआ था। चण्डीदास के पितामह नारायणदास थे जिनका उल्लेख 'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने किया है। इन्हीं आधारों पर ये विश्वनाथ के प्रपितामह के अनुज के पुत्र माने गए हैं। परन्तु कुछ विद्वानों ने ऐसा नहीं माना है। उनका कथन है कि चण्डीदास १३०० ई० के लगभग या बहुत पहले ही प्रतिष्ठित हो चुके थे। 'दीपिका' टीका के निर्माण का हेतु टीकाकार ने स्वयं उल्लिखित किया है—'दुर्व्याख्याओं के कारण काव्यप्रकाश रूपी वृक्ष का सूखना देखकर उसे पुनः सिक्त करना है।''[2]

डा० सुशील कुमार डे ने टीका की रचना का उद्देश्य 'अपने मित्र लक्ष्मण का अनुरोध बताया है।'

चण्डीदास की अन्य कृति 'ध्वनिसिद्धान्त' का भी उल्लेख मिलता है।

'दीपिका' टीका का प्रकाशन पंडित शिवप्रसाद भट्टाचार्य के सम्पादकत्व में वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय से दो भागों में सन् १९३८ ई० में हुआ है।

८. विश्वनाथ

विश्वनाथ की काव्यप्रकाश पर रचित टीका का नाम 'काव्यप्रकाश दर्पण' है। 'दर्पण' टीका में विश्वनाथ ने चण्डीदास, वाचस्पति मिश्र, श्रीधर इत्यादि टीकाकारों का उल्लेख किया है।

---

१. 'दीपिका', पृ० ५१६

२. 'काव्यप्रकाशतरुरेष कुसम्प्रदायव्याख्याविलोममरुदाकुलितप्रतानः।
सिक्तः पुनश्च प्रतिपल्लवतामुपैतु, श्रीचण्डीदासकविवागमृतप्रवाहैः॥'
(दीपिका, पृ० अन्तिम)

विश्वनाथ कविराज का समय १३वीं-१४वीं शताब्दी माना गया है। म० म० काणे तथा एस० के० डे ने १३५० ई० माना है। साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख डाक्टर स्टीन द्वारा किया गया, उससे यह संकेत मिलता है कि विश्वनाथ का समय १३८४ ई० है। १५वीं शताव्दी के व्याख्याकार गोविन्द ठक्कुर की 'काव्यप्रदीप' टीका में विश्वनाथ के मत का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि विश्वनाथ का समय १३-१४वीं शताब्दी है।

'दर्पण' टीका विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के पश्चात् लिखी है क्योंकि 'काव्यप्रकाशदर्पण' में विश्वनाथ का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि प्रस्तुत टीका का निर्माण 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ के पश्चात् हुआ है।[1]

विश्वनाथ कवि चन्द्रशेखर के पुत्र थे। इनके प्रपितामह का नाम नारायण था जो साहित्यशास्त्र के पारंगत विद्वान् थे। विश्वनाथ के 'काव्यप्रकाश-दर्पण' और 'साहित्यदर्पण' के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ हैं १. राघवविलास-महाकाव्य, २. कुवलयाश्वचरित—प्राकृत काव्य, ३. प्रशस्तिरत्नावली-षोडश-भाषामयी, ४. नरसिंह विजयकाव्य, ५. प्रभावतीपरिणय, ६. चंद्रकला-नाटिका। 'काव्यप्रकाशदर्पण' में विश्वनाथ के लिए 'संगीतविद्याविद्याधर', 'कलामालतीमधुकर' और 'विविधविद्यार्णवकर्णधार' आदि विशेषण मिलते हैं।[2]

'दर्पण' टीका का प्रकाशन डा० गोपराजु रामा तथा डा जगन्नाथ पाठक के संपादकत्व में संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग से 'बालचित्तानुरंजनी' और 'सार-बोधिनी' टीका के साथ सन् १९७६ ई० में हुआ है।

९. भास्कर

भास्कर की टीका 'साहित्यदीपिका' नाम से है। भास्कर का उल्लेख श्री वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य, गोविन्द ठक्कुर, भीमसेनदीक्षित, रत्नकण्ठ तथा

---

१. द्वितीयउल्लास में 'एषां च षोडशानां लक्षणाभेदानामिह दर्शितान्युदाहरणानि मम 'साहित्यदर्पणेऽवगन्तव्यानि' तथा दशम-उल्लास में 'तदुक्तं मत्कृते साहित्यदर्पणे।' (बालबोधिनी में उद्धृत, प्रस्तावना पृ० २५)

२. 'इति श्रीमन्नारायणचरणारविन्द-मधुकरालङ्कारिकचक्रवर्तिध्वनिप्रस्थनपरमाचार्याष्टादशभाषा-विलासिनीभुजङ्ग सङ्गीत-विद्याविद्याधर-कलाविद्या-मालतीमधुकर-विविधविद्यार्णवकर्णधार-सान्धिविग्रहिकमहापात्रश्रीविश्व-नाथकविराजकृतौ काव्यप्रकाशदर्पणेऽर्थालङ्कारनिर्णयो नाम दशम-उल्लास: ॥' (बालबोधिनी में उद्धृत, प्रस्तावना पृ० २६)

परमानन्द चक्रवर्ती आदि टीकाकारों द्वारा किया गया है। अतः भास्कर इन सब टीकाकारों से प्राचीन हैं तथा इनका समय चौदहवीं शताब्दी माना गया है। काव्यप्रकाश की प्रशंसा में कही गई यह उक्ति 'काव्यप्रकाशे टिप्पण्यः सहस्रं सन्ति यद्यपि' भट्ट भास्कर की ही है।

'दीपिका' टीका के कुछ अंश राजेन्द्रलाल मित्र की नोटिसेस आफ एम० एस० एस०' १-१० में प्रकाशित हुए हैं।

१०. श्री विद्याचक्रवर्ती

श्री विद्याचक्रवर्ती की टीका 'सम्प्रदायप्रकाशिनी' नाम से है। 'सम्प्रदाय-प्रकाशिनी' टीका के अन्त में स्वविषयक परिचय मिलता है।[1] तदनुसार इनके पिता श्री त्रिभुवनविद्याचक्रवर्ती बड़े प्रसिद्ध विद्वान् और महाकवि थे। मल्लिनाथ के अनुसार विद्याचक्रवर्ती का समय १४वीं शताब्दी के अन्त से पूर्व माना गया है। इन्हें 'रसमीमांसा'—रसविषयक तथा 'भरतसंग्रह'—नाट्यविषयक ग्रन्थों का लेखक माना गया है।

(i) इस टीका का प्रकाशन 'त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज़' से सन् १९२६, १९३० में भट्टगोपाल की टीका के साथ हुआ है।

(ii) डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी के सम्पादकत्व में अंग्रेजी अनुवाद एवं रुय्यक रचित 'काव्यप्रकाशसंकेत' सहित टीका का प्रकाशन 'मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली' से दो भागों में १९६७ ई० में हुआ।

११. श्री परमानन्द चक्रवर्ती भट्टाचार्य

परमानन्द चक्रवर्ती की टीका 'विस्तारिका' नाम से है। 'विस्तारिका' टीका में चक्रवर्ती ने 'इति मिश्राः' से सुबुद्धिमिश्र, 'इति दीपिकाकृत' से जयन्त भट्ट का तथा 'यच्चोक्तं विश्वनाथेन' से काव्यप्रकाशदर्पण टीका के रचयिता विश्वनाथ आदि टीकाकारों का उल्लेख किया है।

'परमानन्द चक्रवर्ती' का समय विश्वनाथ के पश्चात् १४००-१५०० ई० के मध्य माना गया है। न्यायाचार्य यशोविजयजी ने चक्रवर्ती का उल्लेख

---

१. 'इति संस्कृतसार्वभौम—प्राकृतपृथ्वीश्वर—शौरसेनीशिरोमणि—मागधी-मकरध्वज—पैशाचीपरमेश्वरापभ्रंशराजहंसालङ्कारिकचक्रवर्ति—ध्वनि-प्रस्थापनपरमाचार्य—काव्यमीमांसा—प्रभाकर—सहृदय—शिरोमिणि—सहजसर्वज्ञ—परम-योगीश्वर—श्रीमत्त्रिभुवनविद्या—चक्रवर्तिवंशावतंस—महाकविश्रीविद्याचक्रवर्ति-कृतौ 'सम्प्रदाय-प्रकाशिन्यां' 'काव्यप्रकाश-बृहद्टीकायां दशम-उल्लासः।'

किया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि चक्रवर्ती भट्टाचार्य का समय यशोविजयी से पूर्व है।

'भट्टाचार्य' होने के कारण इनका संबंध बंगदेश से माना गया है। वामनाचार्य झलकीकर का कहना है कि 'जिन-जिन व्यक्तियों के नाम 'भट्टाचार्य' से युक्त हैं वे समस्त बंगवासी ही हैं।[१]

भट्टाचार्य प्रसिद्ध नैयायिक थे। अतएव टीका में कहीं-कहीं गङ्गेशोपाध्याय रचित 'चिन्तामणि' का उल्लेख किया गया है। वामनाचार्य झलकीकर इन्हें केवल नैयायिक मानते हैं वैयाकरण नहीं क्योंकि टीका में 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य' इत्यादि कात्यायनीय वार्तिक को पाणिनिसूत्र कहकर अशुद्ध प्रयोग किया है।

भट्टाचार्य का गङ्गेशोपाध्याय रचित 'चिन्तामणि' पर लक्षण गदाधारी ग्रन्थ 'चक्रवर्ति-लक्षणम्' नाम से प्राप्त है तथा 'नैषध' पर टीका है।

'विस्तारिका' टीका के कुछ अंश पीटर्सन की रिपोर्ट भाग २, पृष्ठ १०८-१०९ पर एवं एच० पी० शास्त्री के कैटलाग ASB. MSS. VI संख्या ४८३/२४९२ में प्रकाशित हुए हैं।

१२. आनन्दकवि—

'सारसमुच्चय' तथा 'निदर्शना' टीका के रचयिता आनन्दकवि हैं। उनके ग्रन्थावलोकन से यह स्पष्ट है कि आनन्दकवि का संबंध कश्मीर देश से था और यह शैव थे। अतएव टीका के आरम्भ में शारदा देवी को प्रणाम किया है[२] तथा आचार्य मम्मट की जानकारी देते समय काव्यप्रकाश की व्याख्या शिवागम में प्रसिद्ध ३६ तत्त्वों के आधार पर की है।

आनन्द कवि ने टीका के दशम-उल्लास में 'मालाप्रतिवस्तूपमावत् मालाव्यतिरेकोऽपि संभवति' पंक्ति की व्याख्या करते समय 'विस्तारिकाकृता विवृतम्' कहकर चक्रवर्तिभट्टाचार्य का उल्लेख किया है।

१३. श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य

'सारबोधिनी' टीका के रचयिता श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य हैं। भट्टाचार्य

---

१. 'किं बहुना ये ये भट्टाचार्यपदादिरूढास्ते सर्वेऽपि वङ्गदेशीया एव वङ्गजनपदे एव पण्डितानां भट्टाचार्यपदाभिधेयस्य सुप्रसिद्धत्वात्।'
(बालबोधिनी, प्रस्तावना, पृ० २६)

२. प्रणम्य शारदां काव्यप्रकाशो बोधसिद्धये।
पदार्थविवृतिद्वारा स्वशिष्येभ्यः प्रदर्श्यते ॥
(बालबोधिनी में, प्रस्तावना पृ० २७)

बंगाल के निवासी थे। 'सारबोधिनी' टीका में टीकाकार (भट्टाचार्य) ने सुबुद्धि मिश्र, विद्यासागर, भास्कर, जयराम तथा विश्वनाथ आदि का नाम उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त 'अधिकं तत्त्वबोधिन्यां द्रष्टव्यम्' से तत्त्वबोधिनी-कार का भी निर्देश किया है। रसगङ्गाधर के लेखक आचार्य जगन्नाथ ने 'इति श्रीवत्सलाञ्छनोक्तमुदाहरणं परास्तम्' कहकर इनका उल्लेख किया है।

श्रीवत्स के स्थितिकाल के विषय में दो मत हैं। एक वर्ग तो इनका समय चौदहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी के आसपास मानता है और दूसरा वर्ग इन्हें १७वीं शताब्दी का मानता है क्योंकि श्रीवत्स कमलाकर और जगन्नाथ द्वारा उद्धृत किए गए हैं।

वामनाचार्य के मत में श्रीवत्स केवल नैयायिक थे, वैयाकरण नहीं। इनके पिता श्री विष्णुभट्टाचार्य थे। 'काव्यपरीक्षा' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की भी रचना की थी जिसमें पांच अध्यायों तक काव्य की विशेषताओं का वर्णन किया गया है।

'सारबोधिनी' टीका का प्रकाशन 'केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ प्रयाग' से डा० गोपराजुरामा तथा डा० जगन्नाथ पाठक के सम्पादकत्व में १९७६ ई० में हुआ।

१४. गोविन्द ठक्कुर

गोविन्द ठक्कुर की टीका 'काव्यप्रदीप' नाम से है। गोविन्द ठक्कुर के जीवन और काल का विस्तृत परिचय 'गोविन्द ठक्कुर का जीवन परिचय' शीर्षक के अन्तर्गत पृथक् से वर्णित किया जाएगा। यहां संक्षिप्त विवेचन मात्र है। गोविन्द ठक्कुर मिथिला के रहने वाले थे। केशव और सोनदेवी के बड़े पुत्र रुचिकर कवि के स्नेहपात्र थे। अनेक तथ्यों के आधार पर प्रदीपकार का समय १५-१६वीं शताब्दी के लगभग माना गया है। गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्य-प्रदीप' टीका में दण्डी, भामह, आनन्दवर्धन, भोजराज आदि आचार्यों एवं भास्कर और चण्डीदास आदि टीकाकारों का उल्लेख किया है। काव्यप्रकाश की लिखी गई टीकाओं में 'काव्यप्रदीप' प्रमुख टीका है। काव्यप्रदीप टीका विद्वत् समाज में अत्यन्त सम्माननीय है परिणामस्वरूप इस पर 'उद्योत' और 'प्रभा' नाम से दो टीकाओं की रचना हुई है।

बंगाल के टीकाकारों का गोविन्द ठक्कुर पर प्रभाव होने से इनका दृष्टि-कोण भी नैयायिक रहा है। काव्यप्रकाश की अनेक स्थलों की नैयायिक पद्धति से व्याख्या की है।

काव्यप्रदीप टीका का प्रकाशन अनेक स्थलों से हुआ है। जैसे —

(i) केवल 'प्रदीप' के साथ 'काव्यप्रकाश' का प्रथम प्रकाशन पण्डित पत्रिका के चार अंकों में १८८८-१८९१ ई० तक हुआ था।

(ii) वैद्यनाथ की 'प्रभा' टीका के साथ १८९१ और १९१२ ई० में निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशन हुआ।

(iii) नागोजी भट्ट के 'उद्योत' के साथ १, २, ७, १० उल्लास तक पूना के डी० डी० चांदोरकर के सम्पादकत्व में क्रमशः १८९६, १८९८ ई० में पूना से प्रकाशित हुए।

(iv) 'प्रदीप', 'उद्योत' 'प्रभा' रुचक के 'संकेत' एवं नरहरि सरस्वतीतीर्थ की 'वालचित्तानुरंजनी' के साथ केवल १, २, ३, १० उल्लास श्री एस० एस० सुखटणकर के सम्पादकत्व में वम्बई से १९३३, १९४१ ई० में प्रकाशित हुए।

(v) 'प्रदीप' तथा 'उद्योत' के साथ सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन पं० वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर जी के सम्पादकत्व में 'आनन्दाश्रम, पूना, से १९११ ई० में हुआ है।

१५. श्रीमद्‌यशोविजयजी गणी

श्रीमद्‌यशोविजयजी गणी ने टीका का कोई स्वतन्त्र नाम नहीं दिया है। यशोविजयजी की टीका काव्यप्रकाश के 'द्वितीय' तथा 'तृतीय' उल्लास तक ही उपलब्ध हुई है। यशोविजयजी गुजरातप्रदेश के 'कनोडुं' गांव के रहने वाले थे। इनके पिता नारायण जैन और माता का नाम 'सोभागदे' था। इनका बचपन का नाम जसवंत कुमार था तथा बाद में दीक्षित होकर 'उपाध्याय यशोविजय' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनका ग्रन्थ रचनाकाल इनके स्वहस्त-लिखित पाण्डुलिपियों के आधार पर सन् १५८३ से १६८६ ई० माना गया है। यशोविजयजी ने अपनी टीका में भट्टमत, गुरुमत, गोबिन्द ठक्कुर, सुबुद्धि-मिश्र, चंडीदास, वैभाषिक, मणिकार, मधुमतीकार, पार्थसारथिमिश्र, नृसिंह-मनीषाकार आदि के मतों को उद्धृत किया है। इनके द्वारा रचित प्राकृत, संस्कृत, गुजराती एवं हिन्दी ग्रन्थों की संख्या बहुत विशाल है। यशोविजयजी मूलतः नैयायिक थे।

यह टीका हिन्दी अनुवाद सहित मुनि श्री यशोविजयजी के प्रधान सम्पादकत्व में डा० रुद्रदेव त्रिपाठी ने सम्पादित कर 'यशोभारती जैन प्रकाशन समिति, वम्बई' से प्रकाशित की है।

१६. महोपाध्याय सिद्धिचन्द्रगणि

काव्यप्रकाशखण्डन टीका के रचयिता महोपाध्याय सिद्धिचन्द्रगणि हैं। प्रस्तुत टीका (खण्डन) के अन्त में दी गई प्रशस्ति से सिद्धिचन्द्रगणि की जीवन विषयक जानकारी मिलती है। ये भानुचन्द्र गणि के शिष्य, शतावधानी,

अकबर बादशाह द्वारा 'खुश्फहम' पदवी प्राप्त तथा अनेक ग्रन्थों और वृत्तियों के रचयिता ख्याति प्राप्त जैन आचार्य थे।[1] सिद्धिचन्द्र का समय १५८८ ई० से १६६६ ई० निश्चित है। ये पण्डितराज जगन्नाथ के समकालीन थे।

महोपाध्याय सिद्धिचन्द्र ने प्रस्तुत टीका की रचना आलोचनात्मक दृष्टि से की है। मम्मट ने "काव्यप्रकाश" में काव्यरचना विषयक जो विस्तृत विवेचन किया है, सिद्धिचन्द्र ने प्रस्तुत टीका में मम्मट के किसी लक्षण, किसी उदाहरण, किसी प्रतिपादन का खण्डन करते हुए अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। काव्यप्रकाश के टीकाकारों के जिन विचारों के साथ गणि जी का मतभेद रहा, उन विचारों की भी चर्चा की है। ये एक नवीन काव्य-सिद्धान्त की स्थापना करना चाहते थे।

काव्यप्रकाश खण्डन टीका का प्रकाशन "सिंधी जैन ग्रन्थमाला" से प्रो० रसिकलाल छोटालाल पारिख के सम्पादकत्व में वि० सं० २००९ में हुआ है।

१७. महेश्वर

महेश्वर की टीका "आदर्श" नाम से है। "आदर्श" टीका में परमानन्द-चक्रवर्ती भट्टाचार्य का नाम उपलब्ध होता है। वामनाचार्य के अनुसार यह उत्तम टीका नहीं है। झलकीकर ने यह भी उल्लेख किया है कि इन्होंने कात्यायन वार्तिक को "पाणिनी सूत्र" कहा है जिससे ये वैयाकरण नहीं माने जाते। इनका संबंध बंग प्रदेश से है। वामनाचार्य ने 'तात्पर्यविवरणकृत् महेशचन्द्र देव' का एक पत्र प्रकाशित किया है। उस पत्र से यह मन्तव्य प्राप्त होता है काव्यप्रकाश की टीका 'आदर्श' के रचयिता श्री महेश्वर विक्रम् संवत् की १६ वीं शताब्दी के अन्त में तथा १७ वीं शताब्दी के आरंभ में बंग प्रदेश में विद्यमान थे।'[2] इनका समय आचार्य विश्वनाथ और उदाहरणचन्द्रिका के रचयिता वैद्यनाथ के मध्य का है क्योंकि वैद्यनाथ ने 'उदाहरणचन्द्रिका' में अनेक स्थलों पर महेश्वर का उल्लेख किया है। उन्हें न्यायलंकार की उपाधि

---

१. 'इति पादशाह—श्री अकब्बरसूर्यसहस्रनामाध्यापक-श्रीशत्रुञ्जय-तीर्थ-करमोचनाद्यनेक-सुकृतविधायकमहोपाध्याय श्री भानुचन्द्र गणि-शिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदित-पादशाह श्री अकब्बर-प्रदत्तखुष्फहमा-पराभिधान-महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणिविरचिते काव्यप्रकाश खण्डने दशम-उल्लासः समाप्तः।'

२. बालबोधिनी, पृ० ३०

प्राप्त थी। टीका की समाप्ति में महेश्वर ने काव्यप्रकाश का महत्व बताया है।[1]

१८. कमलाकरभट्ट

'निर्णयसिन्धु' के निर्माता कमलाकर भट्ट नैयायिक रूप में अधिक प्रसिद्ध है। काव्यप्रकाश पर इनकी टीका कमलाकरी नाम से है। काव्यप्रकाश की टीका में कमलाकर ने सोमेश्वर, सरस्वतीतीर्थ, चण्डीदास, मधुमतीकार, पद्मनाभ, परमानन्दचक्रवर्ती, देवनाथ, श्रीवत्सलाञ्छन और गोविन्दठक्कुर आदि टीकाकारों का एवं भोजराज और अप्पय्य दीक्षित आदि आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है। यह काशी के महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। 'भट्ट' उपनाम से सुशोभित थे।

इनकी वंश परम्परा के संबंध में बड़ी लम्बी शृंखला मिलती है। इनके पिता का नाम रामकृष्ण भट्ट था। कमलाकर मीमांसा, धर्मशास्त्र तथा वेदान्त दर्शन के ज्ञाता थे। इन्होंने स्मृति एवं मीमांसा पर कई ग्रन्थ लिखे थे। अपने स्थितिकाल के विषय में कमलाकर भट्ट ने स्वरचित निर्णयसिन्धु की समाप्ति में लिखा है।

वसुऋतुऋतुभू भूमिते (१६६८) गतेऽब्दे, नरपतिविक्रमतोऽथ याति रौद्रे ॥
तपसि शिवतिथौ समापितोऽयं रघुपतिपादसरोरुहेऽर्पितश्च ॥

अतः इनका समय सन् १६११-१६१२ ई० माना गया है।

काव्यप्रकाश के विषय में कमलाकर भट्ट लिखते हैं—'काव्यप्रकाशे टिप्पण्यः सहस्रं सन्ति यद्यपि।'

इस टीका का प्रकाशन वाराणसी से सन् १८६६ में श्रीपपाशास्त्री के सम्पादन में हुआ है।

१९. नरसिंहठक्कुर

नरसिंहठक्कुर की टीका 'नरसिंहमनीषा' नाम से है। टीका में चण्डीदास लाटभास्करमिश्र, सुबुद्धिमिश्र, मधुमतीकार, रवि भट्टाचार्य, कौमुदीकार, मणिसार, रुचिकर मिश्र, परमानन्द चक्रवर्ती और गोविन्द ठक्कुर आदि टीकाकारों का उल्लेख हुआ है। नरसिंह ठक्कुर का संबंध गोविन्द ठक्कुर के बंश से माना जाता है। ये गोविन्द ठक्कुर से पांचवें स्थान पर हैं। ठक्कुर उपनाम से सुशोभित थे। वामनाचार्य लिखते हैं कि नरसिंह ठक्कुर ने अपनी टीका में

---

१. 'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।
सुखेन विज्ञातुमिमं य ईहते, धीरः स एतां विपुलं विलोकताम्।
(बालबोधिनी में उद्धृत पृ० ३०)

जब भी सुबुद्धिमिश्र का अथवा परमानन्द चक्रवर्ती के मत का खण्डन किया है तब 'इति सुबुद्धेः कौबुद्ध्यमपास्तम्', 'इति परमानन्दप्रलपितमपास्तम्' से तुच्छ भावना का प्रदर्शन किया है। परन्तु अपने विरुद्ध जाने वाले प्रदीपकार के मत का अनादर नहीं किया है। केवल 'इति प्रदीपकाराः वदन्ति, वयं तु वदामः" लिखकर ही मतभेद प्रकट किया है। जहां नरसिंहठक्कुर का अपना मत गोविन्दठक्कुर के अनुकूल है वहाँ 'इति प्रदीपकृत्पवित्रीकृतः पन्थाः' कहकर सम्मान दिखाया है।

नरसिंह ठक्कुर ने कमलाकर भट्ट की टीका को 'इति नवीनाः' कहकर उद्धृत किया है। इसी आधार पर इनका समय सत्रहवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्ध माना गया है।

नरसिंह ठक्कुर ने स्वयं काव्य रचना भी की थी क्योंकि इन्होंने अपनी टीका में स्वरचित अनेक पद्य उद्धृत किए हैं। इन्होंने 'ताराभक्ति-सुधार्णव' नामक तत्त्वग्रन्थ की रचना भी की थी। ये न्यायशास्त्र के प्रगाढ़ पण्डित थे। भीमसेन दीक्षित ने 'सुधासागर' टीका में इन्हें 'न्यायविद्यावागीश' कहकर सम्बोधित किया है। इनकी लेखन-शैली से इनकी नैयायिकता का दर्शन होता है। 'नरसिंहमनीषा' केवल सप्तम उल्लास तक ही उपलब्ध है।

२०. राजानक रत्नकण्ठ

राजानक रत्नकण्ठ की 'सारसमुच्चय' नामक काव्यप्रकाश की टीका है। टीका में अपने से पूर्ववर्ती अनेक प्रसिद्ध टीकाकारों का उल्लेख है जिनमें भास्कर की साहित्यदीपिका, श्रीवत्स की सारबोधिनी, परमानन्द की विस्तारिका और गोविन्दठक्कुर की प्रदीप आदि टीकाओं का समावेश है। इनका रचनाकाल १६४८ से १६८१ ई० माना गया है।

इनके उद्धरण पीटर्सन की रिपोर्ट ११, पृ० १२९ में दिए गए हैं।

२१. गोकुलनाथ उपाध्याय

'काव्यप्रकाशविवरण' टीका के रचयिता गोकुलनाथ उपाध्याय हैं। गोकुलनाथ का जन्म-स्थान मिथिला का सुप्रसिद्ध 'मंगलवनी' ग्राम था। गोकुलनाथ 'फणदह' ब्राह्मणों के वंश में उत्पन्न महामहोपाध्याय रुचिपति के वृद्धपौत्र, सदुपाध्याय हरिहर के प्रपौत्र, सदुपाध्याय रामचन्द्र के पौत्र तथा म० म० विद्यानिधि पीताम्बर और उमादेवी के पुत्र थे। इनका जन्म समय १७वीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना जाता है। गोकुलनाथ ऐसे सारस्वत कुल में उत्पन्न हुए थे जिसमें अनेक सिद्ध उपासक तथा विद्या-सम्पन्न पुरुष थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता म० म० त्रिलोचन तथा म०म० धनंजय और अनुज म०म०

जगद्धर अपने समय के प्रतिष्ठित विद्वान् थे। साहित्य-रचना की दृष्टि से इन्होंने लगभग तीस ग्रन्थों की रचना की थी। 'काव्यप्रकाशविवरण' में अमृतोदय, शिवशतक, मदालसा नाटक तथा पदवाक्यरत्नाकर का उल्लेख हुआ है।

'काव्यप्रकाशविवरण' टीका का सम्पादन कविशेखर श्री बद्रीनाथ झा ने वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय से किया है।

२२. वैद्यनाथ

वैद्यनाथ ने 'काव्यप्रदीप' पर 'प्रभा' टीका और काव्यप्रकाश के महत्त्वपूर्ण पद्यों पर 'उदाहरणचन्द्रिका' की रचना की थी। 'उदाहरणचन्द्रिका' में चण्डीदास, सुबुद्धिमिश्र, दीपिकाकर, चक्रवर्ती तथा महेश आदि का नाम उपलब्ध होता है। दीपिकाकार से अभिप्राय गोविन्द ठक्कुर की 'उदाहरण-दीपिका' से है जयन्त-भट्ट से नहीं। इसी प्रकार महेश से अभिप्राय महेश्वर-भट्टाचार्य से है। 'उदाहरणचन्द्रिका' के अन्त में वैद्यनाथ ने अपना वंश परिचय दिया है तथा कालादि के विषय में लिखा है।[1] इस आधार पर कह सकते हैं कि ये वैद्यनाथ मैथिल वैयाकरण वैद्यनाथ से भिन्न है क्योंकि मिथिलावासी वैद्यनाथ वैयाकरण महादेव के पुत्र थे और नागोजीभट्ट के शिष्य थे। प्रभाकार वैद्यनाथ रामचन्द्र भट्ट के पुत्र थे और विट्ठलभट्ट के पौत्र थे। भीमसेनदीक्षित और नागोजीभट्ट के शिष्य थे। और नागेशभट्ट ने वैद्यनाथ का उल्लेख किया है। वैद्यनाथ के अनुसार उदाहरणचन्द्रिका का रचनाकाल सन् १६८३-८४ ई० है।

वैद्यनाथ नैयायिक थे। अतः 'काव्यप्रदीप' पर 'प्रभा' टीका की वैद्यनाथ ने नैयायिकशैली से रचना की थी। 'प्रभा' टीका के प्रथम उल्लास मेंवैद्यनाथ का कथन 'उदाहरणश्लोकार्थस्तु विस्तरेणास्मत्कृतोदाहरणचन्द्रिकायां द्रष्टव्यः', इसका प्रमाण है कि 'प्रभा' टीका की रचना उदाहरणचन्द्रिका के बाद की है।

'प्रभा' टीका का प्रकाशन 'काव्यप्रदीप' के साथ श्री दुर्गाप्रसाद तथा के० पी० परब द्वारा, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से १८९१, १९१२ ई० में

---

१. 'वियद् (०) वेद (४) मुनि (७) क्ष्मा (१) र्भिमितेऽब्दे कार्तिके सिते।
बुधाष्टम्यामिमं ग्रन्थं वैद्यनाथोऽभ्यपूरत्।"
इति श्रीमत्पद-वाक्य-प्रमाणाभिज्ञ-धर्मशास्त्र-पारावारपारीण-तत्सद्विट्ठल-भट्टात्मज-श्रीरामभट्टसूरिसूनुना वैद्यनाथेन रचितायां काव्यप्रकाशोदाहरण-विवृतावुदाहरणचन्द्रिकायां दशम-उल्लासः सम्पूर्ण इति।'
(बालबोधिनी में उद्धृत, प्रस्तावना पृ० ३२)

हुआ। बम्बई से ही १९३३ और १९४१ ई० में श्री एस० एस० सुखटणकर के सम्पादकत्व में भी प्रकाशन हुआ है।

२३. भीमसेन दीक्षित

'सुधासागर' टीका के रचनाकार भीमसेन दीक्षित हैं। टीका में भीमसेन-दीक्षित ने अनेक टीकाकारों का उल्लेख किया है जिनमें प्रमुख हैं चण्डीदास, भास्कर, देवनाथ, तर्कपञ्चाननाः, वाचस्पति मिश्राः, सुबुद्धि मिश्राः, मुरारि-मिश्राः, गोविन्द ठक्कुर, नरसिंह ठक्कुर, वैद्यनाथ आदि। सुधासागर टीका काव्यप्रदीप टीका का पूर्णतः अनुकरण करती है। टीका में कहीं-कहीं गोविन्द-ठक्कुर के मत का खंडन किया है, परन्तु खंडन के स्थलों को छोड़कर सम्पूर्ण टीका प्रदीप की छाया है। इसके अतिरिक्त उदाहरणों की व्याख्या में वैद्यनाथ की 'उदाहरणचन्द्रिका' को सुधासागरकार ने उद्धृत किया है।

भीमसेन दीक्षित ने अपने वंश और काल संबंधी परिचय टीका के आरंभ और अन्त में दिया है। उसके अनुसार ये शाण्डिल्यवंशीय, विविधयज्ञकर्त्ता, थे कान्यकुब्जजातीय गङ्गादास दीक्षित इनके मूलपुरुष थे जिनके वंश में वीरेश्वर-मुरलीधर-शिवानन्द इस क्रम से भीमसेन उत्पन्न हुए। भीमसेन का सम्पूर्ण परिवार भगवद्भक्त तथा पाण्डित्यसेवी था। 'सुधासागर' टीका वि० सं० १७७९ (१७२३ ई०) में लिखी गई।[1]

भीमसेन ने टीका लिखने का उद्देश्य बताया है—'कहां मैं मन्दमति और कहाँ काव्यप्रकाश जैसा गहन ग्रंथ? कलियुग में सहायता प्राप्त होना भी कठिन है। समाज में शिष्टों का आदर भी नहीं किया जाता। अतः मुझे महाप्रबन्ध रचने का यत्न नहीं करना चाहिए तथापि भगवान् श्रीकृष्ण की

---

१. श्रीमच्छाण्डिल्यवंशे कृतविविधमखः कीर्त्तिमान् दीक्षितोऽभूद्। गङ्गादासः प्रसिद्धः सुरगुरुसदृशः कान्यकुब्जाग्रगण्यः।
तस्माद् वीरेश्वराख्यस्तनय इह महाभाग्यवान् विष्णुभक्तो जातः सङ्कीर्तनीयः सकलबुधजनैर्भूपतीनां सभासु।
तस्माच्छ्रीमुरलीधरो हि कवितापाण्डित्यपुण्यावधि र्जातस्तस्य सुतौ त्रिलोचन-शिवानन्दौ गुणैस्तत्समौ।
शैवे वा पथि वैष्णवे समरसः श्रीमच्छिवानन्दतः। संजातः किल 'भीमसेन' इति सद्विद्याविनोदी कवि ॥
रचनाकाल—(संवद्ग्रहाश्वमुनिभू ज्ञाते (१७७९) मासे मधौ सुदि। त्रयोदश्यां सोमवारे समाप्तोऽयं सुधोदधिः ॥' (बालबोधिनी में उद्धृत पृ० ३३-३४)

कृपा से मुझे भय नहीं है।'[१] भीमसेन लिखते हैं कि प्रस्तुत टीका की रचना विवाद रहित, किसी खंडन हेतु शास्त्रार्थ न करते हुए विद्वानों को अपार हर्ष प्रदान करने के लिए की है। सुधासागर टीका सहृदयों के हृदयों को सन्तोष देने वाली एवं काव्यप्रकाश की विवृत्ति का रूप धारण करने वाली हो, यही टीकाकार की कामना है।[२]

आचार्य दीक्षित ने 'अलंकारसारोद्धार' तथा 'कुवलयानन्दखण्डन' नामक ग्रन्थों की रचना भी की है जिसका उल्लेख सुधासागर टीका में किया है।

सुधासागर टीका का प्रकाशन म० म० नारायणशास्त्री खिस्ते के सम्पादन में चौखम्वा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी से १९२७ ई० में हुआ है।

२४. नागेश भट्ट

'काव्यप्रदीप' पर लिखी 'उद्योत' टीका के रचयिता नागेश भट्ट हैं। नागेश भट्ट का अपर नाम नागोजी भट्ट भी है। उद्योत टीका में नागेश भट्ट ने चण्डीदास, उदाहरणदीपिकाकार तथा परमानन्द चक्रवर्ती आदि टीकाकारों को उद्धृत किया है। कहीं-कहीं कुवलयानन्दकार अप्पय्य दीक्षित के मत का भी उल्लेख और यत्र-तत्र खण्डन भी है। नागेश-भट्ट का जीवन-परिचय इनकी स्वचरित पुस्तकों में प्राप्त है। तदनुसार ये आश्वलायन-शाखीय महाराष्ट्रीय ब्राह्मण, 'काले' तथा 'उपाध्याय' उपनाम से सुशोभित पं० शिवभट्ट और सतीदेव के पुत्र थे।[३] महाराष्ट्रीय ब्राह्मण होकर भी इनका

---

१. क्वाहं मन्दमतिः क्व चातिगहनः काव्यप्रकाशाभिधो ग्रन्थः कुत्र सहायता कलियुगे कुत्रास्ति शिष्टादरः।
युक्तो नैव महाप्रबन्धरचने यत्नस्तथापि ध्रुवं, श्रीकृष्णाङ्घ्रिसरोजसेवन-परः शङ्के न किञ्चित् क्वचित्॥'

२. 'तस्येदानीं फलं मे भवतु सुहृदयस्वान्तसन्तोषकारि,
श्रीमत्काव्यप्रकाशोज्जवलविवृतिमयं श्रीसुधासागराख्यम्॥'
(१, २, बालबोधिनी, प्रस्तावना पृ० ३३-३४)

३. 'याचकानां कल्पतरोररिकक्षहुताशनात्। शृंगवेरपुराधीशाद् रामतो लब्ध-जीविकः॥
नागेश भट्टः कुरुते प्रणम्य शिवया शिवम्। काव्यप्रदीपकोद्योतमतिगूढा-र्थसंविदे।'
इति श्रीमदुपाध्यायोपनामक-शिवभट्टसुत-सतीगर्भज-नागोजीभट्टकृते लघुप्रदीपोद्योते दशम उल्लासः।' (बालबोधिनी, पृ० ३५)

निवास वाराणसी में था। वाराणसी निवास के कारण नागेशभट्ट ने अपनी टीका में 'भूयोभूयः सविध' तथा 'स्तोकेनोन्नति' की व्याख्या के समय 'वलभी' का अर्थ 'छज्जा' और तुला का अर्थ 'कांटा' किया है, महाराष्ट्र भाषा में प्रसिद्ध 'सज्जा' एवं 'तराजु' नही। नागेश भट्ट का रचनाकाल १८ वीं शताब्दी का प्रथम चरण है।

नागेश भट्ट ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। यदि इनके ग्रन्थों की गणना करें तो एक लम्बी श्रृंखला है। जैसे बृहन्मञ्जूषा, लघुमञ्जूषा, परमलघुमञ्जूषा, बृहच्छब्देन्दुशेखर, लघुशब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर, लघुशब्दरत्न, भट्टोजीदीक्षित कृत कौस्तुभ की 'विषमी' नामक टीका, कैयट कृत प्रदीप व्याख्या और व्याकरण महाभाष्य की व्याख्या, प्रत्याख्यान संग्रह, आचारेन्दुशेखर, तीर्थेंदुशेखर आदि बारह शेखर, रसगङ्गाधर पर गुरूमर्मप्रकाशिका, कुवलयानन्द पर अलंकारसुधा आदि अनेक ग्रन्थों का परिचय मिलता है।

'उद्योत' टीका की व्याख्या प्रदीपकार के आशय को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हुई है। कहीं-कहीं गोविन्द ठक्कुर से अधिक विस्तृत चर्चा नागेश ने की है। नागेश भट्ट ने वैयाकरण मत के अनुसार 'प्रदीप' टीका की व्याख्या की है।

'उद्योत' टीका का प्रकाशन उद्योत और प्रदीप सहित; आनन्दाश्रम सीरिज़ में १९११ ई० में तथा सं० पाठ प्रदीप सहित अध्याय १, २, ७ और १० उल्लास, अंग्रेजी भूमिका सहित प्रो० चान्दोरकर द्वारा पूना से किया गया है।

२५. वामनाचार्य झलकीकर

वामनाचार्य झलकीकर द्वारा रचित 'बालबोधिनी' टीका, आज काव्यप्रकाश के अध्ययन में अत्यन्त उपयोगी टीका है। प्रस्तुत टीका में अपने से पूर्ववर्ती लगभग उन्नीस टीकाओं का संग्रह किया गया है। काव्यप्रकाश टीका में वामनाचार्य ने अपना जीवन संबंधी परिचय दिया है। तदनुसार ये महाराष्ट्र के झलकी ग्राम के निवासी, शालङ्कायन गोत्र के, सरस्वती और रामचन्द्र के पुत्र तथा विट्ठलप्रभु के उपासक थे। 'बालबोधिनी' टीका की समाप्ति शक् वर्ष १८०४ कार्तिक शु० प्रतिपदा को हुई थी।[1] वामनाचार्य जी ने काव्यप्रकाश की व्याख्या में जहाँ कहीं भी पूर्ववर्ती टीकाकारों के मत

---

१. 'देशे महा महाराष्ट्रे पत्तनेपुण्यनामके। प्रधानपाठशालायामाङ्ग्लभूपनियोगतः अलङ्कार-व्याकरणाध्यापकेन सुमेधसा। कर्णाटके जनपदे नानाविद्याविभूषिते।। विजारपुरप्रान्तजुषा झलकीग्रामवासिना। सरस्वतीगर्भभुवा-

का उल्लेख किया है वहाँ टीकाकारों का या उनके ग्रन्थ का नाम अवश्य दिया है। जहाँ प्राचीनों की व्याख्या उपलब्ध नहीं थी या प्राचीन टीकाकारों ने न्यायपरिपाटी अनुसार अत्यन्त कठिन व्याख्या की थी, वहाँ उन स्थलों की व्याख्या वामनाचार्य ने सुगम रीति से की है। 'टीका' में पूर्ववर्ती टीकाकारों के अभिप्राय को कहीं-कहीं अनुवाद रूप में दिया है और कहीं अविकल रूप में। स्वयं वामनाचार्य का इस संबंध में कथन है 'प्रयत्नेन च सङ्गृह्य समालोच्य य यत्नतः। सारं ताभ्यः समुद्धृत्य टीकेयं क्रियते मया।।

वामनाचार्य व्याकरण के ज्ञाता तथा अध्यापक थे। यही कारण है कि वामनाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों की टीकाओं में व्याकरण-संबंधी अनेक त्रुटियों की ओर संकेत किया है। टीका की रचना का उद्देश्य वामनाचार्य जी ने निम्नलिखित पद्य में व्यक्त किया हैं—

"काव्यप्रकाशगम्भीरभावबोधो न चान्यतः।
इति हेतोर्मया यत्नः कृतोऽयं विदुषां मुदे।।'

प्रस्तुत टीका का पुनः प्रकाशन रघुनाथ दामोदर के संपादकत्व में सन् १९६५ में पूना से हुआ।

उपर्युक्त टीकाओं के अतिरिक्त हरिशंकर शर्मा की 'नागेश्वरी' टीका, महेशचंद्र की 'तात्पर्यविवरण' टीका तथा राघव की 'अवचूरि' टीका (पंचम-उल्लास तक) भी काव्य-प्रकाश के अध्ययन में सहायक सिद्ध हैं।

इस प्रकार इन टीकाओं के अतिरिक्त केवल नाममात्र से उपलब्ध टीकाओं की संख्या लगभग ६० है। इन टीकाओं में से अनेक टीकाओं के रचयिता का उल्लेख नहीं मिलता तथा कुछ टीकाकारों के केवल नाम उपलब्ध हैं, उनके द्वारा रचित टीकाओं के नाम प्राप्त नही होते हैं। अनेक टीकाओं का निश्चित समय भी उपलब्ध नहीं।

आज काव्यप्रकाश के संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अंग्रेजी, हिन्दी तथा मराठी भाषा के अनेक संस्करण हैं। अंग्रेजी भाषा में संपूर्ण ग्रन्थ पर टीका न होकर १, २, ३ तथा १० उल्लास पर ही विशेष उपलब्ध हैं। जैसे

महाराष्ट्रद्विजन्मना। रामचंद्रतनूजेन वामनाचार्यशर्मणा। काव्यप्रकाश-टीकेयं ग्रथिता बालबोधिनी। शाके वेदनभोष्टेन्दु प्रमिते (१८०४) मासि कार्तिके। संपूरिता शुक्लपक्षे टीकेयं प्रतिपत्तिथौ।

(बालबोधिनी, पृ० ७९०)

डा० गङ्गानाथ झा विरचित "ट्रीटाईज़ आन पोइटिकस्' काव्यप्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद, प्रथम, द्वितीय तथा दशम उल्लास तक, १९६३ में प्रकाशित हुआ था।

डा० एच् डी० वेलनकर द्वारा अंग्रेजी भूमिका, अनुवाद तथा नोट्स के साथ सम्पादित काव्यप्रकाश का प्रथम तथा द्वितीय उल्लास।

श्री पी० पी० जोशी द्वारा सम्पादित काव्यप्रकाश का केवल दशम उल्लास।

प्रो० चांदोरकर जी ने गोविन्द ठक्कुर के 'काव्य-प्रदीप' नागोजी भट्ट के 'उद्योत' के साथ काव्यप्रकाश के १, २, ७ और १० उल्लास, अंग्रेजी भूमिका के साथ प्रकाशित किए हैं।

श्री एस्० के० दीक्षित के द्वारा अंग्रेजी में विस्तृत भूमिका आदि के साथ उल्लास १-३ तथा १० का प्रकाशन हुआ है।

श्री अच्युताचार्य गजेंद्रगद्कर जी द्वारा विस्तृत भूमिका आदि के साथ सम्पादित तथा डा० एस० एन० गजेन्द्रकर द्वारा सम्पादित काव्यप्रकाश के १-३ तथा १० उल्लास।

डा० एच्० डी० शर्मा द्वारा काव्यप्रकाश के १-३ तथा १० उल्लास का अंग्रेजी अनुवाद।

डा० आर० सी० द्विवेदी सम्पादित, अंग्रेजी अनुवाद एवं विद्याचक्रवर्ती की संप्रदायप्रकाशिनी संस्कृत टीका सहित प्रथम ६ उल्लास।

श्रीकृष्ण शर्मा रचित 'रसप्रकाश' समेत डा० एस्० एन्० शास्त्री कृत अंग्रेजी भूमिका तथा व्याख्या से युक्त उल्लास १-५ तक।

इसी प्रकार हिन्दी भाषा में भी विस्तृत भूमिका तथा विशद व्याख्या सहित काव्यप्रकाश पर टीकायें लिखी गईं।

१. डा० हरदत्तशास्त्री तथा श्रीनिवासशास्त्री रचित 'प्रभा' नाम से हिन्दी व्याख्या का १९६१ ई० में मेरठ से प्रकाशन हुआ था।

२. डा सत्यव्रतसिंह रचित 'शशिकला' व्याख्या तथा टिप्पणी से युक्त, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी से १९६० ई० में प्रकाशित।

३. आचार्य विश्वेश्वर सिद्धांत शिरोमणि रचित काव्यप्रकाशदीपिका हिन्दी व्याख्या डा० नागेन्द्र के सम्पादकत्व में वाराणसी से प्रकाशित हुई।

मराठी में भी पूना से पं० अर्जुनवाड़कर मङ्गळूरकर जी ने काव्यप्रकाश पर विस्तृत टीका लिखी थी। जिसका प्रकाशन १९६२ ई० में हुआ था।

इस प्रकार टीकाओं की विस्तृत शृंखला देखते हुए निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि आज भी मम्मट का काव्यप्रकाश विद्वानों के लिए चिन्तन का ग्रन्थ बना हुआ है। समय के प्रवाह के साथ-साथ प्रत्येक चिन्तक ने अपनी-अपनी दृष्टि से ग्रन्थकार के भाव को टीका में अभिव्यक्त किया और ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषयों की थाह पाने का प्रयत्न किया है।

द्वितीय अध्याय

काव्यप्रदीप के कर्ता आचार्य गोविन्द ठक्कुर

'काव्यप्रकाश' की विविध टीकाओं की सुदीर्घ परंपरा में आचार्य गोविंद ठक्कुर तथा उनकी टीका 'काव्यप्रदीप' का नाम विद्वत्समाज में अत्यन्त आदरणीय है। यद्यपि इनके जीवन-सम्बन्ध के विषय में अत्यधिक जानकारी नहीं मिलती है, परन्तु फिर भी कुछ पुस्तकों में गोविन्द ठक्कुर के सम्बन्ध में जो सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर इनके समय और वंश-परंपरा का ज्ञान होता है।

वंश-परिचय

गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका के आरंभ में स्वविषयक परिचय दिया है जिससे ज्ञात होता है कि ये केशव और सोनदेवी के बड़े पुत्र, रुचिकर गोविन्द कवि के स्नेह-पात्र, कवि श्रीहर्ष के ज्येष्ठ भ्राता थे। रुचिकर गोविन्द-ठक्कुर के सौतेले भाई थे और आयु में बड़े थे।[1] श्रीहर्ष का निधन हो जाने से गोविन्द ठक्कुर अत्यन्त दुःखी होकर यह कहते हैं—

श्रीहर्षे त्रिदिवं गते मयि मनोहीने च कः शोधये-
दत्राशुद्धमहो महत्सु विधिना भारोऽयमारोपितः।[2]

गोविन्द ठक्कुर के भ्राता श्रीहर्ष के विषय में यह विवाद है कि नैषध के रचयिता श्रीहर्ष और गोविन्द ठक्कुर के भ्राता श्रीहर्ष एक ही व्यक्ति थे या दोनों भिन्न-भिन्न। इस शंका के निवारण हेतु कुछ तर्कों का उल्लेख किया गया है जिससे अन्तोगत्वा यही सिद्ध होता है कि गोविन्द ठक्कुर के भ्राता श्रीहर्ष और नैषध के रचयिता श्रीहर्ष दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे।

इस संबंध में सबसे प्रबल तर्क यह है कि प्रदीपकार के सहोदर श्रीहर्ष

---

१. 'सोनोदेव्याः प्रथमतनयः केशवस्यात्मजन्मा,
श्रीगोविन्दो रुचिकरकवेः स्नेहपात्रं कनीयान्।
श्रीमन्नारायणचरणयोः सम्यगाधाय चित्तं
नत्वा सारस्वतमपि महः काव्यतत्त्वं व्यनक्ति।' (काव्यप्रदीप, पृ० १)

२. काव्यप्रदीप, पृ० ४०३

केशवात्मज थे (जैसा कि ऊपर उल्लेख किया है) और 'नैषध' काव्य के रचयिता श्रीहर्ष हीरात्मज थे।[1]

'काव्यप्रदीप' टीका के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोविन्द-ठक्कुर के भ्राता श्रीहर्ष और 'नैषध' के श्रीहर्ष भिन्न व्यक्ति थे। 'काव्य-प्रदीप' टीका में गोविन्द ठक्कुर ने 'विरोधालंकार' विवेचन में 'यथा वा मद्-भ्रातुः श्रीहर्षस्य' से 'सर्वतः···क्रमः'[2] उदाहरण की चर्चा की है।

दूसरी ओर 'विशेषोक्ति' अलंकार निरूपण में 'भूभ्यां···तार्जि'[3] उदाहरण की चर्चा की है और इस उदाहरण के लिए लिखा है—इत्यादि नैषधदर्श-नात्।'

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर ने स्वयं ही यह सिद्ध किया है कि 'नैषध' रचयिता श्रीहर्ष और उनके भ्राता श्रीहर्ष दोनों भिन्न व्यक्ति थे। यदि दोनों एक ही व्यक्ति होते तो गोविन्द ठक्कुर 'विशेषोक्ति' अलंकार के उदाहरण के अवसर में भी 'यथा वा मद्भ्रातुः श्रीहर्षस्य' ऐसा ही प्रयोग करते।

पाश्चात्य विद्वान् पीटरसन का भी यही मत है कि नैषध काव्य के रचयिता श्रीहर्ष गोविन्द ठक्कुर के वंशज नहीं हैं। इसके प्रमाण के लिए पीटरसन कहते हैं कि गोविन्द ठक्कुर ने स्वयं एक स्थान पर यह कहा है कि उन्होंने काव्य और साहित्य की शिक्षा अपने बड़े एवं सौतेले भ्राता रुचिकर से ग्रहण की है।

पण्डित दुर्गाप्रसाद द्वारा सम्पादित 'काव्यप्रदीप' टीका के आरंभ की भूमिका में भी गोविन्द ठक्कुर के संबंध में कुछ जानकारी मिलती है। दुर्गा-प्रसाद जी के कथन द्वारा गोविन्द ठक्कुर के वंश और स्थान के विषय में ज्ञात होता है कि ये मिथिला के 'भटसीमरि' ग्राम के रहने वाले, रविकर वंश के

---

१. श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं।
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्॥'
(नैषध; सर्ग १, अन्तिम पद्य)

२. 'यथा वा मद्भ्रातुः श्रीहर्षस्य—'सर्वतः पुरत एव दृश्यते पात्रतां न पुन-रेति चक्षुषोः।
हृद्गतोऽपि भुजयोर्न भाजनं कोऽयमालि वनमालिनः क्रमः।'
(काव्यप्रदीप, पृ० ३५५)

३. काव्यप्रदीप, पृ० ३५०

तथा 'ठक्कुर' उपनाम से सुशोभित थे।[1]

दुर्गादास जी ने गोविन्द ठक्कुर के वंश-परंपरा को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

रविकर ठक्कुरः

प्रथमा-पत्नी — द्वितीया पत्नी

प्रथमा-पत्नी
बुद्धि ठक्कुरः
प्रथमा पत्नी (सोनोदेवी) = केशव ठक्कुरः = द्वितीया-पत्नी
गोविन्द ठक्कुरः। गोनू ठक्कुरः। हर्षठक्कुरः
ठक्रूठ ठक्कुरः। विद्यापति ठक्कुरः। दामोदर ठक्कुरः

द्वितीया-पत्नी (केशव ठक्कुरः)
रचिकर ठक्कुरः
महाई ठक्कुर

द्वितीया पत्नी
रविकर ठक्कुरः
कीर्ति ठक्कुरः
दूबन ठक्कुरः
कृष्ण ठक्कुरः
गदाधर ठक्कुरः
नरसिंह ठक्कुरः

समय—

गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में अपने जन्म-समय के विषय में स्वयं कोई चर्चा नहीं की है। माणिक्यचन्द्र आदि काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने अपने समय या कृतियों की रचनाकाल का स्वयं निर्देश दिया है, जिससे उनके समय के विषय में जानकारी प्राप्त करने में कठिनाई नहीं होती है।

सर्वप्रथम 'काव्यप्रदीप' टीका के अध्ययन से ही गोविन्द ठक्कुर के समय के विषय में कुछ सहायता मिलती हैं। 'प्रदीप' टीका में जिन पूर्ववर्ती आचार्यों की चर्चा की गई है, उनमें अन्तिम आचार्य विश्वनाथ हैं। 'काव्य-लक्षण' की चर्चा में आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट की जो आलोचना की, उसका उल्लेख

---

१. काव्यप्रदीप आरम्भिक भूमिका

प्रदीपकार ने अपनी टीका में किया है।[1] यद्यपि ग्रन्थ विशेष का या लेखक का गोविन्द ठक्कुर ने नाम निर्देश नहीं किया है परन्तु 'अर्वाचीनास्तु' से जिस मत को उद्धृत किया है उससे स्पष्ट है कि वह मत विश्वनाथ द्वारा किये गये आक्षेपों का निराकरण है। इस प्रकार 'काव्यप्रदीप' टीका में अन्य भी कई स्थलों पर विश्वनाथ के मत की चर्चा है। 'विश्वनाथ' के लिए 'अर्वाचीन' सम्बोधन यही सिद्ध करता है कि गोविन्द ठक्कुर का समय विश्वनाथ के पश्चात् पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के लगभग है।

'काव्यप्रदीप' टीका का उल्लेख उनके परवर्ती टीकाकरों में श्रीयशोविजयजीगणी, श्रीकमलाकर भटट, श्री नरसिह ठक्कुर तथा श्री भीमसेनदीक्षित आदि टीकाकारों ने किया है। इन टीकाकारों के आधार पर भी गोविन्द ठक्कुर के समय के विषय में जानकारी मिलती है। सर्वप्रथम टीकाकार यशोविजयी जी है जिन्होंने 'काव्यप्रकाश' टीका में अनेक बार गोविन्द ठक्कुर का उल्लेख किया है। श्रीमद्यशोविजयी जी गणी का समय १५८३ से १६८६ ई० माना गया है। अतः इस आधार पर यह कह सकते हैं कि गोविन्द ठक्कुर का समय १५८३ से पूर्व है अर्थात् पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के लगभग है।

श्रीकमलाकर भट्ट तथा नरसिंह ठक्कुर के आधार पर यदि गोविन्द ठक्कुर के समय का निर्धारण करें तो इस आधार पर उनका समय सोलहवीं शताब्दी के लगभग ठहरता है। नरसिंह ठक्कुर गोविन्द ठक्कुर के वंश में ही उत्पन्न, गोविन्द ठक्कुर से पांचवीं पीढ़ी में आते हैं। नरसिंह ठक्कुर ने कमलाकर भट्ट के निर्णयसिन्धु ग्रन्थ की आलोचना की है। अतः नरसिंह ठक्कुर कमलाकर भट्ट से अर्वाचीन हैं। इसलिए नरसिह ठक्कुर से पूर्व कमलाकर भट्ट से ही गोविन्द ठक्कुर के स्थितिकाल का अनुमान हो सकता है। कमलाकर भट्ट ने अपने स्थितिकाल का स्वरचित निर्णयसिन्धु ग्रन्थ की समाप्ति में उल्लेख किया है।[2] जिसके अनुसार कमलाकर भट्ट का स्थितिकाल १६१२

---

१. 'अर्वाचीनास्तु—'यथोक्तस्य काव्यलक्षणत्वे काव्यपदं निर्विषयं प्रविरलविषयं वा स्यात्। दोषाणां दुर्वारत्वात्। तस्मात् 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' 'इति तल्लक्षणम्।' (काव्यप्रदीप, पृ० ।।)

२. वसु (८) ऋतु (६) ऋतु (६) भू (१) मिते गतेऽब्दे नरपति-विक्रमतोऽथ याति रौद्रे। तपसि शिवतिथौ समापितोऽयं रघुपतिपादसरोरुहेऽर्पितश्च ॥
(बालबोधिनी टीका में उद्धृत प्रस्तावना पृ० ३१)

ई० रहा है। अतएव स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर का समय १६१२ ई० के पूर्व है।

अठारहवीं शताब्दी में रचित 'सुधासागर' टीका के रचयिता भीमसेन-दीक्षित ने टीका में गोविन्द ठक्कुर का उल्लेख 'अर्वाचीन' टीकाकार के रूप में किया है।

अन्त में म० म० काणे के अनुसार यही कहा जा सकता है कि गोविन्द ठक्कुर का समय १४००-१५०० ई० के मध्य में है।

रचनाएँ

यह तो सर्वविदित है कि 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ पर बारहवीं शताब्दी से अब तब लिखी गई विविध टीकाओं में गोविन्द ठक्कुर की 'काव्यप्रदीप' टीका महत्त्वपूर्ण टीका है। 'काव्यप्रदीप' टीका के अतिरिक्त गोविन्द ठक्कुर की अन्य रचनाएं भी हैं जिसका उल्लेख 'काव्यप्रदीप' टीका में स्वयं गोविन्द ठक्कुर ने किया है।[1] वे रचनाएं हैं—'उदाहरणदीपिका, 'श्लोकदीपिका तथा 'पूजाप्रदीप'।

काव्यप्रदीप

'काव्यप्रकाश' के विविध विषयों को प्रकाशित करने में 'काव्यप्रदीप' टीका अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई है। गोविन्द ठक्कुर ने मौलिक प्रतिभा द्वारा काव्यप्रकाश में प्रतिपाद्य विषयों का सर्वथा नवीन रूप में पुनराख्यान किया है। 'काव्यप्रदीप' टीका के महत्व का स्वयं गोविन्द-ठक्कुर ने भी उल्लेख किया है—

"परिशीलयन्तु सन्तो मनसा संतोषशीलेन।
इममद्भुतं प्रदीपं प्रकाशमपि यः प्रकाशयति ॥[2]

'काव्यप्रदीप' टीका में गोविन्द ठक्कुर ने आचार्य भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, महिमभट्ट, भोजराज, विश्वनाथ आदि आचार्यों एवं भास्कर तथा चण्डीदास आदि टीकाकारों का उल्लेख किया है।

उदाहरणदीपिका

गोविन्द ठक्कुर की 'उदाहरणदीपिका' 'काव्यप्रकाश' के अन्तर्गत उदाहरणार्थ दिए गए पद्यों की विशद व्याख्या है। डा० सुशीलकुमार डे का अनुमान है कि

---

१. 'दीपिकाद्वितयं कन्ये प्रदीपद्वितयं सुतौ।
स्वमतौ सम्यगुत्पाद्य गोविन्दः शर्म विन्दति।"
—(काव्यप्रदीप, अन्तिम पद्य पृ० ४०३)

२. काव्यप्रदीप, वही पृष्ठ।

स्टीन ने जिस श्लोकदीपिका का उल्लेख किया है, वह 'उदाहरणदीपिका' ही है।[1] वैद्यनाथ ने अपनी टीका में 'दीपिकाकार' शब्द से 'उदाहरणदीपिका' का ही उल्लेख किया है, जयन्त भट्ट' की 'दीपिका' का नहीं क्योंकि 'उदाहरण-चन्द्रिका' में दीपिकाकार के नाम से जिस मत का प्रतिपादन किया है वह 'जयन्त भट्ट' की दीपिका में उपलब्ध नहीं है। प्रो० धुंडिराज गोपाल सप्रे का कहना है कि 'उदाहरणदीपिका' और 'उदाहरणचन्द्रिका' ये दोनों टीकाएं काव्यप्रकाश के उदाहरणों की व्याख्या के लिए ही लिखी गई हैं। 'उदाहरण-चन्द्रिका' में दूषणार्थ अथवा भूषणार्थ यदि उद्धहरण देने हैं तो वे 'उदाहरण-दीपिका' से ही दिये जाने उचित हैं।[2]

पूजाप्रदीप

'पूजाप्रदीप' के आरंभ में दिए गए पद्यों से ज्ञात होता है कि इन्होंने हयग्रीवोपासक तार्किक एवं आलंकारिक चूड़ामणि, बंगाल के 'जैसौर' जिले के जमींदार श्री भवानन्दराय के आश्रय में रहकर 'पूजाप्रदीप' आदि ग्रन्थों की रचना की थी।[3]

गोविन्द ठक्कुर का कविरूप

'काव्यप्रदीप' टीका के अध्ययन से ही गोविन्द ठक्कुर की कवित्व प्रतिभा का परिचय मिलता है। सम्पूर्ण टीका में १२ स्थानों पर गोविन्द ठक्कुर का कविपक्ष उभरकर आया है। कही-कहीं गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के उदाहरणों का खण्डन करते हुए स्वरचित उदाहरणों की चर्चा की है। जैसे प्रथम उल्लास के 'चित्रालंकार' काव्य भेद की चर्चा करते हुए मम्मट के उदाहरण का खण्डन

---

१. History of Sanskrit Poetics.

२. आचार्य मम्मट, पृ० ३३

३. 'न श्लाघन्ते त्रिदशगुरवे यस्य विद्यां विदन्तो, नासेवन्ने जलधितनयां येन दृष्टाः कृपार्द्रम्।
नाकाङ्क्षन्ति क्वचिदपि सुधां यस्य काव्यं पिबन्तः, सन्तःसोऽयं जयति-जगति श्रीभवानन्दरायः ।।
श्रीमत्केशवतनयो गोविन्दस्तन्निदेश (मनु) वर्ती। प्रकटयति धर्मपदवीं पूजाकर्म-प्रदीपेन ।।
तथा अन्तिम पद्य—श्रीमद्भवानन्द-निदेशवर्ती गोविन्दशर्मा गुरुभक्तियुक्तः
उपासकानामुपकारहेतोः पूजाप्रदीपं कृतवान् विमृश्य ।।
(आचार्य मम्मट पृ० ३३-३४)

किया है और 'मदीयं तु पद्यमुदाहरणीयम्' लिखकर 'मध्येव्योम' उदाहरण दिया है।[1] इस उदाहरण के विषय में गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि यह रूपकालंकार का सुन्दर उदाहरण है। इसी प्रकार 'काव्यप्रदीप' में पृष्ठ ३८, ७९, १९५, २५१, २७०, २८८, २९३, ३०२, ३३९ में गोविन्द ठक्कुर के स्वरचित पद्यों का उल्लेख है।

गोविन्द ठक्कुर की प्रशंसा करते हुए वामनाचार्य 'वालबोधिनी' टीका में लिखते हैं कि 'प्रदीपोऽपि प्रवेष्टुमीष्टे, इति लिपिभूयस्त्वादुपरम्यते।'

नैयायिक रूप

गोविन्द-ठक्कुर प्रमुख रूप से नैयायिक थे, जिसका परिचय 'काव्यप्रदीप' टीका में मिलता है। 'काव्यहेतु' में 'हेतुस्तदुद्भवे' की व्याख्या गोविन्द ठक्कुर ने न्यायशास्त्र के दण्डचक्रसूत्रादि सिद्धान्त द्वारा की है। 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय उल्लास में लक्षणा के लक्षण 'मुख्यार्थबाधेतद्योगे'[2] कारिका की व्याख्या गोविन्द ठक्कुर ने नैयायिक रीति 'यदिति गुणीभूतक्रियाविशेषणम्' से की है। अष्टमउल्लास में गुण और अलंकार का भेद भी नैयायिक शैली से स्पष्ट किया है। इस प्रकार अनेक स्थलों पर प्रदीप टीका में शास्त्रीय न्याय की चर्चा की गई है।

काव्यप्रदीप की टीकाएँ

गोविन्द ठक्कुर की बहुमुखी प्रतिभा तथा पाण्डित्य के कारण मम्मट के काव्यप्रकाश ग्रन्थ की भांति 'काव्यप्रदीप' टीका भी इतनी दुर्बोध और सूक्ष्म रहस्यों से पूर्ण हो गई जिसके फलस्वरूप इस टीका पर नैयायिक वैद्यनाथ ने 'प्रभा' और वैयाकरण नागेश भट्ट ने 'उद्योत' टीकाओं की रचना की।

प्रभा

वैद्यनाथ ने 'काव्यप्रदीप' पर 'प्रभा' टीका की रचना की थी। ये वैद्यनाथ मैथिल वैयाकरण वैद्यनाथ से भिन्न थे क्योंकि मिथिलावासी वैद्यनाथ वैयाकरण महादेव के पुत्र थे और नागोजी भट्ट के शिष्य थे और प्रभाकार वैद्यनाथ रामचन्द्रभट्ट के पुत्र थे। 'प्रभा' टीका के अन्त में 'प्रदीप' की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए वैद्यनाथ का कथन है—

> 'काव्यप्रकाशगम्भीरभावबोधो न चान्यतः।
> इति प्रदीपगम्भीरभावार्थद्योतनं कृतम्।'[3]

---

१. काव्यप्रदीप पृ० १६

२. काव्यप्रकाश, कारिका २-९

३. प्रभा, काव्यप्रदीप, अन्तिम पद्य

(प्रभा टीका का विस्तृत विवेचन 'भूमिका' में 'काव्यप्रकाश की टीकाओं के क्रमबद्ध अध्ययन' में किया गया है ।)

उद्योत

अनेक स्थानों पर 'काव्यप्रदीप' का खण्डन करते हुए वैयाकरण नागेशभट्ट ने 'उद्योत' टीका की रचना की । 'उद्योत' टीका में नागेशभट्ट ने चण्डीदास, उदाहरणदीपिकाकार आदि टीकाकारों को उद्धृत किया है । काव्यप्रकाश के 'दशमउल्लास' के अलंकार-विवेचन में नागेश भट्ट ने कुवलयानन्दकार अप्पय्य दीक्षित तथा रसगंगाधर आचार्य जगन्नाथ का उल्लेख किया है और यत्र-तत्र उनका खण्डन भी किया है । नागेशभट्ट का जीवन संबंधी परिचय इनके लिखित ग्रन्थों में उपलब्ध हैं । ये १८वीं शताब्दी के प्रथम-चरण में उत्पन्न, ब्राह्मण, महाराष्ट्रीय 'उपाध्याय' उपनाम से सुशोभित, पं० शिवभट्ट और सतीदेव के पुत्र थे । 'उद्योत' टीका की व्याख्या प्रदीपकार के भावों को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हुई है । 'उद्योत' टीका के अन्त में 'काव्यप्रदीप' टीका की प्रशंसा करते हुए नागेशभट्ट का कथन है—

'काव्यप्रदीपकोद्योतमतिगूढार्थसंविदे ।
सेतौ नागेशबद्धेऽस्मिन्नलङ्कारमहोदधेः ।
सतां मतिः सञ्चरतां यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥'[1]

('उद्योत' टीका का विस्तृत विवेचन 'भूमिका' में 'काव्यप्रकाश' टीकाओं के क्रमबद्ध अध्ययन' में किया गया है ।)

अतएव 'काव्यप्रदीप' टीका के भावों को स्पष्ट एवं सहजगम्य करने में 'प्रभा' और 'उद्योत' टीकाओं की रचना महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है ।

गोविन्द ठक्कुर बहुमुखी प्रतिभा वाले आचार्य थे, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि 'काव्यप्रदीप' टीका में गोविन्द ठक्कुर ने सर्वत्र मम्मट के भावों का अनुकरण नहीं किया है अपितु कई स्थलों पर मम्मट से भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए विस्तृत व्याख्या की है । काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, अभिधा शक्ति, लक्षणा शक्ति, दोष, गुण तथा अलकार विवेचन में मम्मट के भावों का विस्तार किया और कहीं खण्डन भी किया है ।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि गोविन्द ठक्कुर की 'काव्यप्रदीप' टीका अतीत की समस्त उपलब्धियों को अपने में समेटकर आधुनिक मान्यताओं का दिग्दर्शन कराती हुई, काव्यप्रकाश की विविध टीकाओं में उच्च स्थान की

---

१. उद्योत, अन्तिम पद्य ।

अधिकारी है। कतिपय तथ्यों के आधार पर गोविन्द ठक्कुर का समय पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी निश्चित किया गया है। इनकी कृतियों में 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ पर लिखी गई 'काव्यप्रदीप' टीका ही विशेष प्रसिद्ध है। 'सुधासागर' टीका में आचार्य भीमसेन दीक्षित ने इन्हें आधुनिक 'काव्यप्रदीपकारादयस्तु' से सम्बोधित किया है।

काव्यप्रदीप के संस्करण

'काव्यप्रदीप' टीका का प्रकाशन अनेक स्थानों से हुआ है। जैसे—

१. केवल 'प्रदीप' के साथ 'काव्यप्रकाश' का प्रथम प्रकाशन पण्डित पत्रिका के चार अंकों में १८८८-१८९१ ई० में हुआ था।

२. 'काव्यप्रदीप' टीका का वैद्यनाथ की 'प्रभा' टीका के साथ प्रथम संस्करण १८९१ में, द्वितीय संस्करण १९१२ ई० में निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ।

३. नागोजी भट्ट के 'उद्योत' के साथ केवल १, २, ७, १० उल्लास, पूना के डी० टी० चांदोरकर के संपादकत्व में १८९६, १८९८ तथा १९९५ ई० में 'काव्यप्रदीप' टीका का प्रकाशन हुआ।

४. 'काव्यप्रदीप' टीका का 'उद्योत' टीका के साथ प्रकाशन पं० वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर जी के सम्पादकत्व में १९११ ई० में आनन्दाश्रम पूना से हुआ।

५. 'प्रदीप, उद्योत, प्रभा, (रुचकक्रृत) संकेत एवं बालचित्तानुरंजनी टीका के साथ काव्यप्रकाश के १, २, ३, १० उल्लास श्री एस० एस० सुखटणकर के संपादकत्व में १९३३ और १९४१ ई० में बम्बई से प्रकाशित हुए। प्रस्तुत संस्करण की विशेषता यह है कि ग्रन्थ के अन्त में संपादक की आंगल भाषा में वैदुष्यपूर्ण टिप्पणियां भी है, परन्तु वे संक्षिप्त हैं।

६. काव्यप्रकाश का प्रदीप, उद्योत, प्रभा, संकेत, चन्द्रिका आदि टीकाओं सहित केवल दशम उल्लास ही श्री हरदत्त शर्मा के संपादकत्व में पूना से सन् १९५१ (द्वितीय संस्करण) में प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में संपादक की प्रदीप टीका के संबंध में कहीं-कहीं महत्त्वपूर्ण टिप्पणियां भी हैं।

७. 'काव्यप्रदीप' टीका का 'प्रभा' टीका के साथ प्रकाशन पंडित दुर्गादास के संपादकत्व में निर्णसागर प्रेस से १९३३ में हुआ।

८. वामनाचार्य की 'बालबोधिनी' टीका में भी 'काव्यप्रदीप' टीका के कुछ अंश उद्धृत हैं।

सौभाग्य से 'प्रदीप' टीका के संस्करणों में अन्तर नहीं है।

तृतीय अध्याय

काव्य-विवेचन

प्रस्तुत अध्याय में 'काव्यप्रदीप' टीका का पूर्ववर्ती तथा परवर्ती टीकाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए दो मुख्य विषयों का निरूपण किया गया है—(१) काव्य माहात्म्य सूचक मम्मट की मंगलाचरण कारिका, (२) काव्य-विवेचन। 'काव्य-विवेचन' के अन्तर्गत मुख्यतः चार विषय आते हैं—प्रयोजन, हेतु, लक्षण और भेद। 'प्रयोजन' से अभिप्राय है कि कवि किस उद्देश्य से काव्य की रचना में प्रवृत्त होता है। सोद्देश्य रचना करने में उसको किन साधनों की आवश्यकता पड़ती है अर्थात् कवि की विलक्षण कृति-काव्य का उद्भव कैसे होता है? इन बातों का विचार करके कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण 'काव्य-हेतु' प्रसंग में किया गया है। सोद्देश्य एवं साधन-सम्पन्न होने पर वह जिस काव्य की रचना करता है, उसका मूल तत्त्व क्या है जिससे उसका (काव्य का) स्वरूप निर्धारण किया जा सके। अन्त में काव्य के भेदों पर भी विचार किया गया है। इस प्रकार ये चारों विषय काव्य के विवेचन से सम्बद्ध हैं। गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में इन विषयों का इसी क्रम से विवेचन किया है।

भारतीय साहित्य में संस्कृत आचार्यों की यह परंपरा रही है कि वे अपनी रचना के आरम्भ में मंगलाचरण करते हैं जिसका अभिप्राय है कि रचनाकार अपने इष्टदेव से इस फल की साधना करते हैं कि उनकी रचना उत्तम तथा निर्विघ्न हो। अतः उनका इष्टदेव उस अदृष्ट शक्ति को प्रदान करे जिसके फलस्वरूप उनकी रचना मंगलमय एवं ख्यातिप्रद हो। प्राचीन आचार्यों की परंपरा का निर्वाह करते हुए मम्मट ने भी अपने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मंगलाचरण से 'काव्यप्रकाश' का आरंभ किया है। मंगलाचरण का कारिका है—

> नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
> नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥[1]

वृत्ति में मम्मट ने कारिका को अधिक स्पष्ट किया है। मम्मट लिखते हैं कि विधाता की सृष्टि नियति की शक्ति से नियत है जिसका स्वभाव सुख-

---

१. काव्यप्रकाश १-१.

दुःख तथा मोहात्मक है। परमाणु आदि कारणों के अधीन है। इसमें छः रस है किन्तु उन रसों द्वारा वह (सृष्टि) हृदय को प्रिय लगने वाली नहीं है। कवि की सृष्टि इन नियमों से रहित केवल आनन्दमयी है। जयति शब्द से नमस्कार अभिव्यक्त होता है अतएव ग्रन्थकार कवि-भारती के प्रति प्रणत है।

गोविन्द ठक्कुर ने भी संस्कृत परंपरा के अनुसार 'श्रीमन्नारायणचरणयोः सम्यगाधाय चित्तं नत्वा सारस्वतमपि महः काव्यतत्वं व्यनक्ति' में इष्टदेव का स्मरण करते हुए 'काव्यप्रदीप' टीका का आरंभ किया है। मम्मट के मंगलाचरण की कारिका में प्रयुक्त 'जयति' शब्द की विशेष व्याख्या की है। 'जयति' के अतिरिक्त गोविन्द ठक्कुर ने मंगलश्लोक के अन्य घटकों की भी व्याख्या की है परन्तु यहाँ प्रदीपकार अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों के ऋणी हैं। यदि गोविन्द ठक्कुर की टीका 'काव्यप्रदीप' की विवेचना करते हुए 'प्रदीप' की पूर्ववर्ती टीकाओं का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गोविन्द-ठक्कुर ने पूर्ववर्ती टीकाकारों के भावों को कहाँ तक ग्रहण किया है।

नियतीकृतनियमरहिता

संकेत—संकेत टीका में माणिक्यचन्द्र ने नियति शब्द का अभिप्राय 'दैवीशक्ति' से लिया है। दैव सर्व पदार्थों को नियम आदि से नियमित करता है। पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च-कर्मेन्द्रियाँ, पञ्चभूत, पञ्चविषय तत्व आदि इसके अधीन हैं। संकेतकार ने नियति शब्द को शैव-दर्शन का शब्द माना है। शैव-दर्शन के ३६ तत्त्वों में से एक 'नियति' है। इस प्रकार नियति का अर्थ स्पष्ट करने के पश्चात् माणिक्यचन्द्र मम्मट के भाव को स्पष्ट करते हैं कि कवि की सृष्टि नियति के नियमों से रहित है। काव्य-जगत् में कवि अचेतन-भावों का चेतनवत् एवं चेतन का अचेतनवत् वर्णन करता है। इस प्रकार कवि अपनी प्रतिभा से विधाता की सृष्टि के नियमों से रहित होकर काव्यनिर्माण करता है।[1]

बालचित्तानुरंजनी तथा सारबोधिनी—'बालचित्तानुरंजनी' तथा 'सार-बोधिनी' टीकाओं में श्रीनरहरिसरस्वतीतीर्थ तथा श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने नियति शब्द का अर्थ 'अदृष्ट' और 'असाधारण धर्म' किया है। टीकाकार

---

१. 'नियतिः सर्वपदार्थानां निजनिजसंस्थानमानवर्णादिव्यवस्थानियमहेतुर्दैव पर्यायान्तरं पञ्चभूतपञ्चकर्मेन्द्रियपञ्चबुद्धीन्द्रियपञ्चविषयत्त्वादिशिवतत्त्व-पर्यन्तशैवशास्त्रोक्तषट्त्रिंशत्तत्त्वमध्योक्तं तत्त्वान्तरं, तत्कृतेन नियमेन रहितां तां तथा। यतोऽस्यां चेतना अपि भावाः कविना निबध्यमाना अचेतनवत् अचेतना अपि चेतनवत् प्रतिभासन्ते'। (संकेत, पृ० २)

लिखते हैं कि सुगन्ध आदि धर्मों को नियत करने के कारण असाधारणधर्म कमलत्वादि नियति कहलाते हैं। 'कवि सृष्टि नियमों से रहित है' इस भाव का स्पष्टीकरण कमल और मुख के दृष्टान्त से किया है। विधाता की सृष्टि का यह नियम है कि जहाँ कमलत्व है वहाँ सौरभ है परन्तु काव्य-जगत् में मुख से भी सौरभ हो सकता है। श्रीभट्टाचार्य ने 'अपारे काव्यसंसारे' उक्ति से इस भाव को और अधिक स्पष्ट किया है जिसका अभिप्राय है कि इस काव्यरूपी संसार में कवि ही प्रजापति है। उसे जैसा रुचिकर है वैसा कि परिवर्तन कर सकता है।[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में 'नियतिशब्दनियम-रहिता' की व्याख्या अपनी पूर्ववर्ती टीकाओं 'बालचित्तानुरंजनी और सार-बोधिनी' के अनुसार ही की है। 'नियम्यन्ते सौरभादयो धर्मा अनेनेति नियतिरसाधारणः पद्मत्वादिरूपो धर्मोऽदृष्ट वा' से स्पष्ट है कि प्रदीपकार ने भी नियति का अर्थ 'अदृष्ट' या 'असाधारण' धर्म किया है। अतः गोविन्द-ठक्कुर की इस व्याख्या में नवीनता नहीं है।

प्रभा—प्रभा टीका में वैद्यनाथ ने मम्मट के इस कथन को कवि-सृष्टि प्राकृतिक नियमों से रहित है 'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी' के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है। जिसका अभिप्राय है कि प्राकृतिक नियमों के अनुसार इस शरीर को त्यागकर ही स्वर्ग-प्राप्ति होती है परन्तु काव्य-जगत् में तो इस शरीर से भी स्वर्ग-प्राप्ति संभव है।[2]

ह्लादैकमयी

'ह्लादैकमयी' का भाव गोविन्द ठक्कुर तथा उनके पूर्ववर्ती टीकाकारों ने एक जैसा दिया है। जिसका अभिप्राय है कि विधाता की सृष्टि त्रिगुणात्मक

---

१. (१) नियम्यते कमलसौगन्ध्यादिकं अनयेति असाधारणो धर्मः कमल-त्वादिर्नियतिः तया कृतोयो नियमः तद्रहिताम्, ताम्। मुखादिकमल-त्वादिना ताद्रूप्यनियमात् अथवा अयं दरिद्रोऽयमीश्वर इति नियम्यतेऽनेनेति नियतिर्विधिः।

(ii) नियतिरदृष्टम्। ...तदुक्तम्—'अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते॥' 'इति। यद्वा नियम्यन्ते भावा अनेनेति नियतिरसाधारणो धर्मस्तत्कृतो नियमः। यत्र पद्मत्वं तत्र सौरभ विशेष इत्यादिरूपस्तद्रहितां काव्ये मुखादावपि तदुपगमात्॥'

(बालचित्तानुरंजनी, पृ० ४, सारबोधिनी, पृ० ५)

२. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० २

सत्त्व, रज और तमोगुण के अधीन है। त्रिगुणात्मक होने के कारण सुख-दुःख तथा मोह इसके स्वभाव हैं। परन्तु कवि की सृष्टि इन तीन गुणों के अधीन न होकर केवल आनन्दस्वरूपा है।[1] गोविन्द ठक्कुर ने 'ह्लादैकमयी' का विग्रह दो प्रकार से किया है—१. ह्लादेनैकमयीमेकस्वभावाम्, २. 'ह्लादमात्र-स्वभावामिति यावत्।'

प्रभा—प्रभा टीका में वैद्यनाथ ने स्पष्ट किया है कि प्रदीपकार के 'ह्लादेनैकमयीमेकस्वभावाम्' विग्रह में अभेद में तृतीया विभक्ति है 'धान्येन धनमयोग्राम' की भाँति।

'ह्लादमात्रस्वभावामिति यावत्' विग्रह में 'एक' शब्द का अर्थ 'मात्र' है 'एकशब्दो मात्रार्थे'। 'मात्र' पद द्वारा दुःख, मोह आदि का निषेध हो जाता है। मात्र का प्रयोग प्रचुर अर्थ में भी है। कवि की सृष्टि आनन्दात्मक होती है यहां तक कि लोक में वर्णित शोक, वियोग आदि भाव भी काव्य जगत् में अलौकिक आनन्द की सृष्टि करते हैं। अतएव कवि-सृष्टि को आनन्द प्रचुरा कहा है।[2] वैद्यनाथ ने स्पष्ट किया है कि मम्मट ने सांख्य-सिद्धान्त अनुसार 'सुखदुःखमोह' की व्याख्या की है। वैद्यनाथ का यह विवेचन 'सारबोधिनी' टीका के समान है।

'सत्त्व', 'रज' और 'तम' को स्पष्ट करते हुए वैद्यनाथ लिखते हैं कि कामिनी का अपने स्वामी के प्रति अपने रूप यौवन का शृंगार सुख की सृष्टि करता है जो सत्त्व से संबंधित है। सपत्नी के प्रति दुःख करना रज से संबंधित है। स्वमलभमानं अर्थात् न प्राप्त होने पर मोह उत्पन्न होता है जो तम से संबंधित है।[3]

---

१. (i) 'ह्लादः सुखम्। एकशब्दो मात्रार्थः। मयट् स्वार्थे। सुखमात्रस्य जनिकाम्। न तु दुःखमोहयोः। अन्येषां भावानां सुखदुःखमोहात्मकता। सर्वे त्रिगुणा भावा इति सांख्यवचनात्। यद्वा प्राचुर्ये मयट् ह्लादैकप्रचुरामित्यर्थः'। (सारबोधिनी, पृ० ५)

(ii) 'नियतेः शक्त्या नियतरूपा सुखदुःखमोहात्मकसत्त्वरजस्तमोलक्षणगुणत्रयात्मकत्वाद्विश्वस्य सुखदुःखमोहस्वभावा।' (काव्यप्रदीप, पृ० ४)

२. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० २

३. 'एकस्या एव कामिन्याः कंचित्प्रति सुखात्मकसत्त्वसमुद्भूतत्वम्, सपत्नीं प्रति दुःखात्मकरजः समुद्भूतत्वम्, स्वमलभमानं प्रति तमोरूपमोहसमुद्भूतत्वमिति रीत्या सर्वपदार्थानां सुखदुःखमोहात्मकत्वमिति सांख्यमतानु, सारेणेदम्।' (प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ४)

अनन्यपरतन्त्रा

'अनन्यपरतन्त्रा' का अभिप्राय है कि विधाता की सृष्टि परमाणु आदि समवायि-कारण और कर्म आदि सहकारि कारण के अधीन है परन्तु कवि-कृति अन्य कारणों के अधीन नहीं।

बालचित्तानुरंजनी टीका में श्रीनरहरि सरस्वतीतीर्थ ने मम्मट के 'कर्मा-सहकारि दिसहकारिकारण' का अभिप्राय 'अदृष्टदिक्कालादि निमित्तकारण' से दिया है।[1]

काव्यप्रदीप—ब्रह्मा का सृष्टि से कवि सृष्टि की उत्कृष्टता बताते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि विधाता की सृष्टि परमाणु आदि समवायि-कारण तथा स्पन्द आदि सहकारि कारणों के अधीन है; परन्तु कवि की सृष्टि इससे विलक्षण है। कवि-वाणी अनन्यपरतन्त्रा है अर्थात् कवि-वाणी अपनी प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य किसी वाह्य-सामग्री की अपेक्षा नहीं रखती। कवि-सृष्टि तो कवि की प्रतिभा का सहसा प्रस्फुटित होना है।[2] अतः स्पष्ट है कि शब्दादि भी कवि प्रतिभा का अनुसरण करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर ने विधाता की सृष्टि में समवायी, असमवायी तथा निमित्त तीनों कारणों का ग्रहण माना है 'परमाण्वादि यत् समवायिकारणं तदीयश्च यः स्पन्दस्तत्प्रभृतिसहकारिपरतन्त्रा।"

प्रभा—प्रभा टीका में वैद्यनाथ ने स्पष्ट किया है कि अनन्यपरतन्त्रा में 'परतन्त्र' शब्द का अर्थ अधीन किया गया है, पराधीन नहीं। वैद्यनाथ ने अमरकोश की उक्ति को उद्धृत किया है—'परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथ-वानपि। अधीनो निघ्नआयत्तोऽस्वच्छन्दो गृह्यकोऽप्यसौ' इस वचन के अनुसार 'परतन्त्र' शब्द केवल 'अधीन' अर्थ का भी वाचक माना गया है।

उद्योत—उद्योत टीका में नागेश भट्ट ने गोविन्द ठक्कुर के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रतिभा का जागरित होना किसी नियमित कारणों का आधार नहीं होता अपितु प्रतिभा सब प्रकार के बन्धनों से रहित होती है जैसे आदिकवि वाल्मीकि के मुखारविन्द से अनायास निकला हुआ शोक श्लोक उनकी प्रतिभा का द्योतक है। 'प्रतिभा' ही काव्य की जननी है।[3]

---

१. बालचित्तानुरंजनी, पृ० ४

२. 'कवेस्तत्प्रतिभायाश्चान्यो य आत्मनः परस्तदायत्तत्वरहिताम्।'
(काव्यप्रदीप पृ० ३)

३. उद्योत, पृ० ३

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर तथा उनके टीकाकारों ने कवि-वाणी को सब प्रकार के बंधनों से रहित माना है। 'प्रतिभा' को कवित्व का मूल-कारण माना है।

नवरसरुचिरा

सारबोधिनी—सारबोधिनी टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने 'नवरसरुचिरा' में बहुव्रीहि गर्भकर्मधारय समास माना है। विग्रह किया है 'नवरसा चासौ रुचिरा चेति कर्मधारयः' संख्यापूर्वक होने से भी द्विगु समास का निषेध किया है 'बहुव्रीहेरेव संख्यापूर्वकत्वान्न द्विगुत्वम्'।[1]

काव्यप्रदीप – गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में 'नवरसरुचिरा' विशेषण का सारबोधिनी आदि टीकाओं की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विवेचन किया है। गोविन्द-ठक्कुर ने भी 'नवरसरुचिरा' में कर्मधारय समास माना है। 'द्विगु' समास का निषेध करते हुए प्रदीपकार ने स्पष्ट किया है कि 'द्विगु' तो नवरसी' में होगा (त्रिलोकी, पंचगवी के समान)। महाभाष्य के अनुसार द्विगु-समास नहीं हो सकता।[2]

गोविन्द ठक्कुर ने 'नवरसरुचिरा' विशेषण द्वारा काव्य-सृष्टि को विधाता की सृष्टि से दो रूपों में उत्कृष्ट बताया। प्रथम तो विधाता की सृष्टि में छः रस होते हैं और काव्य-सृष्टि में नौ रस। अतः संख्या की दृष्टि से काव्यसृष्टि का महत्त्व अधिक है।

द्वितीय विशेषता है कि विधाता की सृष्टि में 'षड्रसा न च हृद्यैव तैः' हैं, परन्तु काव्य-जगत् में 'नवरसरुचिरा' है। अभिप्राय यह है कि विधाता की सृष्टि में मधुर, अम्ल, कटु, कषाय तिक्त और लवण, ये ६ रस हैं परन्तु ये सभी रुचिकर नहीं होते अर्थात् कषाय, तिक्त, कटु आदि रस प्रतिकूल हैं। परन्तु काव्यात्मक सृष्टि में नव रस सदैव आनन्दमय होते हैं। प्रत्येक रस से आनन्दात्मक अनुभूति होती है। (रस विषयक विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया जायगा)। भाव यह है कि काव्य की तपोभूमि में करुण आदि रस भी सहृदय को विलक्षण आनन्द की प्राप्ति कराते हैं।[3]

---

१. सारबोधिनी, पृ॰ ५

२. 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः।' (सिद्धान्त-कौमुदी, तत्पुरुष प्रकरण)

३. काव्यप्रदीप, पृ॰ ३

इस प्रकार 'अनन्यपरतन्त्रा', 'नियतिकृतनियमरहिता' 'ह्लादैकमयी' 'नवरसरुचिरा' आदि विशेषणों द्वारा कवि-भारती के उत्कर्ष का वर्णन किया गया है एवं कविभारती (उपमेय) का चतुर्मुख विधाता (उपमान) की सृष्टि से उत्कर्ष वर्णित किया है। अतएव यहां व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य है।[1]

अन्त में मम्मट ने 'जयति' शब्द से कवि भारती को नमस्कार किया है। यहाँ नमस्कार के लिए 'जयति' शब्द-प्रयोग चर्चा का विषय है। गोविन्द ठक्कुर ने 'जयति' शब्द की विस्तृत व्याख्या की है। परन्तु यहां यह स्पष्ट है कि मम्मट के टीकाकारों ने भी मम्मट की भांति 'जयति' शब्द से नमस्कार की अभिव्यक्ति मानी है।

संकेत, बालचित्तानुरंजनी तथा **सारबोधिनी** आदि टीकाओं में स्पष्ट किया है कि 'जयति' का अर्थ 'उत्कर्षेण' है। उत्कर्ष अर्थ से ही नमस्कार की अभिव्यक्ति होती है। कवि-सृष्टि की उत्कर्षता का वर्णन है। अतः नमस्कार करने वाला अपने को हीन समझकर नमस्कार करता है। 'भारती' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग हुआ है -एक तो कवि-भारती अर्थात् वाणी; दूसरा कवि भारती की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती। सारबोधिनी में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य का कथन है कि आराध्य-देवी सरस्वती के प्रति अनुराग होने के कारण भाव-ध्वनि है, जो अलक्ष्यक्रमध्वनि के अन्तर्गत है।[2]

काव्यप्रदीप - गोविन्द ठक्कुर ने 'जयति' शब्द से नमस्कार की अभिव्यक्ति पूर्ववर्ती टीकाकारों के अनुसार मानी है 'अतएव जयत्युत्कर्षेण वर्तते।' प्रदीपकार ने इस संदर्भ में कुछ शंकाओं का भी समाधान किया है। वे लिखते हैं कि यहां यह प्रश्न उठता है कि बुद्धिमानों द्वारा अपने आराध्य के प्रति नमस्कार अवश्य किया जाता है और यह उचित भी है परन्तु प्रस्तुत कारिका में स्तुतिमात्र करते हुए जो नमस्कार नहीं किया गया उसमें क्या ग्रन्थकार की अज्ञानता या अभिमानता है ? यदि यह मान लिया जाय कि नमस्कार किया गया है तो पुनः प्रश्न उठता है कि उसे स्तुति की तरह क्यों निबद्ध नहीं किया गया है ?[3]

गोविन्द ठक्कुर ने इन शंकाओं का निराकरण भी किया है। वे लिखते हैं कि यदि केवल नमस्कार लिख दिया जाए तो स्तुति नहीं बनती परन्तु स्तुति

---

१. 'अत्र निर्माणव्यतिरेकमुखेन चतुर्मुखात्कविभारत्याख्यव्यतिरेकालंकारो व्यंग्यः।' (काव्यप्रदीप, पृ० ३)

२. संकेत, पृ० ३, बालचित्तानुरंजनी और सारबोधिनी, पृ० ४-५-६

३. काव्यप्रदीप, पृ० ८

में नमस्कार भी अर्थ-गम्य है। अतएव 'जयति' शब्द के प्रयोग से वक्ता और विषय की विशेषता से नमस्कार आक्षिप्त किया गया है।[1] 'तेन तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते' यह अर्थ प्राप्त होता है।

गोविन्द ठक्कुर ने ध्वनि का निषेध किया है। वे लिखते हैं कि 'उत्तम-काव्य' की सिद्धि के लिए 'जयति' अर्थ से व्यंग्य निकल रहा है वह उचित नहीं है। प्रदीपकार का अभिप्राय है कि यहां प्रणाम रूप व्यंग्य के अतिस्थायी न होने से ध्वनि नहीं हो सकती। उसके लिए तो 'व्यतिरेक-अलंकार' का उपन्यास ही उचित है।[2] अभिप्राय है कि यहां व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से बढ़कर नहीं है। अतः ध्वनि का निषेध किया गया है। यहां स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर ने 'सारबोधिनी' टीका में 'भाव-ध्वनि' की चर्चा का निषेध किया है'।

बालबोधिनी—बालबोधिनी टीका में वामनाचार्य ने भी 'भारती' शब्द के दो अर्थ स्पष्ट किए हैं। काव्य-पक्ष में कवि का भारती के साथ 'जन्य-जनक भाव' संबंध और देवता पक्ष में 'आराध्य-आराधक' भाव संबंध है।[3]

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि गोविन्द ठक्कुर ने प्रत्येक घटक की समास-पद्धति से व्याख्या है। परन्तु उस व्याख्या में गोविन्द ठक्कुर की नवीन दृष्टि नहीं है क्योंकि उनसे पूर्ववर्ती टीकाओं में इस प्रकार का विवेचन उपलब्ध है। 'जयति' शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने केवल व्यतिरेक अलंकार की चर्चा की है, श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य की भाँति ध्वनि की नहीं। संभवतः इसका कारण यह रहा होगा कि श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने 'भारती' शब्द के दो अर्थ स्पष्ट किए हैं—(१) कवि की वाणी, (२) कवि की आराध्या सरस्वती। सरस्वती के निरूपण में भाव ध्वनि की चर्चा है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने 'भारती' का प्रयोग सरस्वती के अर्थ में नहीं किया, केवल कवि-भारती का प्रयोग किया है। यही कारण है कि गोविन्द ठक्कुर ने केवल व्यतिरेक अलंकार माना है, ध्वनि का निषेध किया है। मंगलाचरण में इष्ट-देवता का स्मरण किया है। परन्तु यह इष्ट-देवता कौन है? इसका गोविन्द ठक्कुर ने अन्य टीकाकाकारों की भाँति उल्लेख नहीं किया है।

'जयति' की चर्चा में गोविन्द ठक्कुर ने यह प्रश्न उठाया है 'तदनेन स्तुतिमात्रमाचरता यन्न कृता तदवलेपादज्ञानाद्वा' और इसका समाधान भी

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ४

२. काव्यप्रदीप पृष्ठ ४

३. 'काव्यपक्षे कवेरिति जन्यजनकभावे षष्ठी देवतापक्षे तु आराध्याराधकभावे षष्ठी, अनेकसंबंधविशेषेषु षष्ठीविधानात्।' (बालबोधिनी, पृ० ४)

किया है। परन्तु वास्तव में यह प्रश्न निराधार है। कारण स्पष्ट है कि आचार्य मम्मट ने संस्कृत-परम्परा के अनुसार विघ्न बाधाओं के नाश के लिए मंगलाचरण से ग्रन्थ का आरंभ किया है और अपने इष्ट देवता को स्मरण किया है—'ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति।' तथा सम्पूर्ण-कारिका में अपने इष्ट को ब्रह्मा की प्रकृति से उत्कृष्ट बताया है और वृत्ति में स्पष्ट किया है कि 'जयतीत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत।' अतः यहां 'अज्ञानता' या 'अभिमानता' का प्रश्न ही नहीं उठता।

काव्य-प्रयोजन

मनुष्य जो भी कार्य करता है उसमें उसका कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। संस्कृत साहित्य की यह विशेषता रही है कि कोई भी ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ को रचने का प्रयोजन अवश्य बताता है साथ ही वह यह भी बताता है कि उसके ग्रन्थ का प्रतिपाद्य क्या है? ग्रन्थ का वस्तु से सम्बद्ध तत्त्व क्या है? ग्रन्थ पढ़ने का अधिकारी कौन है? इस प्रकार विषय, प्रयोजन, संबद्ध-तत्त्व और अधिकारी का विवेचन प्रत्येक ग्रन्थकार के लिए एक नियम वन गया था जिसका वह पालन करता था। इसी परम्परा के आधार पर काव्यशास्त्र में यह प्रवृत्ति अनादिकाल से दिखाई पड़ती है। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' इस न्याय के अनुसार मन्द बुद्धि व्यक्ति भी निष्प्रयोजन कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। अतः संस्कृत साहित्यशास्त्र में आदि आचार्य भरत से लेकर अन्तिम आचार्य जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने काव्य-प्रयोजनों पर विचार किया है। मम्मट से पूर्व आचार्य भरत, भामह, वामन रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, भोजराजादि आचार्य हैं जिन्होंने 'काव्य-प्रयोजन' पर विचार किया है।[१]

---

१. भरत—'दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति।
और 'धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्। लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।' (नाट्यशास्त्र)
भामह—'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्।' (काव्यालंकार)
वामन—'काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थप्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।'
(काव्यालंकारसूत्रवृत्ति)

मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों का संग्रह करके अपना मत प्रस्तुत किया है। मम्मट के समक्ष काव्यशास्त्र का विस्तृत इतिहास और संस्कृत आचार्यों की विशाल परंपरा थी। मम्मट का काव्य-प्रयोजन है—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे।'[1]

वृत्ति में मम्मट ने उन कवियों का नामोल्लेख किया है जिन्हें काव्य से यश, अर्थादि की प्राप्ति होती है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्य-प्रयोजन' की चर्चा करने से पूर्व यह स्पष्ट किया कि यहां 'व्यवहारविदे' तथा 'उपदेश युजे' में चतुर्थी-विभक्ति का प्रयोग हुआ है। यशसे, अर्थकृते, अत्र कृत्-वित्-युज्-शब्दा भावे क्विबन्ताः।

'काव्य-प्रयोजन' से पहले काव्य क्या है? यदि इस प्रश्न पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो गोविन्द ठक्कुर यहां लिखते हैं—'काव्यं लोकोत्तरवर्णना-निपुणस्वरूपस्य कवेरसाधारणं तादृग्वर्णनात्मकं कर्म' अर्थात् लोकोत्तर वर्णनानिपुण कवि की कृति ही काव्य है और यह काव्य का अलौकिक स्वरूप है।[2]

गोविन्द ठक्कुर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'कवि-कर्म ही काव्य है।' परन्तु वह कवि-कर्म कैसा है इसके लिए गोविन्द ठक्कुर ने विशेषण दिया है 'लोकोत्तरवर्णानिपुणा'। सर्वप्रथम मंगलाचरण में भी स्पष्ट किया गया है कि काव्य-सृष्टि विधाता की सृष्टि से विलक्षण है और 'काव्य-हेतु' में भी इस बात का विवेचन किया जाएगा कि किस प्रकार कवि प्रतिभा से ऐसे वर्णन

रुद्रट—'ज्वलदुज्जवलवाक्यप्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि।' (काव्यालंकार)
आनन्दवर्धन—'तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।' (ध्वन्यालोक)
कुन्तक—'धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः। (वक्रोक्तिजीवित)
भोजराज—'अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।'
(सरस्वतीकण्ठाभरण)

१. काव्यप्रकाश १.२
२. काव्यप्रदीप, पृ० ५

करता है जो इस दृश्य जगत् में संभव नहीं, यही वर्णन 'लोकोत्तर' है । कवियों के लोकोत्तर संसार में 'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी', 'मुख से सौरभ का होना' 'सभी नवरसों में अन्ततोगत्वा आनन्द की प्राप्ति' आदि का वर्णन ही कवि की असाधारण प्रतिभा का प्रमाण है ।

उद्योत—उद्योत में नागेशभट्ट ने भी प्रदीपकार के भाव को स्पष्ट किया है । 'लोकोत्तर' से अभिप्राय है 'चमत्कारिबोधजनकेत्यर्थः' और 'वर्णना' से अभिप्राय है 'मुखादेः कमलत्वादिरूपेण कथनादि ।'[1]

१. काव्यं यशसे—

मम्मट ने वृत्ति में कालिदास का नाम उद्धृत किया है कि काव्य से कालिदास के समान यश-प्राप्ति होती है ।

'यश' के संबंध में गोविन्द ठक्कुर ने अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों श्री नरहरि-सरस्वती-तीर्थ, श्री वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य की भाँति अधिक विस्तार में न जाकर कालिदास का ही नाम उद्धृत किया है 'कालिदासादीनामिव यशः ।'

सुधासागर—'सुधासागर' टीका में भीमसेन-दीक्षित ने गोविन्द-ठक्कुर की अपेक्षा यश-प्रयोजन की विस्तृत चर्चा की है । उन्होंने केवल कालिदास का नामोल्लेख ही नहीं किया अपितु यह भी बताया है कि किस प्रकार कालिदास के नाम तथा पितृकुल आदि के संबंध को कोई नहीं जानता था । परन्तु एकमात्र काव्य-रचना के कारण कालिदास को इतनी कीर्ति मिली कि उनका नाम, वंश, जगत् प्रसिद्ध हो गया ।[2]

बालबोधिनी—वामनाचार्य ने 'बालबोधिनी' में 'कालिदास' शब्द की व्याकरणिक दृष्टि से व्याख्या की है । तत्पश्चात् बताया कि यद्यपि कालिदास आदि ने काव्य द्वारा धन भी प्राप्त किया और धावक कवि ने यश भी प्राप्त किया तथापि प्रधानता का यहां नामनिर्देश है अर्थात् कालिदास में यश प्रधान है और धावक कवि में अर्थ प्रधान ।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर की अपेक्षा 'सुधासागर' तथा 'बालबोधिनी' टीकाओं में काव्य-प्रयोजन की विस्तृत चर्चा है ।

---

१. उद्योत (सुखटकर), पृ० ७

२. सुधासागर, 'न खलु कालिदासस्य पित्रादि कुलं वा कश्चिज्जानाति न वा दानादिकं किंचित्प्रसिद्धम् येन तादृशं यशः स्यात् किंतु काव्यमेव तत्कारणम् ।' (सुधासागर, पृ० ११)

'यश' के संबंध में हम कह सकते हैं कि यश की प्राप्ति मनुष्य की प्रवृत्तियों की मूल प्रेरणा मानी गयी है। संस्कृत काव्य-साहित्य में अनेक सूक्तियां मिलती हैं जिनमें यश की प्राप्ति को मानव प्रकृति का प्रेरणा-स्रोत माना है। यही आज के बढ़ते युग का मनोविज्ञान है। 'यशलिप्सा मानव की सबसे प्रमुख स्वाभाविक वृत्ति है', यह पाश्चात्य विद्वान् एडलर का कथन है। प्रतिभाशाली कवि यश की कामना करता है और सत्साहित्य का सृजन करता है। उदाहरण के लिए कालिदास का नाम है। कालिदास ने स्वयं भी लिखा है 'मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।'

२. अर्थकृते (धनकारणाय)—

वृत्ति में मम्मट ने बताया है कि श्रीहर्ष इत्यादि से धावक आदि के समान धन-प्राप्ति। गोविन्द-ठक्कुर ने भी इस संदर्भ में धावक कवि का नामोल्लेख किया है 'श्रीहर्षादेरपादानाद्धावकादीनामिव धनम्।'

'प्रभा' में वैद्यनाथ ने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार धावक नामक कवि ने महाराजा हर्ष के नाम रत्नावली नाटिका लिखकर धन प्राप्ति की।[1]

३. व्यवहारविदे –

काव्य व्यवहार ज्ञान के लिए होता है। वृत्ति में स्पष्ट किया है राजादि के उचित आचार व्यवहार का ज्ञान।

गोविन्द ठक्कुर ने भी मम्मट की भाँति लिखा है 'राजादिगतपृथिवीपालन-दिसमुचिताचारपरिज्ञानम्।'

बालबोधिनी –'बालबोधिनी' में झलकीकर स्पष्ट करते हैं कि महाकाव्यों के अनुशीलन से राजादि के नहीं अपितु 'आदि' पद से मन्त्री, गुरू आदि के उचित आचार का ग्रहण होता है। उचित शब्द के लिए लिखते हैं 'अनुचिता-चारव्यावर्तनाय उचितेति।'[2]

४. शिवेतरक्षतये—

काव्य अमंगल निवारण के लिए होता है। वृत्ति में स्पष्ट किया है कि काव्य से मयूर आदि कवियों के समान अमंगल का निवारण होता है।

गोविन्द ठक्कुर ने कथा का विस्तार न करके मम्मट की भाँति मयूर का नाम उल्लेख किया है 'मयूरशर्मादीनामिवानिष्टनिवारणं च करोति।'

---

१. काव्यप्रदीप, प्रभा, पृ० ५

२. बालबोधिनी, पृ० ८

५. सद्यः परनिर्वृतये—

काव्य तुरन्त ही आनन्द का अनुभव कराने के लिए है। वृत्ति में स्पष्ट किया है कि यह समस्त प्रयोजनों में मुख्य है और काव्य श्रवण के अनन्तर ही रसास्वादन से आविर्भूत होता है एवं जिसमें अन्य ज्ञेय पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं ।[१]

मम्मट के अनुसार एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। अन्य प्रयोजन तो आनुषंगिक हैं।

विवेक—विवेक टीका में 'श्रीधर' ने स्पष्ट किया है कि अलौकिक आनन्द की अनुभूति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। रसास्वादन ही जिसका बीज है। रसास्वादन से प्राप्त होने वाले आनन्द को 'ब्रह्मास्वादसहोदर' कहा है और यह आनन्द वैषयिकसुखों से विलक्षण है।[२]

सारबोधिनी—'सारबोधिनी' में श्री वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य लिखते हैं 'रसः आस्वाद्यते प्रकाश्यतेऽनेनेति रसास्वादनं विभावादिसंयोजनं तेन समुद्भूतं प्रादुर्भूतम्।'[३] अभिप्राय यह है कि विभावादि के संयोजन से वह आनन्द जो रसास्वादन रूप है, निष्पन्न हो जाता है। रस कौन पदार्थ है ? इसके उत्तर में कहा है 'रसः आस्वाद्यते।' रस स्वप्रकाशानन्द है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने भी अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों के प्रभाव स्वरूप 'सद्यः परिनिर्वृतये' प्रयोजन की चर्चा की। प्रदीपकार लिखते हैं कि यह अपूर्व आनन्द को उत्पन्न करने वाला प्रयोजन अब तक बताए गए प्रयोजनों में प्रमुख प्रयोजन है। रसास्वादन का अर्थ स्पष्ट करते हैं—'स्थायी भाव के आस्वादन से उत्पन्न'। अभिप्राय यह है कि काव्य-श्रवण के अनन्तर ही सहृदय को स्थायीभाव से उत्पन्न विलक्षण आनन्द की प्राप्ति होती है, यह आनन्द ही रसरूप है और सहृदय उसका आस्वादन करता है। उस अलौकिक आनन्द की अनुभूति को 'वेद्यान्तरसंपर्कशून्य' कहा है। जिसका अभिप्राय है कि रसानुभूति के समय जानने योग्य सभी प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान विलीन हो जाता है और इतनी तन्मयता आ जाती है कि प्रमाता को आत्मसत्ता भी

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ८
२. विवेक, पृ० ५-६
३. सारबोधिनी, पृ० ७

रसमय ही प्रतीत होती है ।[१]

गोविन्द ठक्कुर ने इस संदर्भ में इस शंका का भी समाधान किया है कि कवि को रसानुभूति होती है या नहीं । प्रदीपकार लिखते हैं— 'काव्यास्वादन-काले कवेरपि सहृदयान्तः पातितया रसास्वादः' अर्थात् रस योजना में तत्पर कवि भी रसास्वाद करता है, परन्तु रसास्वादन काल में कवि भी सहृदय की कोटि में आ जाता है ।

वास्तव में प्रदीपकार ने यहां जिस प्रश्न की चर्चा की है वह विवादग्रस्त प्रश्न है । प्रायः आचार्यों के इस विषय में दो मत हैं—प्रथम यह है कि रसा-स्वादन सहृदयों को ही होता है कवि को नहीं । द्वितीय यह है कि कवि भी रसास्वादन का अधिकारी है । प्रदीप ने रसास्वादनकाल में कवि को सहृदय की कोटि में रखा है ।

परन्तु इस संदर्भ में यह विचारणीय है कि सहृदय और कविरूप सहृदय की अनुभूति में अन्तर है । सहृदय शुद्ध मन से काव्य का आनन्द लेता है । वह स्वत्व और परत्व की भावना से मुक्त होता है । परन्तु कवि जब सहृदय रूप से अपनी रचना का आस्वाद करता है तो उस समय उसकी अनुभूति और सहृदय सामाजिक की अनुभूति में अन्तर होता है ।

६. कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे—

अन्तिम प्रयोजन ''कान्तासम्मिततयोपदेश' है । मम्मट ने वृत्ति में तीन प्रकार के उपदेशों की चर्चा की है – १. प्रभुसम्मित उपदेश—वेद शास्त्रों आदि का उपदेश राजा या स्वामी की आज्ञा के समान है, उसमें शब्द शासन की प्रधानता है । २. मित्रसम्मित –पुराण इतिहासादि का उपदेश मित्र-तुल्य है । ३. कान्तासम्मितउपदेश—लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि की कृति प्रिया के समान सरसता उत्पन्न करके अपने विषय की ओर अभिमुख करती है ।

संकेत-प्रस्तुत टीका में माणिक्यचन्द्र ने 'प्रभुसंमित' उपदेश को शब्द प्रधान माना है 'शब्दपरावृत्त्यसहत्वेन शब्दप्रधानेभ्यः' । 'वेदशास्त्रादि' में 'आदि' शब्द से अभिप्राय देते हैं 'आदिशब्दान्मानवधर्मचिकित्सादिपरिग्रहः ।'[२]

विवेक—'श्रीधर' ने 'विवेक' टीका में लिखा है जिस प्रकार स्वामी भृत्य

---

१. 'सहृदयस्य तु काव्यश्रवणानन्तरमेव सकलप्रयोजनेषूत्तमं स्थायिभावा-स्वादनसमुद्भूतं वेद्यान्तरसंपर्कशून्यं रसास्वादरूपमानन्दम् ॥'

(काव्यप्रदीप, पृ० ५)

२. संकेत, पृ० ४

को आदेश देता है कि 'तुम ऐसा करो' उसी प्रकार श्रुति-स्मृति आदि शास्त्र भी मनुष्य को आदेश देते हैं ।

काव्यप्रदीप - गोविन्द ठक्कुर 'काव्यप्रदीप' में लिखते हैं कि किसी कार्य को करने के लिए तीनों प्रकार के उपदेशों से प्रेरणा मिलती है—१. प्रभुसम्मित, २. सुहृत्सम्मित, ३. कान्तासम्मित । प्रभु सम्मित उपदेश के विषय में लिखते हैं—'तत्राद्यः शब्दप्रधानो वेदादिः शासनाप्राधान्येन विधिलक्षणः ।' वेदादि में शब्द प्रधान होते हैं । जिस प्रकार कोई स्वामी सेवक को 'तुम ऐसा करो' यह आदेश देकर किसी कार्य में नियुक्त कर देता है उसी प्रकार वेद शास्त्रादि भी विशेषफलरहित सन्ध्यावन्दनादि में मनुष्य को प्रवृत्त कर देता है । 'निष्फलेऽपि' से प्रभाकार अभिप्राय देते हैं—'स्वर्गादिफलरहितेऽपीत्यर्थः ।'

दूसरा उपदेश है सुहृत्सम्मित । इस उपदेश का अभिप्राय गोविन्द ठक्कुर देते हैं कि पुराण इतिहास आदि का उपदेश मित्र-तुल्य है । इसमें अर्थ का प्राधान्य होता है । जिस प्रकार कोई मित्र भली-भाँति किसी प्रयोजन को समझाकर फिर उसे कार्य करने की प्रेरणा देता है कि 'ऐसा करने से इष्ट होगा और ऐसा करने से अनिष्ट होगा ।' इस प्रकार वह यहां आज्ञा नहीं देता अपितु लाभ-हानि की दृष्टि से भली-भांति ज्ञान कराके अमुक कार्य करने को प्रवृत्त करता है । अतः प्रदीपकार लिखते हैं—'इत्येतावन्मात्रं बोधयति न त्वाज्ञपयति ।'

पुराणेतिहासादि की शैली भी अर्थ-प्रधान होने के कारण 'सुहृत्संमित' कही जाती है ।[1]

'उद्योत' में नागेश भट्ट लिखते हैं 'प्राचीनवृत्त वर्णन इतिहास है ।' 'आदि' से अभिप्राय 'आख्यानादि' से है । 'नागेश्वरी' में हरिशंकर शर्मा ने 'इतिहास' के लक्षण को स्पष्ट किया है ।[2]

कान्तासम्मित तीसरा उपदेश है । काव्य की यह उपदेश शैली कान्तासम्मित है । इसमें न शब्द की प्रधानता है न अर्थ की अपितु रस की प्रधानता है ।

संकेत—संकेतकार ने इस संबंध में भट्टनायक की कारिका उद्धृत की है जिसमें बताया है कि शास्त्रादि में शब्द की प्रधानता होती है, आख्यानादि में

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ७

२. 'धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् । पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ।'

अर्थ की परन्तु काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की गौणता है।[1] यहां उपदेश तो देना होता है परन्तु उसके लिए 'रसाङ्गभूतव्यापार' की आवश्यकता है 'रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया च विलक्षणं विशिष्टलक्षणं चारुस्वरूपमिति रहस्यम् ।[2]

विवेक—श्रीधर ने टीका में कान्ता का भाव स्पष्ट किया है—'या हि का' (कं) प्रति जीवितसर्वस्वायमाना सा तस्य कान्ता ।'[3]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने तृतीय उपदेश 'कान्तासंमित' की विस्तृत विवेचना की है। 'रसाङ्गभूत' व्यापार को स्पष्ट किया 'तत्र हि रसाङ्गभूतो यो व्यापारो विभावादिसंयोजनात्मा व्यञ्जनारूपो वा तन्निष्पाद्यरसादिव्यक्तिनिष्पादकतया शब्दार्थयोरपि गुणात्वाद्रसस्यैव प्राधान्यम् ।' अभिप्राय यह है कि प्रियतमा को उपदेश देने की क्रिया प्रभुसम्मित एवं मित्र सम्मित दोनों उपदेशों से भिन्न है। प्रथम दोनों उपदेशों में किसी प्रकार का व्यापार नहीं, केवलमात्र शब्द या अर्थ में निहित उपदेश है। परन्तु कान्ता-सम्मित उपदेश में सर्वप्रथम प्रियतमा सरसता के साथ कटाक्षभुजाक्षेप आदि के द्वारा प्रियतम को अपनी ओर अभिमुख करके तदुपरान्त किसी कार्य के लिए प्रेरणा देती है। इस प्रकार यहां उपदेश तो है परन्तु उसमें रसाङ्गभूत व्यापार है अर्थात् रस आदि की अभिव्यक्ति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयोजन या व्यंजना रूप काव्य का व्यापार है। उसी में काव्य तत्पर रहता है। इस प्रकार इस उपदेश में शब्द या अर्थ की अपेक्षा रस का प्राधान्य है। गोविन्द ठक्कुर ने इस भाव को और अधिक स्पष्ट किया है कि जो सुकुमार मति वाले राजकुमारादि हैं (अपरिपक्व बुद्धि वाले) उन्हें वेद शास्त्रों से कोई रस नहीं मिला करता अतः उस ओर उनकी प्रवृत्ति असंभव है। काव्य से जो उपदेश की प्राप्ति होती है और उपदेश भी ऐसा जो प्रियतमा के समान हो, वह सुखद साधना है और सुकुमार बुद्धि वाले राजकुमारों के लिए भी ग्राह्य है। इस भाव को और भी अधिक स्पष्ट किया है कि वेद-शास्त्र तो कटु औषधी के समान हैं और काव्य-मीठी शर्करा के समान है।

---

१. 'शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः ।
अर्थे तत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत् ।। (संकेत, पृ० ४)

२. संकेत पृ० ४

३. विवेक, पृ० ७

अतः कड़वी-कसैली औषधी से होने वाली रोग-शान्ति यदि मीठी खांड से हो जाए तो कौन ऐसा होगा जो रोग-शक्ति के लिए मीठी खांड के प्रति लालायित न हो उठे।[1]

मम्मट ने अन्त में 'लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म' की चर्चा की है परन्तु प्रदीपकार ने आरंभ में ही इस भाव को स्पष्ट किया है।

इस प्रकार प्रदीपकार के विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने भी लोकोत्तर-आनन्द की प्राप्ति को सर्वोत्कृष्ट प्रयोजन माना है। महाकवियों के लिए रसानुभूति ही काव्य-निर्माण की सार्थकता है। 'रस' रूप प्रयोजन ऐसा है जो काव्य को मानव जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध करता है। उत्तम-काव्य वही है जिसकी परिणति अन्ततोगत्वा रसाभिव्यक्ति में होती है और यह रसानुभूति सहृदय के इतरक्षणों की मनस्तुष्टि नहीं अ पतुिमानव-जीवन के आदर्शों की साधना है। वेदादि शास्त्र बुद्धि को प्रभावित करते हैं किन्तु काव्य हृदय-पक्ष का स्पर्श करता है। काव्य द्वारा अभिव्यक्त 'रामादिवद्वर्तितव्यम् न रावणादिवत्' की भावना में हृदय की स्वाभाविक अनुरक्ति है। मम्मट के प्रयोजनों में यश, अर्थ और शिवेतरक्षतये प्रयोजन काव्यनिष्ठ है और व्यवहार, सद्यः परनिर्वृति तथा कान्तासम्मित-उपदेश ये तीन प्रयोजन सहृदय की दृष्टि से हैं। गोविन्द ठक्कुर ने 'कान्तासम्मित' प्रयोजन की विस्तृत चर्चा की है। अन्य प्रयोजनों का तो संकेत मात्र ही दिया है।

---

१. काव्यप्रदीप पृ० ७

काव्य-हेतु

'काव्य-प्रयोजन' का विवेचन करने के उपरान्त मम्मट ने 'काव्य-हेतु' तत्त्व पर विचार किया है। संस्कृत की आधुनिक काव्यालोचना या प्राचीन काव्यालोचना जिसे हम अलंकारशास्त्र के रूप में देखते हैं उसमें कवि के व्यक्तित्व का आधार उसके काव्य पर आधारित है अर्थात् कुछ ऐसे कारण हैं जो एक व्यक्ति को कवि बना देते हैं जिसे साहित्य-शास्त्र में 'काव्य-हेतु' कहते हैं। सृष्टि की साधारण-सी लगने वाली वस्तु की ओर अनायास ही उसकी दृष्टि खिच जाती है और कल्पना का जामा पहनाकर उसकी वाणी से रसमय धारा प्रवाहित होने लगती है। ऐसा प्रत्येक व्यक्ति में न होकर व्यक्ति-विशेष में होता है। अतः इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि उस व्यक्ति-विशेष में क्या कारण हो सकता है? 'काव्यहेतु' प्रसंग में इन्हीं कारणों का विवेचन किया गया है। वस्तुतः काव्य-प्रयोजन से तात्पर्य काव्य से प्राप्त फल है तो काव्य-हेतु से तात्पर्य है काव्य-रचना के कारण जैसे प्रतिभा, व्युत्पत्ति आदि। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'काव्य-हेतु' वह शक्ति है जिससे कवि काव्य की रचना कर पाता है और काव्य-प्रयोजन वह फल है जो काव्य के द्वारा कवि को प्राप्त होता है।

'काव्य-हेतु' का विवेचन भी संस्कृत साहित्यशास्त्र में महर्षि वेदव्यासकृत अग्निपुराण आदि में संकेतित रूप में मिलता है। अग्निपुराण के पश्चात् आचार्य भामह ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने 'काव्य-हेतुओं' का स्पष्ट विवेचन किया है। तदुपरान्त आचार्य दण्डी, वामन, राजशेखर, रुद्रट आदि अनेक आचार्य हैं जिन्होंने 'काव्य-हेतु' की चर्चा की है। किन्तु सामान्य रूप में सभी आचार्यों ने शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास, इन तीनों को काव्य का कारण माना है।

आचार्य मम्मट संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रभावशाली आचार्य हुए हैं। इन्होंने शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को काव्य का हेतु माना है।[1] वृत्ति में

---

१. 'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥' (काव्यप्रकाश, १.३)

स्पष्ट किया है कि ये तीनों सम्मिलित रूप से काव्य [?]-निर्माण केहैं पृथक्-पृथक् नहीं।

अब देखना यह है कि मम्मट के टीकाकारों ने तथा गोविन्द ठक्कुर ने कारिका की किस प्रकार व्याख्या की है—

१ शक्ति—

पुष्पों के मनमोहक रंगों के समान कवि की सृजन-शक्ति उसकी अन्तरात्मा से विकसित होती है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने जिसे 'प्रतिभा' विशेष नाम से अभिहित किया[1] मम्मट ने उसे 'शक्ति' की संज्ञा दी। भारतीय मनोदर्शन के अनुसार प्रतिभा एक प्रकार की मनःशक्ति है जिसे 'दिव्यचक्षु', 'दिव्यदृष्टि', 'आर्षज्ञान' आदि नाम से जाना जाता है।

मम्मट ने मंगलाचरण में वर्णित कवि-वाणी को ही 'काव्य-हेतु' में शक्ति से अभिहित किया है। 'शक्ति' को संस्कार विशेष माना और उसका महत्त्व वृत्ति में स्पष्ट किया। 'शक्ति' के विशेषण दिए 'कवित्वबीजरूपः' और 'संस्कारविशेषः'। जिसके बिना काव्य रचना संभव नही और यदि हो भी जाए तो वह काव्य उपहास का विषय होगा।[2] वास्तव में यह चिरन्तन सत्य है कि संस्कार विशेष के प्रभाव से मनुष्य का मस्तिष्क कभी-कभी ऐसा व्यापार कर देता है कि उसे स्वयं ही आश्चर्यचकित होना पड़ता है। परन्तु वह क्षण अप्रत्याशित होते हैं। वायु के झोकों के समान आते हैं और चले जाते हैं, तथा इसका प्रभाव भावों का असाधारण रूप में प्रवाहित होना प्रकट होता है जैसे आदि कवि वाल्मीकि के आदिश्लोक का अनायास ही मुखारविन्द से प्रस्फुटित होना। यही 'शक्ति' है।

संकेत—काव्यप्रकाश के सर्वप्रथम टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने 'संकेत' टीका में 'शक्ति' की चर्चा 'प्रतिभा' के रूप में की है। 'प्रतिभा' को स्पष्ट करते हुए

---

१. भट्टतोत के अनुसार—'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणः कविः।'
वामन—'जन्मान्तरसंस्कारप्रेक्षिणी सहजा।
रुद्रट—'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।
अभिनवगुप्त—'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा।'

२. 'शक्ति कवित्वबीजरूपः···स्यात्।' (काव्यप्रकाश, वृत्ति, पृ० १४)

माणिक्यचन्द्र का कथन है—पदार्थों के विषय में नित नूतन विचारों का प्रादुर्भाव 'प्रतिभा' है। यह 'प्रतिभा' संस्कार-विशेष है। 'प्रतिभा' के बल पर ही उत्तम-काव्य की रचना होती है। माणिक्यचन्द्र के 'प्रतिभा' विवेचन पर भट्टतोत का प्रभाव है। भट्टतोत की प्रतिभा की परिभाषा का उल्लेख माणिक्यचन्द्र ने किया है।[1]

विवेक श्रीधर ने 'विवेक' टीका में 'शक्ति' को 'अक्लिष्टानेकापदार्थज्ञानं शक्ति' कहकर स्पष्ट किया है।

दीपिका—'काव्यप्रकाशदीपिका' टीका में चण्डीदास ने बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। कवि और सहृदय के आनन्द का हेतु काव्य है जो कालान्तर में विशिष्ट संस्कार द्वारा परिष्कृत होता है। 'संस्कार' का अर्थ 'वासना' किया है और उस वासना को 'देवताऽद्यनुग्रहजनितः' माना है। 'प्रतिभा' के बिना जो काव्य-रचना होती है उसकी तुलना 'षण्ड-संभोग' से की है।[2] भाव यह है कि चण्डीदास ने 'प्रतिभा' या 'शक्ति' को संस्कार विशेष माना है।

सम्प्रदायप्रकाशिनी—विद्याचक्रवर्ती ने 'सम्प्रदायप्रकाशिनी' में पहले 'बुद्धि' की परिभाषा स्पष्ट की फिर 'प्रतिभा' की। बुद्धि के प्रकारों का वर्णन किया है। 'बुद्धि' तीन प्रकार की होती है स्मृति, मति और प्रज्ञा। अतीत वस्तु का स्मरण कराने वाली बुद्धि 'स्मृति', वर्तमान वस्तु की मंत्रणा कराने वाली बुद्धि 'मति' और भविष्य को प्रकृष्ट रूप में ज्ञात कराने वाली बुद्धि 'प्रज्ञा कहलाती है। नवीन-नवीन अर्थों का उन्मीलन कराने वाली प्रज्ञा 'प्रतिभा' कहलाती है।[3] स्पष्ट है विद्याचक्रवर्ती पर राजशेखर का प्रभाव दिखलाई देता है।

---

१. ''वर्ण्यपदार्थविषयनवनवोल्लेखशालिनी प्रतिभा संस्कारः। तल्लक्षणो-विशेषः। यदुक्तम्—प्रातिभाऽस्य हेतुः। यदि च तस्य विशेषो रसावेश-चारुकाव्यकरणक्षमत्वम् न प्रसरेत् ननिष्पद्येत्।'' (संकेत, पृष्ठ ५)

२. ''कविसहृदयानन्दहेतुः काव्यं तस्याङ्कुरस्येव कालान्तरे प्रादुर्भाविष्यतो बीजरूपः। संस्क्रियते विशिष्टकार्यभाजनीक्रियते प्रमाणेनेति संस्कारः प्राचीनवासना, देवताऽद्यनुग्रहजनितः···षण्डसम्भोगन्यायेन कञ्चनास्वा-दलेशमनुभूयाव्युत्पन्नैस्तन्मात्राविष्कारकतया सम्भाव्यमानञ्चेत्यर्थः।''
(दीपिका, पृ० १०)

३. 'स्मृतिव्यतीतविषया, मतिरागामिगोचरा।
बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया, प्रज्ञा त्रैकालिकी मता।
प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभां विदुः॥' (सम्प्रदायप्रकाशिनी)

काव्यप्रदीप—मम्मट के 'काव्य-हेतु' की गोविन्द ठक्कुर ने अधिक स्पष्ट और विस्तृत व्याख्या की है। गोविन्द-ठक्कुर ने अन्य टीकाकारों की भांति 'शक्ति' को 'प्रतिभा' माना है, 'शक्तिः कवित्वबीजभूतो देवताप्रसादादिजन्मा संस्कार-विशेषः प्रतिभाव्यपदेशः।' 'प्रतिभा' संस्कार विशेष है अर्थात् कवि में जन्म-जन्मान्तर के संस्कार विद्यमान होते हैं जिसे कवित्व का बीज कहा जाता है। प्रदीपकार ने इस संस्कार-विशेष को 'देवताप्रसादादिजन्मा' कहकर इसके महत्त्व को और अधिक बढ़ा दिया है। 'प्रतिभा' ईश्वर-प्रदत्त मानी है।

इस विवेचन में दूसरी विशेषता गोविन्द ठक्कुर की यह है कि इन्होंने 'प्रतिभा' को 'प्रतिभा व्यपदेश' कहा। प्रदीपकार के इस कथन से प्रतिभा की प्रधानता में कोई सन्देह नहीं रह जाता है।

'व्यपदेश' का स्पष्टीकरण 'भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास' में अधिक स्पष्ट रूप में मिलता है जिसमें बताया है कि 'व्यपदेश' साहित्यशास्त्र में प्रयुक्त शब्द है। प्राचीन-काल में शास्त्रग्रन्थ के अध्ययन के लिए चार आवश्यक नियम माने जाते थे जिसमें एक नियम था 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' अर्थात् जिसके संबंध में संपूर्ण प्रक्रिया बताई गई हो वह प्रधानवस्तु और जिन वस्तुओं में वह लागू होती है उन्हें प्रधानवस्तु के वर्ग में रखकर प्रधानवस्तु का नाम दिया जाता है।[1] अतः यह प्रतिभा 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' है क्योंकि काव्य के तीन हेतु (जिनका आगे विवेचन किया जाएगा) में मूल हेतु 'प्रतिभा' ही है। इतना ही नहीं स्वयं मम्मट ने 'प्रतिभा' के विषय में 'यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहासनीयं स्यात्' इतनी बड़ी बात कहने का साहस किया और मम्मट के टीकाकारों ने भी इसका समर्थन किया। गोविन्द ठक्कुर ने भी माना कि प्रतिभा के अभाव में काव्य-रचना में प्रवृत्त होना संभव नहीं। यदि निपुणता आदि के कारण छन्दोबद्ध रूप में काव्य-रचना हो भी जाए तो वह काव्य उत्तम काव्य तो क्या होगा प्रत्युत उपहसनीय होगा क्योंकि प्रतिभा और काव्य का संबंध तो अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होता है। जहां प्रतिभा है वहां काव्य और जहां प्रतिभा का अभाव है वहां काव्य भी नहीं होगा। एक के विना दूसरा अपूर्ण है।[2]

प्रभा—'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ का कथन है कि काव्य घटना के अनुकूल शब्दार्थों की उपस्थिति प्रतिभा है।[3]

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र, त्र्यंबक गणेश पांडे

२. काव्यप्रदीप, पृ० ६-७

३. 'काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः प्रतिभा।' (प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ६)

अतएव गोविन्द ठक्कुर आदि टीकाकारों ने 'प्रतिभा' को काव्य का मूल हेतु माना। परन्तु काव्य-निर्माण के लिए केवल प्रतिभा का होना ही आवश्यक नहीं अपितु मम्मट की भांति प्रदीपकार ने भी दो अन्य हेतुओं की चर्चा की है। 'प्रतिभा' यदि काव्य का बीज है तो उस काव्य रूपी बीज के संवर्द्धन के लिए निपुणता और अभ्यास जल के समान है।

२. निपुणता—

मम्मट की कारिका में 'शक्ति' के पश्चात् दूसरा हेतु है 'निपुणता'। 'निपुणता' की चर्चा करते हुए सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि 'निपुणता' का क्या अर्थ है अर्थात् किस वस्तु में 'निपुणता', किस विषय में 'निपुणता'? जिसका विवेचन कारिका में ही 'लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्' लिखकर किया है। वृत्ति में 'निपुणता' का अर्थ 'व्युत्पत्ति' है।

मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने 'प्रतिभा' की भांति 'व्युत्पत्ति' को भी स्पष्ट किया है। इन आचार्यों में वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन तथा वाग्भट आदि आचार्य हैं।[1] रीतिवादी आचार्यों ने 'व्युत्पत्ति' को प्रतिभा को चमकाने वाली एक वस्तु माना है। ध्वनिवादी आचार्यों ने 'व्युत्पत्ति' का रहस्य प्रतिभा के उन्मेष का परिणाम माना है।

मम्मट को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न-भिन्न विचार विरासत के रूप में मिले। 'लोकशास्त्रकाव्याद्य' से जिस निपुणता का बोध मम्मट ने कराया उसकी चर्चा सभी पूर्ववर्ती आचार्यों ने की है। वृत्ति में मम्मट स्पष्ट करते हैं कि 'लोक' से अभिप्राय जड़-चेतन रूप जगत् के व्यवहार, शास्त्र से छन्द, व्याकरण शब्दकोश, कला, पुरुषार्थ चतुष्ट्य, हाथी-घोड़े, तलवार आदि के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों और महाकवियों के काव्यों तथा 'आदि' शब्द से

---

१. वामन—'शब्दस्मृत्यभिधानकोशछन्दोविचितकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः।'

रुद्रट—'छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्। युक्तायुक्त-विवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन।'

(क्रमशः ·····)

आनन्दवर्धन—शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्।
व्युत्पत्तिस्तदुपयोगी समस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलम्॥

वाग्भट—'शब्दधर्मार्थकामादिशास्त्रेष्वाम्नायपूर्विका। प्रतिप्रत्तिरसामान्या व्युत्पत्तिरभिधीयते।'

इतिहास आदि के द्वारा होने वाली व्युत्पत्ति (निपुणता)।[१]

काव्य-व्युत्पत्ति की चर्चा में गोविन्द ठक्कुर तथा उनसे पूर्ववर्ती सभी टीकाकारों ने मम्मट के अनुरूप विवेचन किया है। 'लोकशास्त्रादि...' आदि का मम्मट ने वृत्ति में स्वयं ही स्पष्ट विवेचन किया है। अतः गोविन्द ठक्कुर आदि टीकाकारों ने मम्मट से भिन्न व्याख्या नहीं की है। 'लोक' से अभिप्राय गोविन्द ठक्कुर ने दिया है 'स्थावरजङ्गमात्मकलोकस्य वृत्तम्।' शास्त्र' से अभिप्रायः छन्दः शास्त्रादि का ग्रहण होता है।[२] इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ संक्षित चर्चा की है।

गोविन्द ठक्कुर की अपेक्षा वामनाचार्य झलकीकर ने 'बालबोधिनी' में 'लोकशास्त्र...' का अधिक स्पष्ट विवेचन किया है। 'छन्द-शास्त्र' से अभिप्राय है 'काव्य-वर्णादि के नियम बोधक शास्त्र पिङ्गलादि मुनि द्वारा प्रणीत छन्द-शास्त्र 'प्रकृतिप्रत्ययविभागादि का ज्ञान' शब्दों की व्युत्पत्ति का आधायक शास्त्र, व्याकरण जो पाणिनिमुनि द्वारा रचित है। 'अभिधान' का अर्थ शब्दकोश से है। कला' से अभिप्राय चौंसठ कलाओं से है जो ब्रह्मभरतकोहलविशाखिलादि द्वारा प्रणीत है। 'चतुर्वर्ग' से अभिप्राय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से है।

धर्मशास्त्र—जैमिनि मुनि द्वारा प्रणीत पूर्वमीमांसा तथा मनुयाज्ञवल्क्य द्वारा प्रणीत स्मृति-शास्त्र। गर्गादि द्वारा प्रणीत अर्थशास्त्र। वात्स्यायन मुनि द्वारा प्रणीत कामशास्त्र। मोक्षशास्त्र-व्यास द्वारा प्रणीत वेदान्त, कपिल द्वारा सांख्य, कणाद द्वारा तर्क, अक्षपादगौतम द्वारा न्याय, पतंजलि द्वारा महाभाष्य आदि (इतिहास) का लक्षण भी दिया है।[३]

निष्कर्ष यह है कि वास्तव में नाना प्रकार की वस्तुओं का लौकिक अथवा अलौकिक ज्ञान होना ही निपुणता है। चराचर जगत् का निरीक्षण कर अनुभूति के आधार पर प्रतिभावान् कवि जिस रसविषयकाव्य की सृष्टि करता है वह काव्य उत्तम कोटि का है। कवि अपनी कल्पना शक्ति से लोकोत्तर वर्णन करता है तो उसका वह वर्णन कल्पनाजन्य होते हुए भी यथार्थ से अछूता नहीं रहता। कवि वस्तुओं के यथार्थ रूप का वर्णन तभी कर सकता है जब उसे चराचर जगत् विषयक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त हो। वह अपनी कल्पना के केन्द्र बिन्दु से अपने विचारों की अभिव्यक्ति कर सकता है लेकिन अभिव्यक्त विचारों की सत्ता कवि के ज्ञान से अछूती नहीं।

---

१. 'लोकस्य...व्युत्पत्ति।' (काव्यप्रकाश, वृत्ति, भाग, पृ० १४)

२. काव्यप्रदीप, पृ० ७

३. बालबोधिनी, पृष्ठ १२

३ अभ्यास—

अन्य हेतुओं की भाँति 'अभ्यास' की भी चर्चा मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने की है। वामन ने 'अभ्यास' की ही 'अभियोग वृद्धसेवा' अवेक्षण के रूप में विश्लेषण किया है। राजशेखर ने निरन्तर 'अभ्यास' को काव्य-रचना का हेतु बताया। अभिनवगुप्त ने सहृदय शब्द की व्याख्या करते हुए 'अभ्यास' का स्वरूप बताया।[1]

मम्मट वृत्ति में अभ्यास का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जो काव्य रचना तथा विवेचना करना जानते हैं ऐसे कवियों और विवेचकों द्वारा प्रणीत काव्यों से उपदेश प्राप्त करके प्रतिभाशाली कवि शब्दादि योजना करता हुआ बार-बार काव्य निर्माण करता है।[2]

संकेत· 'संकेत' टीका में माणिक्यचंद्र 'उपदेश' का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं—'नदीजलाशयाद्रिप्रभृतिषु सामान्येष्वप्यसत्पद्मंहंसरत्नादिवर्णनमुपदेश:'। वृत्ति में प्रयुक्त 'करण' और 'योजन' के संबंध में लिखते हैं कि 'करण' का संबंध कवि से है और 'योजन' का आलोचक से।[3]

विवेक—श्रीधर ने 'विवेक' टीका में 'काव्यज्ञ:' के लिए 'कवि' और 'सहृदय' दोनों का प्रयोग किया है। कवि काव्य रचना करता है और सहृदय काव्यविवेचन करता है।[4]

दीपिका—काव्यप्रकाशदीपिका टीका में चंडीदास ने करण का अर्थ 'निष्पत्ति' किया है और 'योजन' से शब्द-विन्यास की विशेषता बताई है तथा

---

१. भामह—'शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्। विलोक्यान्य-निबन्धांश्च कार्य: काव्यसमादर:।।"

वामन—'आधानोद्धरणे तावद् यावद् दोलायते मन:। पदस्य स्थापितेस्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती। यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णु-ताम्। तं शब्दन्यासनिष्णाता: शब्दपाकं प्रचक्षते।'

राजशेखर—'अविच्छेने शीलनमभ्यास: सहि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते।'

अभिनवगुप्त—'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते सहृदयसंवादभाज: सहृदया:।'

२. 'काव्यं कर्त्तुं·········प्रवृत्तिरिति।' (काव्यप्रकाश, पृ० १४)

३. 'काव्यं कर्त्तुं जानन्ति ये तदुपदेशेन करणे निष्पादने च ये काव्यं विचार-यितुं जानन्ति तदुपदेशेन योजने विचारणे।' (संकेत, पृ० ६)

४. 'द्वये कविसहृदया: काव्यज्ञा:।' (विवेक, पृ० ९)

शब्द भी ऐसे हों जो रसाभिव्यक्ति की क्षमता रखते हों ।[1]

'काव्यप्रदीप'—गोविन्द-ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में मम्मट के अनुरूप ही अभ्यास की चर्चा की है । वे लिखते हैं 'काव्यशिक्षा काव्यं कर्तुं रसानुगुणतयाप्रबन्धादौ घटयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशः ।'[2] यहाँ यह स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर ने 'उपदेश' का अर्थ 'शिक्षा' किया है । प्रदीपकार का अभिप्राय यह है कि जो काव्य रचना करना जानते हैं ऐसे कवियों की कृतियों का रसपान करके; रसानुकूल प्रबन्ध छाया की विशेषताओं का अपनी पद-रचना में आधान करने की उत्सुकता दिखाकर कवि बार-बार रचना करता है, यही अभ्यास है ।

इस प्रकार प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास का निरूपण करने के पश्चात् कारिका में 'हेतु' शब्द का प्रयोग विवेचनीय है । मम्मट ने काव्य में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों की सत्ता अनिवार्य मानी परन्तु कारिका में (हेतु) एकवचन का प्रयोग किया है, 'हेतवः' बहुवचन का नहीं । वृत्ति में ग्रन्थकार ने स्वयं इस शंका का समाधान किया है कि तीनों सम्मिलित रूप से, न कि पृथक्-पृथक् काव्य-निर्माण के हेतु हैं ।

टीकाकारों ने भी 'हेतुः' एकवचन के प्रयोग की व्याख्या की है । प्रायः सभी टीकाकारों ने एक जैसा ही भाव दिया है ।

सारबोधिनी श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य आदि ने नैयायिक दृष्टि से' व्याख्या की है । 'सारबोधिनी' टीका में 'दण्डचक्र' और 'तृणारणिमणि शास्त्रीय-न्यायों की चर्चा है । सारबोधिनीकार का कथन है कि यहाँ दण्डचक्रन्याय तीनों परस्पर मिलकर काव्य के हेतु हैं, तृणारणिमणिन्याय के समान पृथक्-पृथक् नहीं ।[3]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रभावस्वरूप ही 'दण्डचक्र' आदि की चर्चा की है ।

कारिका में प्रयुक्त 'इति' शब्द-प्रयोग की सार्थकता की चर्चा करते हुए

---

१. 'करणं काव्यस्वरूपनिष्पत्तिः कवित्वशिक्षया । योजनं पूर्वपराविरुद्धतया रसाभिव्यक्तिक्षमत्वेन प्रबन्धाद्यवयवविन्यासः ।' (दीपिका, पृ० ११)

२. काव्यप्रदीप, पृ० ७

३. 'समुदिताः दण्डचक्रादिन्यायेन परस्परसापेक्षाः । व्यस्ताः तृणारणिमणिन्यायेन प्रत्येकं कार्यजनकाः । हेतुरित्येकवचनोपादानेनैतल्लभ्यत इति भावः ।' (सारबोधिनी, पृ० ९)

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं "इतिशब्दो मिलितोपस्थापनाय । अन्यथा तद्वैयर्थ्यमेव स्यात्" काव्य-उद्भव से तात्पर्य उत्कृष्ट उत्पत्ति से है । गोविन्द ठक्कुर ने दण्डचक्र न्याय की चर्चा की है तथा प्रदीप के टीकाकार वैद्यनाथ ने 'तृणा-रणिमणि न्याय' की भी चर्चा की है । इन दोनों दृष्टान्तों का अभिप्राय यह है कि किसी भी कार्य के प्रति उसकी पूरी सामग्री ही कारण होती है कोई एक वस्तु नहीं । जैसे घट निर्माण रूपी कार्य के प्रति चीवर, चक्र, दण्ड, मृत्तिका आदि सभी कारण हैं । किसी एक से घट-निर्माण संभव नहीं हो सकता, उसी प्रकार काव्य-निर्माण के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तीनों सम्मिलत कारण हैं पृथक्-पृथक् नहीं । यहीं 'इति' शब्द की सार्थकता भी सिद्ध हो जाती है । 'तृणारणिमणिन्याय' से अभिप्राय है कि जिस प्रकार तिनकों से अरणि और मणि की अपेक्षा किए बिना भी आग जलाई जाती थी और इसी प्रकार अरणि तथा सूर्यकान्त मणियों की सहायता से भी स्वतन्त्र रूप में आग जलाई जाती थी । इस प्रकार ये तीनों अग्नि जलाने के पृथक्-पृथक् कारण हैं ।

इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचनोपरान्त निष्कर्ष यह है कि गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के अनुसार ही प्रतिभा, व्युत्पत्ति और निपुणता काव्य के हेतु माने हैं । पूर्ववर्ती टीकाकारों के भावों को भी यथासमय ग्रहण किया है । यद्यपि तीनों हेतुओं की सत्ता सम्मिलित रूप में स्वीकार की है परन्तु प्रारंभ में गोविन्द-ठक्कुर ने 'प्रतिभा व्यपदेश' कहकर 'प्रतिभा' के महत्त्व का प्रतिपादन किया है । वास्तव में तीनों कारणों में जितना अधिक महत्त्व प्रतिभा का है उतना व्युत्पत्ति और अभ्यास का नहीं । यदि हम प्राचीन कवियों के काव्य को देखें (जिन कवियों का नामोल्लेख 'व्युत्पत्ति' के प्रसंग में किया है) तो उनके काव्य में हमें प्रतिभा की ही छाया दिखेगी अभ्यास की गन्ध नहीं । कवि के मुखारविन्द से जब अनायास ही कविता के रसमय शब्द प्रस्फुटित होते हैं उस समय काव्य का हेतु 'अभ्यास' न होकर 'प्रतिभा' ही है । काव्य तो बिना प्रयत्न के प्रवाहित स्रोत है । कभी-कभी अभ्यास करके भी रचना उतनी ख्यातिप्रद नहीं होती है । 'अभ्यास' से तो पदों का हठात् आकर्षण संभव है काव्यनिर्माण नहीं । प्रतिभा काव्य की जननी है । गोविन्द ठक्कुर का यह कथन 'स च विशेष्यस्य काव्यप्रसरस्य, विशेषणस्यानुपहसनीयत्वस्य वा व्यतिरेकात्सर्वत्राविशिष्टा' प्रतिभा के महत्त्व का ही द्योतक है । 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' से तो काव्य में निखार आता है जिसके लिए गोविन्द ठक्कुर ने 'उत्कृष्ट' शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति और

अभ्यास होने से उत्कृष्ट काव्य की रचना होती है। 'अभ्यास' का निराकरण नहीं कर सकते क्योंकि 'काव्यसंवाद' अथवा काव्य-कृतियों में परस्पर भाव-साम्य, रचना-साम्य आदि का परिज्ञान भी कवि की काव्य-कला का अभ्यास है। विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास के 'संवलित-त्रय' की काव्य-सृष्टि में वही आवश्यकता है जो जगत् सृष्टि में सत्त्व-रजस् तमस् की साम्यावस्था प्रकृति अथवा शाङ्करी माया की है। 'प्रतिभा' के साथ-साथ गोविन्द ठक्कुर ने 'संस्कार-विशेष' का भी महत्त्व प्रतिपादित किया है जिसका अभिप्राय है कि परम मौलिक कल्पना भी जीवन से प्राप्त संस्कारों के आधार पर ही कार्य कर सकती है।

काव्य-लक्षण

'काव्य-प्रयोजन' और 'काव्य-हेतु' के पश्चात् मम्मट ने काव्य क स्वरूप का निरूपण किया है। मम्मट से पूर्ववर्ती अनेक आचार्य हुए जिन्होंने काव्य-लक्षण का निरूपण किया। सभी आचार्यों का किसी न किसी सम्प्रदाय से संबंध रहा है जैसे भामह, दण्डी अलंकारवादी आचार्य, वामन रीतिवादी आचार्य, आनन्दवर्धन ध्वनिवादी आचार्य थे। इन सभी आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से 'काव्य-लक्षण' का निरूपण किया और सभी का अपने-अपने संप्रदाय से संबंध रहा।[1] मम्मट तक आते-आते 'काव्यलक्षण' की विस्तृत चर्चा हो चुकी थी। मम्मट के समक्ष अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों की लंबी श्रृंखला थी। अतः मम्मट ने किसी संप्रदाय विशेष का अनुकरण न करके समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाकर 'काव्य-लक्षण' दिया। मम्मट का लक्षण है 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।' वृत्ति में स्पष्ट किया है कि 'क्वापि' से अभिप्राय है प्रायः सर्वत्र अलङ्कृत शब्द और अर्थ काव्य कहे जाते हैं किन्तु यदि कहीं पर स्फुट अलंकार न भी हों तो वहाँ काव्यत्व की हानि नहीं होती। उदाहरण दिया है 'यः कौमारहरः'[2]। मम्मट लिखते हैं कि यहाँ स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाला अलंकार नहीं है और रस की प्रधानता होने के कारण 'रसवत्' अलंकार भी नहीं है।

मम्मट अपने समय के मर्मज्ञ आचार्य थे। यद्यपि उनका यह लक्षण परंपरा से चले आ रहे काव्यलक्षण का संशोधित रूप है तथापि यह लक्षण

---

१. भामह—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।'
वामन—'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्।'
आनन्दवर्धन—'सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।'

२. 'यः कौमारहरः'…। (काव्यप्रकाश उदाहरण १.१)
अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता।'
(काव्यप्रकाश, पृ० १८-१९)

विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखता है। इसमें मम्मट का पर्याप्त चिन्तन व मनन दिखाई पड़ता है। मम्मट के इस लक्षण में गुण, अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य, ध्वनि सभी की छाया दिखाई पड़ती है। सबसे प्रमुख विशेषता है कि मम्मट के टीकाकारों में विशेषकर गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के भाव का बड़ा विस्तृत विवेचन किया है। अन्य आचार्यों द्वारा लगाए गए आक्षेपों का निराकरण किया है।

गोविन्द ठक्कुर तथा टीकाकारों की दृष्टि से घटकों की व्याख्या—

मम्मट के टीकाकारों ने संपूर्ण 'काव्य-लक्षण' को काव्यप्रकाश की विषय-सूची के रूप में रखा। यद्यपि सब टीकाओं में ऐसा नहीं मिलता परन्तु कुछ टीकाओं में इसे स्पष्ट किया गया है जैसे श्रीधर ने 'विवेक में', रुचक ने 'संकेत' आदि में। इन टीकाओं में 'तत्' शब्द से अभिप्राय 'काव्य' से है जिसकी चर्चा प्रथम, चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ उल्लास में उपलब्ध है। द्वितीय तथा तृतीय उल्लास में 'शब्दार्थौ' का विवेचन है। सप्तम उल्लास में दोष, अष्टम उल्लास में गुण, नवम तथा दशम उल्लास में अलंकारों का निरूपण है।[१]

गोविन्द ठक्कुर की 'काव्य-प्रदीप' टीका में इस प्रकार का विभाजन नहीं नहीं किया गया है। 'तत्' शब्द का प्रयोग सभी टीकाकारों के समान गोविन्द ठक्कुर ने भी 'काव्य' के लिए किया है 'काव्यमिति व्यवहर्तव्यौ'।

मम्मट ने 'शब्दार्थौ' के तीन विशेषण माने हैं– अदोषौ, सगुणौ और अनलंकृती पुनः क्वापि।

शब्दार्थौ—

परम्परा से चले आ रहे भामह, रुद्रट आदि ने शब्द और अर्थ के सम्मिलित रूप को काव्य कहा, मम्मट को भी यह मान्य है। परन्तु अन्तिम आचार्य जगन्नाथ ने मम्मट के काव्यलक्षण की समीक्षा की है। जगन्नाथ के आक्षेपों का समाधान 'प्रदीप' की टीकाओं 'उद्योत' और 'प्रभा' में मिलता है।

संकेत—यदि कालक्रमानुसार देखें तो सर्वप्रथम 'संकेत' में माणिक्यचन्द्र ने शब्दार्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जैसे दृश्य रूप में जाति एवं व्यक्ति दोनों भिन्न प्रतीत होते हुए भी दोनों एक ही रहते हैं और एक के अभाव में दूसरे की स्थिति संभव नहीं है उसी प्रकार शब्द और अर्थ दोनों ही

---

१. विवेक—पृष्ठ १०

काव्यांग के रूप में एक-भूत हैं ।[1]

काव्यप्रदीप - गोविन्द ठक्कुर ने 'शब्दार्थौ' के विषय में अपना कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया केवलमात्र 'शब्दार्थौ तत्काव्यमिति व्यवहर्तव्यौ ।'[2]

काव्यप्रदीप के टीकाकार—

आचार्य जगन्नाथ ने मम्मट के 'शब्दार्थौ' का खण्डन किया है । प्रदीप के टीकाकार नागेश भट्ट और वैद्यनाथ ने जगन्नाथ के आक्षेपों का निराकरण किया और विस्तृत चर्चा की । टीकाकारों के विवेचन से पूर्व संक्षिप्त रूप में आचार्य जगन्नाथ के आक्षेपों को जानना आवश्यक है कि उन्होंने किस प्रकार मम्मट का खण्डन किया ।

आचार्य जगन्नाथ लिखते हैं कि काव्य-पद-प्रवृत्ति-निमित्त किस कोटि का धर्म है, शब्दार्थ समूह में रहने वाला, व्यासज्यवृत्ति धर्म है अथवा शब्द और अर्थ में रहने वाला प्रत्येक पर्याप्त ? अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य कहलाते हैं अथवा प्रत्येक पृथक्-पृथक् ? एक और एक मिलकर 'दो' होते हैं । अतः न तो दो 'एको' को हम 'एक' कह सकते हैं और न किसी 'एक' को दो । उसी तरह श्लोक वाक्य काव्य नहीं । यदि द्वितीय पक्ष को माने तो एक ही श्लोक में दो काव्य हैं ऐसा व्यवहार होने लगेगा ।[3]

नागेश भट्ट ने जगन्नाथ की आलोचना की । उन्होंने 'रसगंगाधर' पर लिखी टीका 'मर्मप्रकाश' में जगन्नाथ के आक्षेपों की चर्चा की । नागेशभट्ट लिखते हैं कि काव्यत्व का प्रयोजक रसास्वाद व्यंजकत्व शब्द एवं उभय पक्ष में एक सा वर्तमान रहता है । काव्य पक्ष, काव्य सुना एवं काव्य को समझा ऐसा कहने से शब्द और अर्थ दोनों की काव्यत्व की प्रतीति होती है केवलमात्र शब्द या अर्थ की नहीं ।

---

१. "तदिति । काव्यम् । शब्दार्थौ मिलितौ जातिव्यक्तिवदन्योन्योन्याव्यभिचारित्वेन । एतेन शब्दार्थयोर्भेदवादिनः प्रत्युक्ताः । तैर्ह्युक्तं मुखे शब्दमुपलभामहे भूमावर्थमिति । एतेन कविनिर्मितकमनीयतातिशयिनोः शब्दार्थयोः प्रत्येकं काव्यत्वमिति पक्षद्वयमपि निराकृतम् । (संकेत, पृ० ६)

२. काव्यप्रदीप, पृ० ८

३. अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तम् ? प्रत्येकपर्याप्तं वा ? नाद्यः, "एको न द्वौ" इति व्यवहारस्येव "श्लोकवाक्यं न काव्यम्" इति व्यवहारस्यापत्तेः । न द्वितीयः एकस्मिन् काव्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः ।
(रसगंगाधर, पृ० १६)

दूसरे पक्ष का खण्डन करते हैं कि काव्य मुख्य रूप से 'व्यासज्य वृत्ति' धर्म है किन्तु लक्षण के द्वारा केवल अर्थ या केवल शब्द में भी काव्यता मानी जा सकती है। महावैयाकरण पाणिनि का सूत्र है कि द्वितीयान्त से उसे पढ़ता है या उसे जानता है--इस सूत्र के अनुसार पढ़ना शब्दों का और जानना अर्थों का होता है। अतः शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य कहे जाते हैं।[1] इस प्रकार जगन्नाथ का तर्क नागेश भट्ट ने निस्सार सिद्ध किया है।

प्रभा—गोविन्द ठक्कुर के दूसरे टीकाकार वैद्यनाथ ने 'प्रभा' में शब्दार्थों की चर्चा की है। वैद्यनाथ ने स्पष्ट किया कि वैदिक और लौकिक प्रयोग में शब्द और अर्थ के संश्लेष का निर्देश किया गया है। 'रघुवंश' महाकाव्य के प्रथम श्लोक 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थंप्रतिपत्तये' में शिवपार्वतीवत् शब्द और अर्थ के एकांगित्व का निर्देश किया है। अतः मम्मट का यह कथन शब्द और अर्थ के योग से काव्य बनता है निस्संदेह उचित है और काव्य की सुन्दरता यही माँग करती है कि शब्द और अर्थ का संधान लक्षित भी न हो पाए दोनों मिलकर एक ही सौन्दर्य को धारण करें। प्रभाकार ने इस पर विचार किया है कि काव्य की सुन्दरता किसमें निवास करती है शब्द में या अर्थ में या दोनों के संश्लेष मे ? नागेश भट्ट की भाँति वैद्यनाथ ने भी 'एको न द्वौ' की चर्चा करते हुए जगन्नाथ के आक्षेपों का खण्डन किया है।[2]

'प्रभाकर' ने जो वैदिक और लौकिक रूप की चर्चा की उसे देखते हुए वास्तव में परम्परा से चले आ रहे शब्द और अर्थ के सम्मिलित रूप को नकारना संभव नहीं। यदि लौकिक प्रमाणों को न भी मानें परन्तु संस्कृत के आदिस्रोत वेदों में शब्द और अर्थ का जिस रूप से वर्णन किया है वह त्याज्य

---

१. आस्वादव्यञ्जकत्वस्योभयत्राप्यविशेषात् चमत्कारिबोधजनकज्ञानविषयता-वच्छेदक-धर्मत्वरूपस्यानुपहसनीयकाव्यलक्षणस्य प्रकाशद्युक्तलक्ष्यतावच्छेद-कस्योभयवृत्तित्वाच्च काव्यं पठितं श्रुतं काव्यं बुद्धं काव्यमित्युभयविध-व्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्यासज्यवृत्ति । अत एव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादकः "तदधीते तद्वेद" (४/२/५९) इति सूत्रस्थो भगवान् पतञ्जलिः संगच्छते। लक्षणायान्यातरस्मिन्नपि तत्वात्। एक न द्वौ" इतिवत् न तदापत्तिः। तेनानुपहनीयकाव्यलक्षणं प्रकाशोक्तं निर्बाधम्" । (मर्मप्रकाशव्याख्या, रसगंगाधर, पृ० १८)

२. काव्यप्रदीप, प्रभा, पृ० ८

नहीं।[1]

काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का एकांगीत्व ही स्वीकार्य है। यह बात दूसरी है कि काव्य का सौन्दर्य शब्द प्रधान है या अर्थ प्रधान। यह तो कवि की चयन-शक्ति पर निर्भर करता है। वैदिक ऋषि भी इसी भाव को लक्षित करते हैं।[2]

इस प्रकार लम्बी श्रृंखला को देखते हुए ऐसा लगता है कि काव्य का लक्षण करते हुए शब्द और अर्थ के सहित भाव की प्रतिष्ठा अनिवार्य है।

अदोषौ –

'शब्द और अर्थ से युक्त जो काव्य है' मम्मट उसकी पूर्णता तब मानते हैं जब वह अपने कतिपय विशेषणों से युक्त हो जैसे पहला विशेषण 'अदोषौ' है। साधारणतः 'अदोष' का अभिप्राय 'दोष रहित' से लिया जाता है परन्तु यहाँ साहित्यशास्त्र में 'निर्दोष शब्दार्थ युगल काव्य है' ऐसा हम मम्मट के मत को स्वीकार्य नहीं करते क्योंकि संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो निर्दोषी हो। मम्मट ने 'दोष' का विस्तार से वर्णन काव्यप्रकाश के 'सप्तम उल्लास' में किया है। मम्मट का अभिप्राय दोषमात्र का अभाव नहीं अपितु ऐसे प्रबल दोषों से है जो काव्यत्व के विघातक हुआ करते हैं। अतः सगुण से पृथक् अदोष शब्द दिया है। गुणों का अभाव मात्र ही दोष नहीं है अपितु दोष रसादि के अपकर्षक हैं। ध्वन्याचार्य आनन्दवर्धन की दोष समीक्षा को ही मम्मट ने अपनाया है।

मम्मट के टीकाकारों ने (माणिक्यचन्द्र, नरहरिसरस्वतीतीर्थ, वत्सलाञ्छन-भट्टाचार्यादि) स्पष्टतः उल्लेख किया है कि 'दोष' से अभिप्रायः श्रुतिकटु आदि दोषों से है जो कि रस के अपकर्षमात्र होते हैं। अतः 'अदोष' का अर्थ सर्वथा दोष रहित न होकर रसापकर्षक दोषों से है।[3]

---

१. 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति च इत् तद् विदुस्ते अमी समासते।'
(अथर्ववेद ९.१०.१८)

२. 'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि।'
(ऋग्वेद १०.७१.२)

३. (i) 'श्रुतिकटुप्रभृतयो नित्या दोषा माधुर्यादयो नित्या गुणा रसस्याप-कर्षोत्कर्षहेतवः।' (संकेत, पृ० ६)

मम्मट के अभिप्राय को ठीक से न समझकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'अदोष' का अर्थ सर्वथा दोषरहित करके मम्मट की आलोचना की है। विश्वनाथ लिखते हैं कि यदि दोषरहित अर्थ लिया जाए तो यह 'न्यक्कारो ह्ययमेव ·····किमेभिर्भुजैः' (मम्मट के अनुसार उत्तम काव्य का उदाहरण है) काव्य नहीं हो सकता क्योंकि यहां विधेयाविमर्श दोष है।

यदि 'अदोषौ' का अर्थ स्वल्प' लिया जाए तो वह भी उचित नहीं क्योंकि फिर तो निर्दोष शब्दार्थयुगल काव्य काव्य नहीं कहा जा सकेगा।

परन्तु टीकाकारों ने 'अदोषौ' का जो अर्थ बताया उससे विश्वनाथ का मत निराधार सिद्ध होता है। ऐसा लगता है कि विश्वनाथ ने केवल अपने मत के स्थापन के लिए मम्मट की आलोचना की है।

काव्यप्रदीप में गोविन्द ठक्कुर ने 'अदोषौ' का अभिप्राय 'निर्दोष' से लिया है। वे लिखते हैं 'निर्दोषत्वादिविशेषणविशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यमिति व्यवहर्तव्यौ।' गोविन्द ठक्कुर ने साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का भी उल्लेख किया है। उन्होंने विश्वनाथ का नामोल्लेख नहीं किया 'अर्वाचीनास्तु' से विश्वनाथ के मत का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि अर्वाचीन के अनुसार दोष रहित शब्दार्थ युगल को काव्य मानने में काव्य का क्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है या काव्य का कोई क्षेत्र ही नहीं बच सकता। अतः 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' यह लक्षण है। श्रुतिकटु आदि दोष रस के अपर्षक होते हैं परन्तु उनके सद्भाव या अभाव से काव्यता में क्षति नहीं होती। इस संदर्भ में प्राचीन आचार्य की उक्ति उद्धृत की है जिसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार कोई रत्न कीटानुवेध होने पर भी रत्न ही रहा करता है उसी प्रकार कोई काव्य रसभावाभिव्यंजक शब्दार्थ युगल श्रुतिदुष्टादि दोष के होने पर भी काव्य ही रहा करता है।'[1]

(ii) उभयोर्ग्रहणेऽपि श्रुतिकटुत्वादिदोषयुक्तं 'कार्तार्थ्य-(७ उल्लासे) मित्यादावतिव्याप्तिः ।।' (बालबोधिनी, पृ० ६)

१. ···अर्वाचीनस्तु" यथोक्तस्य काव्यलक्षणत्वे काव्यपदं निर्विषयं प्रविरलविषयं वा स्यात्। दोषाणां दुर्वारत्वात्। तस्मात् "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" इति तल्लक्षणम्। तथा च दुष्टेऽपि रसावगमे काव्यत्वमस्त्येव। परं त्वपकर्षमात्रम्। तदुक्तम्—

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ।।"

(काव्यप्रदीप, पृ० १३)

यहां विश्वनाथ के मत को देखते हुए यह बात स्पष्ट है कि उन्होंने 'अदोषौ' का अभिप्राय श्रुटि-कटु आदि दोषों से ही लिया है। प्रारम्भ में जो मम्मट की आलोचना की वह निराधार है क्योंकि विश्वनाथ ने स्वयं ही 'अदोषौ' का अर्थ 'नञ्' और 'ईषद्' किया है। मम्मट का भी अभिप्राय 'श्रुति कटु आदि' दोषों से ही है यदि वह दोष काव्यत्व के विघातक नहीं तो उनके सद्भाव में भी काव्य काव्य ही है। सम्भवतः गोविन्द ठक्कुर ने भी विश्वनाथ की इस प्रकार की अनर्गल चर्चा को 'काव्यप्रदीप' में स्थान नहीं दिया और जहाँ विश्वनाथ का मत स्वयं के अनुकूल है वहां उसका विवेचन किया है। 'अदोष' से अभिप्राय श्रुति-कटु आदि रसापर्षक दोष से है।

प्रभा उद्योत प्रभा तथा उद्योत टीकाओं में 'अदोष' की विस्तृत व्याख्या है। वे लिखते हैं कि दोषाभाव का तात्पर्य सर्वथा दोषाभाव से नहीं है बल्कि ऐसे दोषों के अभाव से है जो कि उद्देश्य की प्रतीति के प्रतिबन्धक हैं। 'उद्देश्य-प्रतीतिप्रतिबन्धकत्वम्' अर्थात् कवि का उद्देश्य जिस-जिस व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ में चमत्कार दिखाने का हो उन सभी वैचित्र्यों की प्रतीति में जिसके द्वारा रुकावट हो उसे ही दोष कहते हैं। प्रस्तुत उदाहरण "न्यक्कारो······ किमेभिर्भुजैः," में जो विधेयाविमर्श दोष बताया गया है वहाँ 'न्यक्कारो' तथा 'ह्ययंमेव' इन पदों के पूर्वापर प्रयोग में वाक्यगत दोष है न कि व्यंग्यार्थ में, क्योंकि व्यंग्यार्थ के चमत्कार में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। अतः यह उत्तमकाव्य का उदाहरण हो सकता है। 'वक्ता, प्रतिपाद्य, व्यंग्य, वाच्य प्रकरणादि के औचित्य के कारण कहीं-कहीं दोष भी गुण हो जाते हैं।[1]

सगुणौ—

काव्य का अगला विशेषण है 'सगुणौ'। यहाँ मम्मट ने 'अदोष' से पृथक् 'सगुण' विशेषण दिया है। अतः यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि विश्वनाथ ने 'अदोषौ' पर जो आक्षेप लगाए पुनः उसका खण्डन हो जाता है क्योंकि 'अदोषौ' का अभिप्राय यदि दोषरहित होता तो मम्मट 'सगुण' का पृथक् से विवेचन नहीं करते।

मम्मट ने 'सगुणौ' का विवेचन 'अष्टम उल्लास' में किया है। आचार्य विश्वनाथ ने अदोषौ की भांति सगुणौ पर भी आक्षेप किया है। वे लिखते हैं गुण तो रस के धर्म हैं फिर इन्हें शब्दार्थ के धर्म कहना उचित नहीं। इनके स्थान पर 'सरसौ' पद ही उपयुक्त कहा जाएगा। ऐसी दशा में जब गुण को

---

१. काव्यप्रदीप, प्रभा, पृ० ११

रस का अंग मान लिया जाता है तो वे शब्द के अंग कैसे हो सकते हैं।[1]

परन्तु विश्वनाथ का यह आक्षेप भी 'अदोषौ' की भाँति निरर्थक है। मम्मट के टीकाकारों ने इसका समाधान किया है। स्वयं मम्मट ने 'अष्टम-उल्लास' में स्पष्ट किया है कि गुणों को शब्द तथा अर्थ में स्थिति गौणरूप से मानी जाती है।[2]

आचार्य विश्वनाथ के पूर्ववती मम्मट के सभी टीकाकारों ने तथा परवर्ती टीकाकारों ने भी गुण को रस का धर्म माना है तथा उपचार रूप में शब्द तथा अर्थ में गुणों की स्थिति मानी है।

संकेत-सर्वप्रथम माणिक्यचन्द्र ने 'संकेत' टीका में दोषों और गुणों की सम्मिलित रूप से चर्चा की है जिससे अन्वय व्यतिरेक से गुण का रस के आश्रित होना सिद्ध होता है। लाक्षणिक रूप में गुण शब्दार्थ आश्रित भी है।[3]
काव्यप्रदीप-गोविन्द ठक्कुर ने भी 'काव्यप्रदीप' टीका में गुणों को रसनिष्ठ माना है 'गुणस्य रसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यंजकपरं गुणपदम्।' गुणों का विस्तृत विवेचन 'अष्टम उल्लास' में गोविन्द ठक्कुर ने किया है। जहाँ बताया है कि जिस प्रकार आत्मा के शौर्यादि गुणों का शरीर में भी गौण रूप से व्यवहार होता है। इसी प्रकार माधुर्यादि यद्यपि रस के धर्म हैं तथापि गुणव्यंजक सुकुमारादि वर्णों को तथा अर्थों को गौण रूप से 'मधुर' शब्द हैं, 'मधुर' अर्थ हैं, ऐसा कह दिया जाता है।[3] स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर की इस प्रकार की चर्चा से विश्वनाथ के मत का भी खण्डन हो जाता है।

प्रभा उद्योत—प्रभा तथा उद्योत टीकाओं में गोविन्द ठक्कुर के तद्व्यंजक-परं' कथन से अभिप्राय है कि अष्टम उल्लास में इसका विवेचन किया गया

---

१. किञ्च। शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम्। ···ननु शब्दार्थौ सगुण इत्यनेन गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ काव्ये प्रयोज्यावित्यभिप्राय इति चेत्? न, गुणाभिव्भञ्जकशब्दार्थवत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वम्, न तु स्वरूपाधायकत्वम्। (साहित्यदर्पण, पृ० १०-११)

२. गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।' (काव्यप्रकाश, ८ ६५, पृ० ४२०)

३. श्रुतिकटुप्रभृतयो नित्या दोषा माधुर्यादयो नित्या गुणा रसस्यापकर्षोत्कर्ष-हेतवः। ते चान्वयव्यतिरेकानुविधानाद्रसश्रयास्तद्धर्माश्च। भक्त्या तु तदुपकारिणोः शब्दार्थयोः। (संकेत, पृ० २८०)

है कि कौन से वर्ण किस-किस गुण के व्यंजक हैं। 'गुण' शब्द का अर्थ है— 'गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ।' अतएव नीरस काव्य में भी यह लक्षण घटित हो जाता है क्योंकि गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ नीरस काव्य में भी रह सकते हैं परन्तु उसमें रस का अभाव होने से माधुर्यादि गुणों का होना तो संभव नहीं है।[1]

अनलङ्कृती पुनःक्वापि—

'अनलङ्कृती पुनःक्वापि' इस विशेषण की गोविन्द ठक्कुर ने विस्तृत चर्चा की है। 'अनलङ्कृती' का अभिप्राय वृत्ति में स्वयं मम्मट द्वारा स्पष्ट किया गया है कि ऐसे शब्दार्थ युगल भी काव्य हो सकते हैं जो स्फुट अलंकार रहित हों अर्थात् जहाँ स्पष्ट रूप में प्रतीत होने वाला कोई अलंकार न हो।[2] 'यः कौमारहरः' उदाहरण को उद्धृत करते हुए मम्मट ने स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत उदाहरण में स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाला अलंकार नहीं है और विप्रलम्भ-शृंगार रस की प्रधानता होने के कारण रसवत् आदि अलंकार भी नहीं है।

आचार्य मम्मट के उपर्युक्त दृष्टिकोण को देखते हुए मम्मट के विषय में यह बात निर्विवाद कही जा सकती है कि मम्मट किसी विशेष सम्प्रदाय से संबंधित नहीं है। यदि केवल अलंकारों की चर्चा करते हुए मम्मट 'सालंकारौ' या 'अलंकारसहितौ' का प्रयोग करते तो मम्मट का सम्बन्ध सम्प्रदाय विशेष से हो जाता तथा वे वामनादि आचार्यों की कोटि में आ जाते। परन्तु मम्मट ने तो स्फुट या अस्फुट दोनों प्रकार के अलंकार काव्य के लिए अनिवार्य माने हैं।

मम्मट के 'अनलङ्कृती' विशेषण का आचार्य विश्वनाथ तथा जयदेव ने खण्डन किया है। विश्वनाथ का कथन है कि अलंकृत शब्द और अर्थ काव्य के स्वरूप के नहीं अपितु काव्य के उत्कर्षाधायक हैं।[3]

जयदेव ने 'अनलङ्कृती' का अर्थ अलंकार-शून्य माना है। अतः उन्होंने कहा है कि जो अलंकार-शून्य शब्दार्थ को स्वीकार करता है वह उष्णतारहित

---

१. 'मूर्ध्नि वर्गान्त्यगां इत्यादिना वक्ष्यमाणवर्णघटनादीत्यर्थः।
तेन नीरसेऽव्याप्तिरपि नेति बोध्यम्।' (उद्योत, पृ० ११)

२. 'क्वचितु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः' (काव्यप्रकाश, पृ० १६)

३. एतेन 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति यदुक्तम्। तदपि परास्तम्। अस्यार्थ —सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्वस्फुटालङ्कारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति। तत्र सालङ्ककारशब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षाधायकत्वात्।
(साहित्यदर्पण, १३)

अग्नि को क्यों नहीं मानता ।[1]

मम्मट के वृत्ति भाग से ही जयदेव का खण्डन किया जा सकता है क्योंकि मम्मट का 'अनलंकृती' से तात्पर्य अस्फुट अलंकारों से है। मम्मट के टीकाकारों के विवेचन से भी स्पष्ट है कि उन्होंने (टीकाकारों ने) भी 'अनलङ्कृती' का अभिप्राय अल्पता' से लिया है।

संकेत—'संकेत' में माणिक्यचन्द्र ने 'अनलंकृती' में 'नञ्' का अभिप्राय 'अल्पता' से लिया है 'निरलंकार' से नहीं। यदि स्फुट अलंकारों का अभाव हो तो वहां भी काव्यत्व की हानि नहीं होती। काव्य क्या है? माणिक्यचन्द्र लिखते हैं 'कवि कर्म काव्य है।'[2]

दीपिका—'दीपिका' में चण्डीदास ने 'नञ्' का अभिप्राय 'अल्पता' से लिया है।[3]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने इस विशेषण की विस्तृत चर्चा की है। अन्य टीकाकारों की भांति 'नञ्' का अभिप्राय 'अल्पता' से लिया है—'नञोऽल्पार्थत्वात्।' 'अल्प' से अभिप्राय 'अस्फुटता' से है। गोविन्द ठक्कुर का मत है कि रस भी न हो और अलंकार भी स्पष्ट न हो तो यह काव्य का ऋजु पन्थ है। रस और अलंकार काव्य के दो चमत्कार हेतु हैं। यदि काव्य नीरस और अस्फुट अलंकार सहित हो तो वहां चमत्कार किसका होगा? काव्य में चमत्कार ही मुख्य होता है।[4]

गोविन्द ठक्कुर ने अपने मत को पुष्ट करने के लिए इस संदर्भ में आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है। ध्वनिकार के अनुसार अलंकार के अभाव में रस के अनुरूप अर्थ-विशेष की रचना काव्यों में सौन्दर्य की वृद्धि करती है। उदाहरण बताया है कि योगीराट् महातमा अगस्त्य मुनि सर्वोत्कृष्ट है जिन्होंने

---

१. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥ (चन्द्रालोक, १-८)

२. अनलंकृती इत्यत्र नञोऽल्पार्थकतया क्वाप्यस्फुटालंकृती इति ज्ञेयम्। न तु सर्वथा निरलंकृती। निर्दोषसगुणकाव्यस्यालंकारतामात्राव्यभिचारात्। अत एव स्फुलंकारविरहेऽपीति ब्रूयात्। विरहशब्दोऽपि सर्वथा नाभावं सूचयति। न काव्यत्वहानिरिति। अत्र कवेः कर्म काव्यं तस्य भावः काव्यत्वमिति व्युत्पत्तिः। (संकेत, पृ० ७)

३. 'स्फुटेत्यादिना नञोऽल्पार्थता सूचिता।' (दीपिका, पृ० १४)

४. काव्यप्रदीप, पृ० ८

एक ही चुल्लू में उन दिव्य मत्स्य और कच्छप अवतारों का दर्शन कर लिया ।' यहाँ अद्भुत रस के अनुकूल एक चुल्लू में मत्स्य और कच्छप का दर्शन सौन्दर्य को बढ़ाता है ।[1]

मम्मट ने स्फुट या अस्फुट अलंकारों की स्थिति काव्य में आवश्यक मानी है । परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने अस्फुट अलंकारों को नहीं माना । प्रदीपकार के विचार से रस या अलंकारों की काव्य में स्पष्ट स्थिति होनी चाहिए । 'मुनिर्जयति' इस उदाहरण के द्वारा प्रदीपकार ने सिद्ध किया है कि अलंकारों के अभाव में रस के विद्यमान होने पर काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि होती है ।

गोविन्द ठक्कुर का इस संदर्भ में मम्मट से भिन्न दृष्टिकोण रहा है । मम्मट ने अलंकारों की सत्ता अनिवार्य रूप से मानी है । चाहे वह अलंकार स्फुट रूप से हों या अस्फुट रूप में । परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने अस्फुट अलंकारों को नहीं माना । उनके अनुसार यदि अलंकार अस्फुट हैं तो वहां रस का होना अनिवार्य है । गोविन्द ठक्कुर ने रस या अलंकार दोनों में से एक की सत्ता अनिवार्य मानी है । अतः प्रदीपकार के अनुसार रस के होने पर अलंकार शून्य भी काव्य हो सकता है ।

बालबोधिनी—वामनाचार्य झलकीकर ने 'बालबोधिनी' टीका में काव्य से सम्बन्धित ६ अवस्थायें मानी—१. सरसंस्फुटालंकारसहितम्, २. सरसं-अस्फुटालंकार सहितं, ३. सरसंअलंकारशून्यम्, ४. नीरसंस्फुटालंकारसहितम्, ५. नीरसं अस्फुटालंकार सहितं, ६. नीरसंअलंकारशून्यम् ।

झलकीकर लिखते हैं कि मम्मट के अनुसार ३ और ६ काव्य नहीं हैं । गोविन्द ठक्कुर के अनुसार ५ और ६ काव्य नहीं हैं ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि मम्मट और गोविन्द ठक्कुर दोनों को ही यह स्वीकार्य नहीं कि काव्य नीरस भी हो और अलंकार शून्य भी । झलकीकर के विवेचन से भी स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर ने रस होने पर अलंकार शून्य को भी काव्य माना परन्तु मम्मट ने नहीं माना क्योंकि वह अलंकारों की स्फुट या अस्फुट स्थिति स्वीकार करते हैं ।

---

१. अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—अत एव रसानुगुणार्थविशेषनिबन्धनमलंकार-विरहेऽपि च्छायातिशयं पुष्णाति यथा—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसंभवः ।
येनैकचुलके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ।।"

अत्र ह्यद्भुतरसानुगुणमेकचुलके मत्यकच्छपदर्शनं छायातिशयं पुष्णाति ।

झलकीकर ने पांचवीं अवस्था बताई कि 'नीरस भी हो और अस्फुट अलंकार सहित' मम्मट के अनुसार काव्य है। यह उचित नहीं क्योंकि मम्मट के काव्य-लक्षण को देखने से ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उन्होंने कहीं नीरस काव्य में अस्फुट अलंकारों का स्पष्टतः उल्लेख किया हो। अपितु मम्मट ने जिस उदाहरण 'यः कौमारहरः···समुत्कण्ठते' की चर्चा की उसमें भी यदि अस्फुट अलंकारों को माना है तो विप्रलम्भ श्रृंगार रस की प्रधानता भी मानी है। इसके अतिरिक्त काव्य के भेदों में जहाँ नीरस काव्य की चर्चा की है और उसका उदाहरण दिया है वहाँ उस उदाहरण में अलंकारों की स्पष्ट स्थिति मानी।

गोविन्द ठक्कुर के 'नीरसेऽप्यस्फुटालंकारे काव्यत्वमिष्टमेवेति ऋजुः पन्थाः' विवेचन को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट पर आक्षेप लगाया है। मम्मट के विवेचन में भी नीरस काव्य की चर्चा नहीं मिलती। अपितु उदाहरण 'यः कौमारहरः···' (जिसकी चर्चा करेंगे) को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मम्मट ने रस की स्थिति मानी। भिन्नता केवल यही है कि जहाँ गोविन्द ठक्कुर ने रस और अलंकार दोनों में से एक को काव्य के लिए अनिवार्य माना वहाँ मम्मट ने अलंकार-शून्य काव्य की कल्पना नहीं की। मम्मट ने अलंकारों की स्फुट या अस्फुट रूप में स्थिति मानी है।

आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के 'यः कौमारहरः' उदाहरण की आलोचना की है और खींचतान कर इसमें विभावना और विशेषोक्ति अलंकार माना है। दोनों के संयोग से संदेह संकर अलंकार स्फुट रूप में दिखाई पड़ता है।[1]

गोविन्द ठक्कुर तथा नागेश भट्ट आदि ने विश्वनाथ के मत का स्पष्ट खण्डन किया है। प्रस्तुत पद्य में एक नायिका की मनोदशा का वर्णन है। उसकी प्रियतम के प्रति नवीन उत्कण्ठा है। विश्वनाथ ने मम्मट पर जो आक्षेप किया वह उनकी हठवादिता ही हैं क्योंकि इसमें स्वयं कवि ने अलंकार की स्फुट योजना नहीं की है तथा मम्मट ने भी इसे इसी रूप में प्रस्तुत किया है। मम्मट का मुख्य दृष्टिकोण रस को उपस्थित करना या किसी भी अलंकार को व्यक्त करने की भावना नहीं थी। मम्मट ने स्वयं यह कहा है 'अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता।'

---

१. 'अत्र हि विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य संदेहसङ्करस्य स्फुटत्वम्।'
(साहित्यदर्पण, पृ० १४)

संकेत—सर्वप्रथम 'संकेत' टीका में भी प्रस्तुत उदाहरण में विभावना और विशेषोक्ति अलंकार का खण्डन किया गया है। यद्यपि विश्वनाथ का समय माणिक्यचन्द्र के बाद है परन्तु संकेत टीका के अध्ययन से ऐसा लगता है कि विश्वनाथ से पहले भी किन्हीं अलंकारवादियों ने प्रस्तुत उदाहरण में अलंकार की चर्चा की है और माणिक्यचन्द्र ने उसका निराकरण किया है। (काव्य-प्रकाश में यदि विभावना और विशेषोक्ति का लक्षण देखें तो टीकाकारों के आशय को समझने में सुविधा होगी।)[1]

विश्वनाथ से पूर्व आचार्य रुय्यक हैं जिन्होंने 'यः कौमारहरः' उदाहरण में विभावना और विशेषोक्ति का सन्देह-संकर माना है। उत्कण्ठा के कारण विरुद्ध 'जिसने कुमारीपन का हरण किया था' आदि का वर्णन है, अतः विभावना है। इसी प्रकार 'जिसने कुमारीपन का हरण किया था' आदि कारण से विरुद्ध कार्य 'मन उत्कण्ठित हो उठा है' में उत्कण्ठा के नाम से वर्णित है, अतः विशेषोक्ति है।[2]

संभवतः माणिक्यचन्द्र, चण्डीदास आदि टीकाकारों ने रुय्यक के भाव का खण्डन किया हो।

माणिक्यचन्द्र लिखते हैं कि यहाँ विभावना और विशेषोक्ति अलंकार अस्फुट है, स्फुट नहीं। वर तथा अन्य उपकरणों की अनुपभुक्ति उत्कण्ठा आदि के कारण का अभाव होने पर भी जो कार्यरूप उत्कण्ठा का वर्णन किया गया है वह विभावना है और इसके विपरीत उपभुक्तता अनुत्कण्ठा का कारण है उसके होने पर भी अनुत्कण्ठा नहीं होती अतः विशेषोक्ति है। परन्तु ये दोनों ही अलंकार अस्फुट हैं।[3]

प्रस्तुत उदाहरण में रसवत् अलंकार का भी माणिक्यचन्द्र ने खण्डन किया है।[4]

---

१. (i) 'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना।'(काव्यप्रकाश, पृ० ५३२)
(ii) 'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।' (काव्यप्रकाश, पृ० ५३३)

२. अलंकारसर्वस्व, पृ० १८०-१८१

३. संकेत, पृ० ७

४. 'न च रसवदलंकारोऽत्र। यतो तत्र प्रधानत्वेन वाक्यार्थभूतस्यास्यार्थस्याङ्गः रसस्तत्र रसवदलंकारः। यत्रत्वङ्गी रसस्तत्र प्रधानत्वादलंकार्यो रस-ध्वनिरिति। तदाह—रसस्य चेति।' (संकेत, पृ० ७)

दीपिका—चण्डीदास ने 'दीपिका' टीका में भी इसी प्रकार विभावना और विशेषोक्ति अलंकार को अस्फुट बताया है। उन अलंकारों का लक्षण-उदाहरण दिया है, 'साऽपि न स्पष्टा' से उन अलंकारों का खण्डन किया है। चण्डीदास ने सन्देह संकर का भी उल्लेख किया है कि एकतर अलंकार के मानने में साधक प्रमाण (न्याय) तथा बाधक प्रमाण (दोष) न होने के कारण जो सन्देह होता है वह सन्देह-संकर है। परन्तु वह भी अनभिव्यक्त माना है।[१]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर से पूर्ववर्ती टीकाकारों ने अलङ्कारवादियों के आक्षेपों का खण्डन किया था। प्रदीपकार के समय में विश्वनाथ का नया नाम और आ गया। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने विश्वनाथ के नाम का स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया है। अपितु 'अर्वाचीन' प्रयोग द्वारा विश्वनाथ का निर्देश किया है। गोविन्द ठक्कुर का विशेष उद्देश्य विश्वनाथ द्वारा लगाए गए आक्षेपों का निराकरण करते हुए विस्तृत विवेचन करना था।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'यः कौमारहरः' उदाहरण में रूपक, दीपक, तुल्ययोगिता, समुच्चय आदि अलंकारों की संभावना का भी खण्डन किया है। 'दीपक' अलंकार की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि कुछ आचार्यों के अनुसार 'अस्मि' शब्द को कई वाक्यांशों के साथ जोड़कर 'दीपक' अलंकार माना है। परन्तु 'अस्मि' का प्रयोग क्रिया के रूप में न होकर 'अव्यय' के रूप में हुआ है। यदि क्रिया के रूप में भी मानें तो यहाँ 'दीपक' अलंकार नहीं हो सकता क्योंकि 'दीपक' में कुछ पदार्थ प्रकृत अथवा अप्रकृत होते हैं। 'तुल्ययोगिता' भी नहीं मानी जा सकती है। एक ही कार्य के बहुत से कारणोंके न होने से यहाँ 'समुच्चय' भी नहीं हो सकता है।[२]

गोविन्द ठक्कुर इस प्रकार 'विशेषोक्ति' और 'विभावना' अलंकार की चर्चा करते हुए उनकी अस्फुटता सिद्ध करते हैं। 'विशेषोक्ति' और 'विभावना' अलंकार की चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने पूर्ववर्ती टीकाकारों की भांति ही की है।[३] अन्त में इन दोनों अलंकारों को अस्फुट मानते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है 'तस्मादस्फुटत्वमस्याः' तथा 'अतोऽस्या अप्यस्फुटत्वमेव।' अतएव गोविन्द ठक्कुर ने सिद्ध किया है कि प्रस्तुत उदाहरण में कवि का मुख्य अभिप्राय न तो विभावना की विवक्षा है और न विशेषोक्ति की।

---

१. दीपिका, पृ० १४-१५
२. काव्यप्रदीप, पृष्ठ १०
३. काव्यप्रदीप, पृ० १०

'सन्देह-संकर' को भी अस्फुट मानते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है— 'अनयोरस्फुटत्वे च संदेहरूपसंकरोऽप्यस्फुट इति विभावनीयम् ।'

अलंकारवादियों द्वारा 'रसवत्' अलंकार मानने वालों का भी खण्डन किया गया है कि जहाँ रस की प्रधानता होती है वहाँ रसवत् अलकार नहीं होता है। यहाँ स्पष्ट रूप से 'विप्रलम्भशृंगाररस' का वर्णन है।[1]

अत: स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर ने अन्य विशेषणों की अपेक्षा 'अनलंकृती पुन: क्वापि' विशेषण की विस्तृत चर्चा की है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि मम्मट का लक्षण परम्परा से चले आ रहे अपने समय के विभिन्न सम्प्रदायों का समन्वित रूप है। मम्मट ने प्राचीन आचार्यों की उपेक्षा न करके फलस्वरूप अपनी मौलिक प्रतिभा से पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-लक्षण का संकलन करके अपने काव्य-लक्षण को मौलिक रूप दिया है। परिणाम यह हुआ कि मम्मट का काव्य-लक्षण साहित्यक्षेत्र में व्यापकता की परिधि में आ गया। आगे आने वाली पीढ़ी के लिए एक कीर्त्ति-मान स्थापित हुआ। आचार्यों के चिन्तन-मनन का विषय बना। परन्तु यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो इसका श्रेय मम्मट के टीकाकारों को है। टीकाकारों में भी विशेष रूप से गोविन्द ठक्कुर का विस्तृत विवेचन। गोविन्द ठक्कुर की मौलिकता का परिचय प्रथम बार 'काव्य-लक्षण' में ही मिलता है। 'काव्य-प्रयोजन,' काव्य-हेतु आदि प्रसंगों के विवेचन में गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट से भिन्न विवेचन नहीं किया है। परन्तु 'काव्य-लक्षण' में 'वयं तु पश्यामः' से गोविन्द ठक्कुर की मौलिक प्रतिभा और नवीन दृष्टि का परिचय मिलता है। यहाँ प्रदीपकार ने ध्वनिकार का प्रभाव ग्रहण करते हुए काव्यलक्षण की चर्चा की है।

आश्चर्य की बात है कि मम्मट ने 'काव्य-प्रयोजन' 'काव्य-हेतु' आदि की वृत्ति में स्पष्ट व्याख्या की है। परन्तु 'काव्य-लक्षण' को वृत्तिभाग में विस्तृत रूप से स्पष्ट नहीं किया है। अतः इस दृष्टि से टीकाकारों ने ही विस्तृत विवेचन द्वारा काव्य-लक्षण की चर्चा की है।

गोविन्द ठक्कुर के साथ-साथ उनके पूर्ववर्ती अन्य टीकाकारों का विवेचन भी प्रशंसनीय है क्योंकि गोविन्द ठक्कुर ने पूर्ववर्ती टीकाकारों के भाव ग्रहण में संकोच नहीं किया है। 'शब्दार्थौ' 'अदाषौ, 'सगुणौ' आदि विशेषणों की व्याख्या में जहाँ अन्य टीकाकारों ने विस्तृत विवेचन किया है, वहां गोविन्द-ठक्कुर मौन रहे हैं। 'अदोषौ' 'सगुणौ' आदि विशेषणों पर विश्वनाथ ने आपत्ति

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ११

प्रकट की थी। अतः इन स्थानों पर गोविन्द ठक्कुर को विश्वनाथ का विवेचन करना अपेक्षित था। परन्तु यहां गोविन्द ठक्कुर का विवेचन शिथिल रहा है। केवलमात्र 'यः कौमारहरः' उदाहरण की विस्तृत चर्चा करते हुए विश्वनाथ का नामोल्लेख किए बिना खण्डन किया है।

गोविन्द ठक्कुर के टीकाकारों का पर्याप्त सहयोग रहा है। गोविन्द ठक्कुर के परवर्ती आचार्यों (आचार्य जगन्नाथ आदि) ने मम्मट के काव्यलक्षण की जो आलोचना की है उसका निराकरण प्रभा तथा उद्योत टीकाओं में किया गया।

'अनलंकृती पुनः क्वापि' विशेषण की व्याख्या को देखने से गोविन्द ठक्कुर के विषय में कह सकते हैं कि प्रदीपकार का उद्देश्य केवलमात्र मम्मट के दृष्टिकोण को अपनाना नहीं था अपितु जहां अपना मत मम्मट के मत से भिन्न प्रतीत हुआ वहां उसकी विस्तृत चर्चा करना भी था।

'काव्य-लक्षण' का महत्त्व गोविन्द ठक्कुर की दृष्टि में इसलिए भी अधिक है कि उन्होंने 'काव्यप्रदीप' के प्रत्येक उल्लास के अन्त में उस उल्लास की विशेषता के आधार पर कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। प्रथम उल्लास के अन्त में काव्यलक्षण को ही दृष्टि में रखते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'इति महामहोपाध्यायश्रीगोविन्दकृते काव्यप्रदीपे काव्यलक्षणनिर्णयः प्रथम उल्लासः।'

काव्य-भेद

काव्य के भेदों पर विचार प्राचीनकाल से हो रहा है। आचार्य भामह ने गद्य और पद्य काव्य के दो भेद किए एवं भाषा के आधार पर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीन भेद किए। आचार्य दण्डी ने 'गद्य' और 'पद्य' दो भेदों में 'मिश्र' नामक तीसरा भेद और जोड़ दिया। आचार्य रुद्रट ने गद्य और पद्य दो भेद माने। ध्वन्याचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य के दो भेद और उनसे भिन्न को काव्याभास मानते हुए तीन भेद किए हैं—१. ध्वनि, २. गुणीभूतव्यंग्य, ३. चित्रकाव्य। आनन्दवर्धन का अनुसरण करते हुए आचार्य मम्मट ने काव्य के तीन भेद उत्तम, मध्यम तथा अवर किए हैं।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने भी मम्मट के अनुसार काव्य के तीन भेदों का ही विवेचन किया है। परन्तु 'काव्यप्रदीप' में विशेष विवेचनीय स्थल हैं—उत्तम काव्य का उदाहरण, मध्यम काव्य का लक्षण और अवर काव्य।

१ उत्तम-काव्य

मम्मट का लक्षण है **'इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः'** अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ का चमत्कार अधिक होने से

---

१. (i) भामह – 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं, गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।' (काव्यालंकार)

(ii) दण्डी -- 'गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम्।'
(काव्यादर्श)

(iii) आनन्दवर्धन—

(i) 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यंक्तः काव्य-विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।'

(ii) प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते। यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्।'

(iii) 'गुण-प्रधानभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थितेः। काव्ये उभे ततोऽन्यत् तच्चित्रमभिधीयते।' (ध्वन्यालोक)

'ध्वनिकाव्य' होता है । वृत्ति में मम्मट ने स्पष्ट किया है कि 'इदम्' का अभिप्राय 'काव्य' से है । 'बुधैः' का अभिप्राय 'विद्वानों' से है । वैयाकरणों का प्रमुख सिद्धान्त स्फोटवाद है । जिस प्रकार वैयाकरणों ने प्रधानभूत 'स्फोट' रूप व्यंग्य की अभिव्यक्ति करने वाले वर्णों को 'ध्वनि' कहा है उसी प्रकार साहित्याचार्यों ने वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द और अर्थ के लिए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया है ।[१]

उदाहरण दिया है **'निश्शेषच्युतचन्दनं···न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।'**[२]

माणिक्यचन्द्र, श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य एवं गोविन्द ठक्कुर ने उत्तम-काव्य की चर्चा मम्मट के समान की है कि जिस काव्य में व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है और व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होता है, वह ध्वनि-काव्य है । उत्तम-काव्य के उदाहरण की गोविन्द ठक्कुर ने विस्तृत व्याख्या की है ।

गोविन्द ठक्कुर से पूर्व 'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने 'निश्शेषच्युत' उदाहरण में 'अर्थशक्तिमूल ध्वनि' मानी है एवं 'उपमेयोपमा अलंकार' व्यंग्य माना है । इसके अतिरिक्त माणिक्यचन्द्र ने 'भ्रम धार्मिक' एक अन्य उदाहरण भी दिया है जिसमें वाच्यार्थ विधिपरक है और व्यंग्यार्थ निषेधपरक ।[3]

काव्यप्रदीप – गोविन्द ठक्कुर ने 'निश्शेषच्युत' उदाहरण की चर्चा में माणिक्यचन्द्र की भांति किसी अन्य उदाहरण की चर्चा नहीं की है और न ही उपमेयोपमा व्यंग्य अलंकार की चर्चा की है । प्रदीपकार ने सर्वप्रथम प्रस्तुत उदाहरण में विपरीत-लक्षणा मानने वाले आचार्य का खण्डन किया है । 'अत्र केचित्' से गोविन्द ठक्कुर ने शंका का आरंभ किया है 'किसी आचार्य के अनुसार यहाँ मुख्यार्थबाध होने से विपरीत लक्षणा है, ध्वनि नहीं । यदि इस उदाहरण में व्यंग्य की प्रधानता मानेंगे तो 'साहेन्ती······' उदाहरण में भी जो विपरीत-लक्षणा है, वहाँ विपरीत-लक्षणा नहीं होगी । विपरीत-लक्षणा का क्रम है—(i) वाच्यार्थ है 'वापी-गमनं तदन्तिके न गमनं च ।' (ii) लक्ष्यार्थ है—'वाप्यां न गमनं तदन्तिके च गमनं । (iii) व्यंग्यार्थ है—'तद्रमणम् । अतएव यहाँ विपरीत लक्षणा सिद्ध होती है । गोविन्द ठक्कुर इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि यहाँ मम्मट के अनुसार दो तात्पर्य हैं—१. वाच्यार्थ-

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० २३-२४

२. वही, उदाहरण १-२

३. संकेत, पृ० ६

वापीगमनं तदन्तिके च न गमनम्। (ii) व्यंग्यार्थ है - 'तदन्तिकमेव रन्तुं गमनम्'। यहाँ लक्षणा का होना आवश्यक नहीं। विपरीत-लक्षणा मानने से 'अधम' पद का महत्त्व नहीं रहता। वस्तुतः यहाँ 'अधम' शब्द से ही व्यंग्यार्थ निकल रहा है। 'रमण के लिए गई' यह अर्थ मुख्य रूप से 'अधम' शब्द द्वारा व्यंजित होता है, उसके साथ मिलकर 'चन्दन-च्यवन' आदि पद भी रमण दशा के द्योतक होते हैं। अत: जिस प्रकार 'साहेन्ती' उदाहरण में विपरीत-लक्षणा है उस नियम से 'वापी स्नातुमित्यादि' में नहीं है। अतएव यह ध्वनि-काव्य का उदाहरण है।

यहाँ 'निश्शेषच्युत' उदाहरण में गोविन्द ठक्कुर ने विपरीत-लक्षणा मानने वाले आचार्य के मत का खण्डन किया है, परन्तु यह मत किस आचार्य का है इसे स्पष्ट नहीं किया है। वास्तव में यहाँ आचार्य विश्वनाथ के मत का खण्डन किया गया है क्योंकि उन्होंने 'साहित्यदर्पण' में इस प्रकार की चर्चा की है।

उद्योत —'उद्योत' टीका में नागेश भट्ट का कथन है कि 'अधम' पद यहाँ व्यंजक है। 'अधम' पद का वाच्यार्थ है— दुःखदायक कर्म करने वाला। किन्तु यहाँ वक्तृबोद्धव्यादि के वैशिष्ट्य से अधम शब्द का व्यंग्यार्थ 'अन्य नायिका-संभोग द्वारा वेदना उत्पन्न करने वाला हो जाता है।' अत: 'अधम' शब्द के प्रधानतः व्यंजक होने से उसके साथ 'चन्दन-च्यवन' आदि रमण दशा को सूचित करते हैं।

अतएव गोविन्द ठक्कुर और नागेश भट्ट के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रस्तुत उदाहरण में विपरीत-लक्षणा मानने से 'अधम' पद का महत्त्व नहीं रह जाता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि सम्पूर्ण पद में 'अधम' पद द्वारा ही सुन्दर व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है।

'ध्वनि' काव्य के भेदों उपभेदों का विवेचन 'चतुर्थ' अध्याय में किया जाएगा।

२. मध्यम-काव्य

आचार्य आनन्दवर्धन के 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' को मम्मट ने मध्यम-काव्य कहा है। मम्मट का लक्षण है **'अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्'** अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ होता है किन्तु वह वाच्यार्थ से बढ़कर नहीं होता।

उदाहरण है 'ग्रामतरुणं ···मुखच्छाया।'[२]

---

१. 'अत्र तदन्तिकमेव···तु न नियमः।' (काव्यप्रदीप, पृ० १३-१४)

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण १-३

सारबोधिनी—'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने स्पष्ट किया है कि लक्षण में प्रयुक्त 'अतादृशि' विशेषण के कारण इस लक्षण की चित्रकाव्य में अतिव्याप्ति नहीं होती है।[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'मध्यम-काव्य' को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि वाच्यार्थ का चमत्कार व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अधिक होने से गुणीभूत-व्यंग्य होता है। परन्तु प्रदीपकार की मान्यता यह है कि मध्यम काव्य में व्यंग्य स्फुट नहीं होता है। अतः जो यह मानते हैं कि 'व्यंग्य के स्फुट होने से इसकी अधम-काव्य में अभिव्यक्ति नहीं होती' वह मत उचित नहीं है। गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि व्यंग्य के अस्फुट होने पर गुणीभूतव्यंग्य होता है और व्यंग्य के अस्फुटतर होने पर अधम काव्य होता है।[2]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट से भिन्न रूप में चर्चा की है। गोविन्द ठक्कुर ने 'केषांचित्' से जिस मत की चर्चा की है वह स्पष्ट नहीं हो सका है कि किस आचार्य या टीकाकार के मत का उल्लेख किया है क्योंकि गोविन्द ठक्कुर ने किसी का नामोल्लेख नहीं किया है। श्रीवत्सलाञ्छन-भट्टाचार्य ने माना है कि इस लक्षण की चित्रकाव्य में अतिव्याप्ति नहीं है, परन्तु व्यंग्य स्फुट है इसकी स्पष्ट चर्चा सारबोधिनीकार ने भी नहीं की है।

मध्यम-काव्य के भेद

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पंचम उल्लास में गुणीभूतव्यंग्य-काव्य के भेदों का विवेचन किया है। गुणीभूतव्यंग्य—काव्य के आठ भेद हैं—१. अगूढ़, २. अपरस्याङ्ग, ३. वाच्यसिद्ध्यंग, ४. अस्फुट, ५. सन्दिग्ध-प्राधान्य, ६. तुल्य-प्राधान्य, ७. काक्वाक्षिप्त, ८. असुन्दर। क्रमशः इनके उदाहरणों का विवेचन किया है।

काव्यप्रदीप—गुणीभूतव्यंग्य (मध्यम काव्य) को स्पष्ट करते हुए गोविन्द-ठक्कुर का कथन है कि जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान होता है अर्थात् वाच्यार्थ का अधिक चमत्कार होता है, वहां गुणीभूतव्यंग्य-काव्य होता है।[3] गुणीभूतव्यंग्य के आठ भेदों को क्रमशः स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर

---

१. "अतादृशीति। अत्र चित्रान्यत्वे सतीति विशेषणं देयम्। तेनचित्रे नाति-व्याप्तिः—(सारबोधिनी पृ० १४)

२. काव्यप्रदीप, पृ० १४

३. 'वाच्यापेक्षया अचमत्कारकारित्वेन व्यंग्यस्य गुणीभावः'। (काव्यप्रदीप, पृ० १३३)

लिखते हैं —(क) अगूढ़ व्यंग्य वह है जहाँ असहृदयजनों को भी व्यंग्यार्थ की शीघ्र प्रतीति हो जाती है। अगूढ़ व्यंग्य के विषय में गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि जो व्यंग्य सुन्दरी के स्तन-कलश के समान गूढ़ होता है वही चमत्कारजनक होता है। जो व्यंग्य स्पष्ट रूप से प्रकट है वह वाच्यार्थ के समान हो जाता है, वैसा चमत्कारक नहीं होता तथा गुणीभूत हो जाता है। (ख) अपरस्याङ्ग वह है जहाँ व्यंग्यार्थ वाक्य के तात्पर्य रूप किसी अन्य प्रधान अर्थ का उपकारक हो जाता है। (ग) वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यंग्य वह है जहाँ वाच्यार्थ की सिद्धि व्यंग्यार्थ के अधीन होती है। (घ) अस्फुट वह है जहाँ व्यंग्यार्थ को सहृदयजन भी सहज में नहीं समझ पाते। (ङ) सन्दिग्धप्राधान्य वह है जहाँ यह संदेह होता है कि वाच्यार्थ प्रधान है अथवा व्यंग्यार्थ। (च) तुल्यप्रधान वह है जहाँ चमत्कार की दृष्टि से वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ तुल्य होते हैं। (छ) काक्वाक्षिप्त वह है जहाँ काकु नामक ध्वनि-विकार से आक्षिप्त व्यंग्यार्थ के बिना वाक्यार्थ का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं होता (ज) असुन्दर वह है जहां व्यंग्यार्थ स्वभाव से ही वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चमत्कारपूर्ण होता है।[1]

गुणीभूतव्यंग्य काव्य के आठ भेदों के उदाहरणों की चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के समान की है। अतः इन उदाहरणों की व्याख्या में गोविन्द ठक्कुर की विशेष मौलिकता का परिचय नहीं मिलता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गोविन्द-ठक्कुर ने गुणीभूतव्यंग्य काव्य में व्यंग्य को अस्फुट माना है और वाच्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान माना है।

३ अवर काव्य

आमन्दवर्धन का 'चित्रकाव्य' मम्मट का अवर (अधम) काव्य है। मम्मट ने अवर काव्य का लक्षण दिया है '**शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यंत्ववरं स्मृतम्**' अर्थात् जिसमें व्यंग्यार्थ नहीं होता है वह अधम-काव्य है। यह दो प्रकार का है—१. शब्दचित्र, २. अर्थचित्र। वृत्ति में मम्मट ने स्पष्ट किया है कि चित्र का अभिप्राय है—गुण और अलंकार से युक्त'। अव्यंग्य का अभिप्राय है—'स्फुट व्यंग्य से रहित। 'अवर' का अभिप्राय है—अधम।

मम्मट ने दो उदाहरण दिए हैं—

१. स्वच्छन्दो······मन्दताम्।'[2]

२. विनिर्गतं····· मरावती।'[3]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १३३

२.३. काव्यप्रकाश, उदाहरण १-४, ५

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने मम्मट की कारिका में प्रयुक्त 'अव्यंग्य' का अभिप्राय स्पष्ट किया है कि 'अव्यंग्य' का अर्थ व्यंग्य रहित नहीं है अपितु 'अव्यंग्य' शब्द में ईषदर्थ में नञ् समास मानकर यह अर्थ किया गया है कि जहाँ व्यंग्य की मात्रा अत्यल्प होने के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति न हो। संकेतकार का अभिप्राय है कि कोई भी विषय ऐसा नहीं जिसका पर्यवसान रसादि में न हो अर्थात् इस काव्य में रसादि व्यंग्य होते हैं परन्तु कवि के विवक्षित नहीं होते।[1]

दीपिका तथा सारबोधिनी—चण्डीदास और श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने 'दीपिका' तथा 'सारबोधिनी' टीकाओं में स्पष्ट किया है कि वृत्ति में प्रयुक्त 'चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम्' में 'गुण' का अर्थ गुणव्यंजक है। अभिप्राय यह है कि मम्मट ने वृत्ति में माना है कि चित्रकाव्य गुण युक्त भी होता है। मम्मट के इस कथन से यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि उसमें गुण है तो रस भी अवश्य होना चाहिए क्योंकि मम्मट के मतानुसार गुण रस के धर्म हैं। इसका समाधान करते हुए भट्टाचार्य आदि टीकाकारों का कथन है कि यहाँ गुण का अर्थ माधुर्यादि गुणों के व्यंजक वर्णों से तथा अलंकार का अभिप्राय रसादि के पोषक उपमा आदि अलंकारों से है। अतः जिस काव्य में स्पष्टतया व्यंग्यार्थ प्रतीत न होता हो, माधुर्यादि गुणों के व्यंजक तथा अलंकार युक्त शब्द और अर्थ की योजना हो, वह चित्र काव्य है।

'काव्यप्रदीप -'गुणीभूतव्यंग्य, काव्य की भाँति गोविन्द ठक्कुर का 'चित्र-काव्य' लक्षण में भी मम्मट से मतभेद है। मम्मट ने वृत्ति में स्पष्ट किया है कि 'अव्यंग्य' से अभिप्राय हैं 'स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्' अर्थात् व्यंग्यार्थ का अस्फुट होना। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में स्पष्ट किया है कि व्यंग्य का अस्फुट होना 'मध्यम काव्य' है तथा व्यंग्य का अस्फुटतर होना 'अवर-काव्य है'। अतएव व्यंग्य के अस्फुटतर होने से या व्यंग्य मात्र के अभाव में गुण और अलंकार से युक्त काव्य 'चित्र-काव्य' है।[2]

गोविन्द ठक्कुर के 'व्यंग्यमात्राभाव' का तात्पर्य व्यंग्य के नितान्त अभाव से नहीं है क्योंकि गोविन्द ठक्कुर ने स्वयं भी यह स्पष्ट किया है कि वह काव्यार्थ ही नहीं जिसमें व्यंग्य न हो, अन्ततः सब वस्तुओं का पर्यवसान तो

---

१. संकेत, पृ० ६
२. काव्य प्रदीप. पृ० १५

विभाव रूप में होता है।[1] अतएव गोविन्द ठक्कुर के अनुसार 'व्यंग्यमात्रा-भाव' का अर्थ भी मम्मट के समान है कि व्यंग्य तो हो परन्तु उसकी प्रतीति न हो। 'व्यंग्य का अभाव' अर्थ करने से गोविन्द ठक्कुर के स्वयं के कथन से विरोध उत्पन्न हो सकता है।

मम्मट के 'स्वच्छन्दो··· मन्दताम्' शब्दचित्र के उदाहरण को गोविन्द-ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि यहाँ वृत्त्यनुप्रास शब्दालंकार है। यहाँ कवि की मन्दाकिनी-विषयक रतिभाव की अभिव्यक्ति हो रही है। व्यंग्य की अस्फुटत् प्रतीति हो रही है उसमें कवि का तात्पर्य नहीं है। कवि का तात्पर्य तो अनुप्रास का चमत्कार दिखलाने में है। अनुप्रास में कवि का तात्पर्य होने से व्यंग्य तिरोहित हो गया है। अपने कथन की पुष्टि के लिए गोविन्द ठक्कुर ने ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन की उक्ति को उद्धृत किया है, जिसका तात्पर्य है कि रसभाव इत्यादि के विषय में विवक्षा न होने पर जो अलंकार का निबन्धन है वह 'चित्रकाव्य' है।[2]

गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के अर्थ चित्र उदाहरण का खण्डन किया है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि प्राचीनों के अनुसार प्रस्तुत उदाहरण में उत्प्रेक्षा अलंकार है। परन्तु प्रदीपकार का मत है कि यहाँ वीर-रस की प्रतीति अस्फुटतर नहीं है। हयग्रीव के प्रभाव की वर्णनीयता की प्रतीति स्फुट रूप से हो रही है। अतएव अर्थचित्र का उदाहरण नहीं है। इस संदर्भ में गोविन्द ठक्कुर ने स्वरचित्त उदाहरण 'मध्ये व्योम···मृगाङ्क की चर्चा की है और स्पष्ट किया में कि वास्तव में यह अर्थ-चित्र का उदाहरण है। यहां रूपक अर्थालंकार है। उसी में कवि का प्रधान तात्पर्य है विवक्षित है रसादि में नहीं।[3]

गोविन्द ठक्कुर ने अर्थ-चित्र के उदाहरण में प्राचीनों के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार माना है तो यहाँ 'प्राचीन' से अभिप्राय गोविन्द ठक्कुर के पूर्ववर्ती टीकाकारों से है। बालचित्तानुरंजनी, सारबोधिनी आदि टीकाओं में स्पष्ट किया गया है कि प्रस्तुत अर्थ-चित्र के उदाहरण में वीर रस व्यंग्य है उसी के विभावादि की योजना भी की गई है। परन्तु कवि का तात्पर्य विशेष रूप से उत्प्रेक्षा अलंकार में है।[4]

---

१. काव्यप्रदीप पृ० १६

२. काव्यप्रदीप, पृ० १६

३. काव्यप्रदीप, पृ० १६

४. "एवं यद्यपि विनिर्गतमित्यत्रापि हयग्रीवस्य वीरोरस: प्रतीयते। तत्र स एवालम्बनं प्रतिपक्षेन्द्रगतं भयमुद्दीपनम्। मानदानमनुभावः। यदृच्छा-

गोविन्द ठक्कुर के अनुसार व्यंग्य की स्फुट प्रतीति होने से मम्मट का यह उदाहरण ध्वनि-काव्य का उदाहरण हो सकता है क्योंकि गोविन्द ठक्कुर ने व्यंग्य के स्फुट होने पर उत्तम-काव्य माना है।

नरसिंहमनीषा—'नरसिंह मनीषा' में नरसिंह ठक्कुर ने यह माना है कि 'विनिर्गतं' उदाहरण में हयग्रीव प्रतिनायक है अतः उसमें वीररस व्यंग्य नहीं हो सकता। काव्य का चमत्कार उत्प्रेक्षा अर्थालंकार में ही है। यहां कोई भी स्फुटतया व्यंग्यार्थ नहीं है। अतएव यह अर्थ-चित्र है।[1]

नरसिंह-ठक्कुर ने यहां गोविन्द ठक्कुर के मत का खण्डन किया है।

निष्कर्ष रूप में यह कह सकते है कि मम्मट के अनुसार ध्वनिकाव्य व्यंग्य प्रधान है, गुणीभूतव्यंग्यकाव्य में व्यंग्य गौण है परन्तु स्फुट है और चित्र-काव्य में व्यंग्य अस्फुट है। गोविन्द ठक्कुर का दृष्टिकोण मम्मट से भिन्न है। उनके अनुसार ध्वनिकाव्य में व्यंग्य प्रधान और स्फुट है, गुणीमूतव्यंग्य में व्यंग्य अस्फुट है तथा चित्र काव्य में व्यंग्य अस्फुटतर है।

'चित्रकाव्य' के अर्थ-चित्र उदाहरण का सभी टीकाकारो ने समर्थन किया है परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने इसका खण्डन किया है और इसे अर्थ-चित्र का उदाहरण नहीं माना है। यही काव्य-भेद विवेचन में गोविन्द ठक्कुर की विशेषता रही है कि उन्होंने मम्मट का पूर्णतः अनुकरण नहीं किया है। मम्मट से भिन्न दृष्टिकोण भी दिया है।

अवर काव्य के भेद

काव्यप्रकाश के षष्ठ-उल्लास में 'शब्दार्थ-चित्रं ·····शब्दयोः।'[2] कारिका में मम्मट ने स्पष्ट किया है कि ऐसा नहीं है कि शब्द-चित्र में अर्थ का चमत्कार नहीं होता अथवा अर्थ-चित्र में शब्द का वैचित्र्य नहीं होता अपितु शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र नामक जो अधम-काव्य के दो प्रकार (काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में) कहे गए हैं उनमें चित्र-शब्द तथा अर्थ-चित्र दोनों की प्रधान तथा अप्रधान रूप से स्थिति होती है।

शब्द-वैचित्र्य तथा अर्थ-वैचित्र्य दोनों ही चमत्कार-जनक हैं इस कथन की प्रामाणिकता के लिए आचार्य मम्मट ने भामहाचार्य के 'काव्यालंकार'

सञ्चारणगम्या धृतिः संचारी। तथाप्युत्प्रेक्षाहितचमत्कारेण तस्य व्यवधानमिति चित्रत्वम्। (सारबोधिनी, पृ० १७)

१. बालबोधिनी में उद्धृत, पृ० २४

२. काव्यप्रकाश, कारिका ६-४८

की कारिकाओं को उद्धृत किया है ।[1]

शब्द-चित्र का उदाहरण 'प्रथममरुण ''लाञ्छन'[2] है तथा अर्थ-चित्र का उदाहरण 'ते दृष्टिमात्र '' त्यजन्ति'[3] है ।

अन्त में मम्मट का कथन है कि यद्यपि समस्त प्रकार के काव्य में अन्त में वर्णनीय वस्तु विभाव आदि रूप में परिणत हो जाती है तथापि स्फुट रस की प्रतीति न होने के कारण इस दो प्रकार के काव्य को व्यंग्य रहित कहा गया है ।

काव्यप्रदीप—'शब्दार्थ-चित्र' कारिका की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर मम्मट की भांति स्पष्ट करते हैं कि काव्यप्रकाश के प्रस्तुत अध्याय में चित्र-काव्य के दो भेद शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र का विवेचन किया गया है । जहाँ शब्द का वैचित्र्य है वहाँ शब्द-चित्र होता है और जहाँ अर्थ का वैचित्र्य है वहाँ अर्थ-चित्र होता है परन्तु कहीं दोनों चमत्कारजनक होते हैं वहाँ चित्र-काव्य का तृतीय भेद होता है ।

'स्वच्छन्द' आदि शब्द-चित्र के उदाहरण में अर्थ-वैचित्र्य भी होता है । इसी प्रकार अर्थ-चित्र के उदाहण 'मानदमात्ममन्दिरात्', शब्द-वैचित्र्य भी है तथापि शब्द-चित्र के उदाहरण में शब्द-वैचित्र्य की प्रधानता होती है और अर्थ-वैचित्र्य गौण । अर्थ-चित्र के उदाहरण में अर्थ-वैचित्र्य का प्राधान्य होता है और शब्द-वैचित्र्य गौण । अतएव स्पष्ट है कि जिसकी प्रधानता होती है उसके आधार पर नामकरण किया जाता है ।

गोविन्द ठक्कुर 'काव्यप्रकाश' में उद्धृत भामह की कारिकाओं को स्पष्ट करते हैं । कारिका में विभिन्न मतों का निराकरण किया गया है । किन्हीं आलंकारिकों ने कहा है कि 'रूपक आदि अर्थालंकार रसव्यंजक विभावादि रूप अर्थ के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं तथा वे ही काव्य के अलंकार हैं ।' दूसरे आलंकारिकों के अनुसार 'काव्य के अलंकार वाच्य हैं । काव्य कविकर्म है तथा सुबन्त और क्रिया शब्दों का प्रयोग शब्द के ही आश्रित हैं । रूपकादि अर्थालंकार बाह्य हैं । शब्दालंकार काव्य के शोभावर्द्धक हैं। अर्थालंकार ऐसे शोभावर्द्धक नहीं ।' आचार्य भामह का मत है कि शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों ही काव्य के शोभावर्द्धक हैं । कवि-विवक्षा इसकी निर्णायक है अर्थात् कवि-जन शब्द तथा अर्थ दोनों के लिए प्रयत्नशील होते हैं तथा दोनों ही

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० २७५

२. ३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ६-१३९, १४०

रसानुभूति कराते हैं । अतः शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों काव्य के शोभा-वर्द्धक हैं ।[१]

शब्द-चित्र के उदाहरण 'प्रथममरुण' में अर्थालंकार 'उपमा' है जो कि गौण है । 'अनुप्रास' शब्दालंकार का प्राधान्य है । यहाँ कवि आरम्भ से अन्त तक शब्दालंकार में उद्यत है । अनुप्रास अलंकार में कवि की विवक्षा है । अतः प्रधानता की दृष्टि से यह शब्दचित्र का उदाहरण है ।[२]

द्वितीय उदाहरण 'ते दृष्टिमात्र' में शब्दालंकार अनुप्रास गुणीभूत है । अर्थालंकार 'समुच्चय' है । आरम्भ से अन्त तक इसका निर्वाह हुआ है । अतः यह अर्थालंकार का उदाहरण है ।[३]

उद्योत—'शब्द-चित्र' के उदाहरण में गोविन्द ठक्कुर ने केवल उपमा अलंकार माना है परन्तु नागेश भट्ट ने 'स्वभावोक्ति' एवं 'उपमा' अर्थालंकार माना है । परन्तु कवि की विवक्षा म, त, क, ध, क्ष, आदि वर्णों के विन्यास रूप अनुप्रास अलंकार में है । शब्द-वैचित्र्य ही यहाँ चमत्कार-जनक है, स्वाभावोक्ति आदि चमत्कारजनक नहीं ।[४]

द्वितीय उदाहरण 'ते दृष्टिमात्रपतिता' में नागेश ने समुच्चय अलंकार माना है तथा श्लेष तथा उपमा भी उसके अंग माने हैं ।

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि चित्रकाव्य के भेद में गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के अनुकूल ही विवेचन किया है । अतः विशेष मौलिकता का परिचय नहीं मिलता है । मम्मट ने शब्द-चित्र तथा अर्थ-चित्र के उदाहरणों का केवल मात्र उल्लेख किया है । परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने उन उदाहरणों का स्पष्टीकरण भी किया है । इसके अतिरिक्त प्रदीपकार की अन्य कोई विशेषता नहीं ।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १६७
२. काव्यप्रदीप, पृ० १६७
३. काव्यप्रदीप, पृ० १६८
४. 'अत्र मकारयोस्तकाराणां ककारयोर्धकारयोः क्षकारयोश्छकारयोः सकार-छकारलकाराणामनुप्रासः शब्दालंकारः स एव प्रधानम् आसमाप्ति कवेस्-तत्रैव संरम्भात् प्राधान्यस्य कविविक्षामात्रनिबन्धनत्वादिति शब्दचित्रता । स्वभावोक्त्युपमयोरर्थचित्रयोः सत्त्वेऽपि तयोर्गौणतैव तत्र कविसंरम्भा-भावादिति ।'' (उद्योत, बालबोधिनी में उद्धृत, पृ० २६०)

अन्त में कह सकते हैं कि प्रस्तुत अध्याय में गोविन्द ठक्कुर की विविध प्रकार की मौलिकता के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। प्रदीपकार ने मम्मट की मान्यताओं को कहीं भी क्षत-विक्षत नहीं होने दिया अपितु मम्मट के सिद्धान्तों को ही प्रतिष्ठाप्य बनाते हुए अपनी स्वतन्त्र एवं मेधावी दृष्टि से उसे किस प्रकार परिपूर्ण बनाया है। इसका दिग्दर्शन काव्य-माहात्म्य, काव्य-हेतु और काव्य-प्रयोजन प्रसंग में देखने को मिला। 'काव्य-लक्षण' विवेचन में प्रथम वार गोविन्द ठक्कुर की मौलिकता के दर्शन होते हैं। गोविन्द-ठक्कुर ने मम्मट का महत्त्व अक्षुण्ण रखते हुए 'काव्य-लक्षण' का परिष्कार करते हुए उसे प्रतिष्ठित किया है।

मम्मट ने आचार्य आनन्दवर्धन के प्रभावस्वरूप व्यंग्य को वर्गीकरण का का मूलाधार नियत करते हुए काव्य के उत्तम, मध्यम और अवर तीन भेद स्वीकार किए हैं। गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति काव्य के तीन भेद माने हैं परन्तु मध्यम और अवर काव्य के स्पष्टीकरण में मम्मट से भिन्न दृष्टिकोण रखा है, जिसकी चर्चा प्रस्तुत अध्याय में की है।

चतुर्थ अध्याय

शब्दशक्ति-विवेचन

गोविन्द ठक्कुर का 'शब्दशक्ति' विवेचन उनकी तर्क-बुद्धि एवं स्वतंत्र समीक्षा-शक्ति का परिचायक है। 'तददोषौ शब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' काव्य का लक्षण करते समय शब्द और अर्थ काव्य के दो प्रमुख घटक सिद्ध होते हैं। प्रस्तुत अध्याय में उनके आकार-प्रकार के विषय में विवेचन किया गया है। काव्य में तीन प्रकार के शब्द होते हैं—वाचक, लक्षक तथा व्यंजक। उनके अर्थ होते हैं—वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य। शब्द किस प्रकार अर्थ को प्रकट करता है इसके लिए विद्वानों ने शब्द वृत्तियों का विवेचन किया है। उपर्युक्त तीन प्रकार के शब्दों से तीन प्रकार के अर्थों की प्रतीति के लिए तीन प्रकार की वृत्तियां मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। मीमांसा व्याकरण तथा न्यायादि दर्शनों में शब्द-वृत्तियों के संबंध में विभिन्न मत हैं। अभिधा और लक्षणा शब्द वृत्ति को सभी ने स्वीकार किया है। मीमांसक तात्पर्य-वृत्ति को भी मानते हैं। साहित्यशास्त्र में बड़े विस्तार से अभिधा, लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना वृत्ति का भी विवेचन हुआ है। यद्यपि साहित्यशास्त्र के प्रारंभिक आचार्य उद्भट, रुद्रट, राजशेखर तथा वामन आदि ने अभिधा और लक्षणा शक्ति पर विशेष विचार किया है, परन्तु आचार्य आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने ध्वनि की स्थापना करते हुए व्यंजना-वृत्ति का भी विस्तृत विवेचन किया है।

आचार्य मम्मट ने पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रभावस्वरूप शब्द की तीन वृत्तियां स्वीकार की हैं—१. अभिधा, २. लक्षणा, ३. व्यंजना। 'केषुचित्' से अन्य आचार्य के मत का भी विवेचन किया है जो तात्पर्यवृत्ति को मानते हैं 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्'। वृत्ति में 'अभिहितान्वयवादी' और 'अन्विताभिधानवादी' के मत का संक्षिप्त विवेचन किया है।[1]

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ३४

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' में स्पष्ट किया है कि 'केषुचित्' से अभिप्राय नैयायिक मत से है, मीमांसक मत से नहीं 'न तु मीमांसकादिमतेष्वपि'। 'अभिहितान्वयवाद' का विवेचन करते हुए गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं कि 'अभिहितान्वयवाद' के अनुसार पदों में केवल पदार्थ-बोधन की शक्ति होती है, पदार्थों के अन्वय को प्रकट करने की नहीं। अभिप्राय यह है कि पहले पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है बाद में वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका परस्पर अन्वय होता है। अन्वय रूप अर्थ तात्पर्यार्थ है। वह वाच्यार्थ से विलक्षण प्रकार का होता है और आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि आदि से युक्त होने पर प्रतीत होता है। वह वाक्य में आए हुए पदों का अर्थ नहीं है अपितु वाक्य का अर्थ है। अतः वाक्य का अर्थ जो संसर्ग है उसे प्रकट करने के लिए तात्पर्य वृत्ति माननी चाहिए।

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर का मत है कि पदों से परस्पर सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होती है, पृथक्-पृथक् अर्थ की नहीं। व्यवहार से प्राप्त होने वाला शक्तिग्रह केवल पदार्थ में नहीं होता अपितु अन्वित-पदार्थ में ही होता है। अतः इस मत के अनुसार शाब्दबोध में भासित होने वाला कोई अर्थ ऐसा नहीं है जो वृत्ति से प्रतिपादित न हो। पहले से अन्वित पदार्थों का अभिधा से बोध होता है, अतः वाक्यार्थ की प्रतीति, अभिधा वृत्ति से ही होती है, इसलिए वाक्यार्थ भी वाच्य है। अतः पदार्थों का अन्वय पहले से सिद्ध होने के कारण तात्पर्य-वृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं। यह अन्विताभिधानवादियों का मत है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अभिहितान्वयवादियों ने तात्पर्य-वृत्ति को माना है और अन्विताभिधानवादियों ने तात्पर्य-वृत्ति का खण्डन किया है।

अभिधा-शक्ति

जैसा कि पीछे स्पष्ट किया है कि वाचक, लक्षक और व्यंजक तीन प्रकार के शब्द होते हैं और उन तीन प्रकार के शब्दों से वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थों का बोध होता है। इस अर्थ-प्रतीति में शब्द का व्यापार करने वाली शक्ति को क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कहा जाता है। 'अभिधा' शक्ति का विवेचन करते हुए मम्मट ने सर्वप्रथम वाचक शब्द को स्पष्ट किया है तदुपरान्त इसका विवेचन किया है कि शब्द का संकेतित अर्थ किस रूप में होता है? इस विषय में मम्मट ने विभिन्न मतों की चर्चा की है। अन्त में स्पष्ट किया है 'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोस्याभिधोच्यते।'

वाचक शब्द

'वाचक' शब्द का विवेचन करते हुए मम्मट का सूत्र है '**साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।**' वृत्ति में मम्मट ने स्पष्ट किया है कि जिस शब्द का जिस अर्थ या वस्तु में बिना व्यवधान के 'संकेत' ग्रहण किया जाता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है।

बालचित्तानुरंजिनी—'बालचित्तानुरंजनी' टीका में श्रीनरहरिसरस्वतीतीर्थ, मम्मट के सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि सूत्र में 'अभिधत्ते' का अर्थ 'प्रतिपादयति' है। 'साक्षात् सङ्केतितम्' यहाँ विशेषण है। इस विशेषण के अभाव में 'अर्थम् यः अभिधत्ते स वाचकः' यह लक्षण करने पर लाक्षणिक शब्द में भी यह लक्षण घट जाएगा, इसलिए यह विशेषण सार्थक है। 'साक्षात्' विशेषण की सार्थकता बताते हुए श्रीनरहरि स्पष्ट करते हैं कि अन्विताभिधानवादी के मत में लक्ष्यार्थ भी 'संकेतित' होता है अतः उसमें अतिव्याप्ति वारण के लिए 'साक्षात्' विशेषण है।[1]

सारबोधिनी—'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य लिखते हैं कि सूत्र में प्रयुक्त 'साक्षात्' शब्द से अभिप्राय अव्यवधान से है। जहाँ बिना व्यवधान के संकेत ग्रहण किया जाता है वह अभिधा का विषय है। उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि जैसे चैत्यादि का या वटादि का वृक्ष रूप अर्थ में साक्षात् संकेत है परन्तु यदि किसी प्रदेश को प्रधान वृक्ष के नाम से सम्बोधित किया जाए तो वहाँ संकेत साक्षात् रूप से नहीं होगा, व्यवधान सहित होगा। वह लक्षणा का विषय होगा। सारबोधिनीकार के अनुसार ईश्वरेच्छा रूप संकेत ही शक्ति है। श्रीभट्टाचार्य ने आर्थी-व्यंजना में वाचक शब्द के लक्षण की अतिव्याप्ति का निषेध किया है।[2]

काव्यप्रदीप – गोविन्द ठक्कुर ने पूर्ववर्ती टीकाकारों के प्रभावस्वरूप मम्मट के सूत्र की विस्तृत व्याख्या की है। प्रदीपकार ने वाचक शब्द की विवेचना

---

१. यः अर्थमभिधत्त इत्युक्ते लाक्षणिकादावतिव्याप्तिः। तदर्थं सङ्केतित इति। एवमप्यन्विताभिधानवादे गङ्गायां घोष इत्यादौ मुख्यार्थव्यवहिते तटादावपि सङ्केतसद्भावात् तत्रैवातिव्याप्तिरित्यत आह—साक्षादिति तावत्युच्यमाने एद्दहमित्यादौ चेष्टायामतिव्याप्तिः।......अभिधत्त इति प्रतिपादयतीत्यर्थः।' (बालचित्तानुरंजनी, पृ० २२)

२. सारबोधिनी, पृ० २२-२३

मम्मट के सूत्र में प्रयुक्त 'अभिधत्ते' शब्द से की है। वे लिखते हैं कि 'अभिधत्ते' से अभिप्राय 'प्रतिपादयति' से है। सूत्र में 'साक्षात्' 'सङ्केतितम्' विशेषण का जो प्रयोग हैं वह भी साभिप्राय है 'अतो न विशेषणान्तरवैयर्थ्यम्।' विशेषण की सार्थकता स्पष्ट करते हैं—'संकेतितम्' से अभिप्राय है कि जिस अर्थ के लिए संकेत किया गया है। चेष्टादि में अतिव्याप्ति वारण हेतु 'संकेतित' विशेषण दिया गया है। इसी प्रकार माधुर्यादि गुणों को प्रकट करने वाले स्पर्शादि वर्ण 'संकेतित' नहीं हैं अपितु ये गुणों के व्यंजक हैं, अतः उनमें अतिव्याप्ति वारण के लिए 'संकेतित' विशेषण की उपयोगिता है।[1]

'साक्षात्' विशेषण भी व्यर्थ नहीं है। जैसे 'चैत्यादि वृक्ष का नाम है। परन्तु चैत्यादि के योग से यदि ग्राम का नाम ही रख दिया जाए तो वह व्यवहित संकेत होगा क्योंकि चैत्यादि का साक्षात् संकेत तो वृक्ष में है किसी प्रदेश के लिए नहीं है। यह लक्षणा का विषय है। अतः प्रदीपकार लिखते हैं—'न च तत्र शक्तिरेवेति सम्यक्।'[2]

गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि यदि केवल यह कहा जाए 'साक्षात्सङ्केतवान् वाचकः', तो यह भी उचित नहीं क्योंकि ऐसा कहने से 'अभिधत्ते' की व्यर्थता होती है। 'अभिधत्ते' शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि अभिधामूला व्यंजना में अभिधा के नियंत्रित हो जाने पर वाच्यान्तर के व्यंग्य होने में अतिव्याप्ति न हो। अतः वाचक शब्द है 'यस्य शब्दस्य यत्राव्यवहित-संकेतग्रहो यदर्थग्रह उपयुज्यते स तदर्थवाचक इति ही लक्षणार्थः।' अर्थात् जिस शब्द का जहां व्यवधान रहित संकेत ग्रहण होता है एवं उसका जो अर्थ लिया जाता है वह उसका 'वाचक' शब्द हैं। यहां यह प्रश्न उठता है कि संकेत ग्रहण शब्द सहकारी होता है इसका क्या प्रमाण है ? उत्तर है कि संकेत ज्ञान के बिना शब्द से अर्थ का निश्चय नहीं होता। यह भाव मम्मट ने वृत्ति में स्पष्ट किया है कि जिस अर्थ या वस्तु में बिना व्यवधान के (साक्षात् रूप से) संकेत ग्रहण किया जाता है वह उस अर्थ का वाचक कहलाता है। अतः यहाँ संकेतित विशेषण द्वारा साक्षात् पद की व्याख्या है। अन्त में गोविद ठक्कुर पुनः 'साक्षात्' और 'संकेतित' विशेषण की सार्थकता की चर्चा करते हैं कि संयोगादि में व्यंजना के स्थिर हो जाने पर जहाँ वाच्यान्तर की ध्वनि निकलती है वहाँ शब्द 'वाचक' नहीं 'व्यंजक' है। अतः अभिधान क्रिया का विशेषण

१. काव्यप्रदीप, पृ० २०
२. काव्यप्रदीप, पृ० २०

साक्षात् दिया है। वाच्यार्थ की प्रतीति में व्यवधान होने से उसका ज्ञान होगा यह अप्रासंगिक है। 'संकेतित' पद भी व्यर्थ नहीं है। लक्ष्यार्थ के होने पर भी वाच्यार्थ का ज्ञान होता ही है। स्पर्शादि वर्ण साक्षात् माधुर्यादि के व्यंजक होते हैं। अतः 'संकेत' पद इनमें अतिव्याप्ति वारण के लिए है।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने इस प्रसंग में 'भास्कर' टीकाकार के मत का खण्डन किया है। भास्कर का मत है 'अन्विताभिधानवादी' के मत में लक्ष्यार्थ भी संकेतित होता है अतः उसमें अतिव्याप्ति वारण के लिए 'साक्षात्' विशेषण उचित है। यदि यह न माना जाए तो 'साक्षात् अभिधत्ते' 'संकेतितं अभिधत्ते' यह दो लक्षण मानने पड़ेंगे। पहले लक्षण से चेष्टा में अतिव्याप्ति नहीं होती। शब्दत्व की प्रकरण से ही प्राप्ति होती है।[2]

भास्कर टीकाकार के मत का खण्डन करते हुए प्रदीपकार लिखते हैं 'तत्तु साक्षात्संकेतो गृह्यते इत्यादि वृत्तौ साक्षात्त्वस्य संकेतितविशेणतया व्याख्यानेन विरोधादुपेक्षणीयम्' अर्थात् 'साक्षात्संकेतो गृह्यते' आदि वृत्ति में 'साक्षात्' शब्द 'संकेतित' का विशेषण है इस व्याख्या से विरोध होता है अतः यह मत उपेक्षणीय है। प्रथम लक्षण (साक्षात् अभिधत्ते) से माधुर्यादि गुण-व्यंजक स्पर्शादि वर्णों में अतिव्याप्ति आ जाएगी क्योंकि वर्ण तो साक्षात् रस के व्यंजक होते हैं। दूसरे लक्षण (संकेतितम् अभिभत्ते) से 'वाच्य' ही 'व्यंग्य' हो जाएगा यह अतिव्याप्ति होगी। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यह हमारा इष्ट नहीं है, क्योंकि फिर तो 'संकेतवान् वाचकः' इसी के ठीक होने से शेष व्यर्थ हो जाएगा।[3]

प्रभा और उद्योत टीकाओं में गोविन्द ठक्कुर के समान व्याख्या की गई है।

नागेश्वरी—'नागेश्वरी' में हरिशंकर शर्मा ने गोविन्द ठक्कुर की भांति मम्मट के सूत्र की विस्तृत व्याख्या नहीं की। वे लिखते हैं कि इस संसार में अन्वय-व्यतिरेक द्वारा संकेत ग्रहण किया जाता है, शब्द का जिस अर्थ में संकेत किया जाता है उसी अर्थ की प्रतीति होती है।[4]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २१
२. काव्यप्रदीप, पृ० २१
३. काव्यप्रदीप, पृ० २१
४. 'इह लोकव्यवहारे अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गृहीतसंकेतज्ञानस्यैवार्थप्रतीतिजनकत्वेन संकेतग्रहसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयति अभिधत्ते।'
(नागेश्वरी, पृ० ११)

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने 'वाचक' शब्द की विस्तृत व्याख्या की है। गोविन्द ठक्कुर तथा उनके पूर्ववर्ती टीकाकारों ने यह स्पष्ट किया है कि मम्मट के सूत्र 'साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः' में प्रयुक्त अभिधत्ते, साक्षात्, संकेतित का विशेष महत्त्व है। अभिधत्ते शब्द प्रयोग द्वारा अभिधामूला व्यंजना में अतिव्याप्ति नहीं होती। 'अभिधत्ते' का अर्थ 'प्रतिपादयति' है। 'अभिधा' 'प्रतिपादयति' ऐसा अर्थ करने से अन्योन्याश्रय दोष होगा। संकेतितम् विशेषण के रहने पर लाक्षणिक शब्द में अतिव्याप्ति दोष नहीं होता। गोविन्द-ठक्कुर यद्यपि नैयायिक थे परन्तु नैयायिकों के अनुसार अभिधा को ईश्वरेच्छा नहीं माना है।

वाचक शब्द का अर्थ स्पष्ट करने के पश्चात् मम्मट ने विभिन्न मतों की चर्चा की है जिसमें यह स्पष्ट किया है कि संकेतित अर्थ किस रूप में होता है? इस विषय में मम्मट ने वैयाकरण, मीमांसक, नव्यनैयायिक, न्यायवैशेषिक, बौद्धमत आदि की चर्चा की है।

वैयाकरण मत

सर्वप्रथम मम्मट ने 'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा' सूत्र में वैयाकरणों और मीमांसकों के मत कीं चर्चा की है। वृत्ति में मम्मट ने नव्यनैयायिक के मत की चर्चा की है जो व्यक्ति में संकेतग्रह मानते हैं।

गोविन्द ठक्कुर तथा उनके पूर्ववर्ती टीकाकारों ने मम्मट की भांति व्यक्ति में संकेतग्रह मानने का खण्डन किया है। व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से दो विकल्प होते हैं—समस्त व्यक्तियों में संकेतग्रह माना जाए या एक व्यक्ति में। समस्त व्यक्तियों में संकेतग्रह मानने में 'आनन्त्य' दोष होता है। एक व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से 'व्यभिचार' दोष होगा। 'व्यभिचार' का अर्थ है नियम का उल्लंघन। संकेतग्रह में नियम है कि संकेतित अर्थ का ही शब्द से बोध होता है। एक व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से उससे भिन्न व्यक्ति की उस शब्द से प्रतीति नहीं होगी, यदि होगी तो 'व्यभिचार' दोष उत्पन्न होगा अर्थात् व्यभिचार दोष होने से गो शब्द से घटादि की प्रतीति होने लगेगी।

व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से तीसरा दोष भी उत्पन्न होता है कि 'गौः शुक्लः चलः, डित्थः' आदि शब्दों का अर्थ-भेद नहीं होगा। चारों शब्द एक ही व्यक्ति के वाचक होने से एकार्थी हो जायेंगे और इनका साथ-साथ प्रयोग भी नहीं होगा।[1]

---

१ (i) 'यद्यप्यर्थक्रियाकारितया······प्राप्नोतीति।' (काव्यप्रकाश, पृ० ४३)

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के समान व्यक्ति में संकेतग्रह मानने का खण्डन किया है। यद्यपि प्रयोजनीय कार्य करने के कारण प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही है तथापि व्यक्तियों के अनन्त होने के कारण तथा व्यभिचार दोष के कारण व्यक्ति में संकेत मानना उचित नहीं है।

प्रभा—'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ 'प्रवृत्ति-निवृत्ति' का भाव स्पष्ट करते हैं कि दोहनादि इष्ट साधन की प्रवृत्ति होती है और शृङ्गाघातादि अनिष्ट साधन निवृत्ति योग्य है। प्रवृत्ति में ग्रहण करने का भाव, निवृत्ति में त्याग का भाव है।[1]

व्यक्ति में संकेतग्रह मानने का खण्डन करते हुए मम्मट ने उपाधि में संकेतग्रह की चर्चा की है। (उपाधिश्च...महाभाष्यकार) वृत्ति में मम्मट ने जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा का स्वरूप स्पष्ट किया है। उपाधि के दो प्रकार हैं – १. वस्तु का धर्म, २. यदृच्छा। वस्तु-धर्म भी दो प्रकार का है—१. सिद्ध, २. साध्य। सिद्ध धर्म भी दो प्रकार का है १. पदार्थ की व्यवहार योग्यता का निर्वाहक, २. विशेष प्रतीति का हेतु। पदार्थ का प्राणप्रद धर्म जाति है। मम्मट ने भर्तृहरि का कथन उद्धृत किया है 'गौ अपने व्यक्ति रूप से न तो गौ है न अगौ ही है अपितु गोत्व जाति के संबंध से गौ है या गोपद वाच्य है।' दूसरा विशेष प्रतीति का हेतु गुण है। मम्मट लिखते हैं 'शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते।' साध्यरूप धर्म क्रिया रूप होता है क्योंकि 'पूर्वापरीभूतावयव क्रिया रूपः'। यदृच्छा नामक उपाधि कल्पनाजन्य है। चारों उपाधियाँ प्रवृत्तिनिमित्त हैं इस कथन के समर्थन में महाभाष्यकार पतंजलि मुनि के 'गौः शुक्लचलो डित्थ' कथन को उद्धृत किया है।[2]

(ii) आनंत्यादिति। यद्येकस्मिन् गोपिण्डे संकेतः क्रियते तदाऽन्येषु कर्तुं न शक्यते। व्यभिचाराच्चेति योहि पिण्डः संकेतविषयः स व्यवहारकाले व्यभिचरति बाल्यादिभेदात्।' (संकेत, पृ० १३)

(iii) 'ननु सर्वासु व्यक्तिषु संकेतः कतिपयासु वा। तत्राद्यं निराकरोति आनन्त्यादिति। द्वितीयं निराकरोति व्यभिचारादिति। व्यभिचारः सङ्केतितार्थव्यतिरिक्तेऽपि गवि गोव्यवहारः।'(बालचित्तानुरंजनी, पृ० २३)

(iv) काव्यप्रदीप, पृ० २२

१. काव्यप्रदीप, पृ० २१

२. काव्यप्रकाश, पृ० ४६-४७

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा, इन चार उपाधियों में संकेतग्रह की चर्चा करते हुए 'जाति' और 'गुण' का अन्तर स्पष्ट किया है। जाति तो वस्तु की स्वरूपाधायक है और गुण वस्तु में विशेषता उत्पन्न करने वाला है। एक ही जाति रूप चैतन्य प्राणी में गुण के कारण ही वस्तु विशेप अपने वर्ग से अलग प्रतीत होता है।[1]

काव्यप्रदीप—'उपाधि' में संकेतग्रह की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने उपाधि के भेदों उपभेदों की चर्चा मम्मट की भांति परन्तु अधिक स्पष्ट रूप में की है। प्रथमतः उपाधि दो प्रकार की है—१. वस्तु का धर्म घटत्वादि। १. यदृच्छात्मक। वस्तु-धर्म के दो प्रकार हैं—१. पदार्थ का प्राणप्रद, २. विशेषाधानहेतु। गुण और जाति के विषय में गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि गौ जातिवाचक शुक्ल गुणवाचक विशेषण से यह स्पष्ट है कि इनमें जिस बात की समानता है वह है दोनों की नित्यता। गोत्व और शुक्लत्व एक समय में गोपिण्ड में समन्वित हुआ करते हैं तथापि जाति और गुण का परस्पर पार्थक्य सिद्ध करते हैं कि जाति जिस वस्तु में रहती है उसका कभी त्याग नहीं करती अर्थात् गोत्व धर्म गो व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से रहता है और गुण ऐसा है जो सजातीय-व्यावर्तक है अर्थात् गुण सजातीय वस्तुओं को एक दूसरे से पृथक् करने वाले हैं।[2]

वस्तु का प्राणप्रद धर्म जाति है, वाक्यपदीय की उक्ति उद्धृत करते हैं कि गौ अपने स्वरूप के कारण गौ व्यवहार का विपय नहीं न ही अगौ है अपितु गोत्वादि जाति संबंध के कारण गौ कही जाती है।[3]

"विशेषाधान" गुण है। जाति और गुण दोनों ही वस्तु का सिद्ध धर्म है। गोत्वादि जाति द्वारा स्वरूप प्राप्त किया है जिसने ऐसी वस्तु शुक्लादि गुणों से भिन्न होती है। 'साध्य' क्रिया रूप की चर्चा में भर्तृहरि के वाक्यपदीय की उक्ति को उद्धृत किया है, जिसका आशय है कि जितने भी व्यापार सिद्ध हैं अथवा असिद्ध, उन सभी को साध्य कहा जाएगा। ये सभी एक क्रम पर आश्रित होते हैं, इसी कारण क्रिया कहलाते हैं।[4]

---

१. संकेत, पृ० १३
२. काव्यप्रदीप पृ० २२
३. काव्यप्रदीप पृ० २२
४. 'यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेन प्रतीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते।' (काव्यप्रदीप, पृ० २३)

चतुर्थ उपाधि 'यदृच्छा' की चर्चा मम्मट की भांति की है। इसमें शब्द के दो रूपों की चर्चा की है—१. अन्त्यबुद्धि-निर्ग्राह्य, २. संहृतक्रम। 'अन्त्यबुद्धि-निर्ग्राह्य' वह है जिसमें अन्तिम वर्ण के अनुभव से प्रत्येक वर्ण का ज्ञान स्पष्ट रूप से होता है जैसे 'डित्थ' शब्द से प्रथमवर्ण की प्रतीति के पश्चात् अन्तिम-वर्ण 'अ' के अनुभव से स्फोट रूप 'डित्थ' शब्द का ग्रहण किया जाता है। 'संहृतक्रम' में वर्णों की क्रमिकता का ध्यान नहीं रहता 'वर्णक्रमशून्य' 'डित्थादि' शब्दों का स्वरूप वक्ता की अपनी इच्छा द्वारा उपाधि रूप में कल्पित किया जाता है।

गोविन्द ठक्कुर की चर्चा का विषय मम्मट के अनुकूल है। परन्तु चण्डीदास ने 'दीपिका' में मम्मट के उपर्युक्त कथन की जो व्याख्या की है वह मम्मट के मत के प्रतिकूल है। चण्डीदास के मत का उल्लेख करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि चण्डीदास के अनुसार स्वलक्षण ही बुद्धि के द्वारा ग्राह्य है उसे ही अन्त्यबुद्धि निर्ग्राह्य कहा है अर्थात् डित्थादि शब्द में डित्थादि का स्वभाव पूर्णतः ग्राह्य होता है। जाति की प्रतीति पहले होती है व्यक्ति की बाद में यह क्रम है। किन्तु डित्थादि शब्द से होने वाली प्रतीति इस प्रतीति से शून्य है। चण्डीदास ने माना है कि डित्थ आदि शब्दों का रूप डित्थ आदि अर्थों में उपाधि रूप होने से पदार्थों की उपस्थिति के अनुकूल संकेत का विषय होता है।[1] चण्डीदास के मत का खण्डन करते हुए प्रदीपकार लिखते हैं—'तच्च भाष्यविरुद्धम्'। भाष्यविरुद्धम् इसलिए है कि पतंजलि के मत में डित्थादि नाम की भी 'यदृच्छासंनिवेशित' रूप दूसरी उपाधि में गणना की गई है। 'डित्थ' आदि शब्द से यह डित्थ नाम वाला है यह प्रतीति होती है।

काव्यप्रकाशटीका-गोविन्द ठक्कुर के पश्चात् श्रीयशोविजयी जी ने भी चण्डी-दास का मत उद्धृत करके खण्डन किया है। चण्डीदास के मत का खण्डन करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने केवल 'तच्च भाष्यविरुद्धम्' कहकर खण्डन किया है वहां यशोविजयी जी ने चण्डीदास के मत का खण्डन करते हुए कुछ तर्क दिए है। वे लिखते हैं कि चण्डीदास का मत मम्मट के ग्रन्थ के विरुद्ध है। मम्मट ने व्यक्ति के अनन्तभेद होने के कारण आनन्त्य और व्यभिचार दोष होने से उसमें (व्यक्ति में) संकेतग्रह का अभाव माना है और संज्ञा शब्द में शक्ति को माना

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २४

है । अतः उनके विचार से व्यक्ति और संज्ञा शब्द में अन्तर होना चाहिए, वह अन्तर है संज्ञा शब्द में भी उपाधि का होना । जैसा कि उन्होंने 'उपाधि के दो भेद हैं' इत्यादि पंक्ति के द्वारा संज्ञा में भी उपाधि स्वीकार की है । अतः मम्मट के पूर्वोक्त विचार से विरुद्ध होने के कारण चण्डीदास का मत मानने योग्य नहीं है ।[१]

वैशेषिक मत

मम्मट ने वैशेषिक मतावलम्बियों द्वारा उठाई गई गुण-सम्बन्धी शंका का समाधान किया है—'परमाण्वादीनां तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम् ।' वैशेषिक दर्शन में परमाणु आदि को गुण कहा जाता है, परन्तु मम्मट के अनुसार परमाणु आदि जाति शब्द है ।[२]

यहीं पर मम्मट ने पूर्वपक्षी की एक और शंका का निराकरण किया है यद्यपि मम्मट ने यह नहीं उल्लेख किया है कि पूर्वपक्षी की शंका क्या है ? शंका समाधान करते हुए मम्मट लिखते हैं कि गुण, क्रिया तथा यदृच्छात्मक संज्ञाएं एक रूप होने पर भी आश्रय के भेद से भिन्न प्रतीत होता है । जैसे एक ही मुख खड्ग, दर्पण तथा तेल में आलम्बन भेद से भिन्न प्रतीत होता है ।[3]

संकेत—माणिक्यचन्द्र ने 'परमाणु' की विस्तृत चर्चा की है । वैशेषिक के अनुसार परमाणु के चार भेद हैं अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व । ये नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार के होते हैं । नित्य परमाणु की स्थिति परम महत् परमाणु में रहती है और इसी आधार पर परमाणु को गुण कहा गया है ।

---

१. 'यत्तु अन्त्यं व्यवच्छेद्यं स्वलक्षणं धर्माभिरामस्पर्शाद् बुद्धिद्वारा निःशेषतो ग्राह्यं, यस्य तदन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं जातिप्रतीत्यनन्तरं व्यक्ति-प्रतीतिरिति क्रमशून्यं स्वरूपं धर्मिमात्रं डित्थादिशब्दानामुपाधित्वेनार्थो-पस्थित्यनुकूलतया सन्निवेश्यत इत्यर्थः । तथा च संज्ञाशब्दे उपाध्यन्तरा-भावाद् धर्मिमात्रं ततः प्रतीयते, एवमाकाशादिपदेष्वपीति चण्डीदासः, तत् तुच्छम् ।···व्यक्तिनामानन्त्येन तत्र शक्तिं परित्यज्य तत्र संज्ञाशब्दे पुनस्तदाश्रयणेनोपाधिर्द्विविध इत्यादिना संज्ञाशब्देऽप्युपाधिस्वीकारेण च विरोधात् ।'

(काव्यप्रकाशटीका, पृ० ३९)

२. 'परमाण्वादीनां तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम् ।'

काव्यप्रकाश, पृ० ४९

३. वही, पृ० ५०

मम्मट के अनुसार परमाणु गुण के अन्तर्गत न आकर जाति के अन्तर्गत माना जाएगा। वाक्यपदीय में कहा है कि गौ स्वरूप के कारण गौ नहीं हैं, अपितु गोत्व जाति के कारण गौ है। इसी प्रकार कहा जा सकता है कि 'नहि स्वरूपेण परमाणुः नाप्यपरमाणुः परमाणुत्वाभिसम्बन्धात्तु परमाणुः।'

वैशेषिकों के अनुसार परमाणु में जाति के 'पर' और 'अपर' भेद नहीं होते। यदि परमाणु को 'पर' मानते हैं तो इस स्थिति में परमाणु का विस्तार पृथ्वीत्व तक ही होगा जो असम्भव है। ऐसा मानने से परमाणु की सीमा पृथ्वीत्व तक ही नहीं मानी जा सकती है। यदि परमाणु की सीमा पृथ्वीत्व तक मान भी लें तो परमाणु का विस्तार पृथ्वी द्वारा निर्मित घड़े में परमाणु जाति माननी पड़ेगी परंतु प्रत्यक्ष रूप से घड़े में परमाणु जाति का निषेध मानना पड़ता है।

यदि पृथ्वीत्व को 'पर' और परमाणु को 'अपर' माना जाए तो पृथ्वीत्व की परिव्याप्ति परमाणुत्व में होगी और परमाणुत्व में पृथ्वीत्व की परिव्याप्ति मानने से आकाश, वायु आदि में भी पृथ्वीत्व मानना पड़ेगा, परन्तु ऐसा संभव न होने से परमाणु को किसी भी दशा में जाति नहीं माना जा सकता। यही वैशेषिक दर्शन का सिद्धान्त है।[१]

परमाणु का परिमाण=पारिमण्डल्य भी परमाणु कहा जाता है। वह वैशेषिक की दृष्टि से गुण है। मम्मट का अभिप्राय है कि परमाणु आदि शब्द जातिवाचक हैं। वैशेषिक-दर्शन में परमाणु का केवल पारिभाषिक गुणत्व ही स्वीकार किया जा सकता है, वास्तविक नहीं।

गुण, क्रिया और संज्ञा रूप उपाधियों में संकेतग्रह की शंका का समाधान माणिक्यचन्द्र ने मम्मट की भांति किया है।[२]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'संकेत' टीका की भांति वैशेषिक मतानुसार 'परमाणु' आदि की विस्तृत चर्चा नहीं की है। मम्मट की भांति संक्षिप्त चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया है कि परमाणु आदि शब्द वास्तव में जाति-

---

१. 'ननु परमाणुषु परमाणुत्वं कस्मान्नेष्यते। उच्यते – पार्थिवपरमाणौ पृथ्वीत्वपरमाणुत्वयोः परापरव्यवस्थाया अभावात्। यदि पृथ्वीत्वमपरं तदा घटेऽपि परमाणुत्वप्रसंगः। अपरसद्भावे परस्य सद्भावप्रतिपादनात्। अथ परमाणुत्वमपरं तदा तेजः परमाणुष्वपि पृथ्वीत्वप्रसङ्गः। तस्मान्न जातिशब्दत्वम्।' (संकेत, पृ० १४)

२. संकेत, पृ० १४

वाचक है। वैशेषिक शास्त्र में परिमाण नामक गुण के अन्तर्गत गणना किए जाने से पारिभाषिक गुण नाम दिया गया है।

गुण, क्रिया और यदृच्छा में संकेतग्रह की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने पूर्वपक्ष की ओर से उठाई गई शंका का उल्लेख किया है। पूर्वपक्ष का कथन है कि पटादि में स्थित शुक्लवर्ण, गुड़-चावलादि में स्थित पाकादि त्रियाओ का भेद प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः इनमें सकेत मानने से आनंत्य और व्यभिचार दोष उत्पन्न होंगे जो व्यक्ति में संकेत मानने में आते हैं।[1] इस शंका का समाधान करते हुए मम्मट की भांति गोविन्द ठक्कुर का कथन है 'गुणादीनां स्वरूपत एकरूपाणामाश्रयभेदाद्भेद इव लक्ष्यते। यथैकस्यैव मुखस्य खड्गमुकुराद्या-लम्बनभेदात्'।[2] अतः इन दोषों का समावेश नहीं माना जा सकता है तथा गुण, क्रिया और यदृच्छा में संकेतग्रह मानना उचित है।

मीमांसक मत

आचार्य मम्मट मीमांसकों के मत का उल्लेख करते हैं कि हिम, दुग्ध तथा शंखादि में रहने वाला शुक्ल गुण भिन्न-भिन्न है। उसमें संकेतग्रह संभव नहीं। अतः भिन्न-भिन्न शुक्ल गुण में शुक्लत्व जाति माननी चाहिए। इसी प्रकार गुड़ तथा चावलादि की पाकक्रिया भिन्न-भिन्न है परन्तु उनमें जाति एक ही है। यदृच्छा शब्दों में जाति का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि बालक, वृद्ध और शुकादि द्वारा बोले हुए 'राम-राम' शब्द भिन्न हैं परन्तु उनमें रामत्व जाति समान है। अतः मीमांसकों का यह कथन है 'सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तं।[3]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'अपरे तु' से मीमांसकों के मत की विस्तृत विवेचना की है। 'काव्यप्रदीप' में मीमांसकों का मत इस प्रकार उद्धृत है 'हिम, पय (दुग्ध) और शंख आदि में रहने वाले शुक्लादि गुण वस्तुत भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि पकाने से शुक्ल रूप नष्ट हो जाता है श्याम रूप उत्पन्न होता है। इसमें भ्रांति नहीं है। शुक्ल गुण का विनाश देखा गया है। अतः उत्पत्ति-विनाशशील होने के कारण शुक्ल आदि गुणों को हिम, दूध, शंख आदि में भिन्न मानना चाहिए। परन्तु यहां 'शुक्ल शुक्ल' यह अनुगत प्रतीति होती है उसका कारण शुक्लत्व सामान्य है। इसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि अनेक

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २४

२. काव्यप्रदीप, पृ० २४

३. काव्यप्रकाश, पृ० ५०

पदार्थों के पाक में रहने वाली पाकक्रिया में 'पाक: पाक:' इस अनुगत-प्रतीति के कारण पाकत्व सामान्य है। इसी प्रकार बालक वृद्ध आदि के द्वारा उच्चारित 'डित्थ' आदि शब्दों में अथवा प्रतिक्षण बदलते हुए व्यक्तियों में 'डित्थत्व' आदि सामान्य है।

मूल में लिखित वाक्य का अर्थ करते समय इव अर्थ वाले 'वा' शब्द का और 'अपि' अर्थ वाले 'च' शब्द का स्थान विनिमय करके—'बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देष्विव प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेष्वपि डित्थत्वाद्यस्ति' इस प्रकार वाक्य बनता है। यहां 'वा' शब्द का अर्थ 'इव' और 'च' शब्द का अर्थ 'अपि' है। इस प्रकार अर्थ होगा—बाल, वृद्ध और तोते के द्वारा उच्चारित डित्थादि शब्दों की तरह प्रतिक्षण बदलते हुए डित्थादि अर्थ में डिथत्व जाति माननी चाहिए। इस प्रकार सब शब्दों का संकेत विषय जाति ही है।'[१]

जाति में संकेतग्रह का खण्डन करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'येषां मते संज्ञाशब्दानां शब्दो नोपाधिस्तेषां मते आकाशादिशब्दानां कथं जातौ संकेत इति चिन्त्यम्।' यहाँ 'येषां मते' से अभिप्राय 'चण्डीदास' से है।

नैयायिक और बौद्धमत

अन्त में मम्मट ने नैयायिक मत और बौद्ध मत का संकेतमात्र दिया है विस्तृत विवेचन नहीं किया है।[२]

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने नैयायिक मत और बौद्ध मत का उल्लेख किया है। नैयायिक कहते हैं कि जाति में अर्थक्रियाकारित्व का अभाव होने से जाति में ही संकेत ग्रहण नहीं कर सकते। केवल व्यक्ति में संकेतग्रह मानें तो आनन्त्य और व्यभिचार दोष होगा। अत: संकेत न जाति में होता है और न व्यक्ति में अपितु जातिविशिष्ट व्यक्ति में होगा।[3]

बौद्धों के अनुसार व्यक्ति या जाति में संकेतग्रह हो नहीं सकता क्योंकि व्यक्ति में मानने से आनन्त्य, व्यभिचार दोष उत्पन्न होता है और जाति में भी सम्भव नहीं। अत: अतद्व्यावृत्ति रूप अर्थ ही संकेत है अर्थात् गौ आदि शब्द प्रयोग से गौ के अतिरिक्त समस्त पदार्थों की व्यावृत्ति हो जाती है।[४]

बालचित्तानुरंजनी तथा सारबोधिनी में नैयायिक मत और बौद्धमत की चर्चा नहीं की गई।

१. काव्यप्रदीप, पृ० २४
२. काव्यप्रकाश, पृ० ५१
३. संकेत, पृ० १५
४. संकेत, पृ० १५

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने भी नैयायिक और बौद्ध दोनों मतों की चर्चा की है। प्राचीन नैयायिक मतानुसार—न व्यक्ति में शब्द की शक्ति है है न जातिमात्र में। व्यक्ति में शक्ति मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष हैं तथा जाति में संकेतग्रह मानने से व्यक्ति की प्रतीति नहीं होती। अतः जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेत होता है। व्यक्ति में क्रिया का होना भी सम्भव है तथा जातित्व का भी योग रहता है।[1]

बौद्धों के अनुसार व्यक्ति में आनन्त्यादि दोष होने से व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं माना जा सकता। जाति में भी संकेत संभव नहीं है। अतद्व्यावृत्ति रूप अर्थ ही संकेत का विषय है।[2]

प्रभा—'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने गोविन्द ठक्कुर की अपेक्षा बौद्ध मत को अधिक स्पष्ट किया है। बौद्धों के अनुसार जाति में संकेतग्रह संभव नहीं है क्योंकि बौद्धों ने 'सर्वक्षणिकम्' के सिद्धान्त को माना है। अतः जाति को भाव पदार्थ मानने से वह क्षणिक होता है। बौद्धों द्वारा उच्चरित घट पद का इतना ही अर्थ होगा कि यह एक क्षणिक पदार्थ है तथा घट के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों से भिन्न है।[3]

संकेतित अर्थ क्या है? इस विषय में विविध मतों का उल्लेख किया गया है—नव्य नैयायिक मत—व्यक्ति में संकेतग्रह। महाभाष्यकार—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा—ये चार उपाधियाँ संकेतित अर्थ है। मीमांसक—केवल जाति में। नैयायिक—जातिविशिष्ट व्यक्ति में। बौद्ध—अपोह में संकेतग्रह मानते हैं। यहां प्रश्न उठता है कि मम्मट का अभिप्रेत मत कौन-सा है? काव्यप्रकाश में मम्मट के विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने सर्वप्रथम व्यक्ति में संकेतग्रह मानने का खण्डन किया है क्योंकि व्यक्ति में संकेत मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष उत्पन्न होते हैं। 'तदुपाधावेव संकेतः' से वैयाकरण के मत की विस्तृत चर्चा की है। बौद्ध तथा नैयायिक मत में 'ग्रन्थगौरवभयात् प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम्' कहकर असहमति प्रकट की है। अतः स्पष्ट है मम्मट

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २५

२. 'सौगतास्तु—व्यक्तावानन्त्यादिदोषाद्भावस्य च देशकालानुगमाभावात्तदनुगतायामतद्व्यावृत्तौ संकेतः'' इत्यादिमतानि प्रकृतानुपयोगान्न सूत्रकृता दर्शितानि।'' (काव्यप्रदीप, पृ० २५)

३. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० २५

ने व्यक्तिवाद, जातिविशिष्ट व्यक्ति और अपोहवाद का स्वयं खण्डन किया है। मम्मट ने 'इत्यन्ये' से मीमांसक के जातिवाद की चर्चा की है। परन्तु इसका खण्डन नहीं किया है। अतः यहाँ यह शंका होती है कि ममम्ट ने जातिवाद का अनुसरण किया है या नहीं ? इसका उत्तर गोविन्द ठक्कुर की 'काव्यप्रदीप' टीका में उपलब्ध है और वहाँ इसकी भी स्पष्ट चर्चा है कि मम्मट को कौन-सा मत स्वीकार है।

गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष उत्पन्न होने से व्यक्तिवाद का खण्डन किया है। बौद्ध मत तथा नैयायिक मत का भी अनावश्यक विस्तार होने से विवेचन नहीं किया है। मीमांसकों के मत को गोविन्द ठक्कुर ने 'अपरे तु' कहकर उद्धृत किया है। परन्तु अन्त में प्रदीपकार का यह कथन 'येषां मते संज्ञाशब्दानां शब्दो नोपाधिस्तेषां मते आकाशादिशब्दानां कथं जातौ संकेत इति चिन्त्यम्', जाति में संकेत मानने का खण्डन करता है। केवल वैयाकरण के मत का ही विस्तृत रूप में विवेचन किया है और उसके विरोध में कोई तर्क उपस्थित नहीं किया है।इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में गोविन्द ठक्कुर ने 'चण्डीदास' के मत की चर्चा की है और ''तच्च भाष्यविरुद्धं' से चण्डीदास के मत का खण्डन किया है। अतः यह स्पष्ट है गोविन्द ठक्कुर के अनुसार मम्मट को महाभाष्यकार का मत ही मान्य है। प्रदीपकार की यह विशेषता रही है कि जहाँ भी उन्हें किसी का मत ग्राह्य नहीं वहां अपने प्रवल तर्कों द्वारा उस मत का खण्डन करते हैं। महाभाष्यकार के मत की चर्चा 'गौः शुक्लः, चलः इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः इति महाभाष्कारः' से की है, खण्डन नहीं किया है।

वस्तुतः मम्मट का अभिप्रेत मत कौन सा है ? इस पर अन्य टीकाकारों में विवाद है।

काव्यप्रकाश टीका – गोविन्द ठक्कुर के पश्चात् श्रीयशोविजयी जी ने काव्य प्रकाश टीका में किसी भी मत को मम्मट का अभिप्रेत मत नहीं माना है। वे लिखते हैं कि 'महाष्यकारः इत्यन्ये, कैश्चित्' सभी पक्षों में मम्मट का अस्वारस्य है। जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा में संकेतग्रह मानने वाले महाभाष्यकार हैं मम्मट नहीं। इसी प्रकार 'जातिरेव' 'अन्ये' शब्द के द्वारा असहमति प्रकट की है।[1]

---

१. महाभाष्यकारः, इत्यन्ये, कैश्चिदित्यादिभिः पदैः सर्वत्र च पक्षेऽस्वरसोद्भाव नम् ? तद्बीजं तु महाभाष्यकारमते जातिशक्तिमात्रव्यवस्थानात् कथं व्यक्तिभानम्। (काव्यप्रकाश टीका, पृ० ४९)

बालबोधिनी —वामनाचार्य झलकीकर ने 'बालबोधिनी' टीका में मम्मट के सिद्धान्त पक्ष की विस्तृत चर्चा की है। 'बालबोधिनी' टीका में नरसिंह ठक्कुर का भी मत उद्धृत है जहाँ उन्होंने 'व्यक्तिपक्ष एव क्षोदक्षमः' कहकर व्यक्ति-पक्ष माना है।

स्वयं झलकीकर ने महाभाष्यकार के मत को ही मम्मट का अभिप्रेत माना है। वे लिखते हैं कि महाभाष्यकार का नामोल्लेख होने से तथा उनका विस्तृत विवेचन यह सिद्ध करता है कि मम्मट ने वैयाकरण सिद्धान्त का अनुसरण किया है। जबकि जातिवाद, जातिविशिष्टवाद, अपोहवाद की व्याख्या में केवल 'इत्यन्ये' 'कैश्चिदुक्तः' शब्दों का प्रयोग किया है।

प्रथम उल्लास में 'बुधैः वैयाकरणैः'''कथन द्वारा वैयाकरणों का अनुसरण किया है। दशम उल्लास में 'विरोध अलंकार' के जात्यादि चार पदार्थों के आधार पर दस भेद किए हैं।[1]

इस प्रकार गोविन्दठक्कुर तथा वामनाचार्य की चर्चा से स्पष्ट है कि महाभाष्यकार का मत ही मम्मट का अभिप्रेत मत है। यहाँ हम यशोविजयी जी के कथन से सहमत नहीं है क्योंकि यदि मम्मट को वैयाकरण का मत भी मान्य न होता तो वह स्वमत की पृथक् चर्चा करते। परन्तु ऐसा नहीं किया गया। नैयायिक या बौद्धमत की भाँति महाभाष्यकार के मत का संक्षिप्त विवेचन भी नहीं किया गया है एवं वामनाचार्य का कथन अधिक उचित प्रतीत होता है कि 'महाभाष्यकार' आदर-सूचक शब्द का प्रयोग न करके मम्मट मीमांसक आदि की भाँति 'अन्ये' का ही प्रयोग करते (यदि मम्मट को महाभाष्यकार का मत अमान्य होता)।

अन्त में मम्मट स्पष्ट करते हैं 'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते' अर्थात् साक्षात् संकेतित अर्थ ही मुख्य अर्थ कहा जाता है। उस साक्षात् संकेतित अर्थ के विषय में इस शब्द का जो मुख्य व्यापार या वृत्ति है वह अभिधा कहलाती है।

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र लिखते हैं कि जिस प्रकार शरीर के सारे अवयवों में मुख सबसे प्रधान है और सबसे पहले दिखलाई देता है उसी प्रकार वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्यादि में वाच्यार्थ प्रधान है और सर्वप्रथम उसी का ग्रहण होता है। वाच्यार्थ से अभिप्राय मुख्यार्थ से है।[2]

---

१. बालबोधिनी, पृ० ३९
२. स साक्षात्संकेतितो मुखमिवहस्ताद्यवयवेभ्योऽर्थान्तरेभ्यः प्राग् ज्ञायमानत्वात्। मुख्यार्थविषयः शब्दोऽपि मुख्यः।' (संकेत, पृ० १६)

सारबोधिनी - 'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य लिखते हैं कि 'मुख्य' से अभिधामूला व्यंजना में अतिव्याप्ति नहीं होती क्योंकि अभिधामूला व्यंजना में मुख्य व्यापार नहीं अमुख्य है ।[१]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ यह शंका होती है फि वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य रूप में पदार्थों का विभाग करना अनुपयुक्त हैं क्योंकि मुख्यार्थ रूप में चौथा विभाग भी हो सकता है । समाधान करते हुए लिखते हैं 'साक्षात्संकेतित एवार्थो मुख्यत्वेन प्रसिद्ध इत्यर्थः ।' साक्षात्संकेतित अथ ही मुख्य अर्थ है । इस शब्द का व्यवधान रहित जो मुख्य व्यापार है, वही अभिधा-वृत्ति है । अत: वाच्यार्थ के अतिरिक्त कोई मुख्यार्थ नहीं है जिससे शब्दार्थ का मुख्यार्थ नामक चौथा भेद माना जाए ।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की अपेक्षा 'वाचक' शब्द का विस्तृत विवेचन किया है । वैयाकरणों के अनुसार जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा ये चार प्रकार की उपाधियाँ हैं, उसमें प्रदीपकार ने संकेतग्रह माना है । भास्कर और चण्डीदास का मत मम्मट के प्रतिकूल होने से गोविन्द ठक्कुर की आलोचना का विषय बना । अन्त में गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि साक्षात्संकेतित अर्थ में जो शब्द का किसी प्रकार कीं बाधा आदि के विना मुख्य व्यापार है, वही अभिधा-वृत्ति (शक्ति) है ।

---

१. 'नानार्थव्यंजनवारणाय मुख्य इति ।' (सारबोधिनी, पृ० २७)

लक्षणा-शक्ति

वाचक शब्द का निरूपण करने के पश्चात् मम्मट ने लाक्षणिक शब्द की चर्चा की है। शब्द की जिस शक्ति द्वारा मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ लक्षित होता है वह लक्षणा शक्ति है। लक्षणा शक्ति के अनेक भेद-उपभेदों की चर्चा की गई है।

लक्षणा का स्वरूप

मम्मट ने 'मुख्यार्थबाधे—क्रिया'[1] कारिका में सर्वप्रथम लक्षणा का स्वरूप विवेचन किया है। कारिका में मम्मट का अभिप्राय है कि मुख्यार्थ का बाध होने पर और उस मुख्यार्थ के साथ संबंध होने पर प्रसिद्धि से या प्रयोजन से जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह आरोपित वृत्ति या व्यापार लक्षणा है। वृत्ति में मम्मट ने उदाहरणों द्वारा लक्षणाशक्ति को स्पष्ट किया है। 'कर्मणि कुशल:' में कुश ग्रहण आदि का सबंध न होने से, 'गंगायां घोष:' में गंगा आदि घोष का आधार न होने के कारण, इस प्रकार मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। 'कर्मणि कुशल:' तथा 'गंगायां घोष:' में विवेकशीलता तथा समीपता रूप संबंध है, 'कर्मणि-कुशल:' में रूढि से तथा 'गंगायां घोष:' कथन से पवित्रतादि गुणों की प्रतीति कराने रूप प्रयोजन से—जो मुख्यार्थ से उपलक्षित लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, वह व्यवहित अर्थ में रहने वाला शब्द-व्यापार ही लक्षणा है।

संकेत—मम्मट की कारिका 'मुख्यार्थबाधे'''को स्पष्ट करते हुए माणिक्यचन्द्र लिखते हैं कि 'मुख्यार्थबाध' का अभिप्राय 'अनुपपत्ति' या 'अनुपयोग' से है। 'तद्योग' का अभिप्राय है कि लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सादृश्य संबंध होता है। माणिक्यचन्द्र ने यह भी स्पष्ट किया है कि आचार्य

---

१. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथप्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत सा लक्षणारोपिता क्रिया।'

(काव्यप्रकाश, कारिका, २-९)

भर्तृहरि ने मुख्यार्थ योग का यह संबंध पाँच प्रकार का बताया है। इसे क्रमशः अभिधेय, सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य और क्रिया योग कहते हैं।[1] अभिधेय संबंध—गंगायां घोषः। सादृश्य—गौर्वाहीकः, गौरेवायम्। ३. समवाय साहचर्य—कुन्ताः प्रविशन्ति। ४. वैपरीत्य—भद्रमुख का अर्थ अभद्रमुख, ५. क्रियायोग—महति समरे शत्रुघ्नस्त्वम्। तृतीय हेतु रूढ़ि या प्रयोजन है। इस प्रकार लक्षणा का अभिप्राय है कि जहाँ मुख्यार्थ बाध अर्थात् मुख्यार्थ की अनुपत्ति होने से प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा बाधित होना, मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का संबंध होना, रूढ़ि या प्रयोजन में किसी एक का होना—इनसे युक्त होकर जिस शब्द शक्ति द्वारा किसी अन्य अर्थ का लक्षित होना संभव होता है उसे लक्षणाशक्ति कहते हैं।[2] 'कर्मणि कुशलः' उदाहरण में रूढ़ि के माध्यम से लक्षणा का प्रयोग है। लक्षणा के अन्य उदाहरण द्विरेफ, अनुलोम प्रतिलोम, लावण्यादि हैं। माणिक्यचन्द्र ने यहाँ मीमाँसक कुमारिलभट्ट का अभिप्राय भी दिया है कि वे रूढ़ि लक्षणा को न मानकर निरूढ़ा लक्षणा को मानते हैं। उनके अनुसार लक्षणा लोक-व्यवहार पर आधारित रहती है। इस शक्ति द्वारा समाज के आरोपित और स्वीकृत अर्थ का ज्ञान होता है। यह अर्थ कभी-कभी इतना प्रबल हो जाता है कि लोग मुख्यार्थ को भूल जाते हैं, ऐसी स्थिति में लक्षणा शक्ति का व्यापार होता है, उसे निरूढ़ा लक्षणा कहते हैं।[3] माणिक्यचंद्र लिखते हैं 'निरूढा इति। भ्रष्टोपचारप्रतीतयः।'

मम्मट ने लक्षणा को 'सान्तरार्थ-निष्ठ' शब्द व्यापार माना है। संकेतकार 'सान्तरार्थ' का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं 'सव्यवधानस्तटादिलक्षणोऽर्थस्तदाश्रया क्रिया शब्दव्यापारो लक्षणा' अर्थात् लक्ष्य अर्थ व्यवहित होता है।

---

१. 'अभिधेयेन सम्बन्धात्सादृश्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता।' (संकेत, पृ० १७)

२. 'मुख्यस्यार्थस्य अनुपपत्तेरनुपयोगाच्च प्रत्यक्षादिप्रमाणनेन बाधे तेन मुख्यार्थेन सह लक्ष्यार्थस्य योगे सम्बन्धे सादृश्यादौ सति रूढेः प्रयोजनात्-पावित्र्यशैत्यादेरशब्दान्तस्वाच्यात्ताद्रूप्यप्रतीत्यादिरूपादन्योऽर्थो यल्लक्ष्यते प्रतिपाद्यते यत्साम्यादमुख्यः शब्दव्यापारो लक्ष्यार्थनिष्ठो लक्षणाशक्तिः।' (संकेत, पृ० १६)

३. 'निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते सांप्रतं काश्चित्काशिचन्नैव त्वशक्तितः,।' (संकेत पृ० १६)

काव्यप्रदीप—अभिधा शक्ति की भाँति गोविन्द ठक्कुर ने लक्षणा-शक्ति की भी विस्तृत व्याख्या की है। 'मुख्यार्थबाधे ·· क्रिया' कारिका में मम्मट ने प्रत्येक शब्द का साभिप्राय प्रयोग किया है। अभिधा शक्ति के स्वरूपविवेचन में जिस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया था कि 'अभिधत्ते' शब्द का अभिप्राय 'प्रतिपादयति' से है, उसी प्रकार लक्षणा शक्ति को स्पष्ट करते हुए प्रदीपकार लिखते हैं कि कारिका में प्रयुक्त 'लक्ष्यते' का अभिप्राय 'प्रतिपाद्यते' है। 'प्रतिपाद्यते' अर्थ होने से 'आत्माश्रय' दोष नहीं होता। व्यंजना में अतिव्याप्ति न हो इसके वारण के लिए लक्षण में 'तद्योग' शब्द का प्रयोग किया हैं। अभिधा में मुख्यार्थ का प्रतिपादन होता है अतः इसके वारण के लिए लक्षणा में 'अन्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। अन्य से अभिप्राय है 'अमुख्य'। अतः लक्षणा में मुख्य की प्राप्ति नहीं, अमुख्य की प्रतीति होती है। रूढ़ि का अर्थ 'प्रसिद्धि' है। प्रयोजन का अभिप्राय 'व्यंग्यार्थ प्रतिपादन' से है। क्रिया का अभिप्राय व्यापार से है। मुख्यार्थ बाध, शक्यसंबध, रूढ़ि या प्रयोजन लक्षणा के तीन हेतु हैं। अतः लक्षणा का लक्षण है कि जहाँ मुख्यार्थबाध होने से और उस मुख्यार्थ के साथ संबंध होने, रूढ़ि या प्रयोजन द्वारा शब्द के जिस व्यापार से मुख्य से सम्बद्ध अर्थ लक्षित होता है वह लक्षणा-वृत्ति है।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने यह स्पष्ट किया है कि 'यत्' का प्रयोग क्रिया के अर्थ में है हेतु के नहीं। प्राचीन आचार्यों का यह लक्षण 'शक्यसंबंधेनाशक्यप्रतिपत्तिर्लक्षणा' ठीक नहीं है। गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं कि मम्मट की कारिका का यह अभिप्राय लेना शक्यसंबंध लक्षणा है उचित नहीं है। प्राचीन मत का खण्डन करते हुए प्रदीपकार का कथन है कि मम्मट के अनुसार किसी प्रकार की प्रतिपत्ति (ज्ञान) लक्षणा नहीं है। लक्षणा तो शब्द का एक व्यापार है। वह व्यापार ज्ञान रूप नहीं, ज्ञान का कारण है।

मम्मट ने 'नाभिधा समयाभावाद्धेत्वभावान्न लक्षणा' और 'मुख्यार्थबाधादित्रयं' सूत्र में स्पष्ट शब्दों में शक्य-संबंध को लक्षणा का कारण माना है। अतएव शक्यसंबंध रूप लक्षणा का कारण शक्यसंबंध हो नहीं सकता। अतः प्रदीपकार लिखते हैं कि 'यत्तु यदित्यस्य यत् इत्यर्थकतया संवंधपरतयैव सूत्रव्याख्यानं तदयुक्तम्।' स्पष्ट है कि 'यत्' संबंधपरक अर्थ लेने से 'मुख्यार्थबाधादित्रयं' सूत्र से विरोध उत्पन्न होगा।[2]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २७

२. वही

मम्मट ने कारिका में लक्षणा को 'आरोपित क्रिया' और वृत्ति में 'सान्तरार्थनिष्ठ' शब्द व्यापार कहा है। 'आरोपित क्रिया' को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि अभिधा शब्द की साक्षात् वृत्ति है परन्तु लक्षणा वास्तव में साक्षात् वृत्ति नहीं है। मुख्यार्थ के सहारे नवीन अर्थ लक्षित होता है इसलिए इसे आरोपित व्यापार कहा है। जैसे—'गंगायां घोषः' में गंगादि शब्द से गंगा-प्रवाह अर्थ की उपस्थिति होती है। पुनः मुख्यार्थ-बाध होने से प्रवाहादि से सम्बन्धित 'तीरादि' का अर्थ उपस्थित होता है—यह आरोपित व्यापार है।

गोविन्द ठक्कुर लक्षणा के 'सान्तरार्थ-निष्ठ' होने का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं कि वस्तुतः तो लक्षणा अर्थनिष्ठ शक्ति है। इसे शब्द-शक्ति इसलिए कहा करते हैं क्योंकि अर्थ-व्यापार को शब्द-व्यापार के रूप में मान लिया करते हैं। अभिधा जैसे शब्द का 'शक्यार्थ विषयक व्यापार' है वैसे ही लक्षणा शब्द का 'शक्यव्यवहितलक्ष्यार्थ विषयक' व्यापार है। अतएव 'सान्तरार्थ-निष्ठ' का अर्थ है—लक्ष्य अर्थ व्यवहित है। अतः रूढ़ि या प्रसिद्धि के कारण मुख्य अर्थ से भिन्न जो एक अमुख्य अर्थ की प्रतीति होती है उस प्रतीति में शब्द का व्यवहितार्थ-विषयक आरोपित शब्द का व्यापार लक्षणा माना जाएगा।[1]

'कर्मणि-कुशलः' और 'गंगायां घोषः' उदाहरण की चर्चा मम्मट के समान की है।

उद्योत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने 'मुख्यार्थ-बाध' का अभिप्राय 'अन्वयानुपपत्ति' से लिया है। गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट नहीं किया है कि उन्होंने 'अन्वयानुपपत्ति' अर्थ लिया है या नहीं। 'काव्यप्रदीप' के टीकाकार नागेशभट्ट ने 'अन्वयानुपपत्ति' के स्थान पर मुख्यार्थ-बाध का अर्थ 'तात्पर्यानुपपत्ति' किया है। नागेशभट्ट ने 'उद्योत' टीका में तो नहीं, 'परमलघुमंजूषा' में इसकी चर्चा की है। नागेशभट्ट लिखते हैं 'तात्पर्यानुपपत्तिः लक्षणाबीजम्।' यदि अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का मूल कारण मानें तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में लक्षणा नहीं होगी। यहां वक्ता का तात्पर्य केवल कौए से नहीं अपितु दध्युपघातक अन्य जीव-जन्तु से है अतः मुख्यार्थ बाध का अर्थ 'तात्पर्यानुपपत्ति' करना चाहिए। इसी प्रकार नागेशभट्ट ने 'गंगायां घोषः' को भी तात्पर्यानुपपत्ति के आधार पर स्पष्ट किया है।[2]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २७

२. 'वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिप्रतिसंधानमेव लक्षणाबीजम्। अन्यथा 'गंगायां

बालबोधिनी 'बालबोधिनी' टीका में नरसिंह ठक्कुकर का मत उद्धृत है। नरसिंह ठक्कुर ने 'रूढ़ि लक्षणा' और 'प्रयोजनवती लक्षणा' का अभिप्राय दिया है कि मम्मट को 'रूढ़ि लक्षणा' और 'प्रयोजन लक्षणा' दो भेद करना अभीष्ट है।[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने लक्षणा शक्ति की विस्तृत व्याख्या की है। मुख्यार्थ बाध, तद्योग और रूढ़ि या प्रयोजन लक्षणा के हेतु माने हैं। लक्षणा के लिए तीनों तत्त्वों का होना अनिवार्य है। यदि इनमें से एक का भी अभाव हो तो ऐसी दशा में लक्षणा शक्ति का व्यापार नहीं माना जाएगा।

लक्षणा-भेद

मम्मट ने सर्वप्रथम लक्षणा के दो भेद किए हैं—१. शुद्धा लक्षणा, २. गौणी लक्षणा। शुद्धा लक्षणा के भी दो भेद हैं—१. उपादान-लक्षणा, २. लक्षण-लक्षणा। अपनी अन्वय की सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ को उपस्थित करना उपादान कहलाता है तथा दूसरे के लिए अपने को समर्पित कर देना या त्यागना लक्षण-लक्षणा है।[2]

'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'यष्टयः प्रविशन्ति' उपादान लक्षणा के इन उदाहरणों में कुन्त आदि के द्वारा अपने प्रवेश की सिद्धि के लिए अपने अर्थों से सम्बद्ध पुरुषों का ग्रहण किया है। इस हेतु यह उपादान लक्षणा है।

मीमांसक निर्दिष्ट उपादान-लक्षणा का उदाहरण 'गौरनुबन्ध्यः' का मम्मट ने खण्डन किया है। इसी प्रकार कुछ मीमांसकों ने 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि स्थल में उपादान-लक्षणा द्वारा रात्रि-भोजन की प्रतीति मानी है। मम्मट ने उपादान-लक्षणा का खण्डन किया है क्योंकि रात्रि-भोजन की प्रतीति श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति का विषय है। 'गंगायां घोषः' लक्षण-लक्षणा

घोषः' इत्यत्र घोषपदे, एव मकरादिलक्षणापत्तिः, तावताप्यन्वयानुपत्तिपरिहारात्, 'गंगायां पापी गच्छति' इत्यादौ गंगादिपदस्य नरके लक्षणापत्तेश्च। अस्माकं तु भूतपूर्वपापावच्छिन्नलक्षकत्वे तात्पर्यान्न दोषः।'

(उद्योत, बालबोधिनी में उद्धृत पृ० ४२)

१. बालबोधिनी, पृ० ४१

२. 'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥'

(काव्यप्रकाश, कारिका, २-१०)

का उदाहरण है। मम्मट लिखते हैं कि उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा दोनों प्रकार की लक्षणा शुद्धा कहलाती है क्योंकि ये दोनों उपचार सम्बन्ध से मिश्रित नहीं है। अन्त में मम्मट ने मुकुलभट्ट के मत का खण्डन किया है। इस प्रकार मम्मट ने शुद्धा-लक्षणा के भेदों की चर्चा की है।

संकेत—माणिक्यचन्द्र ने स्पष्ट किया है कि लक्षणा के दो भेद हैं—१. शुद्धा २. उपचार-मिश्रा। उपचार-मिश्रा से अभिप्राय गौणी लक्षणा से है। पुन: शुद्धा के दो भेद हैं—१. उपादान लक्षणा, २. लक्षण-लक्षणा। संकेतकार ने यह स्पष्ट किया है कि ये भेद 'प्रयोजनवती' लक्षणा के हैं 'रूढि' के नहीं हैं। कारण स्पष्ट करते हुए माणिक्यचन्द्र लिखते हैं 'रूढितस्तु या लक्षणा सा लोके प्राचुर्यं गतेति न तस्या नैयत्यम्'। जिस प्रकार अभिधा के भेद नहीं होते उसी प्रकार रूढ़ि-लक्षणा के भी नहीं होते।

आचार्य मम्मट की भांति माणिक्यचन्द्र ने भी मीमांसकों के 'गौरनुबन्ध्य:' और 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' उदाहरण में उपादान-लक्षणा मानने का खण्डन किया है। आचार्य मम्मट ने किसी भी मीमांसक आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है परन्तु माणिक्यचन्द्र ने मुकुलभट्ट का नामनिर्देश किया है कि ये दोनों (उपर्युक्त) उदाहरण मुकुलभट्ट के हैं।

शुद्धा-लक्षणा और गौणी-लक्षणा का अन्तर स्पष्ट करते हुए माणिक्यचन्द्र का कथन है कि 'गंगायां घोष:' शुद्धा-लक्षणा के उदाहरण में 'अभेद प्रतिपत्ति-पूर्वक अभेद' है और 'गौर्वाहीक' गौणी-लक्षणा के उदाहरण में 'भेद-प्रतिपत्ति-पूर्वक अभेद' है।[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने शुद्धा लक्षणा के भेदों की चर्चा करने से पूर्व लक्षणा के भेदों-उपभेदों का संक्षिप्त परिचय दिया है। सर्वप्रथम लक्षणा के दो भेद है—१. उपादान-लक्षणा, २. लक्षण-लक्षणा। इनके सारोपा और साध्यवसाना दो-दो भेद हैं। इस प्रकार शुद्धा के चार भेद हुए। गौणी के दो भेद हैं—१. सारोपा, २. साध्यवसाना।[2] यद्यपि मम्मट और गोविन्द ठक्कुर के लक्षणा भेदों में अन्तर है परन्तु इसकी विस्तृत चर्चा 'लक्षणा तेन षड्विधा' सूत्र की व्याख्या में की जाएगी।

शुद्धा लक्षणा के भेदों की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि 'स्वार्थापरित्यागेन परार्थलक्षणमुपादानमित्यर्थ:' उपादान का लक्षण है

---

१. संकेत, पृ० १८-१९

२. काव्यप्रदीप, पृ० २८

अर्थात् जहाँ कोई शब्द अपने अर्थ का त्याग न करता हुआ अन्वयसिद्धि के लिए दूसरे अर्थ को उपस्थित करता है। लक्षण-लक्षणा का अर्थ है 'स्वार्थपरित्यागेन परार्थोपस्थापनं लक्षणम्' अर्थात् जहाँ कोई शब्द अपने अर्थ को त्यागकर अन्य अर्थ का उपलक्षक मात्र हो जाता है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि अन्यत्र उपादान-लक्षणा को 'अजहत्स्वार्था' और 'लक्षण-लक्षणा' को 'जहत्स्वार्था' भी कहते हैं। यहाँ 'अन्यत्र' से अभिप्राय वैयाकरणों से है। इस प्रकार 'स्वार्थापरि-त्यागेन' और 'स्वार्थपरित्यागेन' के द्वारा उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा का भेद कथन किया है। गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि ये दोनों भेद (उपादान, लक्षण) उपाधि के द्वारा शुद्धा के ही हैं गौणी के नहीं। परन्तु गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि अन्यत्र न केवल शुद्धा के अपितु गौणी के भी उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा भेद संभव हैं। यहाँ अप्रत्यक्ष रूप में आचार्य विश्वनाथ की चर्चा है। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में 'गौणी-लक्षणा' के उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा भेद माने हैं। परन्तु गोविन्द-ठक्कुर ने गौणी के इन भेदों का खण्डन किया है। प्रदीपकार का अभिप्राय है कि सादृश्य भेद गर्भ होता है और उपादान-लक्षणा में शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ में उपादान होता है भेद नहीं रहता। इस दृष्टि से सादृश्य में भेद-प्रतीति होने के कारण उपादान-लक्षणा नहीं होगी क्योंकि जहाँ सादृश्य होता है वहाँ भेद होता है। इसलिए गौर्वाहीक आदि उदाहरणों में यदि सादृश्य सम्बन्ध है तो भेद है। इसके विपरीत उपादान-लक्षणा में शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ में भेद नहीं रहता। इस दृष्टि से उपादान-लक्षणा मानने पर सादृश्य सम्बन्ध अस्वीकार करना पड़ेगा, सादृश्य सम्बन्ध मानने पर उपादान-लक्षणा नहीं बन पाएगी। अतः उपादान-लक्षणा सादृश्येतर सम्बन्ध पर आधारित शुद्धा के भेद हैं गौणी के नहीं।[1]

'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'यष्टयः प्रविशन्ति' गोविन्द ठक्कुर ने उपादान-लक्षणा के उदाहरण माने हैं। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' भी उपादान-लक्षणा का उदाहरण माना है।

गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भांति मीमांसकों के 'गौरनुबन्ध्यः' उदाहरण का खण्डन किया है। मीमांसकों ने 'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादि स्थल पर उपादान-लक्षणा मानी है उनके अनुसार 'गौ' शब्द का मुख्यार्थ गोत्व जाति है। वेद में जब गौ के आलम्भन का विधान किया है तो गोत्व जाति सोचती है कि वेद

१. काव्यप्रदीप, पृ० २६

में विहित यह आलम्भन मेरा कैसे हो सकता है, तब इन दोनों अर्थों की संगति बैठाने के लिए लक्षणा शक्ति का सहारा लेना पड़ता है और इसका अर्थ गो-जाति न लेकर गोत्व विशिष्ट गो व्यक्ति लिया जाता है। गो व्यक्ति को शब्द से नहीं कहा जाता क्योंकि यह नियम है 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे।'

मीमांसक के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि यहाँ लक्षणा के तृतीय-हेतु रूढ़ि या प्रयोजन का अभाव है। वस्तुतः यहाँ जाति से व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है क्योंकि 'व्यक्ति विना तस्या अभावात्। जैसे 'क्रियताम्' के द्वारा कर्त्ता का, 'कुरू' के द्वारा 'कर्म' का आक्षेप होता है।

'अपरे तु' से गोविन्द ठक्कुर ने 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि स्थल पर उपादान-लक्षणा मानने वाले मीमांसकों का खण्डन किया है। मीमांसकों के अनुसार 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' वाक्य में पीनत्व की सार्थकता सिद्ध करने के लिए 'रात्रि' में खाता है इस अर्थ का उपादान से ग्रहण करना पड़ता है। अतः यह उपादान-लक्षणा है। मम्मट की भांति उपादान-लक्षणा का खण्डन करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि यहाँ 'श्रुतार्थापत्ति' या 'अर्थापत्ति' है। 'शब्दाध्याहारनये श्रुतार्थापत्तेः अर्थाध्याहारनयेऽर्थापत्तेरेव रात्रिभोजनप्रत्ययेन लक्षणानङ्गीकारात्' अर्थात् श्रुतार्थापत्ति को 'शब्दाध्याहार' भी कहा जाता है जिसका अभिप्राय है कि शब्द अनुपन्न होकर अन्य शब्द की कल्पना करता है और उस शब्द या वाक्य से अर्थबोध होता है। 'अर्थापत्ति' को 'अर्थाध्याहार' भी कहते हैं। जहाँ दृष्ट या श्रुत अर्थ अनुपपन्न होकर अन्य अर्थ की कल्पना कहता है यही अर्थापत्ति है। अतः यहाँ रात्रि भोजन की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं होती है अपितु यह श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति का विषय है।[1]

लक्षण-लक्षणा का उदाहरण 'गंगायां घोषः' है। लक्षण-लक्षणा में दूसरे अर्थ के लिए परित्याग किया जाता है जैसे—'गंगायां घोषः' में गंगा शब्द तट रूप अर्थ का वोध कराने के लिए वाच्य अर्थ प्रवाह को छोड़ देता है।[2]

शुद्धा लक्षणा के भेदों की चर्चा करने के पश्चात् मम्मट का कथन है—'उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्।' इसी आधार पर मुकुलभट्ट के

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३०

२. वही, पृ०

ताटस्थ्य सिद्धान्त का खण्डन किया है।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने भी मम्मट की भांति माना है कि गौणी में उपचार का मिश्रण होता है, शुद्धा में नहीं। अतः उपादान-लक्षणा और लक्षणा-लक्षणा दोनों शुद्धा के अदाहरण हैं। 'उपचार' शब्द से अभिप्राय है 'उपाचारश्च सादृश्यसम्बन्धेन प्रवृत्तिः। सादृश्यातिशयमहिम्नाभिन्नताप्रतीतिस्थगनं वा' अर्थात् सादृश्य सम्बन्ध से शब्द प्रयोग उपचार है अथवा सादृशतातिशय के कारण परस्पर भिन्न दो वस्तुओं के भेद की प्रतीति का स्थगित होना ही उपचार है। अतः शुद्धा-लक्षणा के भेदों में यह संभव नहीं 'न चोक्तयोस्तत्सं-भवः।'

गोविन्द ठक्कुर ने दो आचार्यों के मत का उल्लेख किया है। 'केचित्पुन-राचक्षते' से प्रथम मत की चर्चा की है। किसी के अनुसार उपचार का अमिश्रण और मिश्रण शुद्धा और गौणी का अन्तर नहीं है अपितु भेद-प्रतीति रूप ताटस्थ्य है। 'गौर्वाहीक' (गौणी-सारोपा), 'गौरयम्' (गौणी-साध्सवसाना) में भेद होते हुए भी मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में अभेद प्रतीति है।'[2] अभिप्राय यह है कि शुद्ध और गौणी का अन्तर भेद-अभेद के आधार पर है, उपचारामिश्र-उपचार-मिश्र के आधार पर नहीं।

गोविन्द ठक्कुर ने यहां किसी भी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है कि यह मत किस आचार्य का है। वस्तुतः आचार्य मुकुलभट्ट का यह मत है जिसका आचार्य मम्मट ने खण्डन किया है। मम्मट ने यद्यपि मुकुलभट्ट का मत उद्धृत नहीं किया है परन्तु उन्होंने खण्डन करते हुए विवेचन किया है उससे यही प्रतीत होता है कि आचार्य मुकुलभट्ट के ताटस्थ्य सिद्धान्त का खण्डन किया गया है।

'अन्ये तु' से गोविन्द ठक्कुर ने दूसरे मत की चर्चा की है। किसी अन्य के अनुसार 'गंगायां घोषः' (लक्षण-लक्षणा), 'यष्टीः प्रवेशय' (उपादान लक्षणा) इन दोनों में परस्पर भेद का हेतु तटस्थता है। 'गंगायां घोषः' में तटस्थता है, 'यष्टी प्रवेशयः' में तटस्थता का अभाव है।[3] गोविन्द ठक्कुर ने 'तदुभयमप्य-सत्' से दोनों मतों का खण्डन किया है। उपर्युक्त आचार्यों के मतों का खण्डन करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने विस्तृत चर्चा की है। वे लिखते हैं कि गंगा आदि

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ६३

२. काव्यप्रदीप, पृ० ३०

३. काव्यप्रदीप, पृ० ३०

पदों से तीर आदि बताने पर गंगा में स्थित पवित्रता रूप प्रयोजन का ज्ञान होता है। तट की गंगात्व के रूप में प्रतीति होती है तभी गंगा में स्थित पवित्रता (पावनत्वादि) की प्रतीति होती है। गंगा के मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में भेद की प्रतीति नहीं होती अपितु गंगा का तट से अभेद है। अत: प्रदीपकार का यह कथन है 'तत्र गङ्गात्वादितितीरे एव बीजम्। न तु तीरत्वादिप्रतिति-रेव। 'तीरे घोषः इत्यत्रापि तत्प्रतीतिप्रसङ्गात्।'

यदि यह कहा जाए कि गंगा शब्द से तट बताने में वहाँ गंगा सम्बन्ध ही प्रतीत होता है वह ही उसका बीज है। गोविन्द ठक्कुर कहते हैं कि यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि यदि गंगा और तट में अभेद प्रतीति न हो तो 'गंगायां घोष:' का वही अर्थ होगा जो 'गंगातटे घोष:' का। तब फिर 'गंगातटे घोष:' इस मुख्य शब्द प्रयोग से लक्षणा के प्रयोग में कोई अन्तर नहीं होता और लक्षणा के प्रयोग में कोई विशेषता नहीं होती। यदि यह कहा जाए कि बाधा होने पर गंगा शब्दादि से गंगात्वादि तीर में जाना जाता है। इस पर कहते हैं शब्द से लक्ष्य अर्थ बताने पर उसमें मुख्यता अभेद व्यंजना से बताया जाता है। अत: इस प्रकार कहा जाता है 'तटादीनां गंगादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसंप्रत्यय:' अर्थात् तटादि का गंगा शब्द से प्रतिपादन करने पर अभेद ज्ञान हो जाने पर प्रयोजन का ज्ञान होता है। यहाँ प्रतिपादन में सप्तमी होने से ज्ञान की अनन्तरता जानी जाती है।

गोविन्द ठक्कुर ने आगे आने वाले सूत्रों की चर्चा भी की है सारोपा और साध्यावसाना इन गौणी-भेदों के भेद में भी अभेद का ज्ञान और सर्वथा अभेद की प्रतीति फल है। 'योगः फलेन नो' सूत्र में स्पष्ट किया है कि बाधित हुआ ही पावनत्व आदि विशेष तट आदि में प्रतीत होता है।[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने मुकुलभट्ट के 'ताटस्थ्य' सिद्धान्त का खण्डन किया है।

शुद्धा-लक्षणा के भेदों के पश्चात् मम्मट ने 'सारोपा' और 'साध्यवसाना' भेदों की चर्चा की है जो शुद्धा और गौणी दोनों के भेद हैं। जिस लक्षणा में विषयी और विषय दोनों अपने-अपने रूप में कहे जाते हैं वह एक सारोपा लक्षणा है। जहाँ विषयी के द्वारा अन्य अर्थात् आरोप के विषय को अपने

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३१

भीतर लीन कर लिया जाता है वह साध्यवसानिका लक्षणा है ।[1]

मम्मट स्पष्ट करते हैं कि लक्षणा के ये दोनों भेद सादृश्य रूप सम्बन्ध से हों तो गौणी तथा अन्य सम्बन्धों से हों तो शुद्धा-लक्षणा समझनी चाहिए ।

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने सारोपा और साध्यवसाना को मम्मट की भांति ही स्पष्ट किया है । परन्तु संकेतकार लिखते हैं कि रूपक अलंकार का बीज गौणी सारोपा है और रूपकातिशयोक्ति का साध्यवसाना ।[2]

सारबोधिनी—'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने 'सारोपाऽन्या' में 'अन्या' का अभिप्राय शुद्धा और गौणी से दिया है ।[3]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'सारोपाऽन्या' में अन्या से अभिप्राय गौणी-लक्षणा से दिया है । प्रदीपकार लिखते हैं कि 'सारोपा' और 'साध्यवसाना' लक्षणा के अन्य भेद हैं जो उपादान और लक्षण-लक्षणा से भिन्न हैं । 'आरोप' का अर्थ है विषय और विषयी को पृथक्-पृथक् प्रस्तुत करना । 'सारोपा लक्षणा' वहां होती है जहाँ विषयी-आरोप्यमाण गौ आदि तथा विषय वाहीकादि का भेद छिपाया नहीं जाता है, दोनों का सामानाधिकरण रूप में निर्देश किया जाता है । सारोपा-लक्षणा का उदाहरण 'गौर्वाहीकः' है ।[4]

साध्यवसाना का अर्थ है 'विषयी द्वारा विषय को छिपा लेना । साध्यवसाना लक्षणा में विषयी का निर्देश होता है विषय का नहीं ।[5]

गोविन्द ठक्कुर ने जो 'सारोपाऽन्या' में 'अन्या' से अभिप्राय 'गौणी' से दिया है, गजेन्द्र गद्कर ने इसकी आलोचना की है । वे लिखते हैं कि प्रस्तुत कारिका में मम्मट ने 'गौणी' की चर्चा नहीं की है केवल लक्षणा के दो विभिन्न भेदों की चर्चा की है । 'भेदाविमौ च···विज्ञेयौ' कारिका में शुद्धा और गौणी लक्षणा की चर्चा की है । 'अन्या' का अभिप्राय प्रदीपकार ने यहाँ गौणी से

---

१. सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।
विषयन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका ।। (काव्यप्रकाश २-११)

२. 'उपमानोपमेयभावस्य विद्यमानत्वात् । रूपकालंकृतेर्बीजम् । यत्र त्वारोप्येण गवादिना निगीर्णतयाऽऽरोपविषयस्य वाहीकादेः प्रतीतिस्तत्र साध्यवसाना । इयमतिशयोक्तेर्बीजम् । (संकेत, पृ० २०)

३. अन्या शुद्धा गौणीचेत्यर्थः ।' (सारबोधिनी, पृ० ३२)

४. काव्यप्रदीप, पृ० ३१

५. काव्यप्रदीप, पृ० ३२

दिया है तो इसका अर्थ है कि गोविन्द ठक्कुर को सारोपा और साध्यवसाना भेद गौणी के मान्य है शुद्धा के नहीं। अतः प्रदीपकार का यह कथन स्वीकार करने योग्य नहीं है।[१]

गजेन्द्र गद्कर की प्रदीपकार के प्रति उपर्युक्त आलोचना उचित प्रतीत नहीं होती है। मम्मट के विवेचन को देखने से ज्ञात होता है कि मम्मट ने गौणी-लक्षणा की चर्चा बहुत बाद में की है। मम्मट ने 'स्वसिद्धये' कारिका (१३) में उपादान और लक्षण का स्वरूप स्पष्ट किया और वहाँ 'शुद्धैव सा द्विधा' द्वारा इस बात का स्पष्ट संकेत दिया कि यह भेद शुद्धा के ही हैं। 'उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्' में भी मम्मट ने शुद्धा की ही चर्चा की है। अतः 'सारोपाऽन्या' और 'विषय्यन्तः' सूत्र (१४, १५) में मम्मट सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा का स्वरूप कथन किया है और 'भेदाविमौ च' सूत्र में शुद्धा और गौणी की चर्चा की है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर के विवेचन में ऐसा नहीं है। उन्होने आरम्भ से ही शुद्धा के साथ-साथ गौणी का नामोल्लेख भी किया है। सर्वप्रथम गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि लक्षणा के दो भेद हैं— १. शुद्धा, २. गौणी। शुद्धा और गौणी दोनों के सारोपा और साध्यवसाना दो-दो भेद हैं। उपादान और लक्षण लक्षणा भेदों की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ भी यह स्पष्ट किया कि ये दोनों शुद्ध के ही भेद हैं गौणी के नहीं। अतः 'सारोपाऽन्या' सूत्र की व्याख्या में गोविन्द ठक्कुर ने 'अन्या' का अर्थ 'गौणी' से लेकर यह स्पष्ट कर दिया कि सारोपा और साध्यवसाना भेद गौणी के भी हैं। मम्मट के विवेचन से यह भ्रान्ति हो सकती है कि सारोपा और साध्यवसाना भेद शुद्धा के ही हैं क्योंकि मम्मट अभी तक शुद्धा का ही विवेचन कर रहे हैं। परन्तु गोविन्द ठक्कुर की चर्चा से यह

---

१. 'This is incorrect. In Karika 6 Mammata makes no reference to गौणी. Here he just defines two more varieties of लक्षणा and then in the next karika tells us these two vearieties are both गौण and शुद्ध. If अन्या is here interpeted as गौणी as the Pradipa does, it would suggest that शुद्धा does not possess these divisions सारोप and साध्यवसानिक which is not true. Therefore the interpretation of Pradipa must be rejected.' (The Kavyaprakasa, Notes. p. 200)

स्पष्ट हो जाता है कि सारोपा और साध्यवसाना गौणी के भी भेद हैं। यहाँ प्रदीपकार का 'अन्या' का अर्थ है 'गौणी के भी' है। अतः गजेन्द्र गद्कर का यह कथन उचित नहीं कि यहां अन्या से गोविन्द ठक्कुर को 'सारोपा' और 'साध्यवसाना' शुद्धा के भेद मान्य नहीं। गोविन्द ठक्कुर ने तो प्रारम्भ में ही यह माना है कि सारोपा और साध्यवसाना गौणी और शुद्धा दोनों के भेद हैं।

'गौर्वाहीकः' गौणी-लक्षणा का उदाहरण है।

'भेदाविमौ··· ··विज्ञेयौ' सूत्र का स्पष्टीकरण गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भांति किया है कि जहाँ सादृश्य संबंध हो वहां गौणी सारोपा-साध्यवसाना लक्षणा होती है। जहाँ सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध हो वहाँ शुद्धा सारोपा-साध्यवसाना होती है। गौणी-सारोपा का उदाहरण है 'गौर्वाहीकः' एवं गौणी साध्यवसाना का उदाहरण है 'गौरयम्'।

गौर्वाहीक में लक्षणा

गौर्वाहीक में लक्षणा कैसे कार्य करती है। इस विषय में मम्मट ने तीन मत दिए हैं—

१. 'अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणाः जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणाः अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित्।'

२. 'स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते, न तु परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये।'

३. 'साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे।'

मम्मट ने तीनों मतों की चर्चा में किसी भी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है। केवल 'केचित्' 'इत्यन्ये' 'इत्यपरे' से तीनों मतों का उल्लेख किया है। तृतीय-मत की चर्चा करते हुए मम्मट ने 'तन्त्रवार्तिक' की कारिका उद्धृत की है 'अभिधेय...गौणता।'[1]

संकेत--माणिक्यचन्द्र ने संकेत' टीका में प्रथम मत में लक्षणा की चार अवस्थाओं की चर्चा की है १. सामानाधिकरण्यबाध, २. गोगतगुणलक्षणा ३. वाहीकगतगुण लक्षणा, ४. गो शब्देन वाहीक लक्षणा। द्वितीय-मत में लक्षणा की तीन अवस्थायें मानी हैं - १. मुख्यार्थबाध, २. स्वार्थसहचारिगुण-लक्षणा, ३. वाहीकस्थगुणलक्षणा। द्वितीय मत को माणिक्यचन्द्र ने मुकुलभट्ट

---

१. अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता। (काव्यप्रकाश, पृ० ६९)

से मिलता-जुलता माना है ।[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने उपर्युक्त मतों की चर्चा करते हुए संकेतकार की भांति लक्षणा की अवस्थाएं नहीं मानी हैं । प्रथम मत की चर्चा करते हुए प्रदीपकार लिखते हैं कि किसी के अनुसार 'केचित्' गो शब्द के अपने अर्थ के सहचारी जाड्यमान्द्य आदि गुण लक्षणा द्वारा प्रतीत होते हैं और लक्षणा द्वारा बोधित जाड्यमान्द्य आदि गुण गो शब्द के द्वारा वाहीक अर्थ को अभिधा से बोधित करने में प्रवृत्ति-निमित्त बन जाते हैं ।[2] अभिप्राय यह है कि –१. पहले अभिधा से गौ का बैल अर्थ होता है, २. फिर वाच्यार्थ से सम्बद्ध उसके सहचारी गुण जड़ता, मन्दता आदि का बोध लक्षणा से होता है, ३. ये गुण वाहीक में भी पाए जाते हैं । अत: वाहीक को व्यक्त करने में पुनः अभिधा शक्ति कार्य करती है । इस प्रकार अभिधा, लक्षणा और अभिधा के क्रम से शब्द की शक्तियां गो शब्द से वाहीक अर्थ की सिद्धि करती हैं ।

गोविन्द ठक्कुर ने 'तदयुक्तम्' से इस मत का खण्डन किया है वे लिखते हैं कि जाड्यादि गुण तो लक्ष्य हैं वे शक्य नहीं अत: वे शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त नहीं हो सकते । सिद्धान्त के अनुसार वाच्यार्थ ही प्रवृत्ति रूप हो सकता है, लक्ष्यार्थ नहीं । दूसरा गौ शब्द का संकेत वाहीक में नहीं हो सकता क्योंकि इसका क्रम अभिधा, लक्षणा, अभिधा बताया है इसमें दूसरी बार अभिधा व्यापार का होना संभव नहीं है । अत: यह मान्य नहीं ।[3]

द्वितीय मत की चर्चा 'अपरे तु' से की है । किसी के अनुसार 'गौ आदि शब्द से वाहीक का प्रतिपादन नहीं होता । किन्तु गोत्व के साथ रहने वाले जाड्यादि गुणों की अभिन्नता के कारण वाहीक में रहने वाले जाड्यादि गुणों में लक्षणा होती है ।' इस मत को भी अनुचित मानते हुए प्रदीपकार लिखते हैं 'गौर्वाहीकः' में सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता ।[4]

तृतीय मत के अनुसार 'साधारण गुण जाड्यमान्द्यादि का आश्रय होने के कारण वाहीक का ही लक्षणा द्वारा बोध होता है इस प्रकार 'जाड्यादिगुण-विशिष्टो वाहीकः' यह वाक्यार्थ बोध होता है ।'[5] गोविन्द ठक्कुर ने इस मत

---

१. मुकुलस्त्वेवमाह—यथा गोशब्दः स्वसादृशवाहीकगतजाड्यादिगुणांल्लक्षयित्वा वाहीकं लक्षयति । (संकेत, पृ० ३४)

२., ३. काव्यप्रदीप, पृ० ३२

४. काव्यप्रदीप, पृ० ३३

५. वही,

का खण्डन नहीं किया है। मम्मट की भांति तन्त्रवार्तिक की कारिका उद्धृत की है जिसका अभिप्राय है कि जहाँ लक्ष्यार्थ के जाड्यादि गुणों के सम्बन्ध से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ गौणी-वृत्ति होती है । 'अविनाभाव' का अर्थ सम्बन्ध-मात्र है, व्याप्ति नहीं। 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में इसका अभाव है अर्थात् व्याप्ति रूप अर्थ लेने से 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में लक्षणा नहीं हो सकती। यदि व्याप्ति रूप सम्बन्ध मानें तो आक्षेपादि अर्थात् अनुमान या अर्थापत्ति द्वारा लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो जाएगी फिर लक्षणा मानने की क्या आवश्यकता है।[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भांति बिना नामोल्लेख किए तीन आचार्यों के मत की विवेचना की है। मम्मट ने तीनों मतों का उल्लेख किया है, किसी का खण्डन नहीं किया है। अतः यह स्पष्ट नहीं होता कि मम्मट का अभिप्रेत मत कौन-सा है। गोविन्द ठक्कुर ने तीनों मतों की चर्चा करते हुए प्रथम दो मतों का 'तदयुक्तम्' और 'तदप्यसम्यक्' से खण्डन किया है। अतः तृतीय मत ही गोविन्द ठक्कुर की दृष्टि से स्वीकार करने योग्य है।

गौर्वाहीक में लक्षणा कैसे कार्य करती है ? इसका विवेचन करने के पश्चात् गोविन्द ठक्कुर ने शुद्धा और गौणी के अन्य भेदों की चर्चा की है।

सादृश्य से भिन्न जहां कार्यकारणभावादि सम्बन्ध होते हैं वहाँ सारोपा तथा साध्यावसाना शुद्धा लक्षणा होती है। जैसे शुद्धा-सारोपा— आयुर्घृतम्' और शुद्धा साध्यवसाना – 'आयुरेवेदम्।'[2]

सारोपा तथा साध्यवसाना लक्षणा गौणी और शुद्धा के भेद से दो-दो प्रकार की कही गई है। इन चारों भेदों के क्या-क्या प्रयोजन हैं इसका विवेचन किया गया है। गौणी-सारोपा का प्रयोजन है 'भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः' अर्थात् विषय तथा विषयी में एकरूपता की प्रतीति कराना। गौणी-साध्यवसाना का प्रयोजन है 'सर्वथैवाभेदावगमः प्रयोजनम्' अर्थात् विषय तथा विषयी में अभेद की प्रतीति कराना। शुद्धा-सरोपा का प्रयोजन है 'अन्यवैलक्षण्येन कार्यकारित्वादेः' अर्थात् अन्य की अपेक्षा विलक्षण कार्य करने की शक्ति का बोध कराती है। शुद्धासाध्यवसाना का प्रयोजन है 'त्वव्यभिचारेण कार्यकारित्वादेः प्रतीतिः फलम्' अर्थात् अव्यभिचार द्वारा कार्य करने की शक्ति आदि की प्रतीति कराना।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३३

२. काव्यप्रदीप, पृ० ३५

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'तदुभयं चाभेदप्रतीतिपूर्वकमित्युक्तम्' अर्थात् गौणी और शुद्धा दोनों में अभेद की प्रतीति होती है। गौणी में अभेद प्रतीति का उल्लेख इसी प्रसंग में किया है अत्र गौणभेदे सारोपे ताद्रूप्यप्रतीतिः। साध्यवसाने सर्वथैवाभेदावगमः।' शुद्धा-लक्षणा में अभेद प्रतीति (अनयोः न••• ताटस्थ्यम् वृत्ति) में मुकुलभट्ट के ताटस्थ्य सिद्धान्त के खण्डन में स्पष्ट की है।

गौणी और शुद्धा दोनों में अभेद-प्रतीति को देखते हुए यह शंका उत्पन्न होती है कि तब तो शुद्धा और गौणी में अन्तर क्या रह जाएगा। इसका उत्तर है कि गौणी में केवलमात्र अभेद प्रतीति होती है परन्तु शुद्धा में अभेद प्रतीति होने पर विलक्षण कार्यकारित्व आदि अन्य प्रयोजनों की भी प्रतीति होती है।

इसके अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों से भी शुद्धा-लक्षणा होती है। जैसे तादर्थ्य सम्बन्ध से 'इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः।

कहीं सेवक और स्वामी रूप सम्बन्ध से 'राजकीयः पुरुषो राजा।'

कहीं अवयव-अव्यविभाव रूप सम्बन्ध से 'अग्रहस्तः'। यहाँ कर्मधारय-समास है। अग्रभाग में हस्त शब्द का प्रयोग है।

कहीं 'तात्कर्म्य', सम्बन्ध जैसे 'अतक्षा, तक्षा' अर्थात् बढ़ई न होने पर भी बढ़ई के कार्य में निपुण होने से तक्षा कहा जाता है।[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की लक्षणा सम्बन्धी कारिकाओं का विशद विवेचन कर, उनकी भ्रान्तियों का निराकरण भी किया है। 'लक्षणा' के स्वरूप विवेचन में आचार्य विश्वनाथ के मत का खण्डन करते हुए नैयायिक शैली से 'लक्षणा' का विवेचन किया है।

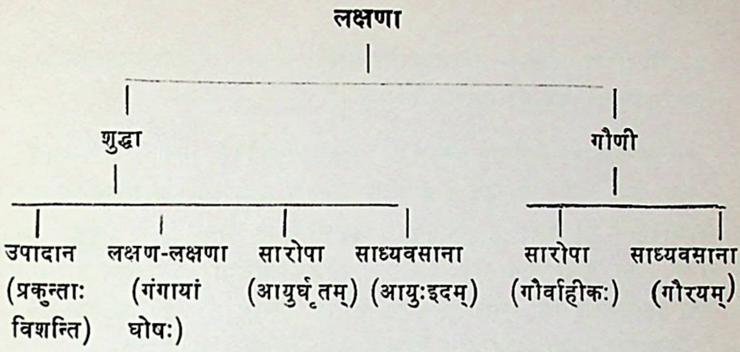
'लक्षणा' शक्ति का विवेचन करने के पश्चात् मम्मट ने 'लक्षणा तेन षड्विधा' कारिका में लक्षणा के ६ प्रकारों की चर्चा की है। अब तक किए गए विवेचन के आधार पर लक्षणा के ६ प्रकार हैं। ये ६ प्रकार कौन से हैं इस विषय में व्याख्याकारों और टीकाकारों के विभिन्न मत हैं।

मम्मट के अनुसार लक्षणा के ६ प्रकार हैं—सर्वप्रथम मम्मट ने लक्षणा के दो भेद माने हैं—१. शुद्धा, २. गौणी। शुद्धा के चार प्रकार माने—१. उपादान-लक्षणा, २. लक्षण-लक्षणा, ३. सारोपा-लक्षणा, ४. साध्यवसाना लक्षणा। गौणी के दो भेद माने—१. सारोपा, २. साध्यवसाना। इस प्रकार मम्मट ने ६ भेद किए हैं।[2]

---

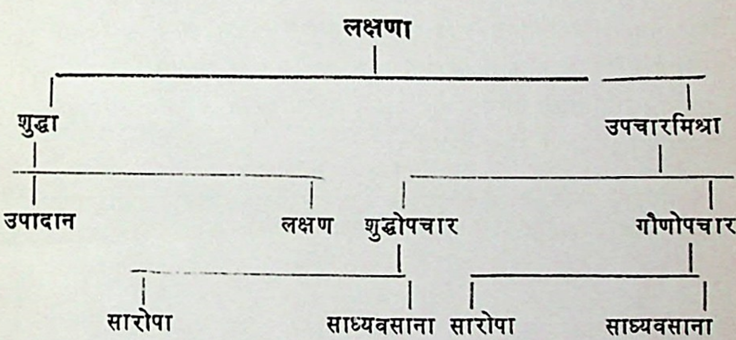
१. काव्यप्रदीप, पृ० ३५

२. काव्यप्रकाश, पृ० ७३



आचार्यों एवं टीकाकारों के इस सम्बन्ध में विभिन्न मत इस प्रकार हैं—

मुकुलभट्ट के अनुसार लक्षणा के ६ भेद हैं—



आचार्य विश्वनाथ ने लक्षणा के ८० भेद माने हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में मम्मटकृत विभाजन को ही अपनाया है। उन्होंने लक्षण-लक्षणा के स्थान पर जहत्स्वार्था और उपादान के स्थान पर अजहत्स्वार्था का प्रयोग किया है।

टीकाकारों की दृष्टि से

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने मुकुलभट्ट के वर्गीकरण का अनुकरण किया है। माणिक्यचन्द्र ने स्पष्टतः मुकुलभट्ट का नामोल्लेख भी

किया है ।[१]

बालचित्तानुरंजनी—'बालचित्तानुरंजनी' टीका में नरहरिसरस्वतीतीर्थ ने मम्मटकृत विभाजन का समर्थन किया है ।[२]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर का लक्षणा-विभाजन मम्मट से भिन्न है । लक्षणा के ६ भेद कौन-कौन से है इसका उल्लेख प्रदीपकार ने लक्षणा-विवेचन के आरंभ में ही किया है—प्रथमतः लक्षणा के दो भेद हैं—१. शुद्धा, २. गौणी । पुनः शुद्धा के दो भेद हैं—१. उपादान-लक्षणा, २. लक्षण-लक्षणा । उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा भी दो प्रकार की है—सारोपा और साध्यवसाना । इस प्रकार शुद्धा के चार भेद और गौणी के दो भेद हैं ।[३]

अतः मम्मट का 'आद्यभेदाभ्यां सह' लिखने का अभिप्राय है—लक्षणा के पहले कहे गए उपादान-लक्षणा और लक्षणलक्षणा शुद्धा के भेद से है । गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ यह भी स्पष्ट किया है कि रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद नहीं माने जा सकते क्योंकि इससे 'लक्षणा तेन षड्विधा' यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता । वस्तुतः 'रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्' में आचार्य मम्मट ने लक्षण के हेतु की चर्चा की है, लक्षणा का भेद नहीं बताया । व्यंजना की दृष्टि से भेद मम्मट ने 'व्यङ्ग्येन रहिता रूढ़ौ सहिता तु प्रयोजने ।' सूत्र में स्पष्ट किए हैं ।

गोविन्द-ठक्कुर के इस लक्षणा के ६ प्रकारों को तालिका द्वारा इस प्रकार स्पण्ट किया जा सकता है[४]—

---

१. 'सा च द्विविधा । शुद्धोपचारमिश्रा च । तत्र शुद्धाऽपि द्विधेत्याह । शुद्धां द्विधोक्तोपचारमिश्रा ।''' उपसंहारे । संक्षेपेणैवात्र लक्षणाविचारः कृतः । विस्तरेण तु मुकुलादिरचितमातृकादिग्रन्थेभ्यो ज्ञेयः । (संकेत, पृ० २०, २४)

२. तेन षड्विधा उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, गौणी-सारोपा, गौणी-साध्यवसाना, शुद्धा सारोपा, शुद्धा साध्यवसना चेति ।'
(बालचित्तानुरञ्जनी, पृ० ३५)

३. काव्यप्रदीप, पृ० २८

४. काव्यप्रदीप, पृ० ३६

- लक्षणा
  - शुद्धा
    - उपादान लक्षणा
      - सारोपा उ. ल. (कुन्ताः पुरुषाः प्रविशन्ति
      - साध्यवसाना उ. ल. (कुन्ताः प्रविशन्ति)
    - लक्षण-लक्षणा
      - सारोपा ल० (आयुर्घृतम्)
      - साध्यवसाना ल. (आयुरेवेदम्)
  - गौणी
    - सारोपा (गौर्वाहीकः)
    - साध्यवसाना (गौरयम्)

मम्मट के भेदों में और गोविन्द ठक्कुर के भेदों में अधिक अन्तर नहीं है। मम्मट ने सारोपा और साध्यवसाना को शुद्धा के भेद माना परन्तु गोविन्द-ठक्कुर ने उपभेदों (उपादान तथा लक्षण-लक्षणा) के भेद माने हैं।

गोविन्द ठक्कुर ने इस प्रसंग में चण्डीदास की चर्चा की है और उसका खण्डन किया है - प्रदीपकार लिखते हैं कि चण्डीदास ने रूढ़ि-प्रयोजन-उपादान-लक्षण-आरोप-साध्यवसान रूप उपाधियों से ६ विधा होने के कारण लिखा है 'लक्षणा तेन षड्विधा'।[1] गोविन्द ठक्कुर खण्डन करते हुए लिखते हैं 'शुद्धैव सा द्विधा, सारोपाऽन्या तु 'इति एव तु शब्दयोरनालोचनविजृम्भितत्वादनादेयम्।' अभिप्राय यह है कि यदि चण्डीदास का मत मानें और गौणी के भी उपादान-लक्षण और लक्षण-लक्षणा भेद स्वीकार करें तो 'शुद्धैव सा द्विधा' यह कहना असंगत हो जाएगा क्योंकि 'एव' शब्द का अभिप्राय है कि उपादान और लक्षण-लक्षणा केवल शुद्धा के ही भेद हैं गौणी के नहीं। इसके अतिरिक्त 'सारोपाऽन्या' में 'अन्या' से अभिप्राय प्रदीपकार ने गौणी लक्षणा से लिया है। 'अन्या अर्थाद्गौणी आरोपाध्यवसनाभ्यां भिद्यते, न तूपादानलक्षणाभ्यामिति तु शब्दार्थः।' अतः चण्डीदास का मत स्वीकार करने से 'तु' शब्द प्रयोग भी व्यर्थ हो जाएगा।

उद्योत—नागेश भट्ट ने 'लक्षणा तेन षड्विधा' प्रसंग में बताया है कि लक्षणा के भेद काव्य के भेदों के ज्ञान के लिए उपयोगी हैं। जैसे उपादान-लक्षणा 'अर्थांतरसंक्रमित वाच्य' नामक ध्वनि के लिए उपयोगी है तथा लक्षण-लक्षणा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि में उपयोगिनी है। सारोपा रूपकालंकार

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३६

के लिए और साध्यवसाना प्रथम अतिशयोक्ति के लिए आवश्यक है।[1] गौणी के लक्षण-लक्षणा भेद नहीं है क्योंकि उद्योतकार लिखते हैं कि 'न च गौण्यां लक्षणलक्षणात्वांगीकारेण सप्तविधत्कमुचितमिति वाच्यम्।' नागेश भट्ट ६ प्रकार की लक्षणा बताते हैं—शुद्धा, गौणी, सारोपा, साध्यवसाना, उपादानलक्षणैः षड्भेदेत्यर्थः।'[2]

नागेश्वरी—'नागेश्वरी' में हरिशंकर शर्मा 'लक्षणा षड्विधा' की चर्चा करते हुए लिखते हैं प्रथम लक्षणा के दो भेद हैं—शुद्धा और गौणी। शुद्धा के चार भेद हैं—१. उपादान-लक्षणा, लक्षण-लक्षणा, सारोपा, साध्यवसाना लक्षणा। गौणी के दो भेद—सारोपा और साध्यवसाना। इस प्रकार लक्षणा के ६ भेद हैं। हरिशंकर शर्मा का अभिप्राय मम्मट के समान है। इस प्रसंग में हरिशंकर शर्मा ने 'केचित्' से किसी अन्य आचार्य की चर्चा की है।[3] वे लिखते हैं कि किसी अन्य के अनुसार लक्षणा के दो भेद हैं– १. शुद्धा, २. गौणी। प्रथम शुद्धा के दो भेद हैं—१. उपादान, २. लक्षण-लक्षणा। उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा के दो भेद हैं—सारोपा और साध्यवसाना। इस प्रकार शुद्धा के चार भेद हैं—सारोपा और साध्यवसाना। उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि उपादान सारोपा—कुन्ताः पुरुषाः प्रविशन्ति। उपादान साध्यवसाना-कुन्ताः प्रविशन्ति। लक्षण-सारोपा-आयुर्घृतम्। गौणी-साध्यवसाना-गौरयम्। इस प्रकार की चर्चा से स्पष्ट है कि 'केचित्' से अभिप्राय गोविन्द ठक्कुर से है। पीछे 'काव्यप्रदीप' की चर्चा में इस प्रकार का विभाजन किया गया है।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर का लक्षणा-विभाजन मम्मट से भिन्न हैं। वैसे तो संकेतकार का, चण्डीदास आदि टीकाकारों का भी विभाजन पृथक् है। गजेन्द्र गढ्कर ने प्रदीपकार के विभाजन का खण्डन किया है। वे लिखते हैं कि यह प्रकट नहीं होता कि उपादान और लक्षणा के भी दो-दो भेद सारोपा ओर

---

१. अत्रोपादानलक्षणाभ्यामर्थातिरसंक्रमितात्यंततिरस्कृतवाच्यौ, सारोपासाध्यवसानाभ्यां रूपकप्रथमातिशयोक्ति, शुद्धाभ्यां च ताभ्यां हेत्वलंकारं निरूपयिष्यतीति षड्भेदकथनमेव सफलम्। (उद्योत पृ० ५६ सुखटणकर)

२. उद्योत, पृ० ५६

३. केचित्तु शुद्धागौणीभेदेन लक्षणा द्विविधा, तयोराद्या द्विविधा—उपादान लक्षणा लक्षणलक्षणाचेति भेदात्। उपादानलक्षणा-लक्षणलक्षणे च प्रत्येकं द्विविधे सारोपा साध्यवसाना भेदात्। एवं शुद्धायाश्चत्वारो भेदाः। गौणी तु सारोपा साध्यवसानेति भेदेन द्विविधैवेति।' (नागेश्वरी पृ० १९)

साध्यवसाना है। मम्मट ने कहीं इस प्रकार का विभाजन नहीं किया है। इस के अतिरिक्त 'कुन्ताः कुन्तिनः प्रविशन्ति' और 'गङ्गा तटे घोषः' इस प्रकार का प्रयोग नहीं होता।[1]

यहाँ यह स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर ने लक्षणा-विभाजन में उपादान और लक्षण-लक्षणा के सारोपा और साध्ववसाना भेद माने हैं परन्तु 'लक्षणा' की कारिकाओं की व्याख्या में प्रदीपकार ने पृथक् से 'कुन्ताः पुरुषाः प्रविशन्ति' 'गंगायां तटे घोषः' इस प्रकार के उदाहरणों की चर्चा नहीं की है।

व्यंग्य की दृष्टि से भेद

मम्मट ने व्यंग्य की दृष्टि से लक्षणा दो प्रकार की मानी है—

'व्यंग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने।'

प्रयोजन को व्यंजना व्यापार गम्य बताया।

सव्यंग्या लक्षणा में व्यंग्यार्थ दो प्रकार का माना है—१. गूढ़ व्यंग्य, २. २. अगूढ व्यंग्य। गूढ़ व्यंग्य का उदाहरण दिया है 'श्रीपरिचया जडा··· ललितानि।' (मुक्यं······मोदते)[२]

अगूढ व्यंग का उदाहरण दिया है "श्रीपरिचयाज् जडा······ललितानि।"[३]

इस प्रकार लक्षणा तीन प्रकार की है—१. अव्यंग्या, २. गूढ व्यंग्या, ३. अगूढ व्यंग्या।

---

1. This classfication is unsatisfactory for the followiog reasons The idea that उपादान and लक्षण are intermediate and not final divions of शुद्ध finds no support in ths text of the Kavyaprakasa. It seems to have peen introduced by the Pradipa in order to get rid of the overlaping which is involved in what we regard as Mammata's clasaification. (2)Though this classification removes overlaping from शुद्धसारोपा and शुद्ध साध्यवसान still overlaping continues in गौणसमारोप and गौण साध्यवसान (3) Expressions like कुन्ता कुन्तिनः प्रविशन्ति and गंगातटे घोषः which illustrate शुद्ध उपादान सारोपा and शुद्ध लक्षणा सारोपा in this classiifcalion are never used in the language.

२. ३. काव्यप्रकाश, उदाहरण २-९, १०

गूढ़ व्यंग्य—

'गूढ़ व्यंग्य' के उदाहरण में विकसितस्मितं, वशितवक्रिम, समुच्छिलत अपास्त, मुकुलित, उद्धर, उद्गम और मोदते लाक्षणिक शब्द हैं। मम्मट ने केवल मात्र उदाहरण ही दिया है। गोविन्द ठक्कुर ने इस उदाहरण की इतनी विस्तृत चर्चा नहीं की जैसा कि अन्य टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने की है। विभिन्न टीकाकारों ने विभिन्न व्यंग्य माने हैं।

संकेत—माणिक्यचन्द्र 'संकेत' में गूढ़ व्यंग्य उदाहरण की चर्चा करते हैं— 'स्मित' में पुष्प का धर्म विकास बाधित है। 'हृद्यत्वसुगन्धित्वादि' व्यंग्य है। 'समुच्छिलत' में 'सर्वजनस्पृहणीयत्वादि' व्यंग्य है। 'अपास्त' में 'भयोऽस्वीकरणानवलोकनादि' व्यंग्य है। 'मुकुलित' शब्द में 'अभिलषणीयत्वचारुत्वास्पदत्वमन्मथसमुद्दीपनत्वादिकम्' व्यंग्य है। 'उद्धर' शब्द में 'पीनत्वस्मरनिकेतनत्वादि' व्यंग्य हैं। 'उद्गम' शब्द में 'सर्वजनाह्लादकत्वं' व्यंग्य है। इन व्यंग्यों की चर्चा करते हुए माणिक्यचन्द्र ने यह भी स्पष्ट किया है कि किस प्रकार मुख्यार्थ बाध और मुख्यार्थ संबंध होता है।[1]

बालचित्तानुरंजनी—श्री नरहरि सरस्वती तीर्थ ने 'बालचित्तानुरंजनी' में व्यंग्यों की विस्तृत चर्चा की है। 'मुखं विकसित स्मितं' में 'सौरभ' व्यंग्य माना है। पुष्प और स्मित दोनों के बीच असंकुचित संबंध है। विकास पुष्प का धर्म है जो स्मित में बाधक है।

'वशितवक्रिमप्रेक्षितम्' में 'वशीकरण' चेतन का धर्म है अतः यह अचेतन से बाधित है। स्वाधीनत्व लक्ष्यार्थ है। यहाँ टीकाकार ने 'उचितपुरुषाभिलाषित्वं' व्यंग्य माना है। 'सनुच्छिलतविभ्रम' में उछलना मूर्त का धर्म है। वह अमूर्त विभ्रम में बाधित है। यहाँ कार्यकारणभाव संबंध से 'लक्षणा' से 'बाहुल्य' अर्थ है। यहां 'समस्ततरुणहरिणवागुरत्वं' व्यंग्य है। (अर्थात् समस्त तरुण रूपी हिरणों को फँसाने वाला जाल 'वागुरा है) 'आपास्त संस्था' में 'संस्था' से अभिप्राय 'मर्यादा' है। मति में चेतन के धर्म मर्यादा त्याग का बाध होने के कारण 'अस्थिरता' में लक्षणा है, यहाँ कार्यकारण भाव संबंध है। 'आलिङ्गनयोग्यता' व्यंग्य है। 'जघनमसंबन्धोद्धुरं' में असंबंध देह का स्वभाव है। उद्धतत्व भी चेतन का धर्म है। वह जघन में अन्वित होने में बाधित है। पीनत्वादि सादृश्यसम्बन्ध से उत्कटत्व लक्षणा है। 'मनोहरत्वादि' व्यंग्य है। 'उद्गम' में उदय अङ्कुरादि का धर्म है, वह अमूर्त तरुणिमन् में बाधित है। लक्ष्यार्थ तारुण्य है। सर्वजनाह्लादकता व्यंग्य है। 'मोदते' में कार्यकारण

---

१. संकेत, पृ० २४-२५

संबंध से 'अनियन्त्रिता' लक्षित होती है और 'स्पृहणीयत्वं' व्यंग्य है।[1]

सारबोधिनी—श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य ने 'सारबोधिनी' में 'गूढ़' एवं 'अगूढ' व्यंग्य को स्पष्ट किया है। 'गूढ' से अभिप्राय गम्भीर है जिसका आनन्द सहृदयजन ही ले सकते हैं। 'सहृदय' हैं—'काव्यवासनापरिपक्वबुद्धित्वम्।' असहृदय जन द्वारा वेद्य 'अगूढ़-व्यंग्य' होता है। 'गूढ-व्यंग्य' उदाहरण की विस्तृत चर्चा नहीं की केवल कुछ लाक्षणिक शब्दों को स्पष्ट किया है। जैसे विकास पुष्प का धर्म है। अतः 'स्मित' में बाधित है। 'अतिमनोहारित्वं' व्यंग्य है। अन्य शब्दों के लिए लिखते हैं 'एवं वशितसमुच्छलितापास्तसंस्थमुकुलितोद्धुरमोदनशब्दैः स्वाधीनत्वबाहुलविषयशतसंसारित्वयोग्यत्वाजृम्भाणि लक्ष्यन्ते।' प्रत्येक के व्यंग्य अर्थों की चर्चा नहीं की है।[2]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर के अनुसार 'लक्षणा तेन षड्विधा' में आरोपादि छः भेदों का प्रतिपादन किया गया है तथा अब व्यंजना की दृष्टि से तीन भेद कहे गए हैं। गोविन्द ठक्कुर सर्वप्रथम यह स्पष्ट करते हैं कि यहां यह शंका हो सकती है 'ननु प्रयोजनस्थले कथं व्यंग्यसाहित्यनियम इति चेत्' अर्थात् प्रयोजनस्थल में व्यंग्य का नियम कैसे संभव है? अतः यह स्पष्ट करने के लिए लिखते हैं—'प्रयोजनं हि व्यंजनाव्यापारगम्येव।' प्रयोजन की अभिव्यक्ति व्यंजना द्वारा होती है। प्रयोजन के हेतु से होने वाली लक्षणा व्यंग्य सहित होती है। कारिका में 'तच्च' का अभिप्राय व्यंग्य-अर्थ से है। 'वा' शब्द समुच्चय अर्थ में है।

'गूढ़ व्यंग्य' और 'अगूढ व्यंग्य' को स्पष्ट करते हैं। 'गूढ' व्यंग्य का आनन्द सहृदयजन ही ले सकते हैं। सहृदय हैं—'काव्यभावनापरिपक्वबुद्धि' अर्थात् काव्य भावना से जिनकी बुद्धि परिष्कृत हुई है। 'अगूढ' के लिए लिखते हैं 'तत्तदितरवेद्यमगूढम्' अर्थात् असहृदयजन भी जिस काव्य को समझते हैं वह 'अगूढ' होता है।

'गूढ व्यंग्य' के उदाहरण की चर्चा करते हैं। 'विकिसितस्मितं' में विकास पुष्प का अर्थ है जो स्मित में बाधित है। 'प्रसृतत्वं' लक्ष्यार्थ है। 'लोकोत्तररमणीयतातिखाय' व्यंग्य है जो 'गूढ' है। 'सारबोधिनीकार' की भाँति प्रदीपकार ने भी अन्य लाक्षणिक शब्दों की विस्तृत चर्चा नहीं की परन्तु उनके

---

१. बालचित्तानुरंजनी, पृ० ३६

२. 'गूढत्वं सहृदयैकवेद्यत्वम् सहृदयत्वं काव्यवासनापरिपक्वबुद्धित्वम्। सहृदयासहृदयवेद्यत्वमगूढत्वम्। (काव्यप्रकाश टीका त्रयसार, पृ० ३६)

लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों का संकेत किया है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि वशित, समुच्छलित, अपास्तसंस्था, मुकुलित, उद्धर, मोदते शब्दों में क्रमशः 'आयतत्वोल्लसितत्वानेकविषयसंचारित्वोद्भिन्नत्वयोग्यत्वानियन्त्रितत्व' लक्ष्यार्थ है और 'अनुरागित्वसकलवशीकारित्वानुरागतिशयालिङ्गनयोग्यत्वरमणीयत्व-स्पृहणीयत्व' व्यंग्य है।[१]

इस प्रसंग में गोविन्द ठक्कुर ने स्वनिर्मित गूढ व्यंग्य का भी उदाहरण दिया है।[२]

उद्योत—'उद्योत' में नागेश भट्ट ने विस्तृत चर्चा की है। १. 'विकसित-स्मितं' में 'असंकुचितत्व' संबंध द्वारा 'सातिशयता' लक्ष्य है। 'सौरभादि' व्यंग्य है। २. 'वशितवक्रिम' में 'स्वाधीनत्व' लक्ष्य है। अभिमतविषयप्रवृत्ति संवंध है। 'युक्तानुरागित्व' व्यंग्य है। ३. 'समुच्छलितविभ्रमा' में 'बाहुल्यं' लक्ष्य है। 'प्रयोज्यप्रयोजकभाव' संवंध है। 'सकलमनोहारित्व' व्यंग्य है। ४. 'अपास्तसंस्था' में 'अधीरत्वं' लक्ष्य है। हेतुहेतुमद्भाव संवंध हैं। उद्धोतकार यहाँ स्पष्ट करते हैं कि पहले मुग्धावस्था में गुरुजनों के सान्निध्य में बुद्धि मर्यादा को स्वीकार करती थी। किन्तु अव यौवन के आगमन पर मुग्धता का त्याग कर दिया है। 'अनुरागातिशय' व्यंग्य है। ५. 'मुकु-लितस्तनं' में 'काठिन्यं' लक्ष्य है। 'निबिडावयवत्वं' संवंध है। 'उद्भिन्नत्व' भी लक्ष्य हो सकता है। 'आलिंगनयोग्यत्वं' व्यंग्य है। ६. 'जघनमंसम्बन्धो द्धुरं' में 'योग्यत्वं' लक्ष्य है। 'क्षोदसहनक्षमत्वं' संवंध है। 'रमणीयता व्यंग्य हैं। ७. 'मोदते' में 'अनियंत्रितत्वानुत्कर्ष' लक्ष्य है। 'जन्यजनकभाव' संवंध है। 'स्पृहणीयत्वं' व्यंग्य है।[३]

काव्यप्रकाशटीका - काव्यप्रदीप के वाद श्री यशोविजयी की टीका में भी 'व्यंग्य' भिन्न मिलता है। 'विकसितस्मित' में यशोविजयी जी लिखते हैं कि जैसे भ्रमर (मधुव्रत) के लिए मधु का मन्दिर पुष्प होता है उसी प्रकार यह मुख नायक के लिए स्पृहणीय मधु से मधुर अधरों का मन्दिर है यही यहाँ व्यंग्य है। 'वशितवक्रिमप्रेक्षितम्' में लिखते हैं कि नायिका में बालारूप का अभाव है। वह अपनी इच्छानुसार इधर-उधर नहीं जा सकती। गुप्त रूप से नायक आया हुआ है इसके अनुनय के लिए वह इशारे से गुरुजन के संविधान में किसी

१, काव्यप्रदीप, पृ० ३६

२. 'चकोरी' ' 'तिरयति' ! (काव्यप्रदीप पृ० ३६)

३. उद्योत (सुखटणकर), पृ० ५७-५८

परिजन को नियुक्त करती है। यह यहां व्यंग्य है। 'समुच्छलित' में प्रियतम के प्राण से बढ़कर वह प्रिय है, यह व्यंग्य है। 'अपास्त-संस्था' में प्रियतम के मुखावलोकन के अवसर पर नायिका अपनी सखी द्वारा सिखायी रूठने की सारी चेष्टायें भूल गयी। यह व्यंग्य है। 'मुकुलितस्तन' में हृदय का द्रवीभाव व्यंग्य है क्योंकि मुकुल का आधार सदैव जलरूप द्रव्य ही होता है।

'उद्धुरत्वं' में असम्बन्ध के अनुरोध से रतिबन्ध की योग्यता लक्ष्य है। अतः यहां 'यौवनयुवराज-पराजित काम-कारागात्व या तरुणिम-महीपति-मृगयोपलब्ध-कामुकमृग-वागुरात्व' व्यंग्य है। 'तरुणिमोद्गमो मोदते' में तारुण्य को स्मितादि का रत्नाकर बताना अभीष्ट है यह व्यंग्य है।[1]

इस प्रकार गूढ़ व्यंग्य के उदाहरण में प्रत्येक टीकाकार ने भिन्न-भिन्न व्यंग्यों की चर्चा की है। 'स्मितादि' में प्रायः सभी टीकाकारों ने 'सौरभ' व्यंग्य माना हैं। गोविन्द ठक्कुर ने 'संकेत' एवं 'वालचित्तानुरंजनी' टीकाओं की भाँति विस्तृत चर्चा नहीं की है परन्तु प्रत्येक शब्द में निहित लाक्षणिक शब्द का लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का संकेत दिया है। गोविन्द ठक्कुर की अपेक्षा नागेश भट्ट ने विस्तृत चर्चा की है। यशोविजयी जी का विवेचन प्रत्येक टीकाकार से पृथक् है।

अगूढ व्यंग्य—

'अगूढ व्यंग्य' का उदाहरण 'श्रीपरिचयाज्जडा···ललितानि'[2] है। जैसा कि पीछे स्पष्ट किया है कि 'अगूढ व्यंग्य' में व्यंग्य इतना स्पष्ट होता है कि सहृदयजनों के लिए भी सहज गम्य होता है।

'अगूढ व्यंग्य' के उदाहरण की चर्चा में सभी टीकाकारों की समान व्याख्या है। गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं कि यहाँ 'उपदिशति' यह पद अगूढ व्यंग्य है। 'उपदिशति' में यौवन-मद का होना सम्भव नहीं तथा इससे 'आविष्कार' लक्षित होता है। बिना प्रयास के ही रतिज्ञान हो जाता है यह व्यंग्य है। यह सहृदय और असहृदय दोनों के द्वारा गम्य है।[3]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया कि उपाधि के कारण लक्षणा में पूर्वोक्त कहे गए ६ भेद हैं तथा व्यंग्य की दृष्टि से यहाँ ३ भेद हैं—१. अव्यंग्या, २. गूढ व्यंग्या, ३. अगूढ-व्यंग्या।

---

१. काव्यप्रकाश टीका, पृ० १०३-१०४

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण २-१०

३. काव्यप्रदीप पृ० ३४

व्यंञ्जना

'अभिधा' और 'लक्षणा' शक्ति का विवेचन करने के पश्चात् मम्मट ने व्यंजना का स्वरूप बताया है। मम्मट ने स्पष्ट किया है कि लाक्षणिक शब्द में व्यंग्य को प्रकट करने वाला व्यापार व्यंजनस्वरूप है। ऐसा क्यों है? मम्मट का इस विषय में कथन है कि प्रयोजन की प्रतीति कराने की इच्छा से जहां लक्षणा द्वारा शब्द प्रयोग किया जाता है, वहाँ अन्य (अनुमानादि) द्वारा उन प्रयोजन की प्रतीति नहीं होती अपितु इस फल-प्रतीति में जो एक-मात्र लाक्षणिक शब्द का विषय है, व्यंजना के अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार नहीं। 'नाभिधा समयाभावात्' अर्थात् संकेत न होने के कारण प्रयोजन की प्रतीति में अभिधा नामक शब्द-व्यापार समर्थ नहीं है। 'हेत्वभावान्न लक्षणा' अर्थात् हेतु के न रहने से लक्षणा भी समर्थ नहीं है। लक्षणावृत्ति द्वारा भी प्रयोजन की प्रतीति नहीं हो सकती। प्रयोजन के लक्ष्य मानने पर अनवस्था होगी जो मूल का ही विनाश करने वाली है। प्रयोजन-विशिष्ट में भी लक्षणा मानने का खण्डन किया है क्योंकि विशिष्ट लक्षणा मानने में ज्ञान-सम्बन्धी सामान्य नियम का उल्लंघन होता है 'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।' अन्त में मम्मट लिखते हैं कि प्रयोजन की प्रतीति के लिए अभिधा-लक्षणा के अतिरिक्त शब्द की कोई और वृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है। शब्द के इसी व्यापार को व्यञ्जन, द्योतन, ध्वनन आदि कहा जाता है।[1]

काव्यप्रदीप—लक्षणामूला व्यंजना की व्याख्या करने से पूर्व गोविन्द ठक्कुर ने यह स्पष्ट किया है कि व्यंजना शाब्दी तथा आर्थी दो प्रकार की होती है। शाब्दी-व्यंजना भी दो प्रकार की है—१. अभिधामूला व्यंजना, २. लक्षणामूला व्यंजना। यद्यपि अभिधा का विवेचन प्रथम करना चाहिए, वह मुख्य वृत्ति है तथापि ग्रन्थकार ने लक्षणामूला व्यंजना का निरूपण प्रथम किया है क्योंकि लक्षणामूला व्यंजना प्रकृत है और अधिक प्रसिद्ध है।

'लक्षणामूला व्यंजना' का विवेचन करते हुए स्पष्ट करते हैं कि लाक्षणिक शब्द में व्यंग्य को प्रकट करने वाला व्यापार ही है। कारिका में 'यस्य' से

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ८१ से ८६ तक।

अभिप्राय पावनत्वादि से है। पावनत्वादि फल की प्रतीति को उत्पन्न करने के लिए लक्षणा का आश्रय लेकर शब्द-प्रयोग किया जाता है, वहाँ उस फल की प्रतीति अन्य प्रमाण द्वारा नहीं होती। अन्य प्रमाण से अभिप्राय अनुमान और प्रत्यक्ष से है। पावनत्वादि फल की प्रतीति अनुमानगम्य इसलिए नहीं है क्योंकि वहाँ व्याप्ति-स्मृति नहीं जो अनुमान के लिए अपेक्षित है। शैत्य-पावनत्वप्रतीति प्रत्यक्षगम्य नहीं क्योंकि प्रत्यक्षगम्य में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होता है।[1]

पावनत्वादि फल की प्रतीति अभिधा द्वारा संभव नहीं क्योंकि अभिधा में संकेतग्रह का होना आवश्यक है। हेतु के न रहने से लक्षणा भी समर्थ नहीं क्योंकि 'मुख्यार्थवाधेतद्योगे रूढिप्रयोजनान्यतरदिति त्रयं लक्षणाहेतुः' अर्थात् मुख्यार्थ योग, रूढि या प्रयोजन लक्षणा के तीन हेतु हैं। जैसे गंगा शब्द का जल रूप मुख्य अर्थ हैं। गंगा शब्द प्रवाह रूप अर्थ में वाधित होकर लक्षणा द्वारा तट का बोध कराता है उसी प्रकार यदि तट में भी बाधित होता तो प्रयोजन का लक्षणा द्वारा बोध कराता तथा शैत्यपावनत्वादि में लक्षणा हो जाया करती। किन्तु यहां तट मुख्यार्थ नहीं तट रूप अर्थ में बाध है और न हि गंगा शब्द के अर्थ तट का पावनत्वादि लक्ष्यार्थों से सम्बन्ध है। अतः यहाँ शंका की जाती है कि मुख्यार्थवाध आदि हेतुत्रय के बिना ही यहाँ लक्षणा क्यों न मान ली जाए। इसका उत्तर है 'न च शब्दः स्खलद्गतिः' अर्थात् जैसे गंगा शब्द मुख्यार्थवाधादि के बिना तट अर्थ के प्रतिपादन में असमर्थ है उसी प्रकार प्रयोजन का प्रतिपादन करने में असमर्थ नहीं है, यह अभिप्राय मम्मट ने वृत्ति में स्पष्ट किया है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहां स्खलद्गति का तात्पर्य है कि जो शब्द मुख्यार्थ-बाधादि तीन की अपेक्षा करके अर्थबोधक होता है वह स्खलद्गति होता है। गंगा शब्द तटार्थ बताने में स्खलद्गति भले ही हो, परन्तु वह शीतत्वादि अर्थ बताने में स्खलद्गति नहीं है क्योंकि शीतत्वादि अर्थ को वह बिना मुख्यार्थ-बाधादि की अपेक्षा किए बता देता है। इस तरह जब वृत्ति में 'असमर्थ' यह पाठ हो तत्र बाधादिकमुपेक्ष्य यह शेष मानना चाहिए और यदि 'समर्थ' पाठ हो तो 'बाधादित्रयमपेक्ष्य' यह जोड़ना चाहिए।[2]

प्रयोजन को लक्ष्य मानने पर अनवस्था होगी अर्थात् यदि प्रयोजन लक्ष्य है ओर उसमें लक्षणा मानने के लिए अन्य प्रयोजन हो सकता है और तब इस

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३९

२. काव्यप्रदीप, पृ० ४०

प्रकार प्रयोजन का भी दूसरा प्रयोजन होगा और दूसरे प्रयोजन का तीसरा प्रयोजन होगा। इस प्रकार 'अनवस्था' दोष पड़ेगा। अतएव आचार्य मम्मट का कथन है कि 'एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।'

इस प्रकार द्वितीयलक्षणवादी के मत का निराकरण किया गया है। अब विशिष्ट लक्षणावादी के मत का निराकरण किया है।

यहां यह शंका होती है कि पावनत्वविशिष्ट तट लक्षित होता है और 'गंगातटे घोषः' की अपेक्षा अधिक अर्थ की प्रतीति कराना प्रयोजन है, इस प्रकार पावनत्वादिविशिष्ट तट में लक्षणा होती है तो व्यंजना की क्या आवश्यकता है। इसका निराकरण करते हुए मम्मट कहते हैं कि शैत्य-पावनत्व-विशिष्ट तट में लक्षणा होगी ही नहीं, क्योंकि ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल, ये दोनों अलग-अलग होते हैं, 'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।' वृत्ति में मम्मट ने स्पष्ट किया है कि प्रत्यक्ष आदि ज्ञान का विषय नीलादि है और फल (मीमांसक के मत में) ज्ञातता अथवा (नैयायिक मत में) अनुव्यवसाय है। इस युक्ति से प्रयोजनविशिष्ट में लक्षणा नहीं होती।[1]

मम्मट ने यहाँ न्याय तथा मीमांसा की दार्शनिक प्रक्रिया की चर्चा की है। न्याय का अनुव्यवसाय-सिद्धान्त है और मीमांसा का ज्ञातता-सिद्धान्त है। नैयायिकों के अनुसार—'अयं घटः' इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से घट ज्ञान हो जाने के पश्चात् 'घटमहं जानामि' यह प्रतीति होती है, जिसे अनुव्यवसाय कहा जाता है। आचार्य मम्मट ने इसे ही 'संवित्ति' कहा है। मीसांसकों के मतानु-सार—'अयं घटः' इस प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात् 'मया घटो ज्ञातः' यह प्रतीति होती है। इस प्रकार की प्रतीति तभी हो सकती है जबकि ज्ञान द्वारा घट में कोई विशेषता उत्पन्न कर दी जाए। यह विशेषता एक विशेष धर्म या गुण है जिसे मीमांसक प्रकटता या ज्ञातता कहते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय घट या नील है और फल है—ज्ञातता या संवित्ति।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्' कारिका की व्याख्या के आरम्भ में विषय और फल के भेद को अयुक्त बताने वाले मत का संकेत दिया है। फल जन्य होता है या जन्य-प्रतीति का विषय। फल को जन्य मानने पर पावनत्वादि में उसका अभाव है और जन्य-प्रतीति का विषय मानने पर 'प्रत्यक्षादेर्नीलादिविषयः। फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा' इस वृत्ति का विरोध है क्योंकि प्रकटता ज्ञान में प्रत्यक्ष जन्यत्व का अभाव है।

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ८६

गोविन्द ठक्कुर ने इस मत का खण्डन भी किया है और कारण और कार्य के समान भिन्न-कालता होने से भेद माना है, इसके अतिरिक्त लक्षणा से ही तट और शैत्य पात्रनत्व की प्रतीति चन्दन से होने वाली ताप उपशम और शैत्य अनुभूति के समान एककालावगाहिनी नहीं हो सकती क्योंकि चन्दन तो सन्निधि मात्र से ही शैत्य का जनक है और लक्षणा अनुपपत्ति से प्रसारित है। गोविन्द-ठक्कुर ने इस संदर्भ में चण्डीदास के मत का खण्डन किया है और अन्त में 'वयं तु ब्रूमः' से स्वमत का प्रतिपादन किया है। गोविन्द ठक्कुर का मत है कि लक्ष्य तभी विशिष्ट हो सकता है यदि विशिष्टत्व लक्ष्यतावच्छेदक पूर्व प्रतीत हो। परन्तु ऐसा नहीं होता है। पावनत्वादि धर्मों से विशिष्ट तट प्रमाणान्तर से गोचर नहीं है क्योंकि स्वयं मम्मट ने कारिका में कहा है 'योगः फलेन नो।' अतः ज्ञान के विषय और फल में भेद हाने के कारण लक्षणा से विशिष्ट तट की प्रतीति नहीं होती केवल तट की प्रतीति होती है और विशेष शैत्य-पावनत्वादि का ज्ञान तट की प्रतीति के बाद होता है।[1]

उपर्युक्त विशेषण से स्पष्ट है कि प्रयोजन की प्रतीति के लिए अभिधा, तात्पर्य और लक्षणावृत्ति से अतिरिक्त कोई और शब्द की वृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है। शब्द के इसी व्यापार को व्यंजना कहा जाता है।

अभिधामूलक-व्यंजना

लक्षणामूलक-व्यंजना का निरूपण करने के पश्चात् मम्मट ने 'अभिधा-मूलक-व्यंजना' का स्वरूप वर्णन किया है—'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते। संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्।'[2] अभिप्राय यह है कि शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं परन्तु संयोग, वियोग आदि के द्वारा वाच्यार्थ का निर्धारण हो जाने पर वाच्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यापार व्यंजना है। इस संबंध में मम्मट ने 'भर्तृहरि' की 'संयोग···हेतवः'[3] कारिका का उल्लेख किया है। जिसमें स्पष्ट किया है कि संयोगादि नियामक पदों के वाच्यार्थ को निर्धारित करने वाले हैं।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ४०-४१-४२

२. काव्यप्रकाश, २-१९

३. 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गंशब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः। (काव्यप्रकाश, पृ० ८९)

संकेत—'संकत' टीका में माणिक्यचन्द्र स्पष्ट करते हैं कि प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु संयोगादि के द्वारा वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है।

काव्यप्रदीप—मम्मट की 'अनेकार्थस्य' कारिका की व्याख्या करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि वाचक शब्दों द्वारा जिस विशेष अर्थ की प्रतीति होती है वह लक्षणा या अभिधा से न होकर व्यंजना द्वारा होती है। 'अवाच्यार्थ से अभिप्राय है कि शब्द के अनेक अर्थ होने से 'संयोगादि' के द्वारा उनकी वाचकता का नियमन होता है परन्तु वाच्यार्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है जिसका बोध अभिधा से नहीं होता। गोविन्द ठक्कुर ने भी 'यदाहुः' से भर्तृहरि की कारिका को उद्धृत किया है जिसका अभिप्राय है कि शब्द के अनेक अर्थ होने से शब्दों के अर्थ में सन्देह हो जाता है वाच्यार्थ का निश्चय नहीं होता तब संयोगादि ही विवक्षित अर्थ बोध के कारण होते है।[1]

मम्मट ने संयोग, विप्रयोग आदि के केवल उदाहरण दिए हैं परन्तु गोविन्द-ठक्कुर ने इसकी विस्तृत व्याख्या की है।

१. संयोग

प्रसिद्ध अर्थ का गुण-विशेष रूप सम्बन्ध 'संयोग' है। यह अभिधा का नियामक है। जैसे 'सशङ्खचक्रो हरिः' में 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ हैं परन्तु शंख और चक्र के संयोग से इसका अर्थ 'अच्युत' (विष्णु) है। हरि के अन्य अर्थों में संयोग का अभाव है। अतः शंख, चक्र का संयोग विष्णु में नियमित होता हैं।

२. विप्रयोग

विप्रयोग का अर्थ है 'तादृशसंबंधध्वंसः' अर्थात् संयोग में जो प्रसिद्ध संबंध है विप्रयोग में इसका नाश होता है। 'अशंखचक्रो हरिः' में हरि शब्द 'संयोग' की भांति 'विष्णु' का नियामक है।

३. साहचर्य

साहचर्य का अर्थ है सहचरता। जैसे 'रामलक्ष्मणौ' में राम तथा लक्ष्मण पद के साहचर्य से दशरथ पुत्र राम और लक्ष्मण का ग्रहण होता है।

४. विरोध

विरोध का अर्थ है सहानवस्थान। प्रसिद्ध वैर या साथ न रहना। सहानवस्थान रूप विरोधिता का उदाहरण गोविन्द ठक्कुर ने 'छायातपौ' दिया

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ४२-४३

है। यहाँ छाया का अर्थ अनातप से है। विरोध के द्वारा 'रामार्जुनगतिस्तयोः' स्थल में राम का वाच्यार्थ 'परशुराम' तथा अर्जुन का 'कार्त्तवीर्य' है। इसका वैर इतिहास-पुराण प्रसिद्ध है। इन दोनों में बध्य-घातकभाव सम्बन्ध है। अतः यह उदाहरण विरोध का है।[1]

५. अर्थ

अर्थ का अभिप्राय प्रयोजन से है। 'स्थाणुं भज भवच्छिदे' में स्थाणु शब्द के अनेक अर्थ हैं परन्तु भव-बाधा हरण रूप प्रयोजन से स्थाणु शब्द का अर्थ 'हर' (शिव) है।[2]

६. प्रकरण

प्रकरण का अर्थ है वक्ता और श्रोता की बुद्धि में किसी बात का होना। जैसे 'सर्वं जानाति देवः' में देव शब्द का अर्थ राजा होगा क्योंकि यहाँ राजा को सम्बोधित करके कहा जा रहा है।[3]

७. लिंग

'लिंग' का उदाहरण मम्मट ने 'कुपितो मकरध्वजः' दिया है। 'काव्य-प्रदीप' से पूर्व की टीकाओं 'बालचित्तानुरंजनी' और 'सारबोधिनी' आदि में स्पष्ट किया है कि मकरध्वज का अर्थ कामदेव और समुद्र दोनों है। मकर के आकार की ध्वजा है जिसकी—कामदेव अथवा मकर ही है ध्वजा जिसकी समुद्र। कोप समुद्र में नहीं रहता अतः कोप रूप लिंग या चिह्न द्वारा मकरध्वज का अर्थ कामदेव से है।[4]

गोविन्द ठक्कुर ने 'लिंग' की विशेष व्याख्या की है। 'लिंग' शब्द से अभिप्राय है संयोग से भिन्न सम्बन्ध द्वारा दूसरे पक्ष की व्यावृत्ति कराने वाला धर्म। जैसे मकरध्वज के समुद्र, कामदेवादि अर्थ हैं। परन्तु समवाय सम्बन्ध से कोप द्वारा मकरध्वज शब्द का अर्थ कामदेव से है।

गोविन्द ठक्कुर ने 'लिंग' का अर्थ 'चिह्न' मानने वालों का खण्डन किया है 'यत्तु लिङ्गं चिह्नम् इति तन्न।' इसके दो कारण हैं—१. कामचिह्नत्वा-भावात्' अर्थात् यदि चिह्न से तात्पर्य लें तो कोप केवल काम का ही विशेष गुण नहीं है अपितु अन्य में भी कोप का भाव हो सकता है। २. 'सशङ्खचक्र-इत्यत्रातिव्याप्तिप्रसङ्गाच्च' अर्थात् लिंग का अर्थ चिह्न मानने से 'सशङ्खचक्र-

---

१. २. ३. काव्यप्रदीप, पृ० ४४

४. "मकराकारो ध्वजो, मकर एव वा ध्वजः। अत्र मकरध्वजपदं कामपरं समुद्रस्य कोपाभावात्। (सारबोधिनी, पृ० ४३)

हरिः' में भी अतिव्याप्ति होगी क्योंकि शंख और चक्र विष्णु के विशेष चिह्न हैं।[1]

अतः गोविन्द ठक्कुर ने प्रारम्भ में ही लिंग शब्द का स्पष्टीकरण किया है 'संयोगातिरिक्तसम्बन्धेन परपक्षव्यावृत्तो धर्मः।' जिसका अभिप्राय यही है कि 'सशङ्खचक्र' में अतिव्याप्ति नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ शंख और चक्र में संयोग सम्बन्ध है और 'लिंग' में संयोग से अतिरिक्त समवाय संबंध होता है।

प्रभा—प्रभा टीका में भी वैद्यनाथ ने यह स्पष्ट किया में कि 'सशंखचक्र' में अतिव्याप्तिवारण के लिए गोविन्द ठक्कुर ने 'संयोगातिरिक्त' सम्बन्ध का प्रयोग किया है।[2]

काव्यप्रकाशटीका—'काव्यप्रदीप की परवर्ती टीकाओं में 'कुपितो मकरध्वजः' को 'लिंग' का उदाहरण नहीं माना। श्रीयशोविजयी जी ने 'काव्यप्रकाश' टीका में प्रायः गोविन्द ठक्कुर का अनुकरण किया है परन्तु यहाँ प्रदीपकार का खण्डन किया है कि 'लिंग' का उदाहरण 'स्थाणुरपश्यत्' आदि मानना चाहिए। 'स्थाणु, का अर्थ वृक्ष या ठूंठ से न लेकर शिव से लिया है। 'शिव' अर्थ दर्शन रूप लिंग के कारण लिया गया है। 'कुपितो मकरध्वजः' यह तो प्रसिद्धि का उदाहरण है। प्रसिद्धि के कारण ही मकरध्वज का काम अर्थ में नियन्त्रण हो जाएगा।[3]

श्रीयशोविजयजी और श्री नरसिंह-ठक्कुर दोनों टीकाकारों ने 'कुपितो मकरध्वजः' में काम से अतिरिक्त समुद्रादि अर्थ में प्रयोग के कारण निहतार्थ दोष माना गया है।[4]

यहाँ यशोविजयजी और नरसिंह ठवकुर का खण्डन उचित प्रतीत नहीं होता है। दोनों टीकाकारों ने यह माना है कि 'कुपितो मकरध्वजः' प्रसिद्धि

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ४४

२. 'तथा च तद्वारणाय संयोगातिरिक्तेति स्वोक्तमेव सम्यगिति भावः।'
(काव्यप्रदीप, पृ० ४४)

३. वस्तुतः स्थाणुरपश्यादित्यादि लिङ्गोदाहरणं बोध्यम्, मकरध्वजशब्दस्य कामे प्रसिद्धयैव नियमनात्। अत एव मकरध्वजनियमितेत्यत्र निहतार्थकत्वं वक्ष्यति।' (काव्यप्रकाश टीका, पृ० १३५)

४. वस्तुतस्तु स्थाणुरपश्यदित्यादि लिङ्गोदाहणं बोध्यम्। मकरध्वजशब्दस्य कामे प्रसिद्धयैव नियमनात्। अतएव मकरध्वजनियमितेत्यत्र निहतार्थत्वं वक्ष्यतीति नरसिहमनीषायां स्पष्टम्। (बालबोधिनी, पृ० ६५)

का उदाहरण है । परन्तु गोविन्द ठक्कुर के 'लिंग' विवेचन से स्पष्ट है कि 'लिंग' में प्रसिद्धि का अभाव होता है। प्रसिद्धि के कारण मकरध्वज का अर्थ कामदेव नहीं है अपितु कोपरूप असाधारण धर्म द्वारा तथा कोप रूप समवाय सम्बन्ध के कारण मकरध्वज का अर्थ कामदेव है ।

यहाँ 'निहतार्थ' दोष भी नहीं माना जा सकता । मम्मट ने सप्तम-उल्लास में 'निहतार्थ' दोष को स्पष्ट किया है कि जहाँ दो अर्थ (प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध) वाला होते हुए भी शब्द अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है वहाँ 'निहतार्थ' दोष होता है ।[1] अतः 'कुपितो मकरध्वजः' में निहतार्थ दोष नहीं माना जा सकता क्योंकि मकरध्वज के अनेक अर्थ होने पर कोप रूप समवाय सम्बन्ध के कारण कामदेव अर्थ है । यदि अनेक अर्थों में से एक अर्थ होने पर 'निहतार्थ' दोष मानें फिर तो हरि स्थाणु आदि शब्दों में भी निहतार्थ दोष मानना चाहिए ।

यहाँ एक बात यह भी द्रष्टव्य है कि यशोविजयी जी और नरसिंह ठक्कुर ने लिंग का उदाहरण तो 'स्थाणुरपश्यत्' दिया परन्तु उन्होंने यह नहीं स्पष्ट किया है कि 'लिंग' का वास्तव में स्वरूप क्या है ? केवलमात्र इतना ही स्पष्ट किया है कि 'स्थाणु' शब्द के ठूंठ, वृक्ष, शिव आदि अनेक अर्थ होने पर दर्शन की क्षमता के कारण स्थाणु का अर्थ शिव होगा । इस आधार पर तो मम्मट ने 'अर्थ' का 'स्थाणुं भज भवच्छिदे' जो उदाहरण दिया है वह भी लिंग के अन्तर्गत माना जा सकता है क्योंकि वहाँ भी स्थाणु शब्द के अनेक अर्थ होने पर भवबाधा हरण के कारण 'स्थाणु' का अर्थ शिव हो सकता है ।

आचार्य जगन्नाथ ने भी 'रसगंगाधर' में संयोग को लिंग के अन्तर्गत मानने वालों का खण्डन किया है ।[2]

अतएव गोविन्द ठक्कुर का विवेचन ही उचित है ।

८ अन्य शब्द की सन्निधि

गोविन्द ठक्कुर ने 'अन्य शब्द की सन्निधि' की व्याख्या में दो विशेष शब्दों का प्रयोग किया है—१. नियतार्थक, २. सामानाधिकरण्यम् । जहां अनेकार्थक शब्द के साथ किसी नियत अर्थ वाले शब्द का सामानाधिकरण्य होता है वहाँ उस अनेकार्थक शब्द की वाचकता का निर्णय हो जाता है, यह अन्य शब्द की सन्निधि का तात्पर्य है । प्रदीपकार ने स्पष्ट किया है कि

१. 'निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम् ।'
(काव्यप्रकाश, सप्तमउल्लास, पृ० २६३)

२. 'न चासौ लिङ्गान्तर्गत इति मन्तव्यम् ।' (रसगंगाधर, पृ० ६०)

'सशङ्खचक्रो हरिः' में इसकी अतिव्याप्ति नहीं है क्योंकि उसमें सामानाधिकरण्य का अभाव है। 'देवस्य त्रिपुराराते:' अन्य शब्द की सन्निधि का उदाहरण है। इस उदाहरण में त्रिपुर का शत्रु इस पद के साथ 'देव' शब्द का सामानाधिकरण्य है। अत: यहाँ देव शब्द शिव का ही वाचक है क्योंकि राजादि तो 'शिव' के शत्रु नहीं हो सकते। अत: त्रिपुर शब्द की सन्निधि से यहाँ देव शब्द का अर्थ 'शिव' है।[1]

आचार्य मम्मट ने 'देवस्य पुराराते:' उदाहरण दिया है। गोविन्द ठक्कुर ने 'पुराराते:' के स्थान पर 'त्रिपुराराते:' पाठ किया है।

आचार्य जगन्नाथ ने मम्मट और गोविन्द ठक्कुर दोनों की आलोचना की है। आचार्य जगन्नाथ का कथन है कि 'देवस्य पुरारातेरिति' अन्य शब्द की सन्निधि का उदाहरण जो प्राचीन आचार्यों ने दिया वह उचित नहीं क्योंकि देव पद ही अनेकार्थक नहीं है अपितु 'पुराराति' पद भी अनेकार्थक है। 'देव' से देवता और राजा इन दोनों अर्थों की उपस्थिति होती है वैसे 'पुराराति' पद से भी किसी साधारण नगर शत्रु की और त्रिपुरासुर शत्रु शिव की उपस्थिति ही है। 'देव और पुराराति' पद से क्रमश: यदि राजा और साधारण नगर शत्रु का भी बोध हो तो अन्वय बन सकता है फिर यहाँ अभिधानियामक की आवश्यकता क्या है?[2]

'पुराराति' पद का शिव अर्थ करके 'देव' पद से अन्वय किया जाता है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि 'पुराराति' पद 'शिव' अर्थ में योगरूढ़ नहीं। यदि 'पुराराति' पद का अर्थ 'शिव' निश्चित है फिर तो उसके सान्निध्य से 'देव' पद की अभिधा देवता रूप अर्थ में नियन्त्रित की जाएगी अन्यथा अन्वय नहीं हो सकता है। परन्तु 'पुराराति' पद को शिव अर्थ में योगरूढ़ मानने का अभाव है।[3]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ४४

२ देवस्य पुरारातेरिति प्राचामुदाहरणे सुरत्वभूपत्वाभ्यां देवपदान्नगराारित्वासुरविशेषारित्वाभ्यां पुरारातिपदाच्चोपस्थितेरुभयोरपिनानार्थत्वादर्थान्तरस्वीकारेऽप्यन्वयोपपत्तेश्च कथं शक्तेर्नियमः स्यात् ?'

(रसगंगाधर, पृ० ५८-५९)

३. न च पुरारातिपदं योगरूढम्, तथा च रूढेर्योगापहारितया शिवत्वेनैव तस्य बोधकत्वाद्देवपदशक्तिनियामकतेति वाच्यम्, पुरारातिपदस्य रूढौ मानाभावात्। (वही, पृ० ५९)

ऐसा प्रतीत होता है कि गोविन्द ठक्कुर ने 'पुराराति' पद के योगरूढ़ न होने के कारण 'त्रिपुराराति' पाठ किया है जो शिव अर्थ में नियामक है। अन्य शब्द की सन्निधि का गोविन्द ठक्कुर ने यह अभिप्राय दिया है—'शब्दस्यान्यस्य सन्निधिर्नियतार्थकशब्दान्तरसामानाधिकरण्यम्।' संभवतः यही कारण है कि प्रदीपकार की दृष्टि में 'पुराराति' शब्द नियतार्थक नहीं अतः उन्होंने 'त्रिपुराराति' का प्रयोग किया है।

आचार्य जगन्नाथ ने गोविन्द ठक्कुर का भी खण्डन किया है। वे लिखते हैं कि काव्यप्रकाश के टीकाकारों द्वारा दी गई 'अन्यशब्दसन्निधि' की यह व्याख्या 'निश्चितार्थक शब्द के सामानाधिकरण्य का नाम अन्य शब्द सन्निधि' है उचित नहीं क्योंकि यह लक्षण 'अन्य शब्द सन्निधि' के उदाहरण 'करेण राजते नागः' (रसगंगाधर में उद्धृत) में घटित नही होता। वहाँ एक भी पद निश्चितार्थक नहीं है अर्थात् कर और नाग दोनों नागार्थक हैं। दूसरा दोष यह है कि उक्त लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है क्योंकि 'कुपितो मकरध्वजः' लिंग के उदाहरण में 'कुपित' पद निश्चितार्थक होने से यह लक्षण व्याप्त हो जाएगा है।[1]

रसगंगाधरकार ने गोविन्द ठक्कुर का 'काव्यप्रकाशटीकाकारैरुक्तम्' कहकर जो खण्डन किया वह उचित नहीं क्योंकि गोविन्द ठक्कुर ने 'अन्य शब्द सन्निधि' का जो अर्थ स्पष्ट किया हैं उसके अनुसार गोविन्द ठक्कुर का 'देवस्य त्रिपुराराति:' उदाहरण उचित हैं। प्रदीपकार ने 'करेण राजते नागः' उदाहरण को दृष्टि में रखकर 'अन्य शब्दसन्निधि' की व्याख्या नहीं की है।

६. सामर्थ्य

'सामर्थ्य' का अर्थ है 'कारणता'। जैसे 'मधुना मत्तः कोकिलः' में 'मधु' शब्द के अनेक अर्थ हैं। परन्तु 'मधु' शब्द का यहाँ अर्थ बसन्त हैं। अन्य 'मधु' शब्दों के अर्थ (मकरन्द, शहद, मद्य) में कोकिल को मतवाला करने का सामर्थ्य नहीं है।[2]

---

१. 'यत्तु शब्दस्याव्यभिचारितस्य सन्निधिः सामानाधिकरण्यम् इति काव्यप्रकाशटीकाकारैरुक्तम्। तत्तु 'करेण राजते नागः' इत्यादावव्यापनात्तन्नियामकान्तरस्य गवेषणे गौरवात् 'कुपितो मकरध्वजः' इति तन्मूलोक्ते लिङ्गोदाहरणेऽतिव्यापानाच्चोपेक्ष्यम्। (रसगंगाधर, पृ० ६१)

२. काव्यप्रदीप, पृ० ४५

१०. औचिती

औचिती का अर्थ है 'अर्हता' (योग्यता)। 'पातु दयितामुखम्' में मुख शब्द का अर्थ 'साम्मुख्य' है। 'साम्मुख्य' में ही उत्कण्ठित प्रेमी के मनोरथ-साधन की योग्यता है। गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि यद्यपि यहाँ सामर्थ्य की भी संभावना है परन्तु 'मधुना मत्तः कोकिलः' जैसे सामर्थ्य के उदाहरण में तृतीया है उसी प्रकार यहाँ सामर्थ्यबोधक तृतीया का अभाव है। अतः यह औचिती का ही उदाहरण है।[1]

गोविन्द ठक्कुर के पश्चात् श्रीयशोविजयी जी ने 'काव्यप्रकाश' टीका में 'पातु दयितामुखम्' में सामर्थ्य के उदाहरण का निषेध किया है।[2]

११. देश

'भात्यत्र परमेश्वरः' में राजधानी रूप देश-विदेश के कारण परमेश्वर शब्द का अर्थ राजा है।

१२. काल

'चित्रभानुर्विभाति' में 'चित्रभानु' शब्द का अर्थ यदि दिन के समय प्रयुक्त होता है तो 'सूर्य' अर्थ है, यदि रात्रि के समय प्रयोग हो तो 'अग्नि' है अर्थात् समय विशेष के कारण अर्थ का निर्णय होता है।

१३ व्यक्ति

व्यक्ति से तात्पर्य लिंग (पुंल्लिग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग) से है। जैसे 'मित्रं भाति' में नपुंसकलिंग होने से मित्र का अर्थ 'सुहृद्' है और 'मित्रो भाति' में पुल्लिग होने से 'सूर्य' अर्थ है।

१४. स्वर—

'स्वर' को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि उदात्तादि स्वर वेदों में ही अनेकार्थ प्रतीति कराने वाले होते हैं, काव्य में नहीं। जैसे 'इन्द्रशत्रोवर्धस्व' में अन्तोदात्त होने से 'षष्ठीतत्पुरुष समास' से अर्थ होगा 'इन्द्र का नाशक'—इन्द्रकर्मकशत्रुता। पूर्वपद में उदात्त करने से 'वहुव्रीहि-समास' से अर्थ होगा 'इन्द्र है नाशक जिसका'—इन्द्रकर्तृकशातनम्। प्रदीप-कार स्पष्ट करते हैं—'काव्ये तु नैवं वाहुल्यम्' अर्थात् वेद में जैसे स्वर को अभिधानियामक मानने का वाहुल्य है वैसे काव्य में स्वर को सर्वत्र अभिधा

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ४५

२. 'यद्यप्यत्रापि सामर्थ्यमस्त्येव तथापि मधुनेत्यत्र तृतीयाया इव तद्बोध-कस्याभावादौचित्योदाहरणता। (काव्यप्रकाशटीका, पृ० ३५)

का नियामक नहीं माना गया है। इस प्रकार 'वाहुल्येन' पद के अध्याहार से यह तात्पर्य निकलता है कि काव्य में वेद की तरह स्वर द्वारा अभिधानियमन का बाहुल्य नहीं है। गोविन्द ठक्कुर ने यह भी स्पष्ट किया है कि काकु आदि भी अभिधानियामक नहीं होते अपितु अर्थविशेष के व्यंजक होते हैं।[1]

'स्वरादयः' में 'आदि शब्द से अभिप्राय 'अभिनय' और 'अपदेश' से है। गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि अभिनय हस्तादि की क्रिया है जिससे साक्षात् अर्थ-विशेष का ज्ञान हो जाता है। मम्मट ने 'अभिनय' का उदाहरण 'एतावन्मात्रावस्थां···दिवसे'[2] दिया है। प्रस्तुत उदाहरण में हाथादि के अभिनय से ही स्तनादि की विशालता और लघुता का बोध होता है।

गोविन्द ठक्कुर ने 'अपदेश' का भी उदाहरण दिया है। मम्मट ने इसकी चर्चा नहीं की है। प्रदीपकार ने 'कुमारसंभव' का उदाहरण 'इतः स दैत्य[3]··· दिया है। 'अपदेश' से तात्पर्य है 'अभिमतनिर्देशः'। प्रस्तुत उदाहरण में अपदेश के कारण 'इतः' शब्द की वाचकता 'वक्ता' में नियन्त्रित हो जाती है।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने 'संयोग विप्रयोग' कारिका की विस्तृत व्याख्या की है।

'भर्तृहरि' की कारिका 'संयोगो विप्रयोगश्च'···' की व्याख्या करने के पश्चात् मम्मट ने यह स्पष्ट किया कि संयोगादि के द्वारा एक अर्थ का निश्चय करने पर जहाँ कहीं अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ अभिधा नहीं क्योंकि संयोगादि के द्वारा वाच्य का नियन्त्रण हो जाता है, लक्षणा भी नहीं क्योंकि मुख्यार्थ-बाध नहीं, अपितु व्यंजना नामक शब्द-व्यापार है। 'भद्रात्मनो···भूत्'[4] उदाहरण अभिधामूलक व्यंजना का दिया है। प्रस्तुत उदाहरण में प्राकरणिक अर्थ राजा के पक्ष में है ओर प्रतीयमान अर्थ गजपक्ष में है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने उपर्युक्त प्रकरण की व्याख्या करते हुए श्लेष-विषयक समस्या का भी समाधान किया है। प्रदीपकार लिखते हैं कि 'योऽसकृत्···राजते' श्लेष के उदाहरण में और 'भद्रात्मनः···' अभिधामूलक व्यंजना के उदाहरण में कोई भेद प्रतीत नहीं हो रहा है। अतः यह प्रश्न

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ४५

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण २-११

३. काव्यप्रदीप, पृ० ४६

४. काव्यप्रकाश, उदाहरण २-१२

उठता है कि फिर व्यंजना मानने की क्या आवश्यकता है। पुनः इस शंका का समाधान किया है कि यह शंका निराधार है क्योंकि श्लेष और व्यंजना का विषय-विभाग स्पष्ट है। जहाँ दोनों अर्थों में तात्पर्य रहता है वह श्लेष है जहाँ एक ही अर्थ में तात्पर्य रहता है, तथा व्यंजना की महिमा से ही दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है वह व्यंजना हैं।[1]

अन्त में गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यंजना व्यापार है और उस व्यापार से युक्त शब्द व्यंजक कहलाता है। प्रदीपकार लिखते हैं कि यह शंका होती है कि जब शब्द ही व्यंजक होता है तो शब्दार्थयुगल रूप काव्य को ध्वनि कैसे कहा जा सकता है क्योंकि अर्थ तो व्यंजक नहीं है। 'यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा। अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र सहकारितया मतः' सूत्र में इस शंका का समाधान किया है जिसका अभिप्राय है कि शब्द के व्यंजकत्व के साथ अर्थ का सहकारित्व रहता है। इसी प्रकार अर्थ की व्यंजकता में शब्द की सहकारिता भी मानी जाती है।[2]

आर्थी-व्यंजना

शाब्दी-व्यंजना का निरूपण करने के पश्चात् आर्थी-व्यंजना का विवेचन किया है। मम्मट ने काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में शाब्दी-व्यंजना का विवेचन किया है और तृतीय उल्लास में आर्थी-व्यंजना का। 'अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्' सूत्र से आर्थी व्यंजना का निरूपण प्रारंभ किया है। मम्मट के इस सूत्र का अभिप्राय है कि तृतीय उल्लास द्वितीय उल्लास से संबंधित है। द्वितीय उल्लास में वाचक, लक्षक तथा व्यंजक शब्दों के अर्थ वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य कहे गए हैं। तृतीय उल्लास में अर्थों की व्यंजकता का विवेचन किया गया है—'अर्थव्यञ्जकतोच्यते।' वह अर्थ-व्यंजकता कैसी है? इसे मम्मट ने 'वक्तृ ''सा'[3] कारिका में स्पष्ट किया है और वक्ता, बोद्धव्य आदि ९ कारण बताए हैं। अन्त में शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो''''''सहकारिता'[4], में

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ४७

२. वही

३. 'वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा
(काव्यप्रकाश, कारिका, ३-२१-२२)

४. 'काव्यप्रकाश ३-२३

मम्मट ने अर्थ की व्यंजकता में शब्द की सहकारिता मानी है ।

संकेत माणिक्यचन्द्र ने 'संकेत' टीका में स्पष्ट किया है कि ग्रन्थ में (काव्यप्रकाश में) 'अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्' एवं 'अर्थव्यंजकतोच्यते' कहने में पुनरुक्ति है । अतः अर्थ के स्थान में 'अथ व्यंजकतोच्चते' यह पाठ होना चाहिए । काकु का अर्थ मम्मट ने 'ध्वनि-विकार' किया है, माणिक्यचन्द्र ने 'काकु' के अनेक अर्थ किए हैं ।[1]

आर्थी-व्यंजना के कारणों में 'काकु वैशिष्ट्य' का उदाहरण विशेष चर्चा का विषय है । मम्मट ने स्वयं सिद्ध किया है कि यहाँ पर काकु अर्थात् ध्वनि विकार वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग है । अतः यहाँ गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्य की शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि 'प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः'' । माणिक्यचन्द्र ने मम्मट की भाँति 'काकु-वैशिष्ट्य'' की विस्तृत चर्चा की है और इसे ध्वनि का उदाहरण माना है ।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में आर्थी-व्यंजना के कारणों में 'काकु-वैशिष्ट्य' की विशेष चर्चा की है ।

गोविन्द ठक्कुर ने 'वक्तृ बोद्धव्य···सा' कारिका में बोद्धव्य, काकु आदि की व्युत्पत्ति स्पष्ट की है । यहां बोद्धव्य का अर्थ 'बोधयितुं योग्यः बोद्धव्यः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा ण्यन्त बुध् धातु से 'बोद्धव्य' शब्द की सिद्धि मानकर अन्तर्भावित ण्यर्थ के रूप में इस शब्द की व्याख्या की है—'प्रतिपाद्यः' अर्थात् श्रोता वह व्यक्ति-विशेष जिसे कहा जाता है ।

'काकु' का अर्थ है 'शोकभीत्यादिभिर्ध्वनिविकारः' अर्थात् शोक के आवेश में स्वर की विकृति या परिवर्तन ।

'वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः' का 'वाक्यं च वाच्यं च' विग्रह पहले द्वन्द्व करके पुनः 'वाक्यवाच्याभ्यां सहितोऽन्यसंनिधि' विग्रह है अर्थात् मध्यमपदलोपी समास है । गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि यहाँ समाहार द्वन्द्व करने से एकवचन की प्राप्ति होने पर 'नपुंसकत्व' की सिद्धि नहीं होती—'अतो न द्वन्द्वे एकवद्-भावेनपुंसकत्वप्रसंङ्गः । अभिप्राय यह है कि व्याकरण के अनुसार समाहार

---

१. काकु के अर्थ—१. कायत्यर्थान्तरमिति काकुः । २. यद्वा काकुर्जिह्वा तद्व्यापारविशेषसंपाद्यत्वाद्ध्वनेर्विकारोऽपि काकुः । ३ यद्वा ककि लौल्ये इत्यस्य धातोः काकुशब्दः । प्रकृतार्थातिरिक्तमपि वाञ्छतीतिलौल्यमस्याभिधीयते । ४. यद्वा ईषदर्थे कुशब्दस्य कादेशः । तेन हृदयस्थवस्तुप्रतीतेः ईषद्भूमिः काकुः । (संकेत, पृ० ३२)

द्वन्द्व में ही समास होता है। समाहार द्वन्द्व एकवचनान्त होता है तथा 'स नपुंसकम्' सूत्र से द्वन्द्व समास नपुंसक होता है। परन्तु यहाँ नपुंसकत्व की प्राप्ति न होने से द्वन्द्व समास नहीं है।

'वैशिष्ट्यं' से अभिप्राय 'विलक्षणता' से है। 'अन्यार्थो' का अर्थ है 'वाच्य, लक्ष्य से भिन्न अर्थ अर्थात् व्यंग्यार्थ। 'व्यक्तिरेव' का अभिप्राय व्यंजना से है अर्थात् अन्यार्थ की प्रतीति का हेतुभूत जो अर्थ का व्यापार है वह व्यंजना है।

अतएव वक्तृवैशिष्ट्य आदि के कारण विशेष अर्थ की प्रतीति प्रतिभा-सम्पन्न को ही होती है। 'प्रतिभा' से अभिप्राय है 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा'[1] अर्थात् नित नूतन उद्भावना करने वाली शोभायमान बुद्धि। प्रतिभा को वासना की संज्ञा भी दी है। गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि वक्तृ-वैशिष्ट्यादि के कारण ही उन प्रतिभाशाली काव्यरसिकों को विशेष अर्थ की प्रतीति हुआ करती है, वैयाकरण को सहृदयों की भांति रस-प्रतीति नहीं होती। अपने इस कथन के समर्थन में प्रदीपकार ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसका अभिप्राय है कि जो सवासन अर्थात् प्रतिभावान् हैं उन्हीं को नाट्यादि में रसप्रतीति हो सकती है। नाट्यगृह में उपस्थित अन्य प्रतिभाहीन दर्शक नाट्यग्रह के पाषाण और दीवारों के समान हैं।[2]

काकु वैशिष्ट्य

मम्मट ने 'तथाभूतां...कुरूषु'[3] काकु-वैशिष्ट्य का उदाहरण दिया है।

मम्मट लिखते है कि प्रस्तुत उदाहरण में काकु से यह प्रकट किया जा रहा है कि मुझ पर क्रोध करना उचित नहीं अपितु कौरवों पर क्रोध करना उचित है। 'यहां पर काकु वाच्यार्थ की सिद्धि का साधन है, इसलिए यहाँ गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्य है' ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि काकु द्वारा प्रकट होने वाले प्रश्नमात्र से भी वाच्यार्थ की परिसमाप्ति हो सकती है।[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रस्तुत उदाहरण में यह शंका की गई है कि यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा चमत्कारक होने से ध्वनि-काव्य है अथवा वाच्यार्थ का अंगरूप होने से गुणीभूतव्यंग्य-काव्य है? गुणीभूत-व्यंग्य-काव्य

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ४६
२. सवासनानां नाट्यादौ रसस्यानुभवो भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तर्वेश्मकुड्याश्मसंनिभाः। (वही, पृ० ४६)
३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ३-१५
४. काव्यप्रकाश, पृ० १०२

के भी दो भेदों की शंका की जाती है—१. वाच्यसिद्ध्यङ्ग, २. काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य।

गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में प्रस्तुत उदाहरण में गुणीभूतव्यंग्य-काव्य का निषेध किया है और इसे ध्वनिकाव्य का उदाहरण माना है। प्रदीपकार ने प्रस्तुत उदाहरण में 'वाच्यसिद्ध्यङ्ग' की शंका का निषेध करते हुए स्पष्ट किया है कि यहाँ यह वाच्यार्थ निष्पन्न होता है – 'क्या गुरू मुझ पर क्रोध करते हैं और कौरवों पर नहीं ? इस वाच्यार्थ की सिद्धि होने पर काकु द्वारा यह व्यंग्यार्थ अभिव्यक्त होता है—'गुरू को मुझ पर क्रोध करना उचित नहीं अपितु कौरवों पर क्रोध करना उचित है। अतः स्पष्ट है कि व्यंग्य का पर्यवसान क्रोध के प्रकर्ष में होता है इसलिए व्यंग्य वाच्य-सिद्धि का अंग नहीं अपितु वाच्य उसका अंग है। अतएव यह ध्वनि-काव्य है।[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यंग्य का निषेध किया है क्योंकि वाच्यसिद्ध्यंग्य वहाँ होता है जहाँ वाच्यार्थ की सिद्धि व्यंग्यार्थ के अधीन होती है अर्थात् वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से अधिक चमत्कृत होता है। प्रस्तुत उदाहरण में ऐसा नहीं है।

दूसरी शंका के विषय में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं—'न च वाच्यसिद्ध्य-ङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यंग्यत्वं शङ्क्यम्' इति अर्थात् यहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य की शंका उत्पन्न होती है, ऐसा नहीं होना चाहिए।

गोविन्द ठक्कुर ने 'नेति प्रश्नकाक्वापि वाक्यार्थप्रतीतिपर्यवसानात्' से उपर्युक्त शंका का निराकरण किया है। अभिप्राय यह है कि काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य वहां होता है जहाँ काकु के विना वाक्यार्थ की निष्पत्ति नहीं होती वहीं आक्षिप्त को गुणीभूतव्यंग्य मानाजाता है। जैसे, 'मथ्नामि'''न कोपात्'[2] उदाहरण में प्रश्नमात्र से वाक्यनिष्पन्न नहीं होता। 'तथाभूतां दृष्ट्वा' उदाहरण में 'न' में स्थित काकु से ही वाक्यार्थ निष्पन्न होने के कारण काकु वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग नहीं। अतः मम्मट का यह कथन—'प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः', उपर्युक्त उदाहरण को आर्थी-व्यंजना का सिद्ध करता है।[3]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ५१

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ५-१३१

३. काव्यप्रदीप, पृ० ५१

यहाँ वाच्यसिद्ध्यङ्गय गुणीभूत की चर्चा निरर्थक है। 'प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः' द्वारा मम्मट ने काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य की चर्चा की है। परन्तु प्रदीपकार के विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने 'वाच्यसिद्ध्यङ्गय' और 'काक्वाक्षिप्त' दोनों की चर्चा की है।

इसी प्रसंग में गोविन्द ठक्कुर ने 'अन्ये तु' से एक अन्य मत की चर्चा की है। 'कुरुषु न भजतीति' में 'नञ्' में काकु है। उससे यहाँ अर्थ है—कौरवों पर नाराज क्यों नहीं होते? इस तरह काकु से यहाँ किमर्थ ही आक्षिप्त है। अतएव प्रश्न को गौण बनाकर प्रकट होना उचित है। क्रम से काकु द्वारा प्रकट होने वाला व्यंग्य भी गुणीभूत बन जाए यह उचित नहीं।'[1] यह तात्पर्य है।

यह मत किस आचार्य का है इसका गोविन्द ठक्कुर ने उल्लेख नहीं किया है। वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, कालादि के उदाहरणों का विवेचन विशेष नहीं किया है। 'चेष्टा' के उदाहरण 'द्वारोपान्तनिरन्तरे··· दोर्लते'[2] में अर्थव्यंजकता को मम्मट से अधिक गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है। प्रदीपकार का कथन है कि यहाँ उरुओं को परस्पर मिलाने से गात्रस्पर्श, आगे वस्त्र से गुप्त रूप से आगमन, नेत्रों को नीचा करने से सूर्यास्त का संकेत काल, मुख बन्द करने से कोलाहलरहित आगमन, भुज-संकोच से आलिंगन आदि ध्वनित होते हैं।[3]

काव्यप्रकाश टीका—'काव्यप्रकाशटीका' में श्रीयशोविजयी जी ने चेष्टा के उदाहरण में गोविन्द ठक्कुर से विभिन्न मत दिया है। यशोविजयी जी लिखते हैं कि 'प्रोल्लास्य' शब्द से यह प्रकट होता है कि तेरे आने से मुझे प्रसन्नता हुई है। 'परस्पर-समासक्त' से गोविन्द ठक्कुर ने 'मात्र स्पर्श' अभिप्राय लिया है। यशोविजयी जी लिखते हैं 'कदलीद्वयान्तरप्रदेशः संकेत-स्थानमिति।' अथवा दूसरा अर्थ करते हैं कि 'प्रोल्लास्य' से अभिप्राय 'कपाट खोलकर रहूंगी।' 'परस्पर समासक्त' का अर्थ है 'कपाट बिना अर्गला के बन्द होंगें, दोनों कपाट केवल संयुक्त हैं। 'आनीतं पुरतः शिरोंऽशुकम्' का अभिप्राय है कि इससे चन्द्र सदृश-मुख के आच्छादन द्वारा चन्द्रमा के डूबने पर आना अथवा स्त्री का वेश बनाकर आना। 'अधःक्षिप्ते लोचने' का अर्थ दिया है 'आंखें नीची कर लीं' इससे तुझे चंचलता नहीं दिखानी चाहिए अथवा ऐसे

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ५१
२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ३-२२
३. काव्यप्रदीप, पृ० ५५

आना जिससे कोई देख न पाये । 'वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं' का अभिप्राय है कि वचनस्थ को भी नहीं बताना अथवा मौन होकर आना । 'सङ्कुचिते दोलंते' के भी दो व्यंग्यार्थ माने हैं एक तो परिजनों की नींद न खुले इस तरह आना अथवा 'दोलंता' में बांह की लता के साथ दिए गए रूपक से लता के समान मूक संकोच व्यक्त होता है, उसके द्वारा स्वमरण सूचित होता है ।[1]

इस प्रकार यशोविजयी जी ने प्रस्तुत पद्यांश के दो व्यंग्यार्थ माने हैं। गोविन्द ठक्कुर ने 'द्वयोर्व्यञ्जकत्व' का उदाहरण भी दिया है । वह उदाहरण प्राकृत का है ।[2]

अन्त में मम्मट की कारिका 'शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो' की गोविन्द ठक्कुर ने व्याख्या नहीं की है । 'प्रदीप' के टीकाकार वैद्यनाथ एवं नागेशभट्ट ने कारिका को स्पष्ट किया है । टीकाकारों का अभिप्राय है कि आर्थी-व्यंजना में अर्थ ही प्रधानतया व्यंजक होता है इसका अभिप्राय यह नहीं कि शब्द की व्यंजकता होती ही नहीं । वस्तुतः शब्दार्थ युगल ही काव्य है । अर्थ शब्द अन्वय-व्यतिरेकानुविधायी है अर्थात् शब्द रहने पर अर्थ बोध होता है यह अन्वय है और शब्दाभाव में अर्थ बोध नहीं होता यह व्यतिरेक है । अतः आर्थी-व्यंजना में अर्थ प्रधानतः व्यंजक होता है तथा शब्द सहायक । शब्द प्रमाण द्वारा ही वाच्यार्थ अन्य अर्थ का व्यंजक होता है क्योंकि अन्य प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाण से जानी गई वस्तु व्यंजक नहीं होती । शाब्दी-व्यंजना में शब्दपरिवृत्त्यसहत्व और आर्थी-व्यंजना में शब्दपरिवृत्तिसह होते है । शब्द की व्यंजकता में अर्थ तथा अर्थ की व्यंजकता में शब्द भी सहकारी होता है तथापि शब्द तथा अर्थ की प्रधानता के आधार पर शाब्दी तथा आर्थी-व्यंजना होती है ।[3]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने आर्थी-व्यंजना का विवेचन किया है । 'काकु-वैशिष्ट्य' की विशेष चर्चा की है ।

व्यंजना की स्थापना

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु' कारिका में ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने 'प्रतीयमान' शब्द द्वारा व्यंजना का सर्वप्रथम उल्लेख पूर्ण प्रधानता के

१, काव्यप्रकाशटीका, पृ० १६७-१६८

२. श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायां मम निमङ्क्षयसि । (काव्यप्रदीप, पृ० ५५)

३. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ५५

साथ किया है। आनन्दवर्धन से पूर्व साहित्यशास्त्र के इतिहास में रस, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदायों के रूप में विभिन्न धाराएं प्रवाहित हो रही थीं, अन्ततोगत्वा नवीं शताब्दी में आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सम्प्रदाय की स्थापना करके काव्य की आत्मा ध्वनि को माना 'काव्यास्यात्मा ध्वनिः'। इस अवस्था तक पहुंचने के लिए ध्वनिकार को अनेक विरोधों का सामना करना पड़ा। परवर्ती आचार्यों में मम्मट की प्रतिभा का संयोग प्राप्त कर ध्वनि-सम्प्रदाय की जड़ें मजबूत हो गई। ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य दोंनों में व्यंग्यार्थ होता है और उसकी प्रतीति व्यंजना द्वारा होती है। मम्मट ने व्यंजना की स्थापना में 'अन्विताभिधानवादी, अभिहितान्वयवादी, मीमांसक, आलंकारिक, वेदान्ती और नैयायिक आदि व्यंजना विरोधियों का खण्डन करते हुए अन्त में अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की है। गोविन्द ठक्कुर का विवेचन मम्मट की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और विस्तृत है।

मम्मट की भांति विवेचन करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं—'तदेवमनन्तानां ध्वननव्यापारयोगिनां ध्वनीनां गुणीभूतव्यंग्यानां च काव्यभेदानामनुगतोपाधिना संकलने त्रयो भेदाः। व्यंग्यस्य त्रिरूपत्वात्' अर्थात् यद्यपि ध्वनि के व्यापार अनन्त हैं तथापि अनुगत उपाधि के द्वारा उन्हें तीन भेदों में रखा जा सकता है क्योंकि वस्तु, अलंकार और रस-भावादि तीन प्रकार के व्यंग्य अर्थ होते हैं। वह व्यंग्य कहीं वाच्यता सह होता है और कहीं वाच्यताअसह होता है। वाच्यतासह वह है जिसका अभिधावृत्ति से भी बोध हो सकता है। इनमें से प्रथम वाच्यतासह दो प्रकार का होता है—१. अविचित्र, २. विचित्र। वस्तुमात्र व्यंग्य अविचित्र है। अलंकार रूप व्यंग्यार्थ है विचित्र है। यद्यपि मुख्य होने से विचित्र व्यंग्य अलंकार्य है तथापि ब्राह्मण-श्रमण न्याय से उसे अलंकार कहा जाता है। रसादि अर्थ तो कभी भी वाच्य नहीं हो सकता। सामान्य रूप में रस आदि शब्द के द्वारा अथवा शृंगार आदि शब्द के द्वारा उसका वाच्य रूप में प्रतिपादन किया जा सकता है किन्तु वाच्य रूप में कहा नहीं जाता। विभाव-अनुभाव आदि रस के व्यंजक हैं अतः जहाँ 'रस' शृंगार आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, विभाव-अनुभाव आदि का प्रतिपादन नहीं होता वहाँ रसानुभूति नहीं होती है। इसके विपरीत जहाँ 'रस' शृंगार आदि शब्दों का प्रयोग नही होता, विभावादि की वर्णना होती है वहाँ रस-व्यंजना होती है। अभिप्राय यह है कि रस' का स्वशब्द द्वारा कथन दोष है। अतएब अन्वय-व्यतिरेक से विभाव आदि के अभिधान द्वारा ही व्यंजना से

रस की प्रतीति होती है। रसादि रूप व्यङ्ग्य व्यंजना का विषय है, लक्षणा का नहीं क्योंकि लक्षणा के हेतु मुख्यार्थ-बाध आदि का अभाव है। अतः रस-प्रतीति के लिए व्यंजना-वृत्ति माननी पड़ेगी।

अब क्रमशः व्यंजना-विरोधियों का गोविन्द ठक्कुर ने खण्डन किया है—

लक्षणामूलक ध्वनि में व्यंजकता की अनिवार्यता

ध्वनि के तीन प्रकारों का उल्लेख किया गया है—१. रसादि ध्वनि, २. वस्तु ध्वनि, ३. अलंकार ध्वनि। इनमें से रसादि अर्थात् रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसंधि, भावशबलता, भावशान्ति आदि रूप अर्थ तो कभी भी अभिधा या लक्षणा का विषय नहीं हो सकते, वे सदैव व्यंग्य रहते हैं क्योंकि रस, शृंगारादि शब्दों का प्रयोग रस प्रतीति के लिए आवश्यक नहीं। वस्तुध्वनि अर्थात् अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत ध्वनि में तो वस्तु रूप व्यंग्य के बिना लक्षणा ही नहीं हो सकती। व्यंग्य रूप प्रयोजन की प्रतीति अभिधा और लक्षणा द्वारा नहीं हो सकती।

अभिधामूलक ध्वनि में व्यंजकता की अनिवार्यता

अलंकार ध्वनि अर्थात् अभिधामूलक ध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव नामक भेद में अभिधा के संयोगादि के द्वारा एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने से अन्यार्थ की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती। अतः उसके लिए व्यंजना का माना जाना अनिवार्य है।

अर्थशक्तिमूलक में वस्तु तथा अलंकार की व्यंजना द्वारा प्रतीति होती है अभिधा द्वारा नहीं। वाक्यार्थ के विषय में मीमांसकों के दो सिद्धान्त हैं—१. कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि का अभिहितान्वयवाद। २. कुमारिलभट्ट के शिष्य प्रभाकर का अन्विताभिधानवाद।

अभिहितान्वयवादियों के अनुसार पहले अभिधा शक्ति के द्वारा पद से पदार्थ का ज्ञान होता है। उसके पश्चात् वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उन पदार्थों का परस्पर अन्वय होता है जिसमें वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इसमें पहले पदार्थ अभिहित होते हैं, बाद में परस्पर अन्वय होता है अतः इसे 'अभिहितान्वयवाद' कहते हैं। इनके मत में पदार्थों का सम्बन्ध पदों से नहीं वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है अतः इसे तात्पर्यार्थ कहते हैं और इसको बोध कराने वाली शक्ति को 'तात्पर्या-शक्ति' कहते हैं। इस दृष्टि से 'गो' आदि पदों का सामान्य-रूपेण 'गोत्व' आदि में संकेतग्रह होता है, विशेष में नहीं।

गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भांति 'अभिहितान्वयवाद' का खण्डन करते हुए उसमें व्यंजना की अनिवार्यता सिद्ध की है। 'अभिहितान्वयवाद' में जब वाक्यार्थ ही अभिधा-गम्य नहीं है अर्थात् अभिधा से केवल पदों के अर्थ का ही ज्ञान होता हैं, पूरे वाक्यार्थ का बोध उसकी शक्ति से परे है, और पदार्थ के संसर्ग रूप वाक्यार्थ का ज्ञान तात्पर्याशक्ति से होता है तो इस वाक्यार्थ बोध के बाद भी प्रतीत होने वाले प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अभिधा से कैसे सम्भव है ? अत: अभिहितान्वयवाद में व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यंजना-वृत्ति को मानना आवश्यक है।

अन्विताभिधानवादियों ने तात्पर्या-शक्ति को स्वीकार नहीं किया और अभिहितान्वयवाद के विरोध में अन्विताभिधानवाद का समर्थन किया। इस मत में अभिधा शक्ति के द्वारा केवल पदार्थों की ही उपस्थिति नहीं होती, बल्कि अन्वित पदार्थों की ही अभिधा से उपस्थिति होती है अर्थात् पहले पद अन्वित होने हैं बाद में विशिष्ट अर्थ (वाक्यार्थ) को कहते हैं। अन्विताभिधान-वादियों के अनुसार वाक्य से ही अर्थ का बोध होता है, कोई शब्द स्वयं अर्थ बोध कराने में समर्थ नहीं होता। पदों से अर्थ की उपस्थिति संकेतग्रह के द्वारा होती है और संकेतग्रह का आधार 'व्यवहार' है। 'व्यवहार' में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्ति—इन तीन प्रमाणों से संकेतग्रह होता है। जैसे—१. व्युत्पत्ति काल में कोई बालक गो आदि शब्द को (श्रवण द्वारा) तथा वृद्ध और अर्थ (घटादि) को प्रत्यक्ष रूप से देखता है। २. मध्यमवृद्ध के 'घटमानय' से यह अनुमान करता है कि इन शब्दों से मध्यमवृद्ध को इस प्रकार का ज्ञान हुआ है। ३. तदुपरान्त कहे हुए वाक्य और उसके अर्थ में अखण्ड रूप से अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा वाच्य-वाचक सम्बन्ध का ज्ञान होता है।[1] इस प्रकार बालक को पृथक्-पृथक् पदार्थ ज्ञान होने पर भी प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति, इन तीन प्रमाणों द्वारा अखण्डवाक्य से अखण्डवाक्यार्थ का ग्रहण होता है।

इस प्रकार शब्द में संकेतग्रह के पश्चात् तदनन्तर 'चैत्र गामानय, देवदत्त अश्वामानय, देवदत्त गां नय' इत्यादि वाक्यों के प्रयोग में अमुक-अमुक शब्द का अमुक-अमुक अर्थ है यह निश्चय कर लेता है—अतएव अन्वयव्यतिरेक द्वारा वाक्य ही प्रवृत्ति-निवृत्ति कराने वाला है। उसमें ही प्रथम शक्तिग्रह होता है तथा वही प्रयोग के योग्य है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १४७-१४८

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर का मत है कि पदों से परस्पर सम्बन्ध न रखने वाले पृथक्-पृथक् अर्थ की प्रतीति नहीं होती अपितु अन्वित अर्थ की ही प्रतीति होती है। अतएव परस्परान्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ होते हैं ऐसा नहीं कि पदार्थों का बोध होने के बाद परस्पर संसर्ग वाक्य का अर्थ हो। अन्वय-बोध के लिए तात्पर्यवृत्ति मनाने की आवश्यकता नहीं है।

अन्विताभिधानवादी के मत में यह शंका होती है कि 'गामानय' में जो 'आनय' शब्द है, वही 'अश्वमानय' में भी है - अतः गाय को ले जाने की क्रिया से अश्व को ले जाने की क्रिया का बोध कैसे हो पाता है? प्रभाकार की ओर से इसका समाधान भी किया गया है। प्रभाकार ने सामान्य और विशेष इन दो तत्त्वों की कल्पना की है। अन्य वाक्य में प्रयुक्त इन्हीं शब्दों को 'प्रत्यभिज्ञा' द्वारा 'ये वे ही पद हैं' इस प्रकार पहचान लिया जाता है। इस हेतु अन्य पदार्थ से अन्वित पदार्थ ही संकेत का विषय है तथापि सामान्य से आच्छादित विशेष रूप मे ही पदार्थ प्रतीत होते हैं अर्थात् 'सामान्य प्रकारक' होकर भी विशेष रूप का अनुभव कराते हैं। अतः परस्पर अन्वित पदार्थ विशेष रूप हुआ करते हैं। 'पदार्थत्वेन सामान्येन विशेषाणामन्वये शक्तिग्रहात्। अन्वितानां च विशेषरूपत्वात्'[1], यह अन्विताभिधानवादियों का मत है।

मम्मट की भांति गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि अन्विताभिधानवाद में जब सामान्य रूप अर्थ का ही ग्रहण अभिधा से होता है और विशेषरूप अर्थ उसकी सीमा से परे है, तो अतिविशेषभूत जो व्यंग्यार्थ है उसकी प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती। फिर व्यंग्यार्थ अभिधा-व्यापारगम्य कैसे हो सकता है।

अतः दोनों ही मत (अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद) में वाच्यार्थ अवाच्य ही रहता है अर्थात् अभिहितान्वयवाद में अनन्वित ही अभिधा का विषय है तथा अन्विताभिधानवाद में पदार्थान्वित अर्थ वाच्य-अर्थ है वाच्यार्थ तो अन्वित विशेष अर्थ होता है जो वाच्य नहीं है— इस प्रकार दोनों मतों में भी वाक्यार्थ पदार्थ नहीं है।[2]

इस प्रकार मम्मट की भाँति गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि ध्वनि के सभी भेदों की प्रतीति केवल व्यंजना द्वारा ही होती है।

२ मीमांसकों में कुछ यह मानते हैं कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति किसी न

---

१. 'काव्यप्रदीप, पृ० १४६

२. काव्यप्रदीप, पृ० १४६ से १४६ तक।

किसी निमित्त से होती है। इनके अनुसार प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई निमित्त अर्थात् कारण होता है। इस दृष्टि से प्रतीयमान अर्थ का भी निमित्त अवश्य होगा। इस अर्थ की प्रतीति में शब्द को ही इसका कारण मानना चाहिए क्योंकि शब्द श्रवणानन्तर ही उस अर्थ की प्रतीति होती है। अतः शब्द और अर्थ में निमित्त-नैमित्तिक संबंध होगा और इसमें अभिधावृत्ति से ही शब्द व्यंग्यार्थ का बोध कराता है।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने मीमांसकों के इस मत का खण्डन किया है। प्रदीपकार लिखते हैं कि मीमांसक शब्द को जो व्यंग्यार्थ का निमित्त कहते हैं वह निमित्तता किस प्रकार की हैं? यह शब्द अर्थों का कारक है या ज्ञापक? शब्द का अर्थ प्रकाशक होने के कारण कारक नहीं हो सकता है किन्तु अर्थ का प्रकाशक या ज्ञापक तभी हो सकता है जबकि यह उस अर्थ के बोधक के रूप में ज्ञात हो। ज्ञापकत्व अज्ञात का सम्भव नहीं है—ज्ञातत्व संकेतग्रह से होता है। मीमांसकों के अनुसार सामान्य रूप से अन्वितमात्र में संकेतग्रह होता है, विशेष में संकेतग्रह नहीं होता है। अतः जब तक निमित्त रूपशब्द का सामान्य से परे विशेष के साथ निमित्तत्व स्थिर नहीं होता है, तब तक अभिधा के द्वारा नैमित्तिक व्यंग्यार्थ की प्रतीति सम्भव नहीं हो सकती है। अतः 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' यह कथन अविचारपूर्ण है।[2]

भट्टलोल्लट आदि पूर्वपक्षी का मत है कि अभिधा शक्ति एक अर्थ को बताने के उपरान्त क्षीण नहीं होती है अपितु तीव्र वेग से चलाए गए बाण के समान कई कार्यों का सम्पादन करती है। जैसे एक ही बाण एक वेग नामक व्यापार से शत्रु का कवचभेद, हृदय-विदारण और प्राण-हरण क्रमशः कर देता है उसी प्रकार अभिधा भी अपने दीर्घ-दीर्घतर व्यापार से पदार्थ-बोध, अन्वयबोध एवं व्यंग्यार्थ आदि की प्रतीति तीनों कार्यों का सम्पादन करती है। अतः व्यंग्यार्थ-प्रतीति के लिए व्यंजना जैसी अन्य शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। व्यंग्य अर्थ के स्थल में शब्द का तात्पर्य उसी में होता है यही 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का अर्थ है अर्थात् यदि केवल वाच्यार्थ का ज्ञान कराना ही किसी उक्ति का उद्देश्य है तो वही उसका तात्पर्य है और यदि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का बोध भी इष्ट है तो शब्द के प्रयोग का वाच्यार्थ वही होगा।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १२१

२. वही

उत्तरपक्षी ने भट्टलोल्लट के इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि उन्हें 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का वास्तविक ज्ञान नहीं है। भट्टलोल्लट आदि की उक्तियों के अनुसार 'निःशेष च्युत' आदि में विधि वाच्य ही है व्यंग्य नहीं, वे भी तात्पर्य सम्बन्धी वाच्चोयुक्ति के तात्पर्य को नहीं जानते अतएव मूर्ख हैं, अर्थात् भट्टलोल्लट के अनुसार 'तात्पर्यवाचो' का अभिप्राय है कि वाच्यार्थ में ही लक्ष्य और व्यंग्य सभी अर्थों का समावेश हो जाता है, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। गोविन्द ठक्कुर मम्मट की भाँति स्पष्ट करते हैं कि 'यत्पर शब्दः स शब्दार्थः' का तात्पर्य तो यह है 'तथाहि भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यत इति सिद्धान्तः।' वास्तव में इसका यह अर्थ हुआ कि सिद्ध (भूत) और साध्य (भव्य) पदार्थों का एक साथ उच्चारण होने पर सिद्ध को साध्य के लिए कहा जाता है। इसके अनुसार गामानय आदि में जो कारक पदार्थ 'गाम्' आदि क्रिया पदार्थ आनयय आदि के साथ अन्वित होते हैं वे प्रधान क्रिया की निर्वाहक निजी क्रिया के संबंध से साध्य रूप हो जाते हैं। तब 'अदग्धदहनन्याय' से जितना प्राप्त होता है उतने का ही विधान किया जाता है। अभिप्राय यह है कि मीमांसाशास्त्र जिन विधि वाक्यों को अभिधेय रूप में मानता है उसका तात्पर्य केवल यह है कि अन्य प्रमाणों से जितना अंश प्राप्त होता है, उतने ही अंश का ज्ञान 'अदग्धदहनन्याय' से किया जाता है। इस प्रकार अप्राप्त अंश के बोधन में ही विधि वाक्यों का तात्पर्य होता है। उदाहरण के लिए कुछ वैदिक वाक्यों को लिया जा सकता है। जैसे—'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति इत्यनेन लोहितोष्णीत्वमात्रं विधीयते न तु ऋत्विक्प्रचरणं वा। उष्णीषशस्यापि प्राप्तौ तु लौहित्यमात्रम्' अर्थात् यहाँ ऋत्विक् लोगों का प्रचरण अन्य प्रमाणों से ही सिद्ध है अतः यहाँ लाल पगड़ी मात्र विधेय है।

इसी प्रकार 'हवनस्यान्यतः सिद्धौ च 'दध्ना जुहोति' इत्यनेन दध्नः करणत्वं न तु दधि हवनं वा' अर्थात् इस विधि वाक्य में हवन की विधि अन्य वाक्य से ही सिद्ध है अतएव दही की साधकता ही विधि का विषय है।

इस प्रकार 'रक्तं पटं वय' इत्यादौ रक्तवपटवयनानां मध्ये एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा असिद्धात्रेकविर्धिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा' अर्थात् इस वाक्य में एक (रक्त गुण), दो (रक्त गुण तथा पट) तथा तीन (रक्त गुण, पट तथा बुनना) का विधान हो सकता है।

अतः 'जिसका विधान करना है उसमें ही विधि का तात्पर्य है।' इस प्रकार बोले हुए शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य रहता है न कि प्रतीत होने वाले प्रत्येक अर्थ में। यदि प्रतीत होने वाले प्रत्येक अर्थ में शब्द का तात्पर्य होने लगे तो 'पूर्वो धावति' का तात्पर्य 'अपरो धावति' में भी होने लगेगा। इस प्रकार 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' न्याय के अनुसार अभिधावृत्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि व्यंग्य अर्थ का वाचक कोई शब्द वाक्य में उपात्त नहीं हुआ करता।

पूर्वपक्षी यहां शंका करता है कि यदि वाक्य का तात्पर्य प्राप्त शब्द में ही माना जाएगा तो 'विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस वाक्य में 'इसके घर भोजन नहीं करना चाहिए' इस वाच्यार्थ का वाचक कोई शब्द वाक्य में कथित नहीं है तब यह अर्थ कैसे होगा ?

इसका समाधान है कि 'विषं भक्षय' इस वाक्य का तात्पर्य 'मा चास्य गृहे भुङ्क्था' इस उपात्त शब्द के अर्थ में ही है। अकथित शब्द के अर्थ में नहीं है। 'चकार' द्वारा दोनों वाक्यों की एक वाक्यता सिद्ध की गई है। अतः प्रथम भाग 'विषं भक्षय' का तात्पर्य शत्रु-गृह में भोजन करना विष-भक्षण से भी बुरा है, अतः इसके घर में नहीं खाना चाहिए--इस वाक्यार्थ में निकलता है। गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं कि यहाँ 'च' शब्द द्वारा दोनों की एकवाक्यता है 'चकारस्यैकवाक्यतासूचकत्वात्। अन्यथा तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्।'

पूर्वपक्षी पुनः यह शंका करता है कि उपर्युक्त वाक्यों में 'भक्षय' तथा 'भुङ्क्था' ये दो प्रधान क्रियाएं हैं तथा वे एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। अतः दोनों स्वतन्त्र वाक्य होने से उनमें आया हुआ चकार एकवाक्यता का सूचक नहीं है। इसके अतिरिक्त जहाँ दो तिङन्त वाक्य होते हैं उनमें अङ्गाङ्गि-भाव हो नहीं सकता।

समाधान किया गया है कि 'विषं भक्षय' यह एक ।सुहृद् वाक्य' है। कोई भी मित्र किसी को विष खाने की सलाह नहीं दे सकता। यदि इसे पूर्ण वाक्य मान लिया जाए तो अर्थ अनुपपन्न रहेगा। अतः पूर्ण अर्थ की असंगति के कारण 'मा चास्य गृहे भुङ्क्था' दूसरे वाक्य का अंग रह जाता है। इस प्रकार दोनों वाक्यों की एक वाक्यता सिद्ध हो जाने पर कथित उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होता है।[1]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १५०-१५१

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं दीर्घदीर्घतर अभिधावादी मीमांसकों के अनुसार शब्द-श्रवण के पश्चात् जो ज्ञान होता है यदि उसे वाच्यार्थं कहा जाए फिर तो 'ब्राह्मण तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है' तथा 'हे ब्राह्मण तुम्हारी कन्या गर्भिणी है' इन वाक्यों के श्रवणानन्तर हर्ष तथा शोक की जो व्यंजना होती है, उसे भी वाच्य अर्थ ही मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा माना नहीं जाता।

दूसरा दोष यह भी होगा कि यदि दीर्घ-दीर्घतर अभिधा से ही सब प्रकार के अर्थों का ज्ञान हो जाता है, तो ऐसी दशा में यदि व्यंजना मानना आवश्यक नहीं तो लक्षणा-वृत्ति की भी आवश्यकता नहीं होगी क्योंकि लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी शब्द के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार द्वारा अभिधा से होने लगेगी। इसके अतिरिक्त ऐसा मानने पर श्रुति आदि प्रमाणों की प्रबलता-दुर्बलता का प्रश्न ही नहीं उठेगा। जैमिनि मुनि का इस संदर्भ में सूत्र है—श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।' इसमें जैमिनि मुनि ने बताया है कि वेद के मन्त्र आदि अंगरूप विधि का मुख्य यज्ञादि क्रिया में विनियोग कराने वाले श्रुति आदि ६ साधन हैं और इनमें आगे आने वाले की अपेक्षा पहला अधिक बलवान् होता है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'सर्वत्रैवाभिधाप्रसंगे उत्तरस्य दौर्बल्ये बीजाभावात्।' गोविन्द ठक्कुर ने श्रुति, लिंग आदि की विस्तृत व्याख्या की है। जैसे श्रुति का लक्षण है 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः' अर्थात् अर्थबोधन के लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा न रखने वाले शब्द को श्रुति कहते हैं। श्रुति, लिंग आदि उत्तरवर्ती प्रमाणों की अपेक्षा अधिक बलवती होती है क्योंकि श्रुति तो अन्य प्रमाण की अपेक्षा किए बिना ही विनियोग कर देती है किन्तु लिंग को अपने समर्थन में श्रुति की कल्पना करनी होती है। लिंग में विलम्ब से अर्थं की उपस्थिति होती है। अतः लिंग श्रुति की अपेक्षा दुर्बल है। इसी प्रकार अन्य लिंग, वाक्यादि की भी विस्तृत चर्चा की गई है।[1]

अतः मीमांसकों के अनुसार यदि अभिधा व्यापार ही माना जाए तो अर्थ की प्रतीति में पौर्वापर्यं का प्रश्न नहीं उठेगा। अतः यह सिद्धान्त ठीक नहीं।

३. मम्मट का अनुकरण करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि काव्य में अनेक स्थानों पर शब्दों के क्रम में विपर्यास होने से साधु प्रयोग के स्थान पर दुष्ट प्रयोग हो जाता है और उनसे अश्लीलत्व की व्यंजना होने लगती है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १५१ से १५७ तक

यदि ऐसे स्थानों पर व्यंजना शक्ति को न माना जाए तो अभिधा के कारण दुष्टप्रयोग का अवसर नहीं आएगा। जैसे 'कुरु रुचिम्' इन दोनों को उलटकर यदि 'रचि कुरु' यह पाठ कर दिया जाए तो 'चिकु' शब्द का असभ्य अर्थ होने से अश्लीलता दोष आ जाता है। परन्तु यहाँ 'चिकु' शब्द जिस असभ्य अर्थ का वाचक है वह किसी पद का वाच्यार्थ नहीं है। इस कारण यदि उसको व्यंग्य न माना जाए तो इस प्रकार के प्रयोग काव्य में त्याज्य नहीं होंगे।

दूसरी बात दोषों की नित्यानित्य की व्यवस्था भी नहीं होगी। 'च्युत-संस्कृति' आदि दोष प्रत्येक रस में अपकर्षक होते हैं, अतः वे नित्य दोष हैं। 'श्रुतिकटु' आदि दोष अनित्य दोष हैं क्योंकि वे करुण-श्रृंगार आदि रसों में ही दोष माने जाते हैं वीर, रौद्र, भयानक आदि में नहीं। यदि वाच्यवाचक से भिन्न व्यंग्य-व्यंजक भाव न माना जाए तब तो दोषों की नित्यानित्यव्यवस्था करना असंभव होगा। किन्तु यह विभाग करना पड़ता है क्योंकि समस्त काव्य-रसिकों को इसकी प्रतीति हुआ करती है। यह विभाग-व्यवस्था व्यंजना को स्वीकार करने पर ही बन सकती है। व्यंजना के अभाव में संभव नहीं।

व्यंजना वृत्ति को स्वीकार करना इसलिए भी आवश्यक है कि एक ही शब्द के पर्यायवाची पदों में से किसी पद का प्रयोग काव्यसौन्दर्यवर्धक माना जाता है किसी का नहीं। जैसे 'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागम-प्रार्थनया कपालिनः' में 'कपालिन्'-शब्द का प्रयोग काव्य के अनुकूल माना गया है 'पिनाकिन्' शब्द का नहीं। प्रकरण के अनुकूल 'कपालिन्' शब्द का प्रयोग करके शिव निन्दा ही अभिव्यंजित की गई है। यदि 'पिनाकिन्' शब्द का प्रयोग किया जाता तो वह वीरता का द्योतक है, निन्दाव्यंजक नहीं, जो प्रसंगानुकूल नहीं। अतः 'कपालिन्' शब्द में जो निन्दात्मक विशेष चमत्कार उत्पन्न हो गया है तथा जो अधिक उपयुक्त और काव्यानुगुण प्रयोग है, वह व्यंजना व्यापार को माने विना केवल अभिधा से संभव नहीं हो सकता है।

४. व्यवहार में देखा जाता है कि 'वाच्यो ह्यर्थः सर्वैरेक एव प्रतीयत इति नियतः' अर्थात् वाच्यार्थ सदैव साक्षात् संकेतित अर्थ को ही आधार बनाता है, वह सदा नियत और एक रूप रहता है। शब्द का प्रयोग किसी भी रूप में किया जाये परन्तु उसकी एकरूपता में विभेद नहीं हो सकता है। जैसे 'गतोऽस्तमर्कः' में वाच्यार्थ कहीं भी बदलता नहीं है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'व्यंग्यस्तु वक्तृप्रकरणादिवशादनियतः' अर्थात् व्यंग्य अर्थ श्रोता, प्रकरण आदि के अनुसार बदलता रहता है। जैसे 'गतोऽस्तमर्कः' का व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न

है—सेनापति पक्ष में—शत्रुओं पर आक्रमण कर दो। अभिसारिका पक्ष में—अभिसार करने का समय हो गया है। प्रतीक्षा करने वाली पत्नी के पक्ष में—तुम्हारे पति आने ही वाले हैं। श्रमिक-पक्ष में—कर्म करने से निवृत्त हो जाओ। धार्मिक पक्ष में—संध्या-वंदन का समय हो गया। बाहर खेलने वाले बालक के पक्ष में—दूर न जाना। गोपाल के पक्ष में—गायों को घर में प्रवेश कराओ। दिन में संतप्त इष्ट मित्रों के पक्ष में—अब ताप नहीं है। दुकानदार के पक्ष में—विक्रय वस्तुओं को एकत्रित करो। अत: संख्या के आधार पर वाच्यार्थ सदैव नियत और एक होता है ओर व्यंग्यार्थ अनियत और अनेक हो सकते हैं।

स्वरूप-भेद से वाच्य-व्यंग्य के उदाहरण

वाच्य और व्यंग्य अर्थ की भिन्नता का प्रतिपादन करने के लिए अन्य सात प्रकार के भेदों का निरूपण किया गया है—

(i) **स्वरूप**

स्वरूप-भेद के तीन उदाहरणों की चर्चा की गई है। प्रथम उदाहरण 'नि:शेष' आदि है। यहाँ वाच्य निषेध रूप और व्यंग्य विधि रूप है—'प्रथमे हि वाच्यो निषेधरूपो व्यंग्यस्तु विधिरूप:'। द्वितीय उदाहरण—'मात्सर्य मुत्सार्य विलासिनीनाम्'[1] है। यहाँ वाच्य संशय रूप है और व्यंग्यार्थ वक्ता के शान्त व श्रृंगारी होने पर शान्त तथा श्रृंगारी किसी एक का निश्चय रूप—'द्वितीये वाच्य: संशयरूपो व्यंग्यस्तु शान्ते श्रृंगारिणि वा वक्तरि तदुचितैककोटि-निश्चय:'। तृतीय उदाहरण 'कथमवनिप······कीर्तिरेभि:'[2] है। यहाँ वाच्यार्थ निन्दा रूप है और व्यंग्यार्थ स्तुतिरूप है—'तृतीये वाच्यो निन्दारूप:। प्रतीयमानस्तु स्तुतिरूप:।'

(ii) **कालभेद**

'पूर्व हि वाच्य: प्रतीयते पश्चात्तु व्यंग्य इति' अर्थात् पहले वाच्य की प्रतीति होती है, बाद में व्यंग्यार्थ की।

(iii) **आश्रय-भेद**

'वाच्यस्य शब्दमात्रमाश्रय:। प्रतीयमानस्य तु पदशब्दैकदेशीभूतकाक्वादि-तदर्थवर्णसंघटना इत्याश्रयभेद:' अर्थात् वाच्यार्थ शब्द के आश्रित रहता है और व्यंग्यार्थ का आश्रय शब्द, शब्दैकदेश, शब्दार्थ, वर्ण तथा रचना आदि हैं। यही आश्रय-भेद है।

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ५-१३३

२. वही, पृ० ५-१३४

(iv) निमित्त-भेद

'वाच्यस्य व्याकरणकोषादिमात्रेणावगमः । प्रतीयमानस्य तु प्रतिभानैर्मल्येनाप्यधिकेनेति ज्ञापकभेदः' अर्थात् व्याकरण, कोशादि के द्वारा वाच्यार्थ का बोध होता है। किन्तु व्यंग्यार्थ का ज्ञान उसे होता है जिसकी प्रतिभा निर्मल हो और जो सहृदय काव्यतत्त्वज्ञ हो।

(v) कार्य-भेद

मम्मट ने स्पष्ट किया है कि जिसे वाच्यार्थ का बोध होता है वह तो केवल बोद्धा कहलाता है किन्तु जिसे व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वह बोद्धा के साथ-साथ सहृदय पद का भी अधिकारी होता है। वाच्यार्थ से केवल प्रतीति होती है चमत्कृति नहीं, किन्तु व्यंग्यार्थ से चमत्कार भी होता है।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने एक विशिष्ट कार्य-भेद दिखाया है—'वाच्येन व्युत्पन्नमात्रस्य प्रतीतिमात्रम्। अन्येन तु विदग्धपदवाच्यस्य सहृदयस्य चमत्कृतिरिति कार्यभेदः' अर्थात् वाच्य के द्वारा व्युत्पन्नमात्र व्यक्ति को केवल प्रतीति होती है तथा व्यंग्य के द्वारा तो विदग्धपदवाच्य सहृदय को चमत्कृति होती है।

(vi) संख्या-भेद

'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ दर्शितनयेन वाच्यः एकः। प्रतीयमानस्तु नानेति संख्याभेदः' अर्थात् संख्या के आधार पर वाच्यार्थ सदैव नियत और एक होता है और व्यंग्यार्थ अनियत और अनेक होते हैं।

(vii) विषय-भेद

विषय-भेद का उदाहरण 'कस्या वा······सहस्वेदानीम्'[1] है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ वाच्यार्थ का विषय सखी है तथा इसे भ्रमर ने काटा है अन्य किसी ने नहीं इस व्यंग्यार्थ का विषय नायक है। 'इसी प्रकार मेरी ऐसी चतुरता है' इस व्यंग्यार्थ का विषय पड़ोसिन है तथा 'इसके विषय में और कोई शंका नहीं करनी चाहिए' इस व्यंग्यार्थ का विषय सास है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ का विषय प्रतिनायक, सपत्नी आदि हैं।

इस प्रकार वाच्यार्थ सबके लिए समान होता है किन्तु व्यंग्यार्थ वक्ता, श्रोता आदि के भेद से भिन्न प्रकार का होता है।

अन्त में गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट किया है कि वाच्य और व्यंग्य में उपर्युक्त सात प्रकार का भेद होने पर भी यदि वाच्य और व्यंग्य दोनों में एकता या अभेद हो सकता है तो कहीं भी नील-पीत आदि में भेद न होगा। कहा गया है

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० २६०

कि दोवस्तुओं में भेद तथा अभेद का हेतु यही है कि उनमें विरुद्ध धर्मों की प्रतीति हो और कारणों का भेद हो।[1]

५. वाच्य और व्यंग्य अर्थ ही अलग-अलग नहीं होते हैं अपितु इन अर्थों के द्योतक वाचक और व्यंजक शब्दों में भी अन्तर रहता है। वाचक शब्द सदैव ही अर्थ व्यंजक होता है परन्तु निरर्थक अवाचक शब्दों से भी व्यंजना हो सकती हैं अर्थात् वाचक को संकेतित अर्थ की अपेक्षा है किन्तु व्यंजकता के लिए ऐसे किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं होती है। गुणीभूतव्यंग्य के 'असुन्दर' नामक भेद के 'वानीर कुंज'[2] उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि जो अर्थ अभिधावृत्ति तथा तात्पर्य वृत्ति का भी विषय नहीं वहां उसकी प्रतीति व्यंजना-व्यापार गम्य है। अभिप्राय यह है कि असुन्दर गुणीभूतव्यंग्य नामक भेद' में व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है परन्तु व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ ही चमत्कार युक्त होता है। अतः यहाँ तात्पर्य की विश्रान्ति वाच्यार्थ में ही मानी जाती है अर्थात् वाच्यार्थ ही तात्पर्यविषयीभूत अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त दूसरा प्रतीयमान अर्थ जो वाच्यार्थ की अपेक्षा कम सुन्दर है, वह तात्पर्य का विषय नहीं है। साक्षात् संकेत न होने के कारण यह अभिधा का व्यापार नहीं हो सकता क्योंकि मीमांसा के 'यत्परः' इत्यादि न्याय के अनुसार तो जो विधेय है, वही तात्पर्यार्थ है। अतएव ऐसे व्यंग्य की प्रतीति व्यंजना व्यापार द्वारा ही संभव है।[3]

६. पूर्वपक्षी की ओर से यह शंका की जाती है कि जिस प्रकार शब्द का वाच्यार्थ नियतरूप से एक होता है परन्तु व्यंग्यार्थ श्रोता तथा वक्ता आदि के भेद से अनियत और अनेक अर्थ वाला होता है उसी प्रकार लक्ष्यार्थ के भी नाना अर्थ होते हैं। वह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि आदि व्यवहार का कारण होता है तथा प्रकरण, वक्तृवैशिष्ट्यादि की अपेक्षा रखता है। 'रामोऽस्मि सर्वं सहे'[4] उदाहरण में लक्ष्यार्थ है—१. 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इत्यत्र रामपदेन सर्वदुःखभाजनत्वम्' अर्थात् मैं राम हूं सब कुछ सहन कर सकता हूं। २. दूसरा उदाहरण 'वक्रोक्तिजीवित' से दिया है। जिसका एक चरण है 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्।' गोविन्द ठक्कुर ने पूरा उदाहरण

१. काव्यप्रदीप, पृ० १६१

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ५-१३२

३. काव्यप्रदीप, पृ० १६१

४. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-११२

उद्धृत किया है । यहाँ निष्करुणत्व लक्ष्यार्थ हैं ।[१] तीसरा उदाहरण— 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धि पराम् ।'[२] है । यहाँ राम शब्द अर्थान्तरसंक्रमित होकर 'खरदूणादिनिहन्ता राम' का बोध लक्षणा से कराता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि राम शब्द का वाच्यार्थ तो एक है परन्तु लक्ष्यार्थ भिन्न-भिन्न है । 'राम' शब्द अर्थान्तरसंक्रमित होकर लक्ष्यार्थ का बोध कराता है । उस लक्ष्य का बोध शब्द तथा अर्थ के अधीन है तथा व्यंग्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ का भी प्रकरण आदि के द्वारा बोध हुआ करता है । अतः यहाँ पूर्वपक्षी शंका करता है कि तब यह प्रतीयमान नामक अर्थ कौन सा है ?

लक्षणावादी की उपर्युक्त युक्तियों का खण्डन किया गया है । गोविन्द-ठक्कुर ने इस सम्बन्ध में दी गई मम्मट की युक्तियों का विवेचन किया है—

(i) यद्यपि एक शब्द के अनेक लक्ष्यार्थ हो सकते हैं तथापि वे नाना अर्थ वाले सैन्धव आदि शब्दों के वाच्य-अर्थ के समान नियत ही हैं, किसी 'सामीप्य आदि' नियत सम्बन्ध के आधार पर ही लक्ष्यार्थ का बोध होता है उसके बिना नहीं क्योंकि लक्षणा-सूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ में ही लक्षणा होती है । किन्तु व्यंग्य अर्थ का सदा नियत सम्बन्ध ही नहीं होता, कभी वह सम्बन्ध अनियत होता है, कभी साक्षात् सम्बन्ध न होकर परम्परा से ही होता है ।

(ii) मुख्यार्थ बोध होने पर लक्षणा होती है किन्तु 'श्वश्रूरत्र········ निमंक्ष्यसि'[३] विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के उदाहरण में मुख्यार्थबाध का अभाव है । अतः उसमें लक्षणा कैसे हो सकती है ।

(iii) द्वितीय उल्लास में यह प्रतिपादित किया है कि लक्षणा में भी व्यंजना का आश्रय लेना पड़ता है ।

(iv) जिस प्रकार अभिधा संकेत-सापेक्ष है इसी प्रकार लक्षणा के भी मुख्यार्थ बाध, तद्योग तथा रूढ़ि या प्रयोजन तीन हेतु हैं अर्थात् लक्षणा भी तीन प्रकार के संकेत-विशेष की अपेक्षा रखती है । इसलिए कहा गया है कि लक्षणा अभिधा की पुच्छरूप है ।

(v) व्यंजन-व्यापार लक्षणात्मक नहीं है क्योंकि लक्ष्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है । अतः व्यंजना लक्षणा से भिन्न है ।

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-१०९

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४·१०९

३. काव्यप्रदीप पृ० १६३-१६२

(vi) केवल लक्षणामूलक ही नहीं अपितु अभिधामूलक व्यंग्यार्थ की भी प्रतीति होती है।

(vii) अभिधामूलक और लक्षणामूलक के अतिरिक्त कहीं निरर्थक वर्ण आदि से और कहीं कटाक्ष आदि से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।[1]

अतएव व्यंजना को लक्षणा से भिन्न स्वतन्त्र वृत्ति मानना आवश्यक है।

'श्वश्रूरत्र'[2] में नियत संबंध वाला व्यंग्य है और 'कस्य वा न'[3] में अनियत संबंध वाला व्यंग्य है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि कहीं इस प्रकार का विवेचन भी मिलता है 'नियतसंबंधत्वं च वाच्य-व्यंग्यप्रतीत्योरेकविषयतात्मकम्। प्रथमे तस्य भावः। पथिकरूपैकविषयकत्वात्। द्वितीये तु तदभावः। सखीतत्कान्तादिविषयभेदात्' 'इति केचित्। गोविन्द ठक्कुर ने 'तन्न सम्यगाभाति' से इस मत का निषेध किया है। 'इति केचित्' से गोविन्द ठक्कुर ने सारबोधिनीकार श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य के मत को उद्धृत किया है। 'सारबोधिनी' में श्री भट्टाचार्य ने इस प्रकार की चर्चा की है।[4]

'विपरीतरते···स्थयति'[5] उदाहरण में वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ के साथ व्यंग्य का साक्षात् सम्बन्ध है तथा वाच्यार्थ के साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यहाँ 'हरि' पद से दक्षिण-नेत्र का सूर्य-रूप होना व्यंजना द्वारा जाना जाता है। उसके मूंदने से सूर्यास्त होना व्यंग्य है, उससे कमल मूंदना तथा उस पद्मसंकोच से ब्रह्मा का ढक जाना व्यंग्य है, ब्रह्मा के तिरोहित हो जाने पर गोपनीय अंगों के दिखाई न देने के कारण अबाध रूप से सुरत-विलास व्यंग्य है। अतः यहाँ व्यंग्य सम्बद्ध-सम्बन्ध है।

७ ब्रह्मवादी वेदान्तियों का सिद्धान्त है 'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव च वाचम्'। इसका उत्तर देते हुए मम्मट कहते हैं कि कल्पना के बिना तो अंखण्ड अर्थं के साथ अखण्ड वाक्य का वाच्य-वाचकमात्र भी नहीं बन सकता क्योंकि परमार्थतः तो वाचक और वाच्य में भेद नहीं। इसलिए व्यवहार दशा में वेदान्तियों को भी व्यञ्जना वृत्ति स्वीकार करनी चाहिए।

'काव्यप्रदीप, सारबोधिनी' आदि टीकाओं के अनुसार यहाँ वेदान्तियों के

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १६२-१६३

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण, १३५

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण १३६

४. सारबोधिनी, पृ० १६२

५. काव्यप्रकाश, उदाहरण १३७

मत की आलोचना है। 'प्रभा' टीका के अनुसार शब्दब्रह्मवादी वैयाकरणों की आलोचना है।

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि वेदान्तियों के अनुसार अखण्ड बुद्धि ज्ञान के द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य वाक्य का अर्थ ही वाच्य है तथा अखण्ड वाक्य ही वाचक है। 'अखण्ड वाक्य' से अभिप्राय हैं कि उसमें क्रिया-कारक आदि अनेक खण्डों में वाक्य का विभाग नहीं हो सकता है। वेदान्त के अनुसार 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' है। अतः क्रिया-कारक विभाग भी मिथ्या है। क्रिया-कारक विभाग तो धर्मधर्मिभाव पर आश्रित है और जगत् मिथ्या है अतः इसमें धर्मधर्मिभाव कैसे बन सकता है ? ब्रह्म निर्गुण है अतः धर्मधर्मिभाव संभव नहीं। अतः पद-पदार्थ विभाग के अभाव में अखण्ड वाक्य का अर्थ ग्रहण भी बुद्धि के द्वारा अखण्ड रूप में होता है अर्थात् बुद्धि क्रियाकारकादि भाव को ग्रहण नहीं करती है अपितु अखण्ड वाक्यार्थ ग्रहण करती है।[1]

'प्रभा'—टीका में वैद्यनाथ ने शब्दब्रह्मवादी वैयाकरणों के मत को उद्धृत किया है। वेदान्तियों के समान वैयाकरण भी अखण्डार्थतावादी है। वैद्यनाथ ने इस सम्बन्ध में भर्तृहरि के मत को उद्धृत किया है। भर्तृहरि ने 'ब्राह्मणार्थो……स्युरनर्थकाः' कारिका में स्पष्ट किया है कि जैसे ब्राह्मण शब्द का अलग कोई अर्थ नहीं होता है। सम्पूर्ण वाक्य का ही अर्थ होता है। इसी को अखण्डवाक्यार्थता का सिद्धान्त कहते हैं। भर्तृहरि ने यह भी स्पष्ट किया है कि अखण्ड वाक्यस्फोट ही परमार्थतः सत्य है, पर वर्ण आदि तो कल्पित ही हैं। यह प्रकृति, प्रत्यय आदि का विभाग तो केवल बालकों की शिक्षा के लिए किया जाता है। मम्मट द्वारा उद्धृत अंश का 'अविद्यापदपतितैः' वैयाकरण सिद्धान्त के "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा' की ओर संकेत कर रहा है।[2]

अतएव उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेदान्ती और वैयाकरण दोनों ने अखण्ड वाक्य का सिद्धान्त माना है।

गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति उपर्युक्त विवेचन का उत्तर दिया है कि यदि वेदान्तियों की अखण्डता को स्वीकार कर लिया जाए तो सर्वप्रथम तो सभी प्रकार की शक्तियों का लोप हो जाता है। इसके अतिरिक्त वेदान्ती भी व्यवहार में पड़ने पर 'व्यवहारे भाट्टनयः' के अनुसार पद एवं पदार्थ के

१: काव्यप्रदीप, पृ० १६४

२. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० १६४

३. काव्यप्रदीप; प्रभा; पृ० १६४

विभाग को स्वीकार करते हैं। इसलिए उनके मत में भी 'निःशेष' आदि उदाहरण में विधि आदि व्यंग्य ही है।

८. गोविन्द ठक्कुर ने 'व्यक्तिविवेककार' महिमभट्ट के मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अनुमान द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है क्योंकि वाच्य अर्थ से असम्बद्ध अर्थ की तो प्रतीति नहीं होती, यदि असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति हो तो किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। इस प्रकार व्यंग्य-व्यंजक भाव व्याप्ति के बिना निश्चित ही नहीं हो सकता है। उस संबंध के नियमित होने के कारण ही सहृदयों को व्यंग्य की प्रतीति होती है। यह व्यंग्यव्यंजक भाव व्याप्ति के न होने पर नियम से न होगा, इसलिए सपक्ष में होना, विपक्ष में न होना तथा पक्ष में होना इस त्रिरूप लिंग से लिंगी का ज्ञानरूप जो अनुमान है उसी रूप में व्यंग्य व्यंजक भाव का पर्य-वसान होता है। इस प्रकार व्याप्ति और पक्षधर्मतायुक्त तथा त्रिरूप विशिष्ट लिंग से लिंगी के ज्ञान को ही अनुमान कहा जाता है तथा व्यंग्य अर्थ की प्रतीसि भी व्याप्ति संवध और पक्ष धर्मता के बिना संभव नहीं।

'भ्रम···दृप्तसिंहेन'[२] उदाहरण को महिमभट्ट ने अनुमान द्वारा सिद्ध किया है। संकेतस्थान की ओर पुष्पचयनार्थ जाने वाले धार्मिक के प्रति एक अभिसारिका की उक्ति है। यहाँ वाच्यार्थ 'भ्रम धार्मिक' विधि रूप है। साथ ही सिंह की उपस्थिति भी बताई है। अतः वहाँ भीरू भ्रमण का निषेध व्यंग्य हैं क्योंकि भीरू भ्रमण के व्यापक भयकारणानुपलब्धि के विरुद्ध सिंह की उपलब्धि हो रही है। इस प्रकार निषेध रूप अर्थ को महिमभट्ट ने अनुमानजन्य प्रतीति का विषय माना है। पंचावयव युक्त अनुमान वाक्य द्वारा महिमभट्ट ने भ्रमण के निषेध को इस प्रकार सिद्ध किया है—१. साध्य-प्रतिज्ञा 'गोदावरीतीरं भीरूभ्रमणायोग्यं।' २. हेतु सधान—'भयकारणसिंहो-पलब्धेः।' ३. व्यतिरेकव्याप्ति—यद्यत् भीरू भ्रमणयोग्यं तत्तद्भयकारणाभाव-वत् यथा गृहम्।' ४. उपनय—'न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत् सिंहो-पलब्धेः।' ५. निगमन—'तस्मात् भीरूभ्रमणायोग्यम्। महिमभट्ट के अनुसार 'भ्रम धार्मिक' उदाहरण में अनुमान का यह स्वरूप बनता है—'गोदावरीतीरं भीरूभ्रमणायोग्यं भयकारणसिंहोपलब्धेः।' यहाँ पर 'भयकारणसिंहोपलब्धि' हेतु है और 'भीरूभ्रमणायोग्यत्व' साध्य है। अर्थात् जहाँ-जहाँ भय का कारण होगा वहाँ-वहाँ वह भीरू भ्रमण के अयोग्य होगा, यह व्याप्ति बनती है। आचार्य

---

१. काव्यप्रदीप, पृ॰ १६४

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ५-१३५

मम्मट का कथन है कि यहाँ शुद्ध हेतु न होकर हेत्वाभास है। इस हेतु में— १. अनैकान्तिक, २. विरुद्ध, ३. स्वरूपासिद्ध ये तीन प्रकार के हेत्वाभास हैं।

हेत्वाभास कैसे है? इसे स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर कहते हैं— 'श्वभीरोरवीरस्वभावस्य भ्रमणायोग्यत्वमत्र साध्यं वीरस्वभावस्य वा। विशेषौदासीन्येन तत्सामान्यस्यैव वा।' अर्थात् 'श्वभीरू के लिए गोदावरी-तट भ्रमण-योग्य नहीं, यहाँ प्रश्न यह है कि —

(i) वह स्वभाव से ही भीरू है, (ii) या स्वभाव से वीर है, (iii) या सामान्य स्वभाव वाला है।

(i) 'आद्ये व्यभिचारः' अर्थात् प्रथम पक्ष में महिमभट्ट का हेतु व्यभिचारी या अनैकान्तिक है क्योंकि व्यवहारिक पक्ष में भय का हेतु होने पर भी भीरू व्यक्ति गुरु या स्वामी के आदेश से भय-युक्त स्थानों पर भी जाता है। अतः व्याप्ति पूर्ण न होने से अनुमान का ठीक रूप नहीं कहा जा सकता है।

(ii) कुत्ते से डरते हुए भी वीरता के कारण सिंह से नहीं डरता है, अतः विरुद्ध हेत्वाभास है।

(iii) गोदादरी तीर पर सिंह की उपस्थिति को प्रमाण नहीं माना जा सकता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा निश्चित नहीं की गई है अपितु वचन से है। यह वचन किसका है? इसके उत्तर में कहा है कि पुंश्चली का वचन हैं। इस वचन को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है क्योंकि इसका अर्थ के साथ नियत संबंध नहीं है। इस हेतु सिंहोपलब्धि का पक्ष गोदावरी-तीर में निश्चय न होने से स्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभास है।

अतएव ऐसे हेतु से साध्य की सिद्धि कैसे हो सकती है। अतः यहाँ भ्रमण-निषेध रूप व्यंग्यार्थ अनुमान का विषय नहीं हो सकता।

इसी प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने 'निःशेषच्युत' उदाहरण में अनुमान का निराकरण करते हुए, इसे व्यंजना का उदाहरण सिद्ध किया है। अनुमिति-वादी 'निःशेष' आदि उदाहरण में 'चन्दन-च्यवन' आदि को उपभोग का अनु-मापक वताते हैं। किन्तु इस कथन का खण्डन करते हुए कहा गया है कि चन्दन-छूटना आदि तो अन्य कारण स्नानादि के द्वारा भी हो सकते हैं। अतः 'चन्दन-च्यवन' आदि का उपभोग के साथ नियत सम्बन्ध न होने से उपभोग कीअनुमिति कैसे हो सकती है अर्थात् अनुमान का विषय कैसे हो सकता है। अतः ये अनैकान्तिक है, उनसे साध्य-सिद्धि नहीं हो सकती।

व्यंजनावादी ने 'अधम' पद के द्वारा चन्दन-च्यवनादि पदों की व्यंजकता का कथन किया है। यदि यहाँ यह कहा जाए कि अधम पद की सहायता से अनुमिति भी हो जाएगी तो यह उचित नहीं क्योंकि वह अधमत्व प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं है। अतः अनुमान द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। परन्तु व्यंजनावादी के मत में यह बात नहीं है। उनके यहाँ तो व्याप्ति आदि की अपेक्षा किए बिना ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। 'इस प्रकार के अर्थ से इस प्रकार का अर्थ प्रकट होता है' यह कहने वाले व्यंजनावादी के मत में दोष नहीं है।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने महिमभट्ट के अनुमितिवाद का खण्डन करते हुए व्यंजना की सत्ता को सिद्ध किया है। पूर्वपक्ष के रूप में अनुमितिवाद के मत को उद्धृत करते हुए मम्मट ने ग्रन्थ में किसी भी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि यह मत महिमभट्ट का है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि मम्मट की भांति गोविन्द ठक्कुर ने भी व्यंजना-विरोधियों का खण्डन करते हुए व्यंजना की स्थापना की है। प्रदीपकार का विवेचन मम्मट की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। सर्वप्रथम पूर्वपक्ष का मत उद्धृत किया है तत्पश्चात् उत्तर-पक्ष के रूप में पूर्वपक्ष का खण्डन किया है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि यदि वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ को भिन्न न माना जाएगा तो सहृदय और पाठक में कोई अन्तर नहीं होगा। उस दशा में सहृदय भी पाठक समझा जाएगा जबकि वाच्यार्थ को समझने वाले पाठक और व्यंग्यार्थ की समझने वाले सहृदय कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त वाचक और व्यंजक शब्द भी भिन्न हैं। अतः यहाँ व्यंजना-वृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है। व्यंजना केवल लक्षणा से ही भिन्न नहीं है वल्कि वह अभिधा और तात्पर्य-शक्ति से भी भिन्न है। अतः व्यंजना अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या तीनों शक्तियों से भिन्न शक्ति स्वीकार की जाती है और इसे लक्षणा में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। इनके अतिरिक्त वेदान्ती और वैयाकरण जो अखण्डवाक्यार्थ को स्वीकार करते हैं, व्यावहारिक काल में उन्हें भी वाक्य के पद-पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ती है। इसी प्रकार नैयायिक जो अनुमान द्वारा भ्रमण-निषेध की प्रतीति कराकर व्यंजना का खण्डन करते हैं, उनका अनुमान विरोधाभास दोष से ग्रस्त होने के कारण साध्य की सिद्धि नहीं करा सकता। अतः यहां भी व्यंजना का अस्तित्व मानना पड़ता है। अभिप्राय यह है कि व्यंजना-वृत्ति की पृथक् सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है।

प्रस्तुत अध्याय में गोविन्द ठक्कुर के गम्भीर चिन्तन को प्रकट किया गया है। प्रदीपकार ने 'अभिधा' और 'लक्षणा' शक्ति का विवेचन मम्मट की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और विस्तृत रूप में किया है। 'अभिधा' शक्ति के विवेचन में गोविन्द ठक्कुर ने 'भास्कर' टीकाकार के मत का, 'लक्षणा' के विवेचन में आचार्य विश्वनाथ के मत का और 'लक्षणा तेन षड्विधा' सूत्र की व्याख्या में चण्डीदास के मत का खण्डन किया है। इन आचर्यों एवं टीकाकारों के मत से स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर को मम्मट का अभिप्राय मान्य है। जहाँ किसी टीकाकार ने मम्मट के विरुद्ध कहा वहाँ प्रदीपकार ने उस टीकाकार की आलोचना करने में संकोच नहीं किया। अभिधामूलक व्यंजना में प्रदीपकार का विस्तृत विवेचन उनकी मौलिकता का परिचायक है। भर्तृहरि की 'संयोग-विप्रयोग' कारिका की चर्चा करते हुए मम्मट ने मात्र उदाहरण दिए हैं, परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने संयोग, विप्रयोग आदि प्रत्येक तत्त्व का स्पष्टीकरण किया है। लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि तथा स्वर आदि तो विशेष चर्चा का विषय बने हैं। 'आर्थी-व्यंजना' का विवेचन करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने 'काकु वैशिष्ट्य' उदाहरण की विशेष चर्चा की और अनेक भ्रान्तियों का निराकरण किया है। अन्त में मम्मट की भांति गोविन्द ठक्कुर ने भी व्यंजना शक्ति को पृथक् शक्ति माना है। अतएव गोविन्द ठक्कुर का विस्तृत विवेचन मम्मट की गूढ कारिकाओं को स्पष्ट करने में सहायक है।

पंचम अध्याय

ध्वनि-विवेचन

'काव्यप्रकाश' के 'चतुर्थ उल्लास' में मम्मट ने ध्वनिकाव्य के भेदों तथा अवान्तर भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। मम्मट ने अन्य उल्लासों (द्वितीय तथा तृतीय) की अपेक्षा चतुर्थ उल्लास के विवेचन में क्रम में कुछ परिवर्तन किया है। क्रम-परिवर्तन का कारण स्पष्ट करते हुए मम्मट का कथन है कि ''यद्यपि शब्दार्थयोनिर्णये कृते दोषगुणालंकाराणां स्वरूपमभिधानीयम् तथापि धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायत इति प्रथमं काव्यभेदानाह।''

गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' के चतुर्थ उल्लास में क्रमपरिवर्तन का कारण मम्मट की अपेक्षा अधिक विस्तृत रूप में स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं कि 'काव्यप्रकाश' के प्रथम उल्लास में आचार्य मम्मट ने 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलंकृती पुनः क्वापि', इस प्रकार काव्य-लक्षण का विवेचन किया है। 'काव्य-लक्षण' में शब्दार्थौ यह विशेष्य है शेष तीन विशेषण हैं। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उल्लास में शब्दार्थ युगल विशेष्य का विवेचन किया जा चुका है। अतः प्रस्तुत उल्लास में दोष, गुण, अलंकार विशेषण पदार्थों का विवेचन उचित है, उनके निरुपण का यहां अवसर है, काव्य के भेद ध्वनि आदि के भेदों का अवसर नहीं। इसका समाधान करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि काव्य-धर्मी है और दोष, गुण, अलंकारादि काव्य के धर्म हैं। जब तक धर्मी काव्य के पूर्ण भेदों का निरूपण भली-भाँति न किया जाए तब तक धर्म का विवेचन सम्भव नहीं हो सकता तथा दोषों की हेयता और गुण आदि की उपादेयता का ठीक ज्ञान नहीं हो सकता ''तथापि ध्वन्यादेर्भेदेषु ज्ञातेषु दोषादीनां हेयोपादेयतयोरवगमो भवति। यथा श्रुतिकटुत्वं दोषो ध्वनिविशेषे श्रृंगारादिध्वनौ हेयः, रौद्रादिरसध्वनौ चित्रभेदे वा अहेय एव। माधुर्यादिर्गुणः श्रृंगारदिध्वनावुपादेयः रौद्रादिध्वनौ त्वनुपादेय एव। अलंकारोऽपि यमकादि रसादिध्वनावनुपादेयः, चित्रभेदे तूपादेय एव।' अतः चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ उल्लासों में काव्य के भेदों तथा उपभेदों का निरुपण किया जाएगा, तत्पश्चात् दोष, गुण तथा अलंकार का विवेचन किया जाएगा।[1]

१. काव्यप्रदीप, पृ० ५६

प्रस्तुत अध्याय में भी ध्वनिकाव्य के भेदों, उपभेदों का विवेचन किया गया है। यह अध्याय गोविन्द ठक्कुर के गंभीर शास्त्रीय विवेचन का परिचायक है। ध्वनि भेदों में 'रसध्वनि' की विशेष चर्चा गोविन्द ठक्कुर की तर्क-बुद्धि की प्रसूति है।

ध्वनिभेद

ध्वनि-भेदों की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि ध्वनि के प्रथमत: दो भेद हैं --- १. अविवक्षितवाच्य ध्वनि, २. विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि। अविवक्षिवाच्य ध्वनि को लक्षणामूलक तथा विवक्षितान्य-परवाच्य ध्वनि को अभिधामूलक ध्वनि कहते हैं। क्रम से अभिधामूलक ध्वनि का निरूपण प्रथम होना चाहिए, लक्षणामूलक ध्वनि का वाद में। परन्क गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि द्वितीय उल्लास में जिस प्रकार लक्षणामूलय ध्वनि की चर्चा पहले की गई है और अभिधामूलक ध्वनि की बाद में, उसी प्रकार यहां भी अविवक्षितवाच्य ध्वनि का विवेचन प्रथम है और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का वाद में। इसका अधिक स्पष्टीकरण करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'सूचीकटाहन्यायेन' से लक्षणामूलक ध्वनि का प्रथम निर्देश किया जा रहा है।

लक्षणामूलक ध्वनि-काव्य का स्वरूप बताते हुए मम्मट की कारिका है "अविवक्षितवाच्यो . . . . तिरस्कृतम्।"[1]

मम्मट की कारिका की व्याख्या करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि प्रथमत: ध्वनि के दो भेद हैं १. अविवक्षितवाच्य ध्वनि २. विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। जिसमें वाच्यार्थ अविवक्षित होता है वह अविवक्षित-वाच्य ध्वनिकाव्य है। अविवक्षितवाच्य शब्द में ही ध्वनि का स्वरूप निहित है। अविवक्षितवाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ अनुपपन्न होता है अर्थात् अन्वय के अयोग्य होता है, तात्पर्य का अविषय हुआ करता है। इसमें लक्षणामूलक व्यंग्य होता है, वह व्यंग्य गूढ़ होता है और उस व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है। यहां अविवक्षितवाच्य ध्वनि को लक्षणामूलक ध्वनि कहने का अभिप्राय यह है कि वाच्यार्थ वाधित होने से लक्ष्यार्थ का वोध कराता हुआ व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराता है।

---

१. "अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ।
अर्थान्तरे सङ्.क्रमितत्यन्तं वा तिरस्कृतम्॥"
[काव्यप्रकाश कारिका, ४-२४]

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं -- १. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनि और २. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि वह है जहां वाच्यार्थ अनुपयुक्त होने के कारण अपनी अनुपपत्ति के निराकरण के लिए अपने से भिन्न एक ऐसे अर्थ में परिणत हो जाया करता है जो कि उसी का एक विशेष रूप अंश हुआ करता है। अभिप्राय यह है कि व्यंजक रूप में आने वाला वाच्यार्थ एक ऐसे अर्थ में परिणत हो जाता है जो वाच्य तथा लक्ष्य दोनों अर्थों में समान रूप से संबंध रखता है और उपयुक्तता भी स्पष्ट रूप में प्रतीत होती है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ पूर्णतः अनुपपन्न नहीं होता। वाच्यार्थ का उपयोग अवश्य होता है किन्तु वह अर्थ अधूरा प्रतीत होता है। अतः अर्थपूर्ति के लिए वह दूसरे में परिणत हो जाता है। 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि' को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं -- "वाच्यमत्यन्ततिरस्कृतम् न केनापि रूपेणान्वयप्रविष्टम्"। गोविन्द ठक्कुर ने 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि' की संक्षिप्त चर्चा की है। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि में वाच्यार्थ सर्वथा अनुपपन्न होता है। वाच्यार्थ तिरस्कृत इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह अपने स्वरूप का सर्वथा परित्याग करके लक्ष्यार्थ की प्रतीति में एक उपाय मात्र बन जाता है।

ध्वनि के भेदों उपभेदों के विवेचन में ध्वनिकार आनन्दवर्धन का प्रभाव है। 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि-भेदों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। मम्मट ने अविवक्षितवाच्य ध्वनि आदि का संक्षिप्त विवेचन किया है परन्तु गोविन्द-ठक्कुर ने विस्तृत रूप में चर्चा की है।

मम्मट ने क्रमशः उदाहरणों की चर्चा की है। "त्वामस्मि ...... परि-णमति"[2] उदाहरण अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि का है। यहाँ वचनादि उपदेशरूप में परिणत होता है।

काव्यप्रदीप -- गोविन्द ठक्कुर ने काव्यप्रदीप में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनि के दो उदाहरण दिए हैं। प्रथम उदाहरण "ताला .... कमलाइ"[3] प्राकृत का है। वस्तुतः यह उदाहरण आनन्दवर्धन की 'विषमवाणलीला' का

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ५७
२. काव्यप्रकाश, उदाहरण, ४-२३
३. संस्कृत - - "तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि।"
[प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ५७-५८]

है, जिसे आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में भी उद्धृत किया है।

प्रस्तुत उदाहरण के संबंध में प्रदीपकार का कथन है कि "अत्र द्वितीय-कमल-शब्दः सौरभादिगुणयुक्तत्वरूपे लक्ष्ये संक्रमितवाच्यः।" द्वितीय कमल शब्द अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का उदाहरण है। यहाँ दूसरी बार प्रयुक्त कमलादि शब्द पुनरुक्त नहीं अपितु अपने से भिन्न लक्ष्यादि अर्थों का अवबोधन कराता है।

द्वितीय उदाहरण 'त्वमास्मि'[1] को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ एक नहीं अनेक पदों के वाच्यार्थ अपने साधारण रूप में अविवक्षित हैं और अपने विशेष रूप को लक्षित कर रहे हैं। 'वच्मि' क्रिया पद सामान्य अर्थ में अनुपयुक्त है। 'उपदेश' रूप विशेष अर्थ को लक्षित कर रहा है। वहां वाच्यार्थ संक्रमित हो गया है। इस प्रकार 'त्वाम्', 'अस्मि' पद के वाच्यार्थ अनुपयुक्त हैं। 'त्वाम्' पद का वाच्यार्थ सामान्य रूप में उपयुक्त नहीं क्योंकि जिसे कहा जा रहा है वह तो सामने उपस्थित है। अतः उसके लिए निर्देशक पद का प्रयोग उचित नहीं। इसी प्रकार 'वच्मि' क्रिया पद से उत्तमपुरुष कर्त्ता का अभिप्राय स्वयं निकल आता है, तब कर्तृवाचक का प्रयोग भी अनुचित है। अतः 'त्वाम्' और 'अस्मि' पद का लक्ष्य अर्थ हो जाता है 'उपदेशाय त्वाम्' और 'आप्तोऽहम्'। "वच्मि" का ऊपर संकेत किया जा चुका है 'उपदिशामि'। 'आत्मीयां' आदि भी अन्य अर्थ में परिणत हो जाते हैं। 'त्वाम्', 'अस्मि' 'वच्मि' आदि पदों के लक्ष्यार्थों से यह स्पष्ट है कि विद्वानों की सभा में जाते हुए पुत्र या शिष्य को उसके पिता या गुरु का उपदेश कथन है कि यहां पर उपस्थित विद्वान् सर्वशास्त्रविज्ञ है अतः तुम अपनी बुद्धि को प्रमाणों के आधीन ठीक रखो, यह 'आत्मीया' का लक्ष्यार्थ है।[2]

प्रभा -- 'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ लिखते हैं कि यहां 'हितकारिता' व्यंग्य है अर्थात् मेरे कथनानुसार चलोगे तो हित होगा अन्यथा उपहास के पात्र बनोगे।[3]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने प्रस्तुत उदाहरण में मम्मट के संक्षिप्त कथन की विस्तृत व्याख्या की है।

२. अत्यन्तरितरस्कृतवाच्य ध्वनि — 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि'

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-२३
२. काव्यप्रदीप, पृ० ५८
३. "अत्रोपदेशलक्षणामूलं हितसाधनत्वं व्यंग्यम्।
[प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ५८]

का मम्मट ने उदाहरण दिया है "उपकृतं वहु . . . . . . शतम्"[१]। यहाँ कोई विपरीत-लक्षणा द्वारा अपकारी के प्रति कहता है।

काव्यप्रदीप -- गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि प्रस्तुत उदाहरण में 'उपकृत' आदि पद अन्वय के अयोग्य होता हुआ विपरीत अर्थ लक्षित करता है। इसमें वाच्यार्थ अपने स्वरूप का सर्वथा त्याग कर देता है, केवल लक्ष्यार्थ का वोधक होता है। जैसे 'उपकृतम्' शव्द 'अपकृतम्' का। अनेक अपकारों द्वारा पीड़ित किसी व्यक्ति की अपने उपकारी के प्रति उक्ति है। उपकारादि स्तुति रूप जो हैं वह मुख्यार्थ वाधित होकर विपरीत अर्थ को लक्षित कर रहा है। अतः 'उपकृतम्' शव्द लक्षणा द्वारा 'अपकृतम्' अर्थ में परिणत हो जाता है।

ध्वनि काव्य का दूसरा भेद है — 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' (अभिधामूलक ध्वनि)। मम्मट लिखते हैं "विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रा-परस्तु सः'। 'अन्यपरं' का अभिप्राय गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं— 'व्यङ्.ग्योपसर्जनीभूतम्'। अतः 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' का तात्पर्य है कि जहां वाच्यार्थ अन्वय के योग्य होता हुआ भी अपने से अधिक रमणीय व्यंग्य अर्थ की प्रतीति कराने के लिए अपने स्वरूप को गौण वना देता है।

'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' के दो भेद हैं — १. अलक्ष्यक्रमव्यंग्य २. लक्ष्यक्रमव्यंग्य।

अलक्ष्यक्रमव्यंग्य—गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि क्रम से लक्ष्यक्रमव्यंग्य की चर्चा पहले होनी चाहिए और अलक्ष्यक्रमव्यंग्य को वाद में। परन्तु यहां 'अलक्ष्यक्रमव्यंग्य' की चर्चा पहले है। अतः प्रदीपकार लिखते हैं — सूची-कटाहन्यायमाश्रित्यालक्ष्यक्रमव्यङ्.ग्यस्य पूर्वमुद्देशः।

'अलक्ष्यक्रमव्यंग्य' का स्पष्टीकरण मम्मट की भाँति करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि अलक्ष्यक्रम इसलिए कहा गया है क्योंकि विभा-वादि ही रस नहीं है किन्तु उनके द्वारा रस की निष्पत्ति होती है। वे हेतुरूप हैं। अतः क्रम तो है परन्तु शीघ्रता के कारण लक्षित नहीं होता।[२]

'लक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' में व्यंग्य और व्यंजक का क्रम स्पष्टतः लक्षित होता है। लक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के पंद्रह भेद हैं।

अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अवान्तर भेद—अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अवान्तर भेदों की चर्चा तथा अलंकार्य और अलंकार का अन्तर स्पष्ट करते हुए मम्मट की कारिका है 'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः। भिन्नो रसाद्यलंकारा-

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-२४
२. काव्यप्रदीप, पृ० ५९-६०

दलंकार्यतया स्थितः[1] ।'[1] वृत्ति में स्पष्ट है कि 'आदि' शब्द से भावसन्धि और भावशवलत्व का ग्रहण होता है। जहां पर रस आदि प्रधान रूप से स्थित रहता है वहां वह अलंकार्य होता है। अन्य स्थलों में जहां वाक्य का उद्देश्यभूत कोई अन्य अर्थ प्रधान होता है तथा रसादि अंग रूप होते हैं वहां वे अलंकार्य नहीं अपितु अलंकार रूप में आते हैं। जैसे गुणीभूतमध्यमकाव्य में रसवत्प्रेय-उर्जस्विसमाहित आदि अलंकार।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि' की मम्मट के समान चर्चा की है। वे लिखते हैं कि कारिका में प्रयुक्त 'तत्' शब्द से रस और भाव का ग्रहण होता है। प्रदीपकार लिखते हैं कि यहां यह शंका हो सकती है कि कि भावोदय, भावसन्धि, भावशवलत्व की भांति रसोदय, रसशान्ति, रससन्धि, रसशवलत्व आदि नाम क्यों नहीं किए जाते? समाधान है कि रस की अखण्ड सत्ता मानी जाती है। रसास्वाद में सामाजिक इतना अधिक तादात्म्य प्राप्त कर लेता है कि उसे अपनी परिमित सत्ता का बोध नहीं रहता। अतः रस में ये उपाधियां नहीं होती।[2]

'अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि' भेदों की चर्चा क्रमशः है —

रस का स्वरूप—'कारणान्यथ . . . . . स्मृतः' कारिका में मम्मट ने रस का स्वरूप वर्णित किया है 'लोक में स्थायी रति आदि चित्तवृत्ति विशेष के जो कारण कार्य, तथा सहकारी भाव हैं उनका यदि नाट्य तथा काव्य में वर्णन किया जाता है तो वे क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। विभावादि के द्वारा व्यंजना द्वारा व्यक्त किया हुआ स्थायी—भाव रस कहा गया है।'[3]

गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की कारिका की विस्तृत चर्चा की है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भावों का स्पष्टीकरण किया है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि कारिका में प्रयुक्त 'अथ' शब्द 'समुच्चय' अर्थ में है। 'चेत्' 'यत्' अर्थ में है। 'तत्' 'तत्' अर्थ में है।

विभाव—'विभावादिसंज्ञा च विभावनादिव्यापारयोगात्' अर्थात् यह नाम विभावन व्यापार के कारण होता है। विभाव वासना रूप से स्थित रत्यादि स्थायी भावों में रसास्वादन की योग्यता उत्पन्न करते हैं।[4] 'विभाव' दो प्रकार के होते हैं— १. आलम्बन विभाव, २. उद्दीपन विभाव। आलम्बन

---

१. काव्यप्रकाश कारिका, ४-२६
२. काव्यप्रदीप, पृ० ६०
३. काव्यप्रकाशकारिका, २७-२८
४. काव्यप्रदीप, पृ० ६१

विभाव द्वारा स्थायी भाव का प्रादुर्भाव होता है और उद्दीपन विभाव स्थायी-भावों के उत्कर्षाधायक होते हैं। उद्दीपन विभाव द्वारा स्थायी भाव प्रदीप्त होता है।

अनुभाव—अनुभाव को गोविन्द ठक्कुर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है — 'अनुभावयन्ति च तानित्यनुभावा:' अर्थात् अनुभावन के कारण अनुभाव कहलाता है। ये सात्त्विक, कायिक और वाचिक भेद से कई प्रकार के होते हैं। 'सात्त्विक' भाव के स्पष्टीकरण के लिए गोविन्द ठक्कुर ने नाट्यशास्त्र की "स्वेद: . . . . मता:"[१] कारिका उद्धृत की है, जिसमें बताया है कि स्वेद, स्तम्भ, रोमांच; स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु प्रलय ये आठ सात्त्विक भाव हैं। कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि कायिक अनुभाव हैं तथा मधुरवचन आदि वाचिक अनुभाव हैं।

व्यभिचारी भाव—व्यभिचारी भाव वे कहे जाते हैं जो विशेष उत्कटता से काव्य में स्थित स्थायी भावों को परिपुष्ट करके रसास्वाद में परिणत करते हैं और यह भाव विशेष रूप से स्थायी भाव के अन्तर्गत कभी उठते और कभी गिरते हैं। गोविन्द ठक्कुर ने इस सम्बन्ध में दशरूपककार धनंजय की कारिका को उद्धृत किया जिसका आशय है कि जो भाव विशेष रूप से अर्थात् अभिमुख्य से स्थायी भाव के अन्तर्गत कभी उठते और कभी गिरते-डूबते नजर आते हैं वे व्यभिचारी भाव होते हैं। ये भाव स्थायी भाव में इस तरह उन्मग्न तथा निमग्न होते हैं जैसे समुद्र में तरंगे उठती हैं और विलीन होती हैं।[२]

स्थायी भाव—मानव हृदय में स्थायी भाव वासना रूप में स्थित रहते हैं। स्थायी भाव विरुद्ध या अविरुद्ध भाव से तिरस्कृत नहीं होते। गोविन्द ठक्कुर ने 'साहित्यदर्पणकार' विश्वनाथ की कारिका उद्धृत की है, जिसका आशय है कि यह स्थायी भाव न तो किसी अनुकूल भाव से तिरोहित हुआ करता है और न किसी प्रतिकूल भाव से दबा करता है। यह भाव अन्त तक स्थित रहने वाला भाव है और इसी में रस के अंकुरण की मूलशक्ति निहित रहा करती है।[३]

---

१. 'स्वेद; स्तम्भोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः'॥ (काव्यप्रदीप, पृ० ६१)

२. काव्यप्रदीप, पृ० ६२

३. 'स्थायी विरुद्धैरविरूद्धैर्वा भावैरतिरस्कृत प्रवाहो भावः। यदुक्तम्--
विरुद्धा अविरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आनन्दाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायिपदास्पदम्।' (काव्यप्रदीप, पृ० ६२-६३)

अतएव "व्यक्तः स इति" अर्थात् व्यंजना द्वारा अभिव्यक्त 'स्थायी भाव' रस है।

काव्यप्रकाशदर्पण—गोविन्द ठक्कुर से पूर्व आचार्य विश्वनाथ ने 'काव्यप्रकाशदर्पण' में मम्मट के इस भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रत्यादि स्थायी भावों की रस रूप में जो अभिव्यक्ति है वह घट पट की भाँति नहीं है अर्थात् रस कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो घट पट की भाँति पहले से ही विद्यमान हो जिसे विभावादि दीप की भांति अभिव्यक्त किया करें।

इस विषय में आचार्य विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त की चर्चा की है कि लोगों का यह कथन कि रस प्रतीत होता है यह तो 'भात पकाता है' के समान व्यवहार होता है। यहां यद्यपि विभावादि सम्मिलित रूप की प्रतीति प्रपानक रस के समान होती है। विभावादि की पृथक्-पृथक् प्रतीति नहीं होती अपितु अखण्डात्मक रस की प्रतीति होती है तथापि लोक में प्रसिद्धि के कारण 'स्थायीभावो रस' यह कह दिया जाता है। यहां सात्त्विक भावों का परिगणन इसलिए नहीं किया गया क्योंकि ये अनुभाव के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं।[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'व्यक्तः सः' यह व्यक्ति-चर्वणा का पर्याय हैं। यह विशेषण है उपलक्षण नहीं। 'व्यक्तिविशिष्ट एव स्थायी रसः'। यहां यह भी स्पष्ट किया है कि रस विभावादि समूहालम्बनात्मक हैं अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव तीनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति न होकर संवलित प्रतीति होती है। 'रस निष्पत्ति' की व्याख्या में यह स्पष्ट किया जाएगा कि रस कार्य नहीं है और रसास्वाद ब्रह्मास्वाद के सदृश है।

अभिप्राय यह है कि लोक जीवन के कारण, कार्य और सहकारी भाव जब काव्य या नाटक में वर्णित किए जाते हैं तो वे क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारी भाव अलौकिक शब्दों द्वारा व्यवहृत किए जाते हैं।

प्रभा — 'प्रभा में वैद्यनाथ ने गोविन्द ठक्कुर के भाव को अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि सामाजिक में वासना रूप में स्थित रति आदि स्थायी

१. "व्यक्तो व्यक्तिकृत एव रसः न तु दीपेन घट इव पूर्व-सिद्धो व्यज्ते। तदुक्तं लोचनकारैः - - "रसाः प्रतीयन्ते इति त्वोदनं पचतीतिवत् व्यवहार इति। अत्र यद्यपि विभावादिपानकरसन्यायेन चर्व्यमाणोऽखण्डरूप एव रसस्तथापि लोकप्रसिद्धप्राधान्यप्रत्यभिज्ञानात्स्थायिभावो रस इत्युक्तम्। इह च सात्त्विकानामनुभावरूपतया न पृथगुक्तिः।" काव्यप्रकाशदर्पण, पृ० ६३-६४]

भाव कीं अभिव्यक्ति ही रस है। सीता राम आदि का जब काव्य में वर्णन किया जाता है उस समय वे लोक के चित्तवृत्ति विशेष के कारण नहीं होते हैं, कटाक्षादि कार्य नहीं होते, लज्जादि सहकारी नहीं होते अपितु काव्य में विभाव, अनुभाव और संचारी भावादि शब्दों से अभिहित होते हैं। काव्य की अलौकिक अभिव्यंजना शक्ति के कारण विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। साधारणीकरण होने से सींतादि विशेष सम्बन्ध का परिहार हो जाता है और उसकी प्रतीति सामान्य नायिका के रूप में होने लगती है और इसी प्रतीति के कारण सहृदय हृदय में रसाभिव्यक्ति होती है।[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की कारिकाओं की विस्तृत व्याख्या की है। मम्मट ने स्थायी भाव, अनुभाव आदि का स्पष्टीकरण नहीं किया है। परन्तु प्रदीपकार ने मम्मट के इस अभाव कीं पूर्ति की और स्थायी भाव आदि का विस्तृत विवेचन किया। कहीं-कहीं गोविन्द ठक्कुर ने आचार्य विश्वनाथ और आचार्य धनंजय की कारिकाओं को भी उद्धृत किया है।

---

१. काव्यप्रदीप, प्रभा, पृ० ६२-६३

रस-निष्पत्ति

भारतीय मनीषा ने सुख-दुःख के द्वन्द्वात्मक जगत् में सामंजस्य का दर्शन किया है। इस दृष्टि से उसका समग्र चिन्तन इस रूप में प्रतिफलित हुआ है कि ब्रह्म रस-स्वरूप है। आत्म ब्रह्म का रूप होने के कारण रस-धर्मी है। काव्य में आत्मा का प्रतिफलित प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। अतएव काव्य-शास्त्र में जब भी शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर बनाया गया तभी काव्य की आत्मा का प्रश्न उठा। भारतीय चिन्तकों ने अन्ततोगत्वा रस को काव्य के प्राण रूप में प्रतिष्ठित किया। विद्वानों की यह धारणा है कि रस तन्तुओं से निर्मित मार्मिक अनुभूति रसमग्न प्रेरणा के द्वारा वाणी के परिधान में अभिव्यंजित होकर ही मानव हृदय कीं "मुक्ति" का विधान करता है। अतः रस को ही काव्य का मूल तत्त्व माना गया है। रस के सर्वमान्य प्रतिष्ठापक आदि आचार्य भरत मुनि हैं।

नाट्यशास्त्र प्रणेता भरतमुनि का विचार है कि नाट्य में रस का वही स्थान है जो माला में विविध रंगों तथा सुगन्धि का है। नट का कार्य एक कुशल माली के समान है। माली जिस प्रकार उपवन के पुष्पों को गूंथता हुआ उन्हें माला रूप देता है उसी प्रकार नट भी विविध भावों के प्रदर्शन के हेतु अनेक साधनों का उपयोग करता है। ऐसा करने से उसे रस को सम्पन्न करने में सफलता मिलती है।[1] रस के साथ-साथ भरतमुनि ने रस-निष्पत्ति के विवेचन को विशेष महत्व दिया है। रस-निष्पत्ति के प्रथम व्याख्याता भरत मुनि हैं। इनका मत है 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग और निष्पत्ति' शब्द विवादास्पद हैं। परवर्ती संस्कृत आचार्यों ने इन दोनों शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ करके अपने मतों की स्थापना की है। इन आचार्यों में भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि रस निरूपण को भरत के परवर्ती काल में विशदता प्राप्त हुई है। रस-सिद्धान्त को परोक्ष अथवा अपरोक्ष दोनों रूपों में सभी सम्प्रदायों से सहायता मिली है। भामह, दण्डी, उद्भट आदि अलंकार-

---

१. "नानाविधैर्यथापुष्पैर्माल्यं ग्रथ्नाति माल्यकृत्।
अंगोपांगरसैर्भावैस्तथा नाट्यं प्रयोजयेत्।" (नाट्यशास्त्र, पृ० २६)

वादी आचार्यों ने 'रसवदलंकार' रूप में रस की चर्चा की है। रीतिवादी आचार्य वामन ने 'रस' को रसवदलंकार से हटाकर काव्य के सहज गुण 'कांति' में सीमित किया। इस परम्परा में रुद्रट का प्रयास भामह, दण्डी, उद्‌भट, वामन की अपेक्षा काफी व्यवस्थित और विस्तृत है। एक तरफ तो इन्होंने अलंकारादि काव्यांगों के औचित्यपूर्वक नियोजक की चर्चा की दूसरी ओर रीतियों और वृत्तियों का रस से संवंध जोड़ा और तीसरी ओर रस का लगभग स्वतन्त्र रूप से चार अध्यायों में सविस्तार विवेचन किया। वक्रोक्तिवादी कुन्तक, औचित्यवादी क्षेमेन्द्र तथा ध्वनिवादी आनन्दवर्धन एवं पण्डितराज ने जगन्नाथ रस-विवेचन की दृष्टि को सुनिर्मल और प्रौढ़ बनाने का प्रशंसनीय कार्य किया है। परन्तु इन आचार्यों ने रस-निष्पत्ति प्रक्रिया का विकसित विवेचन नहीं किया अपितु भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने भारतीय दर्शनों की मिट्टी लगाकर इस पौधे को प्रवृद्ध होने और विराट् होकर सब पर छा जाने का सामर्थ्य प्रदान किया है और लोक-भूमि का सहारा लेकर भी अलौकिक ब्रह्मानन्द की समानता में उपस्थित होने वाले रस को एक नवीन पटभूमि प्रदान की है। परन्तु इस संवंध में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक आदि के मूल ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। अतः पूर्वपक्ष के रूप में इनके विचार सर्वप्रथम अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' टीका में उपलब्ध हैं। अभिनवगुप्त ने लोल्लट आदि के मतों को उद्धृत करके खण्डन किया है तत्पश्चात् स्वमत की चर्चा की है। 'अभिनवभारती' के आधार पर ही मम्मट ने चारों आचार्यों के मत की चर्चा की है। मम्मट के ही आधार पर लोल्लट आदि आचार्यों के मत को गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में अधिक स्पष्ट रूप में उद्धृत किया है। मम्मट ने केवल चारों आचार्यों के मतों को उद्धृत किया है किसी भी आचार्य का खण्डन नहीं किया है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के मत का स्पष्टतः खण्डन किया है तथा अभिनवगुप्त के मत का मण्डन किया है।

भट्टलोल्लट आदि आचार्यों के मत की चर्चा करते हुए 'अभिनवभारती' में उद्धृत लोल्लट आदि मतों का भी विवेचन किया गया है क्योंकि काव्यप्रकाश के टीकाकार माणिक्यचन्द्र आदि ने 'अभिनवगुप्त' की ही भाँति इन आचार्यों की चर्चा संकेत टीका में की है परन्तु गोविन्द ठक्कुर की चर्चा का आधार कुछ भिन्न है।

भट्टलोल्लट का मत

अभिनवभारती-' अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में भट्टलोल्लट का मत

इस प्रकार उद्धृत किया है 'विभाव, अनुभाव और संचारी के साथ स्थायी-भाव का संयोग होता है और इसी संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। विभाव स्थाय्यात्मक चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारण है। अनुभाव शब्द से यहां रसजन्य अनुभाव विवक्षित नहीं है क्योंकि उनकी गणना रस के कारण में नहीं की जा सकती है। अपितु भावों के ही जो अनुभाव हैं उनका ग्रहण विवक्षित है। व्यभिचारी भाव चित्तवृत्ति स्वरूप होने के कारण चित्तवृत्ति रूप स्थायी-भाव के साथ नहीं रह सकते फिर भी स्थायी भाव की सहकारी वासना के रूप में उनका कथन इष्ट है।

इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारीभाव से उपचित स्थायी भाव ही रस है। विभावादि से उपचित न होने पर वही मात्र स्थायी भाव कहलाता है। स्थायी भाव अपने उपचित और अनुपचित इन दोनों ही रूपों में स्वरूप-भेद से रामादि ऐतिहासिक व्यक्तियों में रहता है और अभिनेताओं में भी रहता है। मुख्य वृत्ति से रामादि में रहने वाला यह लौकिक रस उनके रूप का अभिनय करने वाले अभिनेता में भी प्रतीत होता है।[1]'

अभिनवगुप्त ने भट्टलोल्लट के मत का खण्डन शंकुक के मतानुसार किया है। शंकुक ने लोल्लट पर आठ आक्षेप लगाए हैं।

प्रथम आक्षेप है कि विना विभावादि के स्थायी भावों का साक्षात्कारात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है। विभावादि का योग होने पर जो रत्यादि का साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है वह रस है स्थायी भाव नहीं।

द्वितीय दोष है कि विभावादि के योग से पहले रत्यादि का जो ज्ञान होता है वह शब्द द्वारा परोक्षात्मक ज्ञान होता है उसको रस नहीं कहा जा सकता।

तृतीय दोष है कि विभावादि के योग से पहले रस की स्थिति मानी जाये तो अन्य लक्षण करने की आवश्यकता नहीं रहती अर्थात् भरत का रस-सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

चतुर्थ आक्षेप है कि यदि रत्यादि को ही रस माना जाये तो रत्यादि तो कभी मन्द, मन्दतर, मन्दतम रूप में होते हैं कभी तीव्र में। इस प्रकार रस के भी तीव्र, तीव्रतर आदि अनेक भेद हो जायेंगे जो उचित नहीं।

पंचम दोष है कि स्थायी भाव और रस के स्वरूप में अन्तर है। अतः हास के स्मित, हसित, उपहसित, विहसित, अपहसित, अतिहिसित आदि छः भेद हो सकते हैं किन्तु विभावादि के संयोग से पुष्ट होकर एक ही हास्यरस की सृष्टि

१. अभिनवभारती पृ० ४४३

कर सकते हैं अतः पुष्ट स्थायी भाव को रस मानने से रस में तारतम्य की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती है।

शंकुक के षष्ठ आक्षेप में शक्ति नहीं है। काम की दस अवस्थाएं हो सकती है किन्तु विभावादि के संयोग से पुष्ट रति से एक ही शृंगार रस की निष्पति सम्भव हो सकती है।

सप्तम दोष है कि स्थायी भाव के उपचय को रस कहने में एक वाधा यह भी है कि शोक पहले प्रवल होता है फिर ह्रासोन्मख होता है। अतः शोक का उपचित रूप ही करुण रस है इस मान्यता का खण्डन हो जाता है।

अष्टम आक्षेप है कि इसी प्रकार क्रोध, उत्साह, रति आदि स्थायी भावों में अमर्ष, स्थैर्य और सेवादि परिपोषक सामग्री के अभाव में ह्रास दिखलाई देता है अतः उपचय के स्थान पर अपचय रूप विपर्यय पाया जाने से स्थायीभाव रस होता है यह कहना उचित नहीं है।[१]

इस प्रकार भट्टलोल्लट के मत का शंकुक द्वारा खंडन किया गया है। परंतु शंकुक के अधिकांश तर्क तथ्यों के प्रति न्याय नहीं कर पाते।

काव्यप्रकाश—मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में भट्टलोल्लट के मत को अभिनवगुप्त से संक्षिप्त और कुछ भिन्न रूप में उद्धृत किया है। मम्मट ने 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोकलोचन' के आधार ही भट्टलोल्लट का मत प्रस्तुत किया है। 'काव्यप्रकाश' के आधार पर भट्टलोल्लट के मत का सारांश है -- 'विभावों -- ललना आदि आलम्वन और उद्यान आदि उद्‌दीपन कारणों से रति आदि स्थायी भाव उत्पन्न हुआ। कार्यभूत कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभावों से प्रतीति के योग्य किया गया और सहकारी रूप निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों से पुष्ट किया गया, मुख्य रूप से अनुकार्य रूप राम आदि में और उनके स्वरूप के अनुसन्धान से नट में प्रतीयमान रति आदि स्थायी भाव ही रस है।'[२]

अतः स्पष्ट है कि मम्मट ने 'प्रतीयमानो रसः' कहकर नवीनता का परिचय दिया है। मम्मट के विवेचन में 'अनुसन्धान' और 'प्रतीयमान' की व्याख्या अपेक्षित है जिसे गोविन्द ठक्कुर आदि टीकाकारों ने स्पष्ट किया है।

संकेत --: माणिक्यचन्द्र ने 'संकेत' टीका में 'भट्टलोल्लट' के मत की विस्तृत चर्चा की है। परन्तु माणिक्यचन्द्र की समीक्षा का आधार अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' ही है। 'अभिनवभारती' में उद्धृत भट्टलोल्लट का मत

१. अभिनवभारती, पृ० ४४५
२. काव्यप्रकाश, पृ० १२१

और शंकुक द्वारा भट्टलोल्लट का खण्डन, ज्यों का त्यों संकेतकार ने 'संकेत' टीका में उद्धृत किया है। अतः यहां माणिक्यचन्द्र की मौलिकता नहीं।[1]

बालचित्तानुरंजनी—'बालचित्तानुरंजनी' टीका में श्रीनरहरिसरस्वतीतीर्थ ने 'भट्टलोल्लट' के मत को स्पष्ट करते हुए भरत-सूत्र का अर्थ इस प्रकार दिया है -- "स्थायी भाव विभावों से उत्पाद्य-उत्पादक संबंध से उत्पन्न होकर, अनुभावों से अनुमाप्य-अनुमापक भाव से अनुमित होकर और संचारी भावों से पोष्य-पोषक संबंध से पुष्ट होकर उत्पन्न होता है। इस संबंध में सरस्वतीतीर्थ ने 'सामाजिक' की भी चर्चा की है कि रस मुख्य रूप से अनुकार्य रामादि में रहता है किन्तु नट में रामादिरूपता का अनुसंधान होने के कारण सामाजिक द्वारा आस्वाद्यमान रस होता है।[2] यहां श्रीनरहरिसरस्वतीतीर्थ ने 'अनुसंधान' का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है।

काव्यप्रकाशदर्पण—'दर्पण' टीका में विश्वनाथ ने भट्टलोल्लट के मत को असमीचीन माना है और इसकी विस्तृत चर्चा 'साहित्यदर्पण' में की है। विश्वनाथ ने अनुकार्यगत रस की मान्यता को अनुचित माना है - - अनुकार्य का रस उसी में सीमित रहेगा और वह लौकिक होगा। उसके द्वारा दुःख से सुख की अनुभूति नहीं हो सकती।[3] 'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने अनुकर्तृगत (नटादि) रस का भी खण्डन किया है। विश्वनाथ ने "शिक्षाभ्यासादिमात्रेण ...... भवेत्"[4] कारिका में स्पष्ट किया है कि उस नट को रसास्वाद नहीं हो सकता है जो रंगमंच पर केवल अभिनयकला की शिक्षा, उसके अभ्यास और उसमें कौशल-प्रदर्शन से ही अपने आपको रामादि के रूप में दिखाया करता है। यहाँ स्पष्ट है कि विश्वनाथ ने अनुकार्यगत रस और अनुकर्तृगत रस मानने वाले भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का खण्डन किया है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने ('बालचित्तानुरंजनी' टीका के समान) भट्टलोल्लट के अनुसार भरतसूत्र का अर्थ किया है — 'स्थायिनां विभावेनोत्पाद्योत्पादकभावरूपादनुभावेन गम्यगमकभावरूपाद्व्यभिचारिणा

---

१. संकेत, पृ० ४१-४१.

२. बालचित्तानुरंजनी, पृ० ६४

३. तदुक्तं मम साहित्यदर्पणे—
'पारिमित्याल्लौकिकत्वात्सान्तरायतया तथा।
अनुकार्य्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत्॥ (साहित्यदर्पण, ३.१७)

४. 'शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः स्वरूपताम्।
दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्॥ (साहित्यदर्पण, ३.१८)

पोष्यपोषकभावरूपात्संवन्धाद्रसस्यनिष्पत्तिरूत्पत्तिरभिव्यक्तिः पुष्टिश्चेत्यर्थः ।"[1]

गोविन्द ठक्कुर के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि 'भट्टलोल्लट' के अनुसार 'संयोग' शव्द के तीन अर्थ हैं— स्थायी भाव विभाव के साथ उत्पाद्य-उत्पादक संवंध से उत्पन्न होते हैं, अनुभाव अनुमाप्य-अनुमापक संवंध से उनकी अनुमिति कराते हैं और संचारी भाव पोष्य—पौषक संवंध से उनकी रसरूप में पुष्टि करते हैं। इन तीनों संवंधों के आधार पर 'निष्पत्ति' शव्द के भी क्रमशः उत्पत्ति, अनुमिति तथा पुष्टि ये तीन अर्थ किए गए। विभाव को उत्पादक मानने के कारण रस-निष्पत्ति का अर्थ हुआ रसोत्पत्ति। अनुमापक भावों के संवंध में उसे अनुमिति कहा गया और पोष्य-पोषक संवंध के आधार पर निष्पत्ति का अर्थ पुष्टि स्वीकार कर लिया गया।

गोविन्द ठक्कुर भट्टलोल्लट का मत देते हैं 'ललनाादि आलम्वन विभाव द्वारा रत्यादि स्थायी भाव उत्पन्न होता है, उद्यानादि उद्दीपन विभाव द्वारा उद्दीप्त होता है, कटाक्ष, भुजाक्षेपादि अनुभावों द्वारा प्रतीतियोग्य किया जाता है, उत्कण्ठा आदि व्यभिचारी भावों द्वारा परिपुष्ट किया जाता है। वह मुख्य रूप से अनुकार्य रामादि में होता है। नट में भी रामादि रूपता की तुल्यता के कारण सामाजिक उसमें रामत्व का आरोप कर चमत्कृत होता है।[2]'

गोविन्द ठक्कुर के इस विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने 'अनुसन्धान' तथा 'प्रतीयमान' शव्द की व्याख्या भी की है। गोविन्द ठक्कुर का कथन है -- 'नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कार-हेतुः।' अर्थात् 'तद्रूपता' से अभिप्राय है 'तुल्यरूपता', 'अनुसन्धान' का अर्थ किया है 'नट का अपने में रामत्वादी का आरोप' और 'प्रतीयमान' से अभिप्राय है 'सामाजिकों का चमत्कृत होना', इस विवेचन का निष्कर्ष यह है—'भट्टलोल्लट के अनुसार रस मूलतः अनुकार्य में ही रहता है। अनुकर्त्ता अनुकार्य का स्वयं पर आरोप करके उसके भावों का अभिनय करता है। सामाजिक भी अनुकर्त्ता पर अनुकार्य का आरोप करके उसके अभिनय के कारण चमत्कृत होकर रस प्राप्त करते हैं।'

भट्टलोल्लट का मत उद्धृत करने के पश्चात् गोविन्द ठक्कुर ने 'इति

---

१. काव्यप्रदीप; पृ० ६३

२. "तथाहि ललनादिभिरालम्वनविभावैः . . . . चमत्कारहेतुः ."

(काव्यप्रदीप, पृ० ६३)

तदपेशलम्' से भट्टलोल्लट के मत का खण्डन किया है।[1] अन्त में यह कथन 'सामाजिकानां चमत्कारहेतुः' ही गोविन्द ठक्कुर के दोष-दर्शन का आधार है।

प्रदीपकार का अभिप्राय है कि यद्यपि भट्टलोल्लट के मत में सामाजिकों की भी सत्ता है। परन्तु सामाजिकों को रसानुभूति कैसे होती है, इस प्रक्रिया का उल्लेख भट्टलोल्लट ने नहीं किया है। अतः केवलमात्र 'सामाजिकानां चमत्कारहेतुः' ऐसा कह देने से ही सहृदय को चमत्कारानुभूति नहीं हो सकती। भट्टलोल्लट ने लौकिक रति स्थायी भाव को ही रस माना है और वह स्थायी भाव रूप रस-निष्पत्ति अनुकार्य राम और अनुकर्त्ता नट में मानी है, सहृदय सामाजिक में रस-निष्पत्ति नहीं मानी। गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि यह ठीक नहीं क्योंकि लौकिक रत्यादि ज्ञान चमत्कार का हेतु रस नहीं है। यदि अनुकार्य में रस माने तो वह उस तरह होगा जैसे लोक में किसी प्रेमी को अपनी कान्ता से युक्त देखकर केवल शृंगार की ही प्रतीति होती है, शृंगार रस की नहीं।

गोविन्द ठक्कुर का इस संबंध में अन्य तर्क आरोप, रस तथा अनुभूति की दृष्टि से है। वे लिखते हैं कि जो साक्षात्कार का विषय है उसका ज्ञानमात्र से अनुभव नहीं किया जा सकता। रस स्थिति का अनुभव आरोप ज्ञान से सम्भव नहीं अर्थात् रस आस्वादनीय होने के कारण ज्ञान-लभ्य नहीं अपितु अनुभूत्यात्मक है। अनुभूति बौद्धिक ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। ज्ञान बुद्धि का सहारा लेता है और अनुभूति हृदय का कोना ढूँढती है। एक में सत्यासत्य का विवेक जागृत रहता है और दूसरे में हृदय डूब जाता है। अतः स्थायी-भाव का ज्ञान शब्द द्वारा हो सकता है, रसनात्मक साक्षात्कारात्मक नहीं है। जिस प्रकार यह जान लेने मात्र से कि चन्दन शीतल होता है उसकी शीतलता का अनुभव नहीं किया जा सकता अपितु लेप करने से उसका आनन्द लिया जा सकता है या इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि चन्दन जिसे लगाया जाता है उसे ही सुख मिलता है अन्य किसी को नहीं, उसी प्रकार यह समझने से कि राम-सीता में रति है हमें आनन्द नहीं आ सकता। उसके लिए हमारी स्वयं की अनुभूति आवश्यक है।

अन्त में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि इसे अन्य किसी रीति से समझाया नहीं जा सकता क्योंकि प्रमाण का अभाव है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ६३

गोविन्द ठक्कुर का यह कथन 'सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभावविरोधात्। न च तज्ज्ञानमेव चमत्कारहेतु. । लौकिकशृङ्.गारादिदर्शनेनापि चमत्कारप्रसङ्.गात्।' दशरूपककार धनंजय की 'रसः स एव . . . . . दर्शनात्''[1] कारिका के समान है। प्रस्तुत कारिका में धनंजय का अनुकार्यगत रस की मान्यता के विरोध में कथन है कि रत्यादि स्थायी भाव स्वाद्य होता है, सहृदय उसका आस्वाद करते हैं इसलिए लौकिक स्वाद के विषय में 'रस' की भांति यह भी रस कहलाता है। यह रस रसिक सहृदय में पाया जाता है अनुकार्य में नहीं। काव्य का प्रयोजन सामाजिकों को रसास्वाद कराना है। यदि अनुकार्य में रस मान लें तो उसी प्रकार होगा जैसे व्यावहारिक संसार क्षेत्र में अपनी नायिका से युक्त किसी नायक को देखता है। किन्हीं दो प्रेमी-प्रेमिका की शृंगार चेष्टा देखकर रस-प्रतीति नहीं होती। अतः अनुकार्य में रस मानकर सामाजिकों को रसास्वाद नहीं होगा अपितु उनके हृदय में लज्जा, ईर्ष्या, राग, द्वेष की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार का संक्षिप्त परिचय गोविन्द-ठक्कुर ने 'लौकिकशृंगारादिर्शनेनापि चमत्कारप्रसङ्.गात्' से दिया है।

निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि 'काव्यप्रदीप' में उद्धृत भट्टलोल्लट का मत 'अभिनवभारती' और 'काव्यप्रकाश' में उद्धृत भट्टलोल्लट के मत की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। मम्मट ने 'प्रतीयमान' शब्द द्वारा लोल्लट के 'अभिनवभारती' में उद्धृत सिद्धान्त को दूसरा ही रूप प्रदान किया है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने 'प्रतीयमान' शब्द की व्याख्या करते हुए 'सामाजिक' की चर्चा भट्टलोल्लट के मत में की है जिसका मम्मट आदि में अभाव है।

गोविन्द ठक्कुर ने भरतसूत्र में प्रयुक्त 'संयोग और निष्पत्ति' शब्दों के अर्थ भी स्पष्ट किए हैं। इसी प्रकार मम्मट द्वारा उद्धृत भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में प्रयुक्त 'अनुसंधान' और 'प्रतीयमान' शब्दों के अर्थ भी स्पष्ट किए हैं। काव्यप्रकाश की विवरण नामक टीका में 'तद्रूपतानुसंधान' का अर्थ 'रामात्वाभिमानात्' किया है। परन्तु 'सारबोधिनी' टीका, 'काव्य-प्रदीप' और 'उद्योत' आदि टीकाओं में 'रामत्वारोपात्' अर्थ किया गया है।

---

१. ''रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः॥
द्रष्टुः प्रतीतिव्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्.गतः।
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात्।'' (दशरूपक, ४-३८,३९)

'अभिमान' और 'आरोप' में 'आरोप' अर्थ ही विद्वानों को उचित प्रतीत हुआ। सम्भवतः यही कारण है कि 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' करने से और 'अनुसंधान' का अर्थ 'आरोप' करने से भट्टलोल्लट का सिद्धांत 'उत्पत्ति' या 'आरोपवाद' से भी प्रसिद्ध है।

भट्टलोल्लट के मत को खण्डन की दृष्टि से देखें तो अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में स्वयं भट्टलोल्लट के मत का खण्डन नहीं किया है अपितु शंकुक द्वारा किए गए आक्षेपों का उल्लेख किया है। मम्मट ने भी भट्ट-लोल्लट का मत उद्धृत किया है, खण्डन नहीं किया। मम्मट के टीकाकारों में माणिक्यचन्द्र आदि ने शंकुक के आक्षेपों को ही ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है। इस दृष्टि से गोविन्द ठक्कुर की विशेषता यह है कि उन्होंने भट्ट-लोल्लट का मत उद्धृत करके खण्डन भी किया है। खण्डन में शंकुक के आक्षेपों का अनुकरण नहीं है अपितु प्रदीपकार ने सूक्ष्म दृष्टि से 'सामाजिक' पक्ष को ध्यान में रखते हुए खण्डन किया है।

'भट्टलोल्लट' के सिद्धान्त को उद्धृत करते हुए गोविन्द ठक्कुर की सबसे बड़ी उपलब्धि 'सामाजिक' की स्पष्ट रूप में चर्चा करना है। 'काव्य-प्रदीप' को दृष्टि में रखते हुए अनेक विद्वानों ने भट्टलोल्लट की विशेषताओं का उल्लेख किया है। जैसे हिन्दी के मूर्धन्य विद्वान् डा० नगेन्द्र का कथन है कि रस की व्यक्तिपरक व्याख्या का सूत्रपात यहीं से हो जाता है—कलात्मक स्थिति से आगे बढ़कर रस मनः स्थिति तक पहुंच जाता है, यद्यपि यह मनः स्थिति सहृदय की नहीं है फिर भी व्यक्ति की सत्ता इसमें सर्वथा स्पष्ट है। 'भरतसूत्र' की व्याख्याओं में यह मूल के सर्वाधिक निकट है। अभिनेता द्वारा रसानुभूति की घोषणा कर लोल्लट ने नाट्यकला के विकास में नया मोड़ स्थापित किया।[1]

'सामाजिक' को ही दृष्टि में रखते हुए एक अन्य विद्वान् (डा. शंकरदेव अवतरे) लिखते हैं 'भट्टलोल्लट के अनुसार रसप्रक्रिया का व्यापक भरतसूत्र लौकिक रस की प्रक्रिया में सामाजिक के स्थिति-कोण से पूरा हो जाता है। विभावादि कहे जाने वाले सीता आदि ऐतिहासिक व्यक्ति ही हैं जहाँ उपचित स्थायी भाव या रस अपने लौकिक रूप में निष्पन्न होता है। पर यह लौकिक रस भट्टलोल्लट का काव्यरस नहीं है। उनके काव्य-रस की यात्रा वहाँ प्रारंभ होती है जहाँ सामाजिक अनुकार्य रामादि गत लौकिक रस की प्रतीति अभि-

१. डा० नगेन्द्र, रस-सिद्धान्त

नेता में करता है अर्थात् अनुकार्य रामादिगत लौकिक रस जब अभिनेता में सामाजिक के द्वारा प्रतीयमान होता है तब वह भट्टलोल्लट का काव्यरस है। इस प्रतीति का विषय तो सामाजिक के बाहर अभिनेता है पर इस प्रतीति का आनन्दरूप फल प्रतीति करने वाले सामाजिक के भीतर ठहरता है। इस प्रकार भट्टलोल्लट का काव्यरस नाट्यगत किंवा काव्यगत होने के कारण लौकिक रस होने से तो बच जाता है पर मुख्यरूप से विषयगत ही सिद्ध होता है, यद्यपि गौण रूप से अपनी आनन्द-परिणामी स्थिति सामाजिक में रखने के कारण विषयी-गत भी सिद्ध हो जाता है।[1]

दूसरी विशेषता है कि भट्टलोल्लट के सामाजिक द्वारा अभिनेता में की गई रस-प्रतीति यादृच्छिक होने के कारण 'रज्जु में सर्प' की वास्तविक भ्रान्ति से विलक्षण है और इसीलिए सम्भावनात्मक ही ठहरती है। यदि यह पूछा जाए कि सामाजिक को इस प्रकार की संभावना होती है तो इसका उत्तर है भट्टलोल्लट के 'तद्ररूपतानुसंधान' जैसे शब्दों का प्रयोग। अभिनेता जो रामादि के रूप का अनुसंधान करता है उसी से सामाजिक की सम्भावनात्मक प्रतीति का अस्तित्व बनता है। सामाजिक को रामादि के पठित-श्रुत रूप आदि का संस्कार होता है और अभिनेता जब उसका वैसा अनुसन्धान करता है तो सामाजिक का तत्सम्बन्धी संस्कार सम-वेदना या सहानुभूति के रूप में सक्रिय हो उठने को बाध्य होता है। यह सम-वेदना सहानुभूति संस्कार-जन्य होने के कारण भावनात्मक और काव्य-सृष्टि से सम्बद्ध होने के कारण लोकोत्तर है। अतः भट्टलोल्लट के काव्यरस का परिष्कृत या परिभाषित स्वरूप अलौकिक भावानन्द ही सिद्ध होता है।

अतएव स्पष्ट है कि उपर्युक्त विवेचन गोविन्द ठक्कुर की प्रस्तुत पंक्तियों के आधार पर है 'नटे तु तुल्यरूपतानुसंधानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः।'

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर का भट्टलोल्लट के रसनिष्पत्ति विषयक अभि-प्राय को स्पष्ट करने में महत्वपूर्ण योगदान है।

शंकुक का मत

भरत सूत्र के दूसरे प्रमुख व्याख्याता शंकुक हैं। 'अभिनवभारती' में शंकुक की व्याख्या के दो अंश हैं — १. खण्डन पक्ष, २. मण्डन पक्ष। **खण्डन** पक्ष में शंकुक द्वारा भट्टलोल्लट के सिद्धान्त पर लगाए गए आठ आक्षेपों का

---

१. डा० शंकरदेव अवतरे, रसप्रक्रिया।

विवेचन है। मण्डन पक्ष में शंकुक का मत उद्धृत है। खण्डन पक्ष की चर्चा भट्टलोल्लट के प्रसंग में की जा चुकी है। मण्डन पक्ष से सम्बन्ध चर्चा इस प्रकार है—

अभिनवभारती—अभिनवगुप्त शंकुक का मत उद्धृत करते हैं—'रस के कारण रूप विभावों, कार्यरूप अनुभावों तथा सहकारी रूप व्यभिचारी भावों से, नट की शिक्षा तथा अभ्यास द्वारा कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम न प्रतीत होने वाले लिंग बल से अनुकर्त्ता नट में प्रतीत होने वाला स्थायी भाव मुख्य रामादि के स्थायी भाव की अनुकृति रूप होता है। अनुकरण रूप होने के कारण स्थायी भाव से न जाना जाकर 'रस' नाम से जाना जाता है। इस प्रकार विभाव काव्य बल से प्रत्यक्ष होते हैं, अनुभाव नट के कौशल से प्रत्यक्ष होते हैं और व्यभिचारी भावों का अनुकरण अनुकर्त्ता अपने कृत्रिम अनुभावों के आधार पर कर लेता है। स्थायी भाव काव्य बल से भी प्रतीत नहीं होता है। उसका केवल 'अनुमान' किया जाता है। स्थायी भाव का अनुकरण सम्भव नहीं। उसे प्रत्यक्ष दिखाया अथवा देखा नहीं जाता'।

शंकुक उन लोगों का विरोध करते हैं जो अभिधा द्वारा भावों की अवगति की वात करते हैं। वाचिक अभिनय द्वारा भावों का प्रकाशन हो सकता है—पर अभिधानात्मक वाणी द्वारा नहीं अर्थात् भाव अभिनेय हो सकते हैं पर अभिधेय नहीं। रति आदि शब्द 'वाचक' हैं ये रस का अर्थ-वोध करा सकते हैं प्रतीति नहीं। इसलिए शंकुक का कथन है 'रतिरनुक्रियमाणा शृंगारः।

नट में अनुमित की गयी रति तो अनुकरण रूप होने से मिथ्या है। इस मिथ्या ज्ञान द्वारा वास्तविक रत्यादि के आस्वाद का आनन्द किस प्रकार प्राप्त होता है? इस शंका के निवारण हेतु शंकुक का कथन है कि कभी-कभी मिथ्या ज्ञान भी अर्थ-प्रक्रिया क्षम होता है। इसे 'अभिनवभारती' में 'मणिप्रदीप . . . प्रति"[1] उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि इस परिस्थिति में मिथ्या-ज्ञान से भी फलप्राप्ति सम्भव है।

यहाँ जिस नट या नर्तक में अनुकृत स्थायी का अनुमान होता है—शंकुक ने उस नट की प्रतीति का 'चित्रतुरगन्याय' द्वारा विश्लेषण किया है। राम का अभिनय करने वाले नट को देखकर १. यह नट ही सुखी राम है, यह सम्यक् प्रतीति नहीं होती, २. यह सुखी नहीं है ऐसी मिथ्या प्रतीति नहीं होती, ३. यह राम है या नहीं, ऐसी संशय-प्रतीति भी नहीं होती, ४. यह राम

---

१. "मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्धयाभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति। (अभिनवभारती पृ० ४४६)

के जैसा है ऐसी सादृश्य प्रतीति नहीं होती। अपितु चारों प्रतीतियों से भिन्न विलक्षण प्रतीति होती है। इनका अधिक स्पष्टीकरण 'प्रतिभाति न सन्देहो .... कया'[1] कारिका में किया है।

इस प्रकार अभिनवभारती में शंकुक के मत की विस्तृत चर्चा है। 'अभिनवभारती' में भट्टतौत द्वारा शंकुक के मत का खण्डन किया गया है। संक्षेप में भट्टतौत ने शंकुक पर जो आक्षेप लगाए हैं वे इस प्रकार हैं-- भट्टतौत ने प्रेक्षक, अनुकर्ता तथा आलोचक सभी की दृष्टि से विचार किया है। सामाजिक की प्रतीति को ध्यान में रखकर यदि यह कहा गया कि रत्यादि स्थायी भाव के अनुकरण को रस कहा जाता है तो यह पक्ष असंगत है, क्योंकि प्रमाण से सिद्ध हुआ अनुकरण कहा जाता है। जैसे—किसी व्यक्ति को प्रत्यक्ष जल पीते देखकर और दूसरे किसी को सुरापान करते देख उनकी क्रियाओं में समानता देखकर यदि यह कहें कि अमुक व्यक्ति इस प्रकार मद्यपान करना है उसे अनुकरण कहा जाता है। परन्तु नट में ऐसा क्या होता है, जिसे रत्यादि का अनुकरण कह सकें? अनुकरण केवल वेशभूषादि जड़-पदार्थों का ही हो सकता है, स्थायी आदि आन्तर भावों का नहीं। इसके अतिरिक्त मुख्य वस्तु और उसकी अनुकृति दोनों को देखा हो तभी कह सकते हैं कि यह उसका अनुकरण है। परन्तु राम का रति भाव पहले कभी नहीं देखा अतः यह नहीं कह सकते कि नट राम का अनुकरण करता है।

भट्टतौत सादृश्य के आधार पर रसानुमिति की सिद्धि में विश्वास नहीं रखते। सादृश्यानुमान के लिए भी दो वातों की अपेक्षा है —१. फल के अनुसार वस्तु का अनुमान, २. अनुमान-कर्त्ता को सादृश्य का अनुभव। किन्तु नट द्वारा प्रदर्शित भावनाएं उसके हृदय में वर्तमान किसी सादृश्य के आधार पर नहीं हैं, न ही प्रेक्षक उनको वैसा स्वीकार करता है। वस्तुतः वे दीर्घ-कालीन अभ्यास के कारण ही ऐसी प्रतीत होती है। प्रेक्षक भी इस ज्ञान से वंचित नहीं रहता। ऐसी स्थिति में यदि प्रेक्षक नट के प्रदर्शन को मिथ्या मानता है तो मानसिक भावों का सादृश्य-ज्ञान स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि वह उन्हें आन्तर भावों का फल-मात्र मानता है तो भी नट में भावों का अनुमान मात्र करता है। इसे दो तीन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। जैसे क्रुद्ध व्यक्ति में और नट में भृकुटिभंग आदि का सादृश्य है। परन्तु इतने मात्र से अनुकरण नहीं कहा जा सकता। जैसे गाय और नील गाय का मुखादि के द्वारा सादृश्य होता है परन्तु इसे अनुकरण नहीं कहा जा सकता। वास्तव

---

१. 'प्रतिभाति न सन्देहो, न तत्वं न विर्पयः। धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ।। विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसम्प्लवः । युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ।।' (अभिनवभारती, पृ० ४५०)

में सामाजिक को राम सादृश्य की प्रतीति नहीं होती है। सामाजिकों की नट के विषय में भावावेश रहित प्रतीति नहीं होती है अर्थात् नट जिन भावों का अभिनय करता है वे उसमें वस्तुतः है ही, ऐसा सामाजिक को प्रतीत होता है फिर भी यह प्रतीति अनुकरण की होती है यह कहना निरर्थक है।

भट्टतौत ने सिद्ध किया है कि वास्तव में नट राम का अनुकरण कर ही नहीं सकता। 'अनुकरण' का अर्थ यदि 'सदृश' लें तो नट ने राम को पहले कभी देखा नहीं तो फिर उसका अनुकरण क्यों कर कर सकता है। यदि 'अनुकरण' का अर्थ पश्चात् करण लें तो लोक में अनुकरणात्मकता अतिव्याप्त हो जाएगी क्योंकि नट ही नहीं सारा संसार ही रामादि के बाद रत्यादि का अनुभव करता है।

अन्त में भट्टतौत कहते हैं कि भरतमुनि का ऐसा कोई वचन नहीं मिलता है कि 'स्थायी भाव का अनुकरण रस है'। न ही कोई लिंग मिलता है जिससे यह अनुमान किया जा सके कि भरतमुनि स्थायी भाव के अनुकरण को रस मानते हैं।

इस प्रकार 'अभिनवभारती' में शंकुक के मत का विस्तृत विवेचन किया गया है और भट्टतौत द्वारा शंकुक के मत के खण्डन की विस्तृत चर्चा की गई है।[1]

काव्यप्रकाश—मम्मट ने 'अभिनवभारती' में उद्धृत शंकुक के मत को काव्यप्रकाश में संक्षिप्त रूप में उद्धृत किया है। मम्मट ने शंकुक का मत कुछ भिन्न रूप में उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त ने शंकुक के मत में अनुकरण पर अधिक वल दिया है जवकि मम्मट ने अनुमान पर। मम्मट लिखते हैं कि शंकुक के अनुसार नट में राम की प्रतीति 'चित्रतुरगन्याय' से होती है। यह सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य प्रतीति से विलक्षण है। नट अपनी शिक्षा एवं अभ्यास-कौशल से अभिनय द्वारा नायकगत रति आदि भाव के कारण, कार्य, सहकारी को प्रकट करता है। यह कृत्रिम होते हुए भी वैसे नहीं समझे जाते और विभावादि सम्वन्ध से कहे जाते हैं। व्याप्ति रूप संवन्ध से विभावादि के द्वारा नट में रति आदि भाव का अनुमान कर लिया जाता है और वह रति आदि भाव अपने सौन्दर्य के कारण आस्वाद-योग्य होने से अन्य अनुमीयमान वस्तु की अपेक्षा विलक्षण प्रकार का होता है। वह नट में न होता हुआ भी उसमें प्रतीत होता है तथा सामाजिकों की वासना द्वारा आस्वाद्यमान होकर रस कहलाता है।'[2]

१. अभिनवभारती, पृ. ४५३, ४५४, ४५५

२. काव्यप्रकाश, पृ. १२३

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने शंकुक के मत का जो विवेचन किया है वह 'अभिनवभारती' में उद्‌धृत शंकुक के विवेचन का अक्षरशः अनुकरण है।[१]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर संक्षेप में शंकुक के अनुसार भरत-सूत्र का अर्थ करते हैं ''स्थायितो विभावादिभिरनुमाप्यानुमापकभावरूपसंबन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरनुमितिरित्यर्थः।' अर्थात विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से अनुमाप्य-अनुमापक भाव से रस की अनुमिति होती है।[२] अतः स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर ने 'संयोग' का अर्थ 'अनुमाप्य-अनुमापक' और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' किया है। गोविन्द ठक्कुर की विशेषता यह रही कि उन्होंने सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य प्रतीति को अधिक स्पष्ट किया है।

सम्यक् प्रतीति--

'तथाहि नियमविषया धीः सम्यग्बुद्धिः' । जैसे 'यह राम ही है' या 'यही राम है।' यहां निश्चयात्मक ज्ञान है। यहाँ 'एव' शब्द के दो अर्थ बताते हैं--१. अयोगव्यवच्छेद, २. अन्ययोगव्यवच्छेद। 'राम एवायम्' में एव का अन्वय राम से है तथा ''एव' का अर्थ है असम्बन्ध का निवारण अयोग-व्यवच्छेद। 'अयमेव रामः' में 'एव' का अन्वय 'अयम्' से है तथा 'एव' का अर्थ है--अन्य योग व्यवच्छेद अर्थात् अयम् से भिन्न में रामत्व के सम्बन्ध का निवारण।

मिथ्या प्रतीति--

'अन्तरावतीर्णवाधा तु मिथ्या धीः'। जैसे 'यह राम नहीं' इस ज्ञान से वाद में बाध हो जाने पर 'यह राम है' इस प्रकार की मिथ्या-प्रतीति।

संशय प्रतीति--

'विरुद्धोभयकोटिका तु संशयः'। जैसे यह राम है या नहीं। यहाँ संशय-बुद्धि होने से संशय प्रतीति है।

सादृश्य प्रतीति--

''सदृशोभयविषया धीः सादृश्य धीः'। जैसे 'यह राम जैसा है।'

गोविन्द ठक्कुर ने शंकुक के मत का विवेचन इस प्रकार किया है-'रति आदि स्थायी भाव वस्तुतः अनुकार्य में ही अवस्थित रहते हैं। अनुकर्त्ता अपनी शिक्षा

---

१. संकेत, पृ. ६५ से ७१ तक।

२. काव्यप्रदीप, पृ. ६३

और अभ्यास द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का अभिनय इतनी कुशलता से करता है कि वे कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम नहीं प्रतीत होते, वरन् वास्तविक जान पड़ते हैं। सामाजिक इन्हीं अभिनयों के कारण उसमें वास्तविक स्थायी भाव का अनुमान कर लेते हैं। जिन कारणों से स्थायी भाव अनुमीयमान होता है। उसमें वस्तु सौन्दर्य का संबल है, अत: यह अनुमीयमान रति आदि भाव अपने सौन्दर्य के कारण अन्य अनुमित वस्तुओं की अपेक्षा विलक्षण होता है, इसी हेतु पूर्वानुभव संस्कारों के कारण सामाजिकों के मन में यही स्थायी भाव का अनुमान 'रस' वन जाता है। सामाजिक नट को राम अदि अनुकार्य मान लेते हैं। उनकी यह प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, संशयात्मक और सादृश्य प्रतीति से विलक्षण होती है। यह एक विलक्षण ज्ञान है जिसकी प्रतीति 'चित्रतुरग-न्याय' से होती है।"[1]

अत: स्पष्ट है कि शंकुक के अनुसार 'सैव चानुमितिः सचमत्कार-प्रतीतिरूपा चर्वणा। अतस्तया विषयीक्रियमाणः स्थायी रस इत्युच्यते' अर्थात् अनुमिति द्वारा चर्व्यमाण स्थायी ही रस है।

इस प्रकार 'अभिनवभारती' 'काव्यप्रकाश' और 'काव्यप्रदीप' में उद्धृत शंकुक के मत को देखते हुए कहा जा सकता है कि गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के अनुसार ही शंकुक के मत की चर्चा की है। अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में 'मणिप्रदीपप्रभा' के दृष्टान्त द्वारा सामाजिक की चर्चा की है, परन्तु स्पष्ट रूप में नहीं की है। 'काव्यप्रकाश' और 'काव्यप्रदीप' में सामाजिक पक्ष की स्पष्ट रूप से चर्चा करते हुए शंकुक के मत का विस्तृत विवेचन किया है। अभिनवभारती में शंकुक के विवेचन में आवश्यक तत्त्व था कि रस 'स्थाय्यनुकरणात्मक' है। 'काव्यप्रकाश' तथा 'काव्यप्रदीप' में इसका उल्लेख नहीं किया पर सामाजिक को अनुमीयमान स्थायी क्यों आस्वादकर हो जाता है इस पर विशद विवेचन प्रस्तुत किया। 'अनुमान' प्रमाण को ध्यान में रखते हुए गोविन्द ठक्कुर ने शंकुक के मतानुसार स्पष्ट किया है कि काव्यानुमान लोकानुमान से विलक्षण होता है अत: उसके आधार पर की गई संभावनात्मक अनुमिति भी लोकोत्तर ही होगी। शंकुक के अनुसार 'वस्तु सौन्दर्य' के बल पर रस को 'अन्यानुमीयमान विलक्षण' कहना इस बात का सूचक है।

गोविन्द ठक्कुर द्वारा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' किया गया है। संभवत: इसी कारण शंकुक का मत 'अनुमितिवाद' नाम से है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ६५

शंकुक ने भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद का खण्डन किया और अनुमितिवाद की स्थापना की है। भट्टलोल्लट की अपेक्षा शंकुक के मत में कुछ विशेषताएँ हैं और कहीं-कहीं भट्टलोल्लट के मत से साम्य भी है।

भट्टलोल्लट ऐतिहासिक और कवि-निवद्ध अनुकार्यों का भेद स्पष्ट नहीं कर पाये थे। परन्तु शंकुक ने स्पष्ट किया है कि अनुकार्य का अर्थ कवि-निबद्ध पात्र है।

भट्टलोल्लट के मत को उद्धृत करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने भट्टलोल्लट के अनुसार 'नट में रस के आरोपात्मक साक्षात्कार की वात कही थी।' परन्तु शंकुक ने नटगत रसप्रत्यय के स्थान पर विभावादि रूप साधन से अनुमान की वात कही है।

भट्टलोल्लट के यहाँ लौकिक स्थायी भाव और लौकिक रस दोनों की स्थिति अनुकार्य के भीतर सिद्ध होती है। सामाजिक तटस्थ भाव से इस लौकिक रस की प्रतीति अभिनेता में करता है और उसमें चमत्कार प्राप्त करता है जो काव्यानुभुति के रूप में उनकी रस प्रक्रिया का आनुषंगिक है। इसके विपरीत शंकुक स्थायी भाव की मुख्य स्थिति ही अनुकार्य में मानता है और अभिनेता में न होते हुए भी इस स्थायी भाव को अनुमिति का विषय वनाता हुआ रसानुमिति के रूप में रस-निष्पत्ति की स्थिति सामाजिक के भीतर सिद्ध करता है।

इस प्रकार भट्टलोल्लट के मत का खण्डन करते हुए नैयायिक आचार्य शंकुक ने अनुमितिवाद के नाम से एक नवीन मत का प्रतिपादन किया। 'अभिनवभारती' में भट्टतौत की ओर से शंकुक के मत का खण्डन किया गया जिसका कि मणिक्यचन्द्र ने भी अक्षरशः उल्लेख किया है। मम्मट द्वारा शंकुक के मत का खण्डन नहीं किया गया है अपितु गोविन्द ठक्कुर ने 'एतदप्यहृदयग्राहि' कहकर शंकुक का खण्डन किया है[1]। साक्षात्कर ही चमत्कारपूर्ण होता है, अनुमिति नहीं। यदि अनुमिति चमत्कारपूर्ण होती तो सुखादि का अनुमान कर लेने मात्र से सुख हो जाया करता। किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। साथ ही यह विचार भी संगत प्रतीत नहीं होता कि नट में स्थायी भाव की सत्ता न रहने पर भी केवल उसके अभाव के अनिश्चय के कारण उसका अनुमान करने पर चमत्कार होता है। अतः स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही चमत्कार का कारण होता है अनुमनात्मक ज्ञान नहीं। लोक प्रसिद्धि से रस का अनुभव ही सिद्ध होता है, अनुमिति नहीं। अतः प्रत्यक्ष

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ६५

ज्ञान को न मानकर रसास्वाद में अनुमिति कीं कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है।

प्रभा—वैद्यनाथ ने 'प्रभा' टीका में भी 'अनुमान प्रक्रिया' का खण्डन किया है। नाट्य में तो दर्शक पूर्व से ही जानता है कि पात्र वास्तविक नहीं, नट या अवास्तविक मात्र है। यह जानते हुए भी उसे जो आनन्द आता है, निश्चय ही उसका अनुमानातिरिक्त कोई कारण होना चाहिए।[1]

अतएव स्पष्ट है कि शंकुक का मत भी मान्यता प्राप्त भी नहीं कर सका। नई युक्तियां देकर शंकुक के मत के निराकरण में गोविन्द ठक्कुर का योगदान है।

भट्टनायक का मत

भरत के प्रसिद्ध रस-सूत्र की व्याख्याएँ प्राचीन भारतीय आचार्यो ने विभिन्न दार्शनिक भूमियों पर की है। शंकुक ने न्याय-दर्शन के अनुसार भरत-सूत्र की व्याख्या की है। भट्टनायक सांख्य दर्शन के प्रतिनिधि आचार्य माने जाते हैं। गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि भट्टनायक ने सांख्य दर्शन के आधार पर भरत सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है।

अभिनवभारती — 'अभिनवभारती' में 'भट्टनायक' ने भरतसूत्र की व्याख्या करते हुए दो पक्ष रखे हैं -- १. खण्डन पक्ष, २. मण्डन पक्ष। खण्डन-पक्ष में उन्होंने भट्टलोल्लट और शंकुक का खण्डन किया है और मण्डन पक्ष में भट्टनायक ने स्वमत की स्थापना की है। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक-लोचन' में भी भट्टनायक के मत की विस्तृत चर्चा की है। भट्टनायक के अनुसार — 'रस की न प्रतीति होती है, न उत्पत्ति, न अभिव्यक्ति। यदि रस की प्रतीति मानी जाए तो प्रश्न होता है वह परगत मानी जाए या स्वगत। 'लोचन' टीका में परगत प्रतीति का निषेध करते हुए कहा गया हे — 'रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्।' यदि रस की प्रतीति स्वगत मानी जाए अर्थात् यदि यह माना जाए कि सामाजिक को स्वयं ही रस की प्रतीति होती है फिर तो करुण रस की प्रतीति दुःखादायिनी सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त काव्यगत विभाव सीतादि जो कि जगत्पूज्य हैं वे सामान्य कान्ता आदि नहीं हो सकते जिनके प्रति सामाजिक का रति भाव हो सके क्योंकि देवता इत्यादि पूज्यों के प्रति कान्ता-बुद्धि हो ही नहीं सकती। यह भी

१. काव्यप्रदीप, पृ० ६५

नहीं कहा जा सकता कि प्रेयसी की संवेदनात्मक स्मृति सामाजिक को काव्य साक्षात्कार के समय हो ही जाए, वह नहीं भी हो सकती। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो सर्व-साधारण की शक्ति का विषय नहीं हो सकते जैसे समुद्र लंघनादि के असाधारण होने से सामाजिक कैसे अपना साधारण्य स्थापित कर सकता है ?

'न च तद्वतो रामस्य स्मृतिरनुपलब्धत्वात्।' स्मृति भी इस विषय में सिद्ध नहीं होती क्योंकि स्मृति पूर्वदृष्ट पदार्थ की ही होती है अदृष्ट पदार्थ की नहीं। राम को कभी सामाजिक ने देखा ही नहीं तो उसकी स्मृति भी उसे कैसे हो सकती है (इससे भट्टलोल्लट के 'तद्रूपतानुसंधान' का और शंकुक के 'रसानुमिति' का खण्डन किया गया है)। शब्दार्थ-ज्ञान से भी रसानुभूति नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता तो केवल रस का नाम लेने से उसकी अनुभूति हो जानी चाहिए। लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाण से रस की प्रतीति मानना भी युक्ति-संगत नहीं क्योंकि शृङ्गार आदि रसों में दूसरों की साक्षात् प्रेम-क्रीड़ा देखकर सामाजिक के हृदय में लज्जा, जुगुप्सादि भावों का ही उदय होगा, आनन्द का नहीं।[1] इस प्रकार अनुभव स्मृति आदि के रूप में रस की प्रतीति मानना ठीक नहीं। जो कठिनाइयाँ रस-प्रतीति के संवंध में कही गई हैं वे रसोत्पत्ति के सम्बन्ध में भी हैं।

यदि रस की अभिव्यक्ति अनुकर्त्ता या अनुकार्य के चित्त में मानी जाए तो सामाजिक से इसका संवंध सिद्ध नहीं होता। यदि रसाभिव्यक्ति सहृदय या सामाजिक की मानी जाए तो 'शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः।' अर्थात् शक्ति रूप में स्थित विषय में की वृद्धि से तारतम्य होने लगेगा। रस की प्रतीति या रस की उत्पत्ति की भांति उसकी अभिव्यक्ति के पक्ष में भी उसके स्वगत या परगत होने का विचार समान रूप से आता है।[2]

यही भट्टनायक के खण्डन-पक्ष का सार है। खण्डन के पश्चात् मण्डन पक्ष 'अभिनवभारती' में इस प्रकार उद्धृत है 'काव्य में दोष के अभाव के कारण गुण तथा अलंकार सहित लक्षण के कारण और नाटक में चतुर्विध अभिनय के बाद होने वाले भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादि का साधारणीकरण और चित्त में मोहादि विघ्नों का निवारण होता है। भावकत्व व्यापार द्वारा

१. अभिनवभारती, पृ० ४६२

२. वही, पृ० ४६३

आस्वाद योग्य बना रस अनुभव और स्मृति से भिन्न भोग नामक व्यापार द्वारा भोगा जाता है। वह भोग रजस् और तमस् के मिश्रण के कारण सत्त्व गुण के प्राधान्य से द्रुति, विस्तार और विकास रूप होता है। सत्त्व के उद्रेक के कारण प्रकाशमय व आनन्दमय होता है। परब्रह्म के आस्वाद के सदृश होता है।[1]

अभिनवगुप्त ने 'भट्टनायक' के मत का भी खण्डन किया है (जिसका विचार अभिनवगुप्त के प्रसंग में किया जाएगा)।

काव्यप्रकाश—मम्मट ने अभिनवगुप्त की भांति भट्टनायक के मत की विस्तृत चर्चा न करके संक्षिप्त चर्चा की है। मम्मट लिखते हैं कि भट्टनायक के अनुसार 'न तो तटस्थ और न स्वगत रूप से रस की प्रतीति, उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। अपितु काव्य और नाटक में अभिधा से भिन्न भावकत्व व्यापार है। जिसके द्वारा विभावादि साधारणीकृत होते हैं। भोजकत्व व्यापार द्वार स्थायी भाव भोगा जाता है। सत्त्व के उद्रेक से प्रकाश और आनन्दमय संविद्विश्रांति ही रस का स्वरूप है'।[2]

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने 'अभिनवभारती' में उद्धृत भट्टनायक के मत का अक्षरशः अनुकरण किया है।[3]

बालचित्तानुरंजनी—'बालचित्तानुरंजनी' टीका में श्री नरहरिसरस्वती-तीर्थ ने भी भट्टनायक के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि यदि यह माना जाए कि रस की प्रतीति होती है तो प्रश्न उपस्थित होता है 'रसस्य प्रतीतिः परगतत्वेन स्वगतत्वेन वा'? रस की परगत प्रतीति में दोष आते हैं कि रस का सम्बन्ध सामाजिक से भिन्न नट आदि में मानने से उसमें तटस्थता होगी। यदि रस की प्रतीति स्वगत मानी जाए अर्थात् सामाजिक में मानी जाए तो रसास्वादन में विरोध होता है क्योंकि करुण रस के प्रसंग में सामाजिक को दुःख की अनुभूति होगी आनन्द की नहीं, उसे पढ़ने में कौन प्रवृत्त होगा? रस की अभिव्यक्ति भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि अभिव्यक्ति उसी की होती है जो पहले से विद्यमान हो किन्तु रस पहले से विद्यमान नहीं अतः उसकी अभिव्यक्ति भी नहीं मानी जा सकती।

---

१. अभिनवभारती, पृ० ४६४

२. 'न ताटस्थ्येन...भट्टनायकः' (काव्यप्रकाश, पृ० १२६)

३. संकेत, पृ० ४७

काव्य के शब्दों का तीन व्यापारों से सम्बन्ध होता हैं—१. अभिधा, २. भावकत्व, ३. भोजकत्व। वाक्यभूतशब्दार्थालङ्कारादि विषय में अभिधा व्यापार होता है। रस आदि के विषय में भावकत्व व्यापार होता है और सहृदय के विषय में भोजकत्व व्यापार होता है। काव्य या नाटक में अभिधा से भिन्न दूसरी शक्ति भावना व्यापार है जिसका कार्य है विभावादि का साधारणीकरण। भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकृत स्थायी भाव भोजकत्व द्वारा भोगा जाता है। यहाँ 'भोग' का अर्थ 'चर्वणा' से है। मम्मट ने 'भट्टनायक' के मत को उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट नहीं किया कि 'अभिधा' व्यापार की क्या उपयोगिता है'। परन्तु सरस्वतीतीर्थ के इस कथन से 'अभिधानं कर्तृ वाक्यभूतशब्दार्थालङ्कारादिविषयं' स्पष्ट है कि अभिधा का कार्य काव्यार्थ बोध है। वस्तुतः सरस्वतीतीर्थ ने भी अभिनवगुप्त की भांति ही भट्टनायक के मत का विवेचन किया है।[1]

सारबोधनी—'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने भट्टनायकके मत की चर्चा में स्पष्ट किया है कि अनुकार्य गत रस और अनुकर्तृ गत रस मानना युक्त नहीं है। श्रीभट्टाचार्य ने 'साहित्यदर्पण' की कारिका को उद्धृत किया किया है, जिसका अभिप्राय है कि अनुकार्यगत रस सीमित व्यक्तित्व वाले रामादि का सीतादि विषयक सीमित रत्यादि भावों का अनुभव है जबकि रस असीम व्यक्तित्व वाले सहृदय सामाजिक के साधारणीकृत रत्यादि भावों का अनुभव हुआ करता है। २. अनुकार्यगत रस लौकिक है जबकि काव्य-नाट्य द्वारा उद्भावित रत्यादि भाव अलौकिक हुआ करता है। ३. अनुकार्यगत रत्यादिभाव नाटक के श्रवण-दर्शन के प्रतिकूल है।[2] 'सारबोधिनी' टीका में भोग का अर्थ 'साक्षात्कार' किया है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में भट्टनायक के मत की चर्चा की है। 'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने, 'बालचित्तानुरंजनी' टीका में श्रीनरहरिसरस्वतीतीर्थ ने भट्टनायक के मत को उद्धृत करते हुए रस की स्वगत प्रतीति या परगत प्रतीति का खण्डन किया है, वैसा खण्डन गोविन्द ठक्कुर ने नहीं किया। वे लिखते हैं 'भट्टनायक के अनुसार नट या नायक राम में रस की न उत्पत्ति होती है, न अनुमिति होती है और न

---

१. बालचित्तानुरंजनी, पृ० ६७

२. 'पारिमित्याल्लौकिकत्वात्सान्तरायतया तथा। अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत्।' (सारबोधिनी, पृ० ६७)

सामाजिक में अभिव्यति होती है। नट में रस की सत्ता नहीं मानी जा सकती क्योंकि जब सामाजिक में उसका अभाव है तो नट में उसका अनुमान कर लेने पर भी सामाजिक के हृदय में चमत्कार की उद्भावना कैसे हो सकती है। 'अभिव्यक्ति' पक्ष में यह दोष है कि रस अभिव्यक्त नहीं होता क्योंकि अभिव्यक्ति उसी की होती है जो विद्यमान हो किन्तु रस पहले से विद्यमान नहीं है (असिद्धत्वात्) अतः उसकी सिद्धि न होने के कारण व्यंजना का अवसर नहीं है।'[1]

भट्टनायक के अनुसार भरतसूत्र का अर्थ है 'विभावादिभिः संयोगात् भोज्यभोजक-भावसम्बन्धात् रसस्य निष्पत्तिर्भुक्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से भोज्य-भोजक भाव से रस की भुक्ति होती है। 'संयोग' का अर्थ 'भोज्य-भोजक भाव' और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' है। भट्टनायक का कथन हैं कि भोग से रस की अलौकिकता की ओर संकेत है। भट्टनायक के अनुसार यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है 'अन्यनिष्ठः स्थायी अन्यनिष्ठैरेव विभावादिभिः कथामन्येन भोक्तव्यः?' उक्त दोषों को दूर करने के लिए भट्टनायक ने काव्य के शब्दों में तीन शक्तियों की कल्पना की—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा व्यापार वाच्यार्थ निष्ठ होता है। इस शक्ति के सहारे काव्य के शब्दार्थ संबंध-विशेष को ग्रहण करते हैं। भावकत्व व्यापार का कार्य है साधारणीकरण। ('साधारणीकरण' की विस्तृत चर्चा 'साधारणीकरण' शीर्षक के अन्तर्गत की जाएगी। यहां केवल संकेतमात्र है)। भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादि और स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है अर्थात् आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, संचारी तथा स्थायी सभी साधारणीकृत अवस्था में उपस्थित हो जाते हैं। 'साधारणीकरण' का अभिप्राय है कि प्रेक्षक या सहृदय के मन में किसी के प्रति सम्बन्ध स्वीकार अथवा सम्बन्ध परिहार का भाव नहीं रहता और सीतादि का विशिष्ट व्यक्तित्व भी साधारण कामिनी के रूप में उपस्थित होता है। हम सीता को स्त्रीमात्र तथा उनके द्वारा प्रदर्शित रति स्थायी भाव को सामान्य रति स्थायी भाव के रूप में ग्रहण करने लगते हैं। इस रूप में काव्यगत पात्रों में विशिष्टता का वर्णन ही साधारण या सामान्य हो जाना है। इस प्रकार काव्य या नाटक में अभिधा से भिन्न भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकरण के अनन्तर तृतीय व्यापार भोजकत्व व्यापार द्वारा स्थायी भाव भोगा जाता है। भाव यह है कि भावकत्व व्यापार द्वारा सीतादि विभाव और रत्यादि स्थायी भाव का साधारणीकरण हो जाता

---

१. काव्यप्रदीप पृ० ६६

है और भोजकत्व व्यापार द्वारा रस भोगा जाता है। रत्यादि स्थायी भाव की भावना या भोग लौकिक सुखानुभव से विलक्षण है। यह भोग सामाजिक की उस चेतना या संवित् की स्वात्म-विश्रान्ति का ही आनन्द है जो रागद्वेषमयी व्यक्तिगत सीमाओं से मुक्त होने के कारण सात्त्विक रूप में अलौकिक हैं।[1] भाव यह है कि रजस् और तमस् को अभिभूत करके सतोगुण का उद्रेक होता है। सतोगुण प्रकाशमय और आनन्दस्वरूप है अतः इसके द्वारा होने वाली अनुभूति भी आनन्दस्वरूप होती है। गोविन्द ठक्कुर ने यह भी स्पष्ट किया है कि भट्टनायक ने सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार व्याख्या की है कि यह प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत्त्व, रज और तम गुणों के अधीन है। इन तीन गुणों के उद्रेक से क्रमशः सुख, दुःख और मोह का प्रकाशन होता है। रसानुभूति में सत्त्व का उद्रेक होता है।

गोविन्द ठक्कुर ने 'तदपि न सम्यक्' से भट्टनायक के सिद्धान्त का खण्डन किया है। गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व जो दो व्यापारों की कल्पना की है उसमें प्रमाण का अभाव है अर्थात् दोनों व्यापार शास्त्र-सम्मत नहीं है। भट्टनायक की अपनी मौलिक कल्पना है।[1]

भट्टनायक के मत के विवेचन के उपरान्त इसमें कतिपय विशेषताएं दृष्टिगोचर हुई हैं। 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' किए जाने से भट्टनायक का मत 'भुक्तिवाद' नाम से प्रसिद्ध है। भट्टनायक के मत में सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है 'साधारणीकरण सिद्धान्त'। रस-प्रतीति की सिद्धि के लिए भट्टलोल्लट ने 'तुल्यरूपतानुसंधान' की बात कही उसी रस की सिद्धि के लिए भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार के भीतर, 'साधारणीकरण' का उल्लेख किया है। भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित 'साधारणीकरण' सिद्धान्त को अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने कुछ परिष्कार करके स्वीकार किया है। 'साधारणीकरण' सिद्धान्त द्वारा रसास्वाद की समस्या पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भट्टनायक ने अपने मत के स्थापन के लिए तीन शक्तियों का सहारा लिया अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधा का महत्त्व केवल अर्थ-ग्रहण करा देने तक है, मन में अर्थ रमा देने के लिए किसी दूसरी शक्ति का सहारा लिया जाता है; वह शक्ति 'भावकत्व' है। गोविन्द ठक्कुर ने भट्टनायक का मत उद्धृत करते हुए स्पष्ट किया है 'भावकत्वं साधारणीकरणम्।'

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ६६

भावकत्व व्यापार द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का साधारणीकरण हो जाता है। गोविन्द ठक्कुर ने 'साधारणीकरण' का अर्थ स्पष्ट किया है—'साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः।'

भट्टनायक ने रस की व्याख्या करते हुए दृश्य के साथ-साथ श्रव्य-काव्य का भी विचार किया है। जबकि शंकुक के विवेचन में अभिनय तत्त्व प्रधान है और काव्य तत्त्व गौण।

'अभिनवभारती', 'लोचन', 'काव्यप्रकाश' तथा 'काव्यप्रदीप' में उद्धृत भट्टनायक के मत में 'सत्त्वोद्रेक' तथा 'भोग' शब्द की विभिन्न व्याख्या होने से भट्टनायक के दार्शनिक व्यक्तित्व के संबंध में विवाद उत्पन्न होता हैं। परम्परागत प्रसिद्धि तो यही है कि भट्टनायक सांख्य दर्शन के आचार्य थे। भट्टनायक के 'भोग' शब्द की व्याख्या विभिन्न आचार्यों ने इस प्रकार की है—

अभिनवभारती—'सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन।'

काव्यप्रकाश—'सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते।'

काव्यप्रदीप—'भोगश्च सत्त्वगुणोद्रेकात् प्रकाशते य आनन्दस्तत्स्वरूपा अनन्यालम्बना या संवित् तत्स्वरूपो लौकिकसुखानुभवविलक्षणः। सत्त्वरजस्तमसां गुणानामुद्रेकेण क्रमात् सुखदुःखमोहाः प्रकाश्यन्ते। उद्रेकश्च स्वेतरावभिभूयावस्थानमिति सांख्यसिद्धान्तानुसारेण विवृणुते।'

जहाँ तक मम्मट की पंक्ति के स्रोत का विचार है वह 'अभिनवभारती' में प्राप्त होता है। प्रदीपकार की पंक्तियाँ आचार्य मम्मट की पंक्तियों का भाष्य मात्र हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों में 'भोग' शब्द की व्याख्या 'सांख्यमत' के अनुसार की गई है। गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि 'सत्त्वोद्रेक...' की व्याख्या भट्टनायक ने सांख्य-सिद्धान्तानुसार की है। यह प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सत्त्व, रज और तम यह तीन गुण परस्पर एक दूसरे की सहायता करते हुए इस प्रकार प्रकाशित होते हैं जिस प्रकार तेल, आग और बत्ती तीनों मिलकर प्रदीप के रूप में प्रकाश करते हैं। त्रिगुणात्मक प्रकृति का स्वभाव भी अलग-अलग है। सत्त्व में प्रीति, रज में अप्रतीति तथा तमोगुण में विषादात्मकता है। रजस् और तमस् को अभिभूत करके सत्त्व के उद्रेक से होने वाली प्रकाशात्मिका तथा आनन्दात्मिका अनुभूति मात्र ही भोग का स्वरूप है।

अर्थात् सतोगुण आनन्दमय है अतः इससे होने वाली अनुभूति भी आनन्दमय है, यह सांख्यसिद्धान्तानुसार 'भोग' की व्याख्या है।

'भोग' की व्याख्या में कहे गये 'आनन्द' और 'परब्रह्मास्वादसाविध' जैसे शब्द प्रयोग भट्टनायक पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट करते हैं। 'काव्य-प्रदीप' की प्रभा टीका में वैद्यनाथ द्वारा की गई 'भोग' शब्द की व्याख्या भी अद्वैत वेदान्त पक्ष का समर्थन करती है।

अभिनवगुप्त ने 'लोचन' टीका में अद्वैतवाद की भूमिका पर 'भोग' का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया—'भाविते च रसे तस्य भोगः, योऽनुभवस्मरण-प्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्ध-सत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः।' लोचन की 'बालप्रिया' टीका में इसकी व्याख्या की गई है—भावना शक्ति के बल से रामादिगत प्रतीति स्थायी ही सहृदयों से भुज्यमान होकर रसपदवी प्राप्त करती है। 'भोग' स्मरण अनुभव आदि सब प्रकार की लौकिक प्रतिपत्तियों से भिन्न होता है। यहाँ सत्त्व गुण का उद्रेक होता है पर रज एवं तम की विचित्रताएं भी लेशतः संबंधित रहती है, किन्तु प्रधान सत्ता सत्त्व की ही रहती है। अपनी सत्ता के द्वारा उस समय हमें ऐसे लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करने लगते हैं जिनमें संसार के अन्य सारे संवेदनीय पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं और स्वात्मचैतन्य रूप लोकोत्तरानन्द अनुभूत होता है।

'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ का कथन है—'सत्त्वोद्रेकादावरणभंगे सति आनन्दात्मकचैतन्यविषयीकरणरूपा भुक्तिः'। अर्थात् वैद्यनाथ ने काव्य-रस को आत्मानंद से संबद्ध करने के लिए यह कहा कि सत्त्वोद्रेक से चैतन्यात्मक आनन्द पर पड़ा हुआ आवरण हट जाता और निवारण चैतन्यानंद संवलित स्थायी भाव का रसात्मक भोग होता है।

उपर्युक्त व्याख्याओं से स्पष्ट है कि सांख्य दर्शन में सत्त्व का उद्रेक ही पर्याप्त हैं परन्तु 'प्रभाकार' ने आत्मानन्द के साथ-साथ सत्त्वोद्रेक के फलस्वरूप आवरणभंग की बात कही है कि वह अद्वैत वेदान्त की प्रक्रिया का अनुगमन करती है और भट्टनायक को अद्वैत वेदान्त से प्रभावित सिद्ध करती है।

इसके अतिरिक्त विद्वानों का अन्य वर्ग भी है जो भट्टनायक को मीमांसक सिद्ध करता है। परन्तु 'काव्यप्रदीप' टीकाकार के आधार पर भट्टनायक सांख्यवादी सिद्ध होते हैं और 'प्रभा' टीका के अनुसार अद्वैत वेदान्ती।

इस प्रकार भट्टनायक के मत में विशेषताएँ होते हुए भी उनका मत आचार्यों की दृष्टि से रस-निष्पत्ति की विवेचना करने में असमर्थ रहा।

विद्वानों को सबसे अधिक यह दोष दिखाई दिया कि लक्षणा तथा व्यंजना के रहते हुए भी भट्टनायक ने उनकी उपेक्षा करके साहित्य के क्षेत्र में अपरिचित दो नवीन शक्तियों—भावकत्व तथा भोजकत्व का प्रतिपादन किया।

अभिनवगुप्त का मत

भट्टलोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के मतों का उल्लेख करके अन्त में मम्मट ने अभिनवगुप्त के मत का विस्तृत विवेचन किया है। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोकलोचन' तथा 'अभिनवभारती' में स्वयं अपने मत का विस्तृत उल्लेख किया है। मम्मट ने अभिनवगुप्त की भाँति विस्तृत विवेचन नहीं किया अपितु अभिनवगुप्त के विवेचन की ही संक्षिप्त चर्चा की है। परन्तु मम्मट का यह विवेचन अन्य आचार्यों (भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक) के मतों के विवेचन की अपेक्षा विस्तृत है। गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट द्वारा उद्धृत अभिनवगुप्त के विवेचन को अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट किया है।

काव्यप्रकाश—काव्यप्रकाश में अभिनवगुप्त का मत इस प्रकार उद्धृत है 'लोक के कारण कार्य और सहकारी आदि जो भाव है काव्य या नाटक में वे विभाव, अनुभाव और संचारी भावादि अलौकिक नाम से कहे जाते हैं तथा 'ये मेरे ही हैं, 'ये शत्रु के ही हैं' इस प्रकार के विशेष संबंध की स्वीकृति और 'ये मेरे नहीं हैं' 'मेरे शत्रु के नहीं हैं', 'उदासीन के नहीं हैं' इस प्रकार से विशेष संबंध का निषेध, इन दोनों प्रकार की व्यवस्था का निश्चय न होने से सामान्य-रूपेण प्रतीत होते हैं। यद्यपि यह स्थायी भाव सामाजिक के भीतर व्यक्तिगत प्रमाता के रूप में ही स्थित होता है तथापि साधारण उपायों के बल से काव्य नाटक में उनका साधारणीकरण हो जाता है। अतएव रसास्वादकाल में प्रमाता भी नियत, सीमित अथवा परिमित नहीं रहता और उस काल में सामाजिक के हृदय में विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति का उदय होता है उस समय सामाजिक को जो अनुभव होता है वह 'वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य' होता है और इस दशा में रति आदि का साधारणीकरण हो जाता है। साधारणीकरण होने से ममत्व और परत्व का परिहार हो जाता है। काव्य या नाटक में कला की अलौकिक शक्ति के कारण विलक्षण अनुभूति होती है। यह रति आदि अपने आकार के समान अभिन्न रूप से अनुभूत होता हुआ भी आस्वाद-मात्र स्वरूप वाला, पानक रस के समान आस्वाद्यमान, विभावादि की स्थिति पर्यन्त रहने वाला, हृदय में प्रवेश करता हुआ तथा ब्रह्मानुभव के आनन्द का अनुभव कराता हुआ अलौकिक चमत्कार करने वाला शृंगार आदि रस

कहा जाता है। रस विभावादि का कार्य नहीं और न ही विभावादि के द्वारा ज्ञाप्य है। रस स्वसंवेदन का विषय है। अतः न वह निर्विकल्पक ज्ञान है न सविकल्पक ज्ञान है अपितु रस अलौकिक वस्तु है जो कि अनुभव ज्ञेय है'।[1]

संकेत -- 'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोकलोचन' में उद्धृत अभिनवगुप्त के मत का अक्षरशः अनुकरण किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार 'जिस प्रकार नाट्य में दो प्रकार का अभिनय होता है— लोकधर्मी और नाट्यधर्मी—उसी प्रकार काव्य भी दो प्रकार का होता है स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। लोकधर्मी अभिनय वह है जो लोकव्यवहार के अत्यन्त निकट हैं और नाट्यधर्मी वह है जो लोकव्यवहार में नित्य नहीं आता जैसे स्वर, अलंकारादि। इन दो प्रकारों से अलौकिक प्रसन्न मधुर और ओजस्वी शब्दों से समर्पित किए जाने वाले विभाव इत्यादि के योग से यही रस की वार्ता है। सभी पक्षों में रस की प्रतीति अपरिहार्य है। यदि रस की अप्रतीति मानी जाए तो वह पिशाच के समान अव्यवहार हो जाएगा। जिस प्रकार उपायों की विभिन्नता के कारण प्रतीति के प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, प्रतिभा, योगि-प्रत्यक्ष, ये विभिन्न भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार रस प्रतीति भी प्रत्यक्षादि सब प्रकार प्रतीतियों से विलक्षण होती है। चर्वणा, आस्वाद, भोगादि इस प्रतीति के विभिन्न नाम हैं। रस-प्रतीति अन्य प्रतीतियों से विलक्षण मानी जाती है क्योंकि हृदय-संवाद आदि से उपकृत विभावादि सामग्री लोकोत्तर रूप होती है। प्रतीयमान ही रस है। प्रतीति की विशिष्ट चर्वणा, चमत्कार, आस्वादन, भोगादि वाच्य शब्दों से व्यवहृत रस है। नाट्य में यह प्रतीति लौकिक अनुमान प्रतीति से विलक्षण होती है।[2] इस प्रकार माणिक्यचन्द्र ने अभिनवगुप्त के मत की चर्चा की है।

वालचित्तानुरंजनी, सारबोधिनी आदि टीकाओं में अभिनवगुप्त के मत का ही समर्थन है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने अभिनवगुप्त के मत का विवेचन मम्मट की भाँति ही किया है। परन्तु प्रदीपकार का विवेचन अन्य टीकाकारों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि अभिनवगुप्त के अनुसार संक्षेप में सूत्रार्थ इस प्रकार है—'स्थायिनां विभावादिभिः समं व्यंग्यव्यंजकभावरूपात्संबन्धाद्विभावादीनामेव वा परस्परं संयोगान्मिलनाद्रसस्य

---

१. "लोके·········तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।'
—(काव्यप्रकाश, पृ० १२९ से १३६ तक)

२. संकेत, पृ० ४८

निष्पत्तिरभिव्यक्तिः ।' अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से व्यंग्य-व्यंजक भाव में रस की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ अभिमवगुप्त ने 'संयोग' का अर्थ 'व्यंग्य-व्यंजक-भाव' और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' किया है।

गोविन्द ठक्कुर ने अभिनवगुप्त के मत को इस प्रकार उद्धृत किया है— 'रति आदि स्थायी भाव उन सामाजिकों के हृदय में सूक्ष्म रूप में निरन्तर विद्यमान रहते है जिन्होंने लोक में प्रमदादि कारणों से स्थायी का अनुमान करने में निपुणता प्राप्त कर ली है। प्रमदादि कारण ही जब काव्य में वर्णित अभिनीत रूप में सामने आते हैं तो सामाजिक उनका विभावन आदि करता है, अतः ये विभावादि की संज्ञा पाते है। सामाजिक के हृदय में वासना रूप से रत्यादि स्थायी भाव विद्यमान होते हैं। उन रत्यादि स्थायी भावों का वह रसास्वादन करता है। जिनके हृदय में ये संस्कार जितने ही जागरूक होते हैं वे उतना ही अधिक रसास्वादन करते हैं। परन्तु जिनके हृदय में रति आदि भाव उत्पन्न नहीं हुए, वासना रूप से स्थित नहीं है उन्हें रसाभिव्यक्ति कैसे संभव है? यहाँ रसिकों को ही रसास्वादन होता है मीमांसक या वैयाकरण को नहीं। 'यां विना श्रृंगारिणामपि मीमांसकवैयाकरणादीनां न रसाभिव्यक्तिः।' अतएव यह स्पष्ट है कि रत्यादि भाव की अभिव्यक्ति सहृदय सामाजिकों को ही होती है और सहृदय के लिए स्थायी भाव का अनुमान करने के लिए निपुणता की आवश्यकता है। इसमें विशेष बात यह है कि प्रमदादि रूप लौकिक सामग्री जब नाट्य और काव्य में अभिनय और काव्यपदों से उपस्थित की जाती है तो लोक-विलक्षण होने के कारण अपने भावित रूप में व्यक्ति विशेषांक से शून्य होकर क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव नामक अलौकिक शब्दों द्वारा कही जाती है। काव्य की इसी अलौकिक शक्ति के कारण विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। लोक जीवन में तीन प्रकार के भाव हैं 'कुछ मेरे हैं', 'कुछ शत्रु के हैं', 'कुछ उदासीन के हैं'। काव्य या नाटक में सहृदय के साथ किसी प्रकार के सम्बन्ध को स्वीकार करने का नियम नहीं है जिससे यह कह सकें कि यह मेरे हैं, शत्रु के हैं या उदासीन के हैं क्योंकि यदि विभावादि स्वकीय प्रतीत होने लगे तो लोगों के समक्ष रति आदि को प्रकट करने में लज्जा का अनुभव होगा, शत्रु सम्बन्धी विभावादि के सम्बन्ध में द्वेष का भाव जागरित होगा और तटस्थ के विभावादि जानकर उपेक्षा होगी। इसी प्रकार किसी प्रकार के संबंध के परित्याग का भी नियम नहीं है जिससे यह कह सकें 'न ममैवैते' 'न शत्रोरेवैते' 'न तटस्थस्यैवैते'। अभिप्राय यह है कि लोक-जीवन में होने

वाले तीनों सम्बन्धों की स्वीकृति या परिहार का निश्चय नहीं होता अपितु विभावादि का साधारणीकरण होने से उनसे व्यक्त होने वाला सामाजिक का स्थायी रत्यादि भाव भी सामाजिक की स्वपरगत सीमाओं के भेदाभेद से विलक्षण अलौकिक रूप में व्यक्त होता है। इस प्रकार विभावादि नाम से विख्यात कारणादि के द्वारा दर्शकों की चित्तवृत्ति में वासनारूप में विद्यमान रति आदि स्थायी भावों की अभिव्यक्ति हो जाती है।

उपर्युक्त कारणों द्वारा विभावादि का साधारणीकरण होने पर, उस अनुभव काल में प्रमाता के चित्त में अपरिमित भाव जागृत होता है, उसकी परिमित सत्ता नष्ट हो जाती है एवं उसके हृदय में विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति का उदय हो जाता है जिसमें सचेता सामाजिक ज्ञाता ज्ञेय, ज्ञेयान्तर आदि व्यक्तिगत सीमाओं से छूटकर असीम प्रमाता हो जाता है और इस अवस्था में रत्यादि स्थायी भावों का साधारणीकरण हो जाता है। रत्यादि भाव का साधारणीकरण 'सकलहृदयसंवादकारिणा' है अर्थात् समस्त सहृदयजनों की सामान्य अनुभूति का विषय है। इस प्रकार सामाजिक का व्यक्तित्व अपरिमित हो जाता है, व्यक्तिगत राग-द्वेष की भावना नष्ट हो जाती है और वह स्थायी भाव की सामान्य रूपेण चर्वणा करता है। रति आदि अपने आकार से अभिन्न रूप में अनुभूत होता हुआ ही आस्वादन का विषय है 'चर्वणा विशिष्टः स्थायी रस इत्युच्यते।' यह रस चर्व्यमान विभावादि के स्थितिकाल तक रहता है अर्थात् उस रस का स्वरूप केवल आस्वादन मात्र है और आस्वादन तभी तक होता है जब तक विभावादि रहते हैं, विभावादि के अभाव में रसास्वाद संभव नहीं। रसानुभूति के समय सामाजिक को ब्रह्मज्ञान का सा अनुभव कराता हुआ, व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर सत्त्वोद्रेक के कारण सामाजिक के समक्ष स्फुरित होता हुआ, उसका सर्वांगीण आलिंगन सा करता हुआ, प्रत्येक अंग में अमृत-वर्षा करता हुआ, अन्य सभी कुछ अन्तर्हित सा करता हुआ, अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करने वाला शृंगारादि रस नाम से अभिहित किया जाता है।

रसों के आस्वादन में विभावादि संवलित होने के कारण रसानुभूति प्रपानक रस की तरह समूहालम्बनात्मक किंवा अखण्ड होती है। यहाँ यह स्पष्ट है कि यह समूहालम्बनात्मक प्रतीति घट और पटकी समूहालम्बनात्मक प्रतीति की भाँति नहीं है जिसमें घट और पट इत्यादि की पृथक्-पृथक् सत्ता प्रतीत हो—'घटपटाविति समूहालम्बनवदिति चेत्। न। पानकरसन्यायेन चर्वणात्।' अतः स्पष्ट है कि यह प्रतीति प्रपानक-रस न्याय से होती है।

'प्रपानक रस' में जिस प्रकार केसर, कर्पूरादि विभिन्न पदार्थों की पृथक् अनुभूति नहीं होती अपितु विभिन्न पदार्थ मिलकर एक रस हो जाते हैं, उसी प्रकार विभावादि के संयोग से निष्पन्न रस में उनके पृथक् ज्ञान का नाश हो जाता है। एक अखण्डात्मक रस की प्रतीति होती है और विभावादि से विलक्षण अलौकिक आस्वाद का चर्वण इस रस में होता है।

रस की अलौकिकता सिद्ध करते हुए अभिनवगुप्त का कथन है 'ननु विभावादीनां परामर्शस्यान्वयव्यतिरेकात्तत्कार्य एव रसः किं नोच्यत इति चेत्। न। विभावादिपरामर्शस्य कारणत्वं यदि स्यात्तदा निमित्तकारणत्वमेव'। अर्थात् रस विभावादि का कार्य नहीं। यदि रस कार्य माना जाए तो विभावादि को उसका निमित्त कारण मानना चाहिए क्योंकि लौकिक पदार्थों का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। रस को विभावादि का कार्य मानना इसलिए भी उचित नहीं कि विभावादि के नष्ट होने पर रस भी प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः स्थिति यह होती है कि निमित्त कारण (दण्डादि) का नाश हो जाने पर भी कार्य (घट) स्थित रहता है। परन्तु काव्य के क्षेत्र में विभावादि के होने पर ही रस-स्थिति संभव है। इस दृष्टि से रस को कार्य नहीं कहा जा सकता। गोविन्द ठक्कुर ने अभिनवगुप्त के इस भाव को 'चन्दनादि' दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है कि लौकिक पदार्थों में कार्य-कारण संबन्ध की यह विशेषता है कि व्यक्ति को एक समय में एक का ही ज्ञान हो सकता है दोनों का नहीं। उदाहरण के लिए चन्दन के लेप से शीतलता का भी अनुभव हो और उससे उत्पन्न सुख का अनुभव हो ऐसा सम्भव नहीं। एक ही क्षण में दोनों का ज्ञान नहीं होता। पहले चन्दन-स्पर्श का ज्ञान होता है फिर तज्जन्य सुख का। अतः यदि रस को कार्य मानें तो विभावादि का ज्ञान उसका कारण हुआ और 'चन्दन' वाले दृष्टान्त से स्पष्ट है कि रसानुभूति के समय विभावादि के ज्ञान की सत्ता नहीं होनी चाहिए। परन्तु सहृदय को विभावादि का ज्ञान रहता है। अतएव रस कार्य नहीं हो सकता।

अभिनवगुप्त के अनुसार रस ज्ञाप्य भी नहीं है क्योंकि पूर्व विद्यमान वस्तु ही ज्ञाप्य होती है। किन्तु रस विभावादि के पूर्व विद्यमान नहीं होता, अतः रस ज्ञाप्य नहीं अपितु विभावादि से व्यंजना द्वारा व्यक्त किया गया तथा आस्वादनीय है। कारक और ज्ञापक से भिन्न हेतु लोक में नहीं है किन्तु काव्य में हैं, यही रस रस की अलौकिकता है—'अलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेतन्न-दूषणम्।'

यहां तक अभिनवगुप्त के मतानुसार स्पष्ट है कि 'चर्वणाविशिष्टः स्थायी रसः' तथा 'स च न कार्यः नापि ज्ञाप्यः । परन्तु यहाँ शंका होती है 'कथं तर्हि विभावादिभिरुत्पन्नो रसो ज्ञेयो रस रत्यादिव्यवहार इति चेत् ।' अभिनवगुप्त का कथन है कि प्रथम में चर्वणा की उत्पत्ति होने से रस की उत्पत्ति का भी औपचारिक प्रयोग देखा जाता है ।

रस ज्ञाप्य भी नहीं परन्तु ज्ञाप्य कह दिया जाता है । उसकी ज्ञाप्यता है—लोकप्रसिद्ध सभी प्रकार के ज्ञान से विलक्षणत्व । लोक में तीन प्रकार के ज्ञान होते हैं—१. लौकिकी प्रमितिः अर्थात् जो ज्ञान जनसाधारण को प्रत्यक्षादि द्वारा होता है । २. 'यच्चापरिपक्वयोगिना युञ्जानपदवाच्यानां जगद्भेदविषयकत्वशालिविज्ञानम् अर्थात् अपरिपक्व योगियों का ज्ञान जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद बना रहता है । ३. यच्च परिपक्वयोगिनाँ युक्तपदाभिधेयानां बाह्यार्थसंस्पर्शरहितं स्वात्ममात्रविषयं संवेदनम् अर्थात् परिपक्व योगियों का ज्ञान जिसमें सांसारिक पदार्थों का संस्पर्श नहीं होता जिसका विषय आत्मानुभूति मात्र होता है । इस प्रकार यह तीन प्रकार का ज्ञान लौकिक है । परन्तु रसानुभूति तीन प्रकार के ज्ञान से विलक्षण, स्वसंवेदन का विषय, अलौकिक है । अतः रस को मुख्यतः नहीं अपितु औपचारिक अर्थ में कार्य या ज्ञाप्य कह दिया जाता है ।

रस को ग्रहण करने वाला ज्ञान न निर्विकल्पक है और न सविकल्पक । निर्विकल्पक इसलिए नहीं कि 'विभावादिपरामर्शस्य निर्विकल्पकजननायोग्यत्वादिति' अर्थात् विभावादि के संबंध की प्रधानता रहती है । सविकल्पक ज्ञान भी नहीं क्योंकि 'चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमस्य स्वसंवेदनमात्रसिद्धत्वात् चर्वणादशायां ज्ञानान्तराभावात् ।' अर्थात् रस आस्वादरूप है, अलौकिक आनन्दस्वरूप है, स्वसंवेदनमात्र है । चर्वणा दशा में अन्य सभी प्रकार का ज्ञान नष्ट हो जाता है ।

इस प्रकार रसानुभूति निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों ज्ञानों से भिन्न उभयाभावस्वरूप है । उभयात्मकता रस की अलौकिकता को सिद्ध करती है, विरोधिता को नहीं क्योंकि लौकिक वस्तु में विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते, रस में विरोधी धर्म रहते हैं और इससे ही रस की अलौकिकता प्रकट होती है ।[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने अभिनवगुप्त का मत मम्मट की अपेक्षा अधिक विस्तृत और स्पष्ट रूप में उद्धृत किया है । अभिनवगुप्त के मत का

१. काव्यप्रदीप, पृ० ६७ से ७१ तक ।

विवेचन करते हुए गोविन्द ठक्कुर की विशेषता यह रही कि उन्होंने स्वयं भी अपनी दृष्टि से कई स्थानों पर अभिनवगुप्त की पंक्ति की व्याख्या की है। जैसे 'रस कार्य नहीं हैं' इसे गोविन्द ठक्कुर ने चन्दनादि दृष्टान्त से स्पष्ट किया है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर के इस विवेचन पर आचार्य विश्वनाथ का प्रभाव है। 'साहित्यदर्पण' में आचार्य विश्वनाथ रस का स्वरूप वर्णन करते हुए लिखते हैं कि –'यदि रसः कार्यः स्यात्तदा विभावादिज्ञानकारणक एव स्यात्। ततश्च रसप्रतीतिकाले विभावादयो न प्रतीयेरन्, कारणज्ञानकार्य्यज्ञानयोर्युगपद-दर्शनात्। नहि चन्दनस्पर्शज्ञानं तज्जन्यसुखज्ञानञ्चैकदा सम्भवति।' गोविन्द ठक्कुर ने 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' किया है। अभिनवगुप्त का मत 'अभिव्यक्तिवाद' के नाम से जाना जाता है। गोविन्द ठक्कुर तथा अन्य काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने भी अभिनवगुप्त के मत का खण्डन नहीं किया है। अतः यह स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। अभिनवगुप्त के द्वारा दी गई व्याख्या में ही रस-सूत्र का भाव पूर्णतया खिल सका। भट्टनायक ने काव्य की तीन शक्तियों की चर्चा तो की, किन्तु प्रेक्षक या पाठक के हृदयगत स्थायी भावों तक उनकी दृष्टि न जा सकी। अभिनवगुप्त के यहाँ स्थायी भाव संस्कारावस्थित रूप में सामाजिक के हृदय में रहता है और उसका परिणत किंवा व्यक्त रूप रस भी सामाजिक के भीतर है। अतः स्पष्ट है अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम सामाजिक में रस की निभ्रांत शब्दों में स्वीकृति दी है।

अभिनवगुप्त के विवेचन में विभावादि कवि की भावसृष्टि होने के कारण अलौकिक है। सहृदय सामाजिक 'ममत्व, परत्व' आदि के भेदभाव से ऊपर विभावादि का भावन भी उसी स्तर पर करता है जिसके कारण रत्यादि के संस्कार वाली चेतना सात्त्विक आनन्द के रूप में व्यक्त होती है। इस प्रकार वासनागत संस्कार, विघ्न और उसका नाश, साधारणीकरण की व्यापकता, आनन्द प्राप्ति में विभावादि का योग आदि कई बातों पर अभिनवगुप्तने पूर्ण मौलिक ढंग से विचार करके एक नवीन सिद्धान्त की स्थापना की है अर्थात् इन्होंने समष्टिगत रस की प्रकल्पना पर बल दिया है।

इस प्रकार भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त आदि आचार्यों के मत का विवेचन करने के उपरान्त यह प्रश्न उठता है कि मम्मट का अभिप्रेत मत कौन सा है। मम्मट ने केवलमात्र चारों मतों का उल्लेख किया है किसी का खण्डन नहीं किया है। अभिनवगुप्त के मत के उल्लेख में मम्मट ने अभिनवगुप्त के लिए 'श्रीआचार्याभिनवगुप्तपादास्तु' लिखा, जिसका अभिप्राय यह किया गया कि श्री, आचार्य, पादा आदि सम्मानसूचक शब्दों के प्रयोग से

यह प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त का मत ही मम्मट का अभिमत है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने भट्टलोल्लट शंकुक और भट्टनायक के मत का खण्डन क्रमशः 'तदपेशलम्', 'एतदप्यहृदयग्राहि', 'तदपि न सम्यक्' आदि स्पष्ट शब्दों से किया है। परन्तु अभिनवगुप्त के मत का खण्डन नहीं किया जिससे स्पष्ट है कि 'अभिनवगुप्त' का मत गोविन्द ठक्कुर को भी हृदयग्राही है।

गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट से अधिक स्पष्ट रूप में चारों आचार्यों के मत को प्रतिपादित किया है। 'संकेत' आदि टीकाओं में तो 'अभिनवभारती' में उद्धृत भट्टलोल्लट आदि आचार्यों के मत को ज्यों का त्यों उद्धृत किया गया है जिससे उन टीकाकारों की मौलिकता का परिचय नहीं मिलता परन्तु गोविन्द ठक्कुर के विवेचन में ऐसा नहीं है। प्रदीपकार ने किसी भी आचार्य का अक्षरशः अनुकरण नहीं किया है। अपितु भट्टलोल्लट आदि चारों आचार्यों के मत का विवेचन करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने मौलिक दृष्टि और अपनी प्रखर मेधा का परिचय दिया है।

साधारणीकरण

'साधारणीकरण' का शाब्दिक अर्थ है— व्यक्तित्व का विलयन, संबंध-विशेष का त्याग, असाधारण का साधारणीकरण। साधारणीकरण काव्य आदि कलाओं का वह विलक्षण व्यापार है जिसमें वस्तुएँ स्थान तथा काल आदि की उपाधि से मुक्त होकर निर्वैयक्तिक रूप में दिखाई पड़ती हैं। जिसमें सम्बन्ध-विशेष की स्वीकृति या परिहार का निश्चय नहीं होता अपितु सहृदय या या सामाजिक अपने सामान्य मानवीय हृदय द्वारा काव्य या जीवन के विभावादि को सामान्यीकृत अथवा मानवीय रूप में ग्रहण करता है। साधारणीकरण का व्यापार विशिष्ट भावों की वैयक्तिक अनुभूति को रस रूप में परिणत कर देता है। समष्टि रूप में विचार करने पर संस्कृत के दो ही आचार्य ऐसे हैं जिनका साधारणीकरण के सम्बन्ध में मौलिक और सार्वभौम योगदान है। ये हैं – भट्टनायक और अभिनवगुप्त। साधारणीकरण का उद्भव और विकास रस-प्रक्रिया के प्रतिष्ठापक भरतमुनि के सुविख्यात सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' की व्याख्यान परम्परा में हुआ। भरत सूत्र की व्याख्या करने के लिए चार प्रसिद्ध आचार्य हुए—लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त। उनमें से सर्वप्रथम भट्टनायक ने 'साधारणीकरण' शब्द का प्रयोग किया और साधारणीकरण द्वारा यह समझने का प्रयत्न किया कि कवि की शब्दार्थमयी सृष्टि विभावादि के साथ सामाजिक के आनन्द का क्या संबंध है तथा काव्य में व्यक्त भाव सामाजिक का अपना अलौकिक भाव रस कैसे बन जाता है।

'काव्यप्रकाश' में मम्मट ने भट्टनायक आदि के मत को उद्धृत करते हुए 'साधारणीकरण' सिद्धान्त को इतना स्पष्ट नहीं किया जितना 'काव्यप्रदीप' में गोविन्द ठक्कुर ने। अतः गोविन्द ठक्कुर की दृष्टि से ही 'साधारणीकरण' की व्याख्या की गई है।

सर्वप्रथम 'भट्टनायक' को ही 'साधारणीकरण' के विनियोग का श्रेय है। 'अभिनवभारती' में 'भट्टनायक' के मत को उद्धृत करते हुए 'साधारणीकरण

से सम्बद्ध पाठ इस प्रकार है—'तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण, निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः ।' अर्थात् भावकत्व व्यापार और साधारणीकरण व्यापार एक ही है। श्रव्य काव्य में यह साधारणीकरण व्यापार काव्य के दोषाभाव, गुण एवं अलंकार से युक्त होने पर है और दृश्य काव्य में चतुर्विध अभिनय रूप है। साधारणीकरण भावकत्व व्यापार के बल पर सामाजिक पहले विभावादि के रूप में कविसृष्टि को लौकिक व्यक्तियों के वैशिष्ट्य से मुक्त कर लेता है और तत्पश्चात् उनके द्वारा प्रकट रत्यादि को भी उसी प्रकार किसी व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध न करके व्यक्तिगत राग, द्वेष, लज्जा आदि के संकट से ऊपर सात्त्विक स्तर पर भोगता है।

'लोचन' टीका में भी 'अभिनवगुप्त' ने 'भावकत्व' व्यापार की संक्षिप्त चर्चा करते हुए कहा है—'तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम' अर्थात् यह भावकत्व व्यापार रस-विषयक है और रस-विषयक व्यापार से अभिप्राय है—अभिधानीत वाच्यार्थ को साधारण बनाना। साधारणीकृत पदार्थ ही विभावादि शब्द से कहे जा सकते हैं। लोचनकार ने साधारणीकरण पर संक्षिप्त ही कहा है।

'काव्यप्रदीप' में गोविन्द ठक्कुर ने भट्टनायक के 'साधारणीकरण' का रूप दिया —'भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत् सीताविशेषांशकामिनीत्वादि-सामान्येनोपस्थितिः स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धविशेषानवच्छिन्नत्वेन।'

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर ने 'अभिनवभारती' में उद्धृत भट्टनायक के मत के अनुरूप ही 'काव्यप्रदीप' टीका में भट्टनायक के अनुसार 'साधारणीकरण' सिद्धान्त की विवेचना की है। तथापि गोविन्द ठक्कुर ने अधिक स्पष्ट व्याख्या की है। गोविन्द ठक्कुर के अनुसार 'भट्टनायक' का साधारणीकरण स्वरूप इस प्रकार है—प्रथम तो 'भावकत्व' व्यापार के पर्याय के रूप में 'साधारणीकरण' का प्रयोग किया गया है। भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादि और स्थायी का साधारणीकरण होता है। विभावादि के रूप में सीतादि की उपस्थिति कामिनीत्वादि सामान्य धर्म के साथ और रत्यादि की उपस्थिति भी व्यक्तित्व विशेषांश के सम्बन्ध के परिहार के साथ होती है।

'काव्यप्रदीप' में उद्धृत भट्टनायक की उपर्युक्त पंक्तियाँ संक्षिप्त होते हुए भी 'साधारणीकरण' सिद्धान्त पर व्यापक प्रकाश डालती हैं। भरत-सूत्र की

व्याख्या करते हुए भट्टलोल्लट और शंकुक पर यह आरोप लगाया गया कि सहृदय पाठक या श्रोता मूल नायक-नायिका अथवा कवि-निर्मित पात्रों के भावों से किस प्रकार रसास्वाद प्राप्त कर सकता है ? भट्टनायक ने इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत करते हुए 'साधारणीकरण' सिद्धान्त को उपस्थित किया। भट्टनायक ने अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व तीन शक्तियों की कल्पना की। अभिधा, वाच्यार्थ विषयक व्यापार है। किसी काव्य का पाठ करते, उसे सुनते अथवा दृश्य देखते हुए सामाजिक सर्वप्रथम अभिधा शक्ति का सहारा प्राप्त करता है। काव्य में रत्यादि भाव का किसी भी व्यक्ति-विशेष के साथ सम्बन्ध मानना सत्त्वोद्रेकमूलक लोकोत्तर रसास्वाद का बाधक है, क्योंकि प्रेक्षक या श्रोता शकुन्तला और सीता को उनके इस व्यक्तित्व के साथ जानता है तो उन्हीं में रस समझकर तटस्थ रह सकता है। अतः भट्टनायक ने व्यक्तित्व-शून्य बोध के लिए भावकत्व शक्ति की कल्पना की। दृश्य में प्रदर्शित अथवा वर्णित वेश-भूषा, सुन्दर आकृति, अभिनय-कुशलता आदि अथवा सुन्दर काव्य-पाठ, रुचिकर उक्ति, मोहक शब्द-चयन और पद-विन्यास आदि के कारण प्रेक्षक अथवा पाठक का मन भावकत्व व्यापार द्वारा व्यक्ति-विशेष को विस्मृत करने लगता है। फलस्वरूप विभाव, अनुभाव और संचारी भाव व्यक्ति-विशेषांश के संबंध से दूर सामान्य रूप में उपस्थित होते हैं। जैसे कि गोविन्द-ठक्कुर लिखते हैं—'साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादि-सामान्येनोपस्थितिः।' अभिप्राय यह हुआ कि काव्य में वर्णित राम या सीता आदि पात्र, उसी रूप में सामाजिक को प्रतीत नहीं होते अपितु वे तथा उनके बीच की रति, सीतात्व तथा रामत्व सम्बन्ध को त्यागकर, सामान्य रूप से कामिनीत्व अथवा रतित्व के रूप में हमें प्रतीत होती है। व्यक्ति-विशेष के रति आदि स्थायी भाव सामान्य में परिणत हो जाते हैं। सीता-राम सामान्य दम्पत्ति के रूप में आते हैं। उनका प्रेम व्यक्ति-विशेष का न रहकर सामान्य प्राणिमात्र का बन जाता है। अतः इस रूप में विशिष्ट संबंध का वर्णन ही साधारण या सामान्य हो जाना है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'भट्टनायक' के साधारणीकरण सिद्धान्त में विभावादि ही साधारणीकृत रूप में सामाजिक के सामने आते हैं। लोक के किसी भी व्यक्ति-विशेष से असम्बन्ध होने के कारण रत्यादि साधारणीकृत हैं और साधारणीकृत होने के कारण अलौकिक हैं। इस अलौकिक रत्यादि के भ।ग के लिए सामाजिक को भी अपनी व्यक्तिगत सीमा छोड़कर रजस्तमोगुण

से ऊपर सतोगुण की स्थिति में पहुंचना पड़ता है। इस स्थिति में पहुंचकर सहृदय सामाजिक के हृदय में वासना रूप में विद्यमान रति आदि भाव का भावकत्व तथा भोजकत्व नामक व्यापारों द्वारा आस्वादन होता है। वस्तुतः 'साधारणीकरण' सिद्धान्त भट्टनायक की सूक्ष्म बुद्धि का परिचायक है, जहाँ उन्होंने काव्य में वर्णित सीता-राम आदि पात्रों को ऐतिहासिक रामादि से और अनुकर्त्ता नटादि से पृथक् किया और कवि की भाव-सृष्टि के रूप में प्रत्येक सामाजिक के लिए भी उसे भावित रूप में सर्वसाधारण माना।

भट्टनायक के संक्षिप्त कथन की व्याख्या करने का श्रेय अभिनवगुप्त को है। 'अभिनवभारती' में साधारणीकरण की स्वरूप-प्रक्रिया का स्थान-स्थान पर उल्लेख है। जैसे...'सा चैकचित्तवृत्तिः स्वकीयपरकीयमिति........... स्वपरभावात् प्रच्याविता अतएव साधारणीभूततया सामाजिकानामपि स्वात्म-सद्भावेन समावेशयन्ती तदात्म्यादेव च' अर्थात् रस-प्रतीति के समय रत्यादि रूप चित्तवृत्ति स्वगत तथा परगत के भेदभाव से मुक्त अर्थात् साधारणीकृत होकर न तो अनुकार्य एवं अनुकर्ता के व्यक्तित्व से सम्बद्ध रह जाती है और न सामाजिक के ही व्यक्तिगत वैशिष्ट्य से उसका सम्बन्ध रह जाता है।' 'तत एव न परिमितमेव साधारण्यम् अपितु विततम्...अतएव सर्वसामाजिका-नामेकधनतयैव प्रतिपत्तिः......सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासना-संवदात्।' अर्थात् सामाजिकों के हृदय में रत्यादि संस्कार वासना रूप से होते हैं, अतः रत्यादि की सर्वसाधारण प्रतीति प्रत्येक सामाजिक को होती है। इसी रूप में साधारणीकरण व्यक्ति-विशेष की परिमित सीमाओं को छोड़कर असीम और व्यापक हो जाता है।

'काव्यप्रदीप' में गोविन्द ठक्कुर ने अभिनवगुप्त के साधारणीकरण सिद्धान्त पर विस्तृत प्रकाश डाला है। काव्यप्रदीप में साधारणीकरण से सम्बद्ध पाठ इस प्रकार है—'तथाहि लोके ...रस इत्युच्यन्ते।'[१]

इस प्रकार अभिनवगुप्त के मत को उद्धृत करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने अनेक स्थलों पर साधारणीकरण सिद्धान्त की चर्चा की है। जिसका अभिप्राय यह है कि लोक के प्रमदा आदि कारण जब कवि-कल्पित सृष्टि के रूप में काव्य के भीतर आते हैं तो विभावादि के रूप में साधारणीकृत होते हैं। अर्थात् लोक में प्रमदा आदि कारणों से रत्यादि के अनुमानों के विषय में परिशीलन किए हुए सामाजिकों का अनुभव ही उनका संस्कारावस्थित स्थायी-

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ६७ से ६९ तक

भाव होता है। काव्य-नाट्य में भी सहृदयों के हृदय में उन्हीं प्रमदा आदि के द्वारा रति आदि स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हुआ करती है। किन्तु कला की अलौकिक शक्ति के कारण प्रमदादि रूप लौकिक सामग्री काव्य-नाट्य के क्षेत्र में कारण, कार्य और सहकारी नहीं कही जाती अपितु अपने भावित रूप में व्यक्ति विशेषांश से शून्य होकर क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारीभाव नामक अलौकिक शब्दों द्वारा कही जाती है। काव्य की इसी अलौकिक शक्ति के कारण विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। लोक-जीवन में होने वाले स्वकीय, परकीय तथा उपेक्षणीय सम्बन्ध विशेष की स्वीकृति (ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते) या परिहार (न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते) का निश्चय न होने से विभावादि काव्य या नाट्य में सामान्यरूपेण प्रतीत होते हैं। गोविन्द ठक्कुर ने इस सम्बन्ध में कुछ विध्यात्मक विचार उपस्थापित करने का प्रयास किया है। 'काव्यप्रदीप' टीका में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'साधारण्येन प्रतीतिश्च न सर्वसम्बन्धितया प्रतीतिः, किन्तु सम्बन्धिविशेषीयत्वेनाप्रतीतो प्रतीतिः। यद्वा 'अमुकस्यैवेते' इत्यवधारणं विना 'अमुकस्य इत्येवं प्रतीतिः।'[1] यहाँ प्रदीपकार का अभिप्राय है कि साधारणीकृत पदार्थ न तो व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध होने के कारण असाधारण रूप में जान पड़ते हैं और न उसके विरुद्ध सर्वसाधारण के रूप में ही जान पड़ते हैं बल्कि उस सम्बन्ध के विषय में इतना ही कहना चाहिए कि साधारणीकृत पदार्थ किसी विशेष सम्बन्धी के नहीं जान पड़ते—सम्बन्धहीन प्रतीत होते हैं। प्रकाशकार के 'अमुकस्यैव'—जैसी सावधारण प्रतीति साधारणीकृत पदार्थों की भले ही न होती हो, पर 'अमुकस्य' जैसी निरवधारण प्रतीति मान भी लें—तो क्या हानि है? अर्थात् 'सम्बन्धी विशेष का ही है'— इस सावधारण प्रतीति को न मानकर 'सम्बन्धी विशेष का है'—इस प्रकार की प्रतीति मानने में कोई क्षति नहीं है।

'निरवधारण-गर्भा' प्रतीति के समर्थन में 'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने भी अनेक तर्क दिये हैं। वैद्यनाथ का कथन है कि जिस लोगों ने संबंधांश के सर्वथा परित्याग की बात कही है, उनके विरोध में सम्बन्धगर्भावगाही प्रतीति मानने वालों का तर्क है कि काव्य द्वारा अभिधानीत सीता आदि जैसे पदार्थों का संबद्ध रूप में जब पहले-पहल वाक्यार्थ बोध होता है तो वहाँ सीता जैसे पदार्थों की प्रतीति जनक की पुत्री के रूप में होती ही है। फिर इस वाक्यार्थबोध के

१. काव्यप्रदीप, पृ० ६७

अनुभव का अपलाप सर्वथा असंगत है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि प्राथमिक वाक्यार्थबोध के अनन्तर जो द्वितीय कक्षा वैयञ्जनिक बोध की है—उसमें सम्बन्धांश का विगलन हो जाता है और हीन बोध होता ही है। इसके विरोध में प्रभाकार का कहना है कि जब प्राथमिक वाक्यार्थ बोध से रस-निष्पत्ति हो जाती है, तब द्वितीय वाक्यार्थबोध की क्यों अपेक्षा की जाये ?'[1]

यहाँ यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त विवेचन में गोविन्द ठक्कुर ने अपनी दृष्टि से साधारणीकरण सिद्धान्त की चर्चा की हैं।

विभावादि का साधारणीकरण होने पर सामाजिक भी ज्ञाता, ज्ञेय आदि व्यक्तिगत सम्बन्धों से छूटकर, अपरिमित भाव वाला होकर सर्वसाधारण्य से उस व्यक्त स्थायी रत्यादि का अपने आकार से अभिन्न आस्वाद रूप में साक्षात्कार करता है और इसी स्थिति का नाम शृंगारादि रस है।

इस प्रकार सारांश रूप में अभिनवगुप्त का मत है कि साधारणीकरण द्वारा कवि-निर्मित पात्र व्यक्ति-विशेष न रहकर सामान्य प्राणिमात्र बन जाता है, वह देशकाल की सीमा में बद्ध न रहकर सार्वदेशिक बन जाता है। अर्थात् वे भाव जो काव्यगत नायक-नायिका में व्यक्तिगत संबंध के कारण होते हैं, नाटक अथवा काव्य-पठन से सहृदय पाठक में साधारणीकृत हो जाते हैं। उनमें ममत्व तथा परत्व की भावना निकल जाती है। राम या सीता के प्रति जो रति भाव है, वह सहृदय पाठक के लिए शुद्ध सात्त्विक रति भाव बन जाता है। उस भाव की अनुभूति सभी सहृदयों में उसी रूप में होगी। अभिनवगुप्त के 'साधारणीकरण' विवेचन में सहृदय पर अधिक बल है।

अतएव स्पष्ट है कि भट्टनायक और अभिनवगुप्त की साधारणीकरण प्रक्रिया में अन्तर है। भट्टनायक के यहां रत्यादि स्थायी भाव न तो अनुकार्य के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है, न अनुकर्त्ता के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है, और न सामाजिक के भीतर है अपितु काव्यक्षेत्र में सर्वथा अलौकिक है। अलौकिक होने के कारण जिस प्रकार विभावादि व्यक्तित्व-विशेषांश से शून्य, साधारणीकृत होकर सामाजिक की अनुभूति में आते हैं उसी प्रकार रत्यादि का आस्वाद सामाजिक के भीतर रस-रूप में निष्पन्न होता है। यह आस्वाद या भोग सामाजिक की व्यक्तिगत रागद्वेष की सीमा से मुक्त सात्त्विक चेतना का विषय बनता है। इसके विपरीत अभिनवगुप्त के यहां स्थायी भाव संस्कार रूप में सामाजिक के हृदय में रहता है और उसका परिणत रस भी सामाजिक के भीतर है। फलतः अभिनवगुप्त के यहां रत्यादि का साधारणीकरण सामा-

---

१. काव्यप्रदीप पृ० ६७

जिक के भीतर सामाजिक की व्यक्तिगत रागद्वेषमयी सीमाओं से ऊपर सात्त्विक अभिव्यक्ति के रूप में होता है ।

भट्टनायक के भावकत्व में सामाजिक की संस्कार-भावना है जो विभावादि का साधारणीकरण करती है और साधारणीकृत स्थायी भाव को उसी रूप में भावित करती है । अभिनवगुप्त के भावकत्व में प्रत्येक सामाजिक की अपनी संस्कार भावना है जो अलौकिक विभावादि की चर्वणा में अपने आपको सर्व-साधारण कर पाती है और इसी रूप में विभावादि का साधारणीकरण करती हुई प्रत्येक सामाजिक के संस्कार रूप से विद्यमान स्थायी भाव को सर्वसाधारण सात्त्विक अभिव्यक्ति में स्वयं को समर्पित कर देती है ।

भट्टनायक को विभाव, अनुभाव की ही नहीं संचारी और स्थायी भाव की भी स्थिति सामाजिक के भीतर मान्य नहीं (असत्या अपि रतेरास्वाद: अलौकिकत्वादुपपन्न:) । अभिनव के मतानुसार साधारणीकरण न केवल विभाव अनुभाव, संचारी का होता है अपितु स्थायी और प्रमाता का भी होता है । गोविन्द ठक्कुर का तो यह भाव रहा है कि जिस सामग्री का साधारणीकरण होता है उनमें से वैयक्तिक अंश का प्रतिभास वहीं तक मानना समुचित है जहाँ तक वे रसविरोधी हैं । सर्वथा व्यक्तिगत तत्त्वों का परिहार यदि मान लिया जाएगा तो दो पृथक् आलम्बनों का जो वैयक्तिकतावश भेदज्ञान अनुभव सिद्ध है - वह उपेक्षित हो जायगा ।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने भट्टनायक और अभिनवगुप्त का मत उद्धृत करते हुए 'साधारणीकरण' सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा की है ।

रस भेद

रसों का भेद वर्णन करते हुए मम्मट की कारिका है —

'भृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।'

संकेत—माणिक्यचन्द्र ने नाट्यशास्त्र की इस कारिका में आठों रसों को इस क्रम से रखने का विशेष अभिप्राय बताया है। माणिक्यचन्द्र ने अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' में की गई चर्चा को ज्यों का त्यों रखा है। काम की प्रवृत्ति सब जातियों में सुलभ होने से, अत्यन्त परिचित होने से, सबके प्रति आह्ला-दायक होने के कारण सबसे प्रथम शृङ्गार रस कहा गया है। हास्य शृंगार का अनुगामी होता है। नैराश्ययभाव होने के कारण हास्य के विपरीत करुण रस उसके बाद कहा गया है। उसके बाद करुण रस का निमित्त भूत होने से करुण के बाद रौद्र रस को रखा है और वह अर्थ-प्रधान होता है। इस प्रकार काम तथा अर्थ-प्रधान रसों का उल्लेख किया है। तत्पश्चात् काम तथा अर्थ दोनों के धर्ममूलक होने से धर्मप्रधान वीर रस रखा है। वीर रस का प्रयोजन भयभीतों को अभय प्रदान करना है। अतः वीर रस के पश्चात् भयानक रस का निर्देश है। भयानक तथा बीभत्स रसों के विभाव समान हो सकते हैं इसलिए उसके बाद वीभत्स रस का उल्लेख किया गया है। वीर रस के बाद अद्भुत का स्थान है क्योंकि अद्भुत रस वीर रस से आक्षिप्त होने के कारण वीर रस का फल होता है।[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने संकेतकार की भाँति रसों के क्रमिक विकास की चर्चा नहीं की है। प्रदीपकार ने इस कारिका की व्याख्या में एक तो शान्तरस की संक्षिप्त रूप में चर्चा की है दूसरा उसके सुखात्मक रूप की चर्चा

---

१. संकेत, पृ० ५४

की है। शान्त रस की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि नाट्य में आठ रस ही होते हैं। किन्तु श्रव्य काव्य में शान्त रस की सत्ता स्वीकार की गई है। वे नाट्य में शान्त रस की सम्भावना का निषेध करते हैं—'शान्तस्य रोमांचादिविरहेणानभिनेयत्वात्काव्यमात्रगोचरत्वमित्यभिधानान्नाट्य इत्युक्तम्।' अर्थात् नाट्य में शान्त रस की संभावना नहीं क्योंकि रोमांचादि के बिना किसी भाव का अभिनय नहीं हो सकता।

दूसरी शंका प्रदीपकार करते हैं 'ननु रसः सुखात्मक इति प्रतिपादितम् तत्कथं दुःखामयः करुणादिको रस इति चेत्।' अर्थात् रस का स्वरूप तो आनन्दात्मक है फिर दुःखमय करुणादि रस कैसे हो सकते हैं? यद्यपि यहां विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने संक्षिप्त रूप में उपर्युक्त शंका का समाधान किया है कि लोक मे जो शोक के हेतु हैं उनका जब काव्य या नाट्य में वर्णन किया जाता है तो वह अलौकिक विभावादिरूपता को प्राप्त होते हैं और उनका स्वरूप आनन्दमय हो जाता है। अतः सभी रस सुखात्मक हैं। यदि करुण आदि रसों से दुःखप्राप्ति होगी फिर तो कोई भी इस ओर प्रवृत्त नहीं होगा।[1]

१ शृंगार रस

मम्मट ने शृंगार रस के दो भेद माने हैं—१. संभोग-शृंगार, २. विप्रलम्भ-शृंगार। 'संभोग-शृंगार' परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधरपान, परिचुम्बन आदि अगणित प्रकार के होने पर भी एक ही माना गया है। 'शून्यं वासगृहं···चुम्बिता'[2] उदाहरण दिया है। 'विप्रलम्भ-शृंगार' पांच प्रकार का माना है—१. अभिलाष, २. विरह, ३. ईर्ष्या, ४. प्रवास, ५. शाप। 'हेतु' का अन्वय पांचों के साथ है। क्रमशः पांचों के उदाहरण दिए हैं।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'काव्यप्रदीप' में शृंगार का लक्षण स्पष्ट करते हैं 'शृंगारादीनां च लक्षणं रत्यादिप्रकृतिकत्वम्। तत्र मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः' अर्थात् रति प्राकृतिक शृंगार रस है। मन के अनुकूल पदार्थों में सुखानुभूति ही रति है। संभोग-शृंगार के स्पष्टीकरण में गोविन्द ठक्कुर ने दशरूपककार धनंजय का मत दिया है कि जहाँ नायक व नायिका परस्पर अनुकूल होकर, विलासपूर्ण होकर, दर्शन, स्पर्शनादि का परस्पर उपभोग

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ७४

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-३०

करते हैं वहाँ प्रसन्नता तथा उल्लास से युक्त सम्भोग होता है।[1]

विप्रलम्भ-शृंगार वहाँ होता है जहां परस्पर अनुरागयुक्त प्रेम होता है परन्तु मिलन नहीं हो पाता है। यहाँ गोविन्द ठक्कुर ने आचार्य भोजराज की कारिका उद्धृत की हैं।[2]

विप्रलम्भ-शृंगार के हेतुओं को गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं—

१. **अभिलाष**—'स च संगमपूर्वः।' यह मिलन से पूर्वराग है। नायक-नायिका का पारस्परिक प्रेम है जिन्हें मिलन का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है। यह 'अभिलाष-हेतुक' है।

गोविन्द ठक्कुर ने इस प्रकार 'अभिलाषा' की संक्षिप्त चर्चा की है। दशरूपककार धनंजय ने विस्तृत रूप में 'अभिलाषा' की चर्चा करते हुए स्पष्ट किया है कि अभिलाषा वह अवस्था है जहां सर्वांगसुन्दर नायक के प्रति नायिका की मिलन की इच्छा उत्पन्न होती है। यह इच्छा उसको साक्षात् देखने पर या उसके चित्र को देखने से, अथवा उसके विषय में सुनने पर होती है। इस दशा में आनन्द, आश्चर्यादि भावों की प्रतीति होती है। नायक या नायिका का दर्शन साक्षात् रूप से चित्र के द्वारा स्वप्न के द्वारा या इन्द्रजालादि के द्वारा हो सकता है, अथवा सखियों के गीत या मागधादि के गुणस्तवन सुनने के बहाने से हो सकता है।[3]

यहां धनंजय की चर्चा इसलिए की है कि कई स्थलों पर गोविन्द ठक्कुर ने तथा प्रभाकर वैद्यनाथ ने स्वयं उनके मत का उल्लेख किया है।

२. **ईर्ष्या**—'सारबोधिनी' एवं 'काव्यप्रकाशदर्पण' आदि टीकाओं में 'ईर्ष्या' भाव को स्पष्ट किया है कि जहां सपत्नी में अनुरक्त नायक के प्रति जो

---

१. 'अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः॥ (काव्यप्रदीप, पृ० ७५)

२. 'भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति।
नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते॥'
(काव्यप्रदीप, पृ० ७५)

३. 'अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वांगसुन्दरे।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः॥
साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामासु दर्शनम्।
श्रुतिर्व्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः।' (दशरूपक, ४-५३, ५४)

कोप होता हैं उससे होने वाला विप्रलम्भ 'ईर्ष्या हेतुक' है ।[1] उसके द्वारा प्रणवमान का ग्रहण भी होता है । दोनों टीकाकारों ने साहित्यदर्पण की चर्चा की है कि 'साहित्यदर्पण' में 'मान-विप्रलम्भ' में मान का अभिप्राय है कोप । इसके दो भेद स्पष्ट हैं—१. प्रणयसमुद्भव मान, २. ईर्ष्या समुद्भव मान ।[2] प्रणय-मान का तात्पर्य है—अकारण कोप । प्रेम की गति सदैव टेढ़ी हुआ करती है । प्रेमी-प्रेमिका के हृदय में प्रेम भरे रहने पर भी, उनका एक-दूसरे पर अकारण कोप स्वाभाविक है ।[3]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'काव्यप्रदीप' में 'ईर्ष्या' को स्पष्ट करते हैं—'क्वचिदीर्ष्यया प्रणयेन वा मानरूपः । स ईर्ष्या हेतुकः' । कहीं ईर्ष्या से या प्रणय के कारण जो मान होता है उससे होने वाला विप्रलम्भ ईर्ष्या-हेतुक है अतः ईर्ष्या शब्द उपलक्षण मात्र है ।

आचार्य विश्वनाथ ने 'मान-विप्रलम्भ' और 'ईर्ष्या' भाव की पृथक्-पृथक् चर्चा की है । परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्टतः उल्लेख किया है—'ईर्ष्यापदेन मानहेतोरुपलक्षणात् । 'ईर्ष्या' भाव को दर्पण, सारबोधिनी आदि टीकाओं में प्रदीप की अपेक्षा अधिक स्पष्ट किया गया है ।

प्रभा—'प्रभा' टीका में आचार्य वैद्यनाथ ने प्रणय के स्पष्टीकरण में 'साहित्यदर्पण' की 'द्वयोः⋯यः कारणं विना' कारिका को उद्धृत किया है ।

३. प्रवास—'संकेत', 'सारबोधिनी', 'दर्पण' आदि टीकाओं में क्रमशः 'देशान्तरगमने प्रवासः' 'प्रवासो वैदेश्यम्' 'प्रवासो भिन्नदेशता' आदि से प्रवास का अर्थ स्पष्ट किया है ।

इसी प्रकार का अर्थ गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि कार्यवश दूसरे देश में रहना 'प्रवास हेतुक' कहा जाता है ।[4]

---

१. (i) 'ईर्ष्या अन्यासक्तेन कान्तेनापि कोपः ।' (काव्यप्रकाशदर्पण, पृ० ८४)
(ii) 'अन्यासङ्गिनि प्रिये कोप ईर्ष्याः ।' (सारबोधिनी, पृ० ८४)

२. तदुक्तम्—'मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भव' इति टीकाकृतः ।' (वही, पृ०)

३. 'द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदेऽपि महत्यपि ।
प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारणं विना ।'(साहित्यदर्पण, ३-१९८)

४. क्वचित्तु कार्यवशाद्देशान्तर स्थितेः । स प्रवास-हेतुकोऽभिधीयते ।
(काव्यप्रदीप, पृ० ७५)

४. शाप—'शाप' के कारण होने वाला 'शाप हेतुक' कहा जाता है।

५. विरह—गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि—'क्वचितदुक्तत्रितयातिरिक्ताद्गुरुलज्जादितः कारणात्' अर्थात् जहां गुरुजनों से लज्जादि के कारण मिलन नहीं हो पाता वह 'विरह हेतुक' कहा जाता है। प्रदीपकार का अभिप्राय है कि करुण-विप्रलम्भ का विरह-हेतुक में ही अन्तर्भाव किया जा सकता है।

आचार्य विश्वनाथ ने 'करुण-विप्रलम्भ' को विप्रलम्भ-शृंगार का भेद माना है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने उसका अन्तर्भाव विरह हेतुक में किया। गोविन्द-ठक्कुर लिखते हैं कि मम्मट के अनुसार शाप, ईर्ष्या, प्रवास इन तीन से भिन्न कारणों द्वारा मिलन के पश्चात् जो वियोग होता है वह वह सब विरह-हेतुक ही है।[1]

प्रभा—'प्रभा' टीका में आचार्य वैद्यनाथ करुण-विप्रलम्भ के स्पष्टीकरण में आचार्य विश्वनाथ की कारिका उद्धृत करते हैं जिसका तात्पर्य है कि प्रेमी या प्रेमिका में किसी एक के दिवंगत हो जाने पर किन्तु पुनरुज्जीवित हो सकने की अवस्था में, जीवित बचे दूसरे के हृदय के शोकसम्वलित रतिभाव का अभिव्यंजन कहा गया है।[2] जैसे 'कादम्बरी' में पुण्डरीक-महाश्वेता वृत्तान्त में।

गोविन्द ठक्कुर ने विप्रलम्भ शृंगार आदि के उदाहरणों का स्पष्टीकरण मम्मट की भाँति किया है। मम्मट के दिए गए उदाहरणों के अतिरिक्त प्रदीप-कार ने अन्य उदाहरणों की भी चर्चा की है। मम्मट ने 'प्रवासहेतुक' का एक ही उदाहरण दिया है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने विश्वनाथ की भाँति 'प्रवास' तीन प्रकार का माना है—१. भूत, २. वर्तमान, ३. भविष्य। 'भविष्यप्रवास' का उदाहरण तो वही दिया है जो मम्मट ने काव्यप्रकाश में 'प्रवासहेतुक' का दिया है। 'भूत' और 'वर्तमान' प्रवास के उदाहरण स्वरचित दिए हैं।[3]

२. हास्य रस

शृंगार के पश्चात् 'हास्य रस' की चर्चा की है। 'न्यङ्गं वैकृतम्। तेन हास्यप्रकृतिको हास्यः' अर्थात् अन्यान्य प्रकार की विकृतियों का वर्णन हास्य है। 'हास्य रस' हास्य प्राकृतिक होता है।[4] 'आकुञ्च········विष्णुशर्मा'

---

१. करुणशृंगारस्याप्यत्रैवान्तर्भावः।' (काव्यप्रदीप, पृ० ७५)

२. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ७५

३. काव्यप्रदीप, पृ० ७९

४. काव्यप्रदीप, पृ० ८०

उदाहरण को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ विष्णुशर्मा और उसका क्रन्दन विभाव है। देखने सुनने वालों का मुस्कराना अनुभाव है। चपलतादि व्यभिचारी भाव हैं।[1]

३. करुण रस

'करुण रस' का स्पष्टीकरण गोविन्द ठक्कुर ने आचार्य विश्वनाथ के समान किया है। 'इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक्' अर्थात् प्रियवस्तु के नाश से उत्पन्न चित्त की विकलता का नाम शोक है। 'आदि' से अनिष्टादि का ग्रहण है। शोक प्राकृतिक करुणरस है अर्थात् शोक स्थायीभाव है। 'हा मातस्त्वरितासि···भित्तीरपि' करुणरस का उदाहरण दिया है।[2]

४. रौद्र रस

'रौद्र रस' की चर्चा करते हुए आचार्य गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि 'प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्य प्रवोधः क्रोध उच्यते' अर्थात् विरोधियों के प्रति हृदय में उत्पन्न तीक्ष्णता की भावना क्रोध है। 'क्रोध' स्थायी भाव है। 'कृतमनुमतं··· उच्यते'[3] उदाहरण है। रौद्र रस का स्पष्टीकरण भी आचार्य विश्वनाथ के समान किया है।

५. वीर रस

'वीर रस' को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि— 'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते' अर्थात् कार्यों के आरम्भ में स्थिर उद्योग का नाम 'उत्साह' है। 'उत्साह' स्थायी भाव है। वीर रस का स्पष्टीकरण गोविन्द ठक्कुर ने आचार्य विश्वनाथ की भांति किया है। विश्वनाथ ने वीररस के चार भेद माने हैं—१. युद्धवीर, २. दानवीर, ३. दयावीर, ४. धर्मवीर। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने दशरूपककार धनंजय की भांति वीर-रस के तीन प्रकार माने— १. युद्धवीर, २. दानवीर तथा दयावीर।[4] 'क्षुदाः······राममन्त्रेषयामि।'[5] इसका उदाहरण है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ८१
२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-३९
३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-४०
४. काव्यप्रदीप, पृ० ८२
५. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-४१

६. भयानक रस

'भयानक रस' को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि—'रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्' अर्थात् भीषण वस्तु के कारण चित्त की विकलता का नाम 'भय' है। स्थायी भाव 'भय' है। 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं प्रयाति,[1] इसका उदाहरण है।

७. वीभत्स रस

'वीभत्स' रस का स्पष्टीकरण करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं—'जुगुप्सा गर्हणार्थानां दोषमाहात्म्यदर्शनात्' अर्थात् घृणास्पद वस्तु के दोष-दर्शन से उत्पन्न होने वाला घृणाभाव 'जुगुप्सा' है। 'जुगुप्सा' वीर रस का स्थायी-भाव है। 'उत्कृत्योत्कृत्य ·····क्रव्यमव्यग्रमति'[2] इसका उदाहरण है।

८. अद्भुत रस

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि—'विस्मयश्चित्तविस्तारो वस्तुमाहात्म्य-दर्शनात्' अर्थात् विलक्षण वस्तुओं के दर्शन से जो चित्त का विस्तार होता है वह विस्मय है। 'विस्मय' स्थायी भाव है। 'चित्रं····· एष सर्गः'[3] उदाहरण दिया है।

इस प्रकार आठ रसों की चर्चा में मम्मट ने केवल उन रसों के उदाहरणों की चर्चा की है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने प्रत्येक रस को स्पष्ट किया है और रसों के स्पष्टीकरण में गोविन्द ठक्कुर पर आचार्य विश्वनाथ का प्रभाव है।

स्थायी भाव

'स्थायी भाव' को स्पष्ट करते हुए मम्मट की कारिका है - 'रतिर्हासश्च··· प्रकीर्तिताः।[4] इस कारिका में रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय आदि आठ स्थायी भावों का उल्लेख किया है। मम्मट ने इन स्थायी भावों के लक्षण की चर्चा नहीं की है।

सारबोधिनी—'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने 'स्थायीभाव' के लक्षण के स्पष्टीकरण में 'साहित्यदर्पण' में उद्धृत स्थायी भावों

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-४२

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-४३

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-४४

४. 'रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।'
(काव्यप्रकाश, कारिका ४-३०)

के लक्षणों का उल्लेख किया है।[1]

काव्यप्रदीप – स्थायी भाव को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि स्थायी भाव वह भाव है जो न किसी अनुकूल भाव से तिरोहित हुआ करता है न किसी प्रतिकूल भाव से दबा करता है। यह भाव अन्त तक अवस्थित रहने वाला है और इसमें रस के अंकुरण की शक्ति निहित रहा करती है।[2] स्थायी भाव का यह सामान्य लक्षण है। स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव का भेद स्पष्ट करते हैं—'अवस्थितिश्चैषां स्रक्सूत्रन्यायेन, फेनवुद्वुद्न्यायेन तु व्यभिचारिणामित्यनयोर्भेदः।' 'स्रक्तसूत्रन्याय' से अभिप्राय है कि जिस प्रकार माला के फूल या मोती गुम्फन सूत्र को प्रकाशित करते हैं उसी प्रकार स्थायी भाव को अन्य भाव भी प्रकाशित करते हैं। 'फेनवुद्वुद्न्याय' का अभिप्राय है जिस प्रकार सागर में अनेक वुलवुले उठते और गिरते हैं उसी प्रकार व्यभिचारी भाव स्थायी भावों के सागर में उन्मज्जित वा निमिज्जित होते हैं।

गोविन्द ठक्कुर के इस विवेचन में आचार्य विश्वनाथ का प्रभाव है। गोविन्द ठक्कुर ने भी यहाँ स्थायी भावों के लक्षणों की चर्चा नहीं की है। गोविन्द ठक्कुर ने आठों रसों की चर्चा में ही स्थायी भावों का स्पष्टीकरण कर दिया है, अतएव यहाँ प्रत्येक स्थायी भाव के लक्षण के विषय में मौन है।

व्यभिचारी भाव

मम्मट ने ३३ व्यभिचारी भावों का नाममात्र से उल्लेख किया है उनके लक्षणादि नहीं दिए।

---

१. 'रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।
वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास उच्यते॥
इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकउच्यते।
प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्याप्रबोधः क्रोध संज्ञकः॥
कार्यारम्भेषु संरम्भः उत्साहः परिकीर्तितः।
रौद्रशक्त्या तु जनितं वैक्लव्यं मनसो भयम्॥
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सेति निगद्यते।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु॥
विस्तारश्चेतसो यस्तु विस्मयः स उदाहृतः।' (सारवोधिनी, पृ० ९१)

२. 'विरुद्धा अविरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आनन्दाङ्कुरकंदोऽसौ भावः स्थायिपदास्पदम्।' (काव्यप्रदीप, पृ० ८५)

'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने 'साहित्यदर्पण' में उद्धृत व्यभिचारी भावों के लक्षण को ज्यों का त्यों उल्लेख किया है।

गोविन्द ठक्कुर ने प्रत्येक व्यभिचारी भाव के लक्षण दिए हैं। उन्होंने व्यभिचारी भावों के लक्षणों में कहीं तो आचार्य विश्वनाथ का अनुकरण किया है और कहीं दशरूपककार आचार्य धनंजय का।

१ **निर्वेद**—निर्वेद का लक्षण है—'तत्त्वज्ञान, आपत्ति या ईर्ष्या के कारण स्वयं का अपमान। इसके चिन्ह चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण्य, उच्छ्वास तथा दीनता है। यह लक्षण 'दशरूपककार' धनंजय का दिया है। गोविन्द ठक्कुर ने 'केचित्' से निर्वेद का अन्य लक्षण भी दिया है 'चित्तस्य खेदो निर्वेदस्तत्त्व-ज्ञानोदयादिभिः।'

२. **ग्लानि**—'ग्लानि' शारीरिक दुर्बलता है जो कि रतिश्रम के कारण हुआ करती है। इसमें वैवर्ण्य, कंपकंपी, उत्साहपूर्वक काम न करना आदि अन्य उत्पात हुआ करते हैं।

३. **शंका**—'शंका' को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि दूसरे की क्रूरता या अपने दुर्व्यवहार के कारण अनर्थ की आशंका है। इसमें वैवर्ण्य, कम्प, स्वरभंग, इधर-उधर देखना, मुंह सूखना आदि हुआ करते हैं।

४. **असूया**—घमण्ड, दुष्टता तथा क्रोध के कारण दूसरे की उन्नति को न सह सकना 'असूया' हैं। इसमें दूसरे के दोष का उद्घोषण किया जाता है, भौहें चढ़ जाती हैं, दूसरे को तिरस्कृत किया जाता है और क्रोध भरी चेष्टाएं होने लगती हैं।

५. **मद**—मद को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि संमोह और आनन्द के मिश्रण को 'मद' कहते हैं। इसमें अंग, वचन व गति स्खलित होती है। इसकी उत्पत्ति मद्यपान से होती है। 'मद' में उत्तम प्रकृति का व्यक्ति हँसता है, मध्यम का गाता है और अधम प्रकृति का गाली बकता है, रोता है तथा सोता है।

गोविन्द ठक्कुर का यह लक्षण नाट्यशास्त्र में दिए गए लक्षण से कुछ भिन्न है। आचार्य भरतमुनि ने 'मद' का लक्षण दिया है 'उत्तमसत्वशेते हसति च गायति च मध्यमप्रकृतिः। परुषवचनाभिधायी रोदित्यपि चाधमप्रकृतिः।'

६. **अपस्मार**—'प्रारब्धवशग्रहजनित दुःख आदि के कारण जो आवेश आ जाता है उसे अपस्मार कहते हैं। जमीन पर गिरना, काँपना, पसीना आ जाना आदि अपस्मार के अनुभाव हैं।

७. **श्रम**— 'श्रम' से अभिप्राय है रतिप्रसंग, यात्रा आदि कारणों से उत्पन्न खेद। इसके कारण श्वास, निद्रा आदि की उत्पत्ति हुआ करती है।

८. **आलस्य**—'आलस्य' का अभिप्राय 'जड़ता' है जो कि परिश्रम, गर्भधारण आदि के द्वारा संभव है। जंभाई लेना आदि अनुभाव है।

९. **दैन्य**—बुद्धिहीनतादि कारणों से ओज का क्षीण हो जाना 'दैन्य' है। कालापन मलिनता आदि अनुभाव हैं।

१०. **चिन्ता**—अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने के कारण उसके वारे में जो ध्यान किया जाता हैं उसे 'चिन्ता' कहते है। शून्यता, श्वास तथा ताप अनुभाव हैं।

११ **मोह**—भय, दुःख का आवेश तथा चिन्ता के कारण चित्त का अस्त-व्यस्त हो जाना मोह है। सिर का चकराना, अज्ञान, भ्रम, पतन, दिखाई न देना इसके अनुभाव हैं।

१२. **स्मृति** किसी पदार्थ का ज्ञान या उसकी चिन्तादि कारणों से जिस वस्तु का ज्ञान पहले कर चुके हैं उस पूर्वानुभव संस्कार को स्मृति कहते हैं। भौंहों का ऊंचा करना आदि अनुभाव हैं।

१३. **धृति** अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति में इच्छा-निवृत्ति 'धृति' है। बोलचाल, उल्लास, हास प्रतिभादि इसके अनुभाव हैं।

१४. **व्रीडा** स्वकृत दुराचरणों के कारण 'व्रीडा' उत्पन्न होती है। धृष्टता का समाप्त होना व्रीडा है। मुंह का नीचा आदि अनुभाव है।

१५. **चपलता**—मात्सर्य, राग, द्वेष आदि के कारण चित्त की अस्थिरता चपलता है। इसमें दूसरो की भर्त्सना की जाती है, कठोर वचन बोले जाते हैं, स्वच्छन्द आचरण होता है।

१६. **हर्ष** हर्ष है मन की प्रसन्नता। अश्रु, खेद, गद्गद आदि अनुभाव हैं।[११]

१७. **आवेग**--आवेग का अर्थ है घबराहट। जैसे युद्ध से राजाओं का भागना आदि आवेग है। विस्मरण, स्तम्भ, खेद, कम्प, स्खलद्गति आदि इसके अनुभाव हैं।

१८ **जड़ता** इष्ट या अनिष्ट वस्तु के देखने या सुनने से जो किंकर्तव्य-विमूढता होती है वह जड़ता है। नेत्रों का अपलक ठहर जाना, चुप रहना आदि अनुभाव है।

१९. **गर्व**—उच्चकुल, सुन्दरता, ऐश्वर्य आदि से होने वाला मद गर्व है। अपने अंगो को विलास आदि से देखना, दूसरों की अवज्ञा करना आदि

अनुभाव है ।

२० **विषाद**—आरंभ किए गए कार्य में असफलता के कारण सत्व, बल के मन्द पड़ जाने को विषाद कहते हैं। निःश्वास, उच्छ्वास, हृदय में ताप होना आदि अनुभाव है ।

२१. **औत्सुक्य**—किसी मनोहर अभिलाषा, सुरत के कारण समय को न सह सकना उत्सुकता है। उच्छ्वास, त्वरा, हृताप, स्वेद, विभ्रम आदि अनुभाव है ।

२२ **निद्रा**—श्रमादिवश इन्द्रियों की व्यापार शून्यता 'निद्रा' है । जंभाई लेना, अंगों का बल खाना, उच्छ्वास आदि अनुभाव है ।

२३. **स्वप्न**—स्वप्न का अभिप्राय है निद्रा में निमग्न होने पर विषयानुभव । कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख-दुःख आदि अनुभाव है ।

२४. **प्रबोध**—निद्रा के पश्चात् चैतन्य प्राप्ति । जंभाई, अंगड़ाई, आँख मींचना आदि इसके अनुभाव हैं ।

२५. **अमर्ष**—तिरस्कार आदि को न सह सकना 'अमर्ष' कहलाता है। खेद, सिर को हिलाना, तर्जन आदि अनुभाव है ।

२६. **अवहित्था**—हृदय के भाव को लज्जा आदि के द्वारा छिपाना । जिस काम में लगा हो उसे छोड़कर दूसरे काम में लग जाना, दूसरी ओर मुंह कर लेना आदि अनुभाव है ।

२७ **उग्रता**—अपराध, दुष्टता, चौर्य आदि के कारण दुष्ट व्यक्ति के प्रति जो क्रोध आता है वह 'उग्रता' है । स्वेद, सिर का कांपना, लोगों को डराना, धमकाना, पीटना आदि अनुभाव है ।

२८. **मति**- शास्त्रादि में भ्रान्ति के हट जाने तथा उपदेश के कारण जो तत्त्वज्ञान की वृद्धि होती है उसे मति कहते हैं । मुस्कराहट, धैर्य, सन्तोष और आत्मसम्मानादि इसके अनुभाव हैं ।

२९. **व्याधि**—सन्निपातादि रोगों को व्याधि कहते हैं। विस्तृत विवरण आयुर्वेदादि ग्रन्थों में मिलता है । प्रस्वेद, कम्पादि अनुभाव हैं ।

३०. **उन्माद**—उत्कण्ठा, हर्ष, शोकादि के कारण चित्त की विप्लवता, विवेकहीन कार्य भरना 'उन्माद' है। रोना, हँसना, बैठ जाना, गिरना आदि अनुभाव है ।

३१. **त्रास**—बादल की गर्जना आदि से जनित मन का क्षोभ 'त्रास' कहलाता है । कम्प आदि अनुभाव है ।

३२. मरण —'मरण' कहते हैं प्राणत्याग को। परन्तु 'मरण' का वास्तविक अभिप्राय मृत्यु की पूर्वावस्था है। संमोह, अंग-भंग, शरीरपात आदि अनुभाव हैं।

३३. वितर्क—सन्देह के कारण जनित विचार को तर्क कहते हैं। इसमें भौंहें, सिर व अंगुलियों की चंचलता पाई जाती है।

गोविन्द ठक्कुर ने इस प्रकार व्यभिचारी भावों का लक्षण सहित विवेचन किया है।[1] यहाँ प्रदीपकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि एक रस का स्थायी भाव भी अन्य रस में व्यभिचारी भाव बन जाया करता है। इसका भी एक नियम है कि कौन-सा स्थायी भाव किस रस में व्यभिचारी भाव बन जाया है। जैसे शृंगार और वीर रस में हास, वीर में क्रोध और शान्त रस में जुगुप्सा के भाव व्यभिचारी भाव के रूप में रहा करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य रसों में अन्य स्थायी भाव की व्यभिचारिता तो काव्य भावुक स्वयं अपनी-अपनी काव्य भावना की दृष्टि से देख सकते हैं।

शान्त रस

मम्मट ने आठ रसों के अतिरिक्त 'शान्त रस' नामक नवम रस माना है। 'निर्वेद' स्थायी भाव माना है। 'अहो…प्रलपतः' इसका उदाहरण दिया है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने शान्त रस की सत्ता तो स्वीकार की है परन्तु उन्होंने मम्मट की भाँति 'निर्वेद' स्थायी भाव नहीं माना है। शान्त रस का स्वरूप स्पष्ट करते हैं कि इस रस के अनुभव में सुख-दुःख, राग, द्वेष आदि समस्त विषयों का परिहार हो जाता है। इसके समर्थन में 'कृष्णद्वैपायन' का श्लोक उद्धृत किया है जिसका अभिप्राय है 'क्या लौकिक विषयक सुख और क्या अलौकिक स्वर्ग-सुख, ये कोई भी ऐसे नहीं जो तृष्णाशमन के सुख की सोलहवीं कला की भी बराबरी कर सकें।'

शान्त रस के स्थायी भाव की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि शान्त रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' नहीं 'शम' है। 'निर्वेद' अभावरूप माना है और 'शम' भाव रूप। इस आधार पर ठक्कुर लिखते हैं कि सब चित्तवृत्तियों का अभाव रूप निर्वेद स्थायी भाव नहीं हो सकता। स्थायी भाव शम है। 'शम' को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि निरीहावस्था में आत्मलीन होने से जो आनन्द आता है उसे 'शम' कहते हैं।[2]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ८५-८६

२. काव्यप्रदीप, पृ० ९१

यहाँ गोविन्द ठक्कुर पर आचार्य विश्वनाथ का प्रभाव है। विश्वनाथ ने भी 'शम' स्थायी भाव माना है। अतएव स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर का शान्त रस के स्थायी भाव के विषय में मम्मट से भिन्न दृष्टिकोण है।

भाव

मम्मट स्पष्ट करते हैं कि देव आदि विषयक रति और व्यंग्य व्यभिचारी भाव 'भाव' कहलाते हैं। 'आदि' शब्द से मुनि, गुरु, राजा और पुत्रादि विषयक रति का संग्रह होता है। स्त्रीविषयक रति व्यक्त होने पर शृंगार है। इसके अनेक उदाहरण दिए हैं।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'भाव' का विवेचन मम्मट की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप में किया है। वे लिखते हैं कि देवादिविषयक रतिभाव 'भाव' के अन्तर्गत है। दूसरा कान्ताविषयक रति जो अपरिपुष्ट होती है, केवल उद्‌बुद्ध होकर रह जाती है वहां वह 'भाव' के अन्तर्गत है। जहां कान्ता-विषयक रति विभावादि से पुष्ट होकर रसावस्था को प्राप्त होतीं है वहाँ शृंगार रस होता है। रसावस्था को प्राप्त न होने वाले हासादि भी भाव ही माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त यदि काव्य में व्यभिचारी भाव ही प्रधानतया व्यंग्य होते हैं तो उन व्यभिचारी भावों को भाव कहा जाता है।[1]

उदाहरणों का स्पष्टीकरण मम्मट के समान किया है।

रसाभास तथा भावाभास—

मम्मट लिखते हैं—'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः' अर्थात् रसों का अनुचित रूप से वर्णन रसाभास तथा भावाभास कहलाता है। इनके अनेक उदाहरण दिए हैं।

असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के अन्य भेद

असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के अन्य भेदों की चर्चा करते हुए मम्मट लिखते है—
'भावस्य शान्तिरुदयः संधिः शबलता तथा।'

काव्यप्रदीप- -'भावसंधि' को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है 'संधिरेककालमेव तुल्यवृत्त्योरास्वादः' अर्थात् जहाँ दो भावों का योग होता है और एक ही समय में दोनों भावों का एक समान आस्वादन होता है जैसा कि उदाहरण 'उत्सिक्तस्य ··रुणद्धयन्यः'[2] के पूर्वार्द्ध में आवेग रूप व्यभिचारी भाव है। दोनों का एक साथ आस्वादन होता है।

---

१. काव्यप्रदीप पृ० ९१

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-५२

'भावशबलता' से अभिप्राय 'शबलता तु कालभेदेन निरन्तरतया पूर्वपूर्वोपमर्दिनाम्' अर्थात् जहां उत्तरोत्तर भाव पूर्व-पूर्व भाव को उपमर्दित करके चमत्कार उत्पन्न करते हैं वहां 'भावशबलता' है। इसमें दो से अधिक भावों का योग होता है। 'क्वकार्यं…धास्यति'[1] उदाहरण में स्पष्ट किया है कि यहां वितर्क, औत्सुक्य, मति, स्मरण, शंका, दैन्य, धृति, चिन्तादि अनेक भाव हैं और उत्तरोत्तर प्रतीयमान भाव पूर्व-पूर्व भाव को बाधकर चमत्कार उत्पन्न करता है।

'भावशान्ति' में सामाजिक को जो रसास्वाद होता है उसमें शान्ति ही विशेष रूप से चमत्कारपूर्ण है। तस्या:…तद्विस्मृतम्'[2] उदाहरण में 'कोप' व्यभिचारी भाव की शान्ति है।

'भावोदय' का उदाहरण 'एकस्मिन्…पुनर्वीक्षित:'[3] है। यहाँ औत्सुक्य व्यभिचारीभाव का उदय है—यद्यपि यहाँ कोपशान्ति भी है तथापि वह चमत्काराधायक नहीं।

अन्त में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यह यहाँ शंका उत्पन्न होती है कि जहाँ व्यभिचारी भाव प्रधानत: व्यंजित माना जाता है वहाँ भी कोई मुख्य रस विद्यमान होता है फिर वह रस-ध्वनि है भाव-ध्वनि कैसे? इसका समाधान भी किया गया है कि 'मुख्ये रसोऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन।' अर्थात् रस के मुख्य होने पर भी कभी-कभी भाव आदि की प्रधानतया विवक्षा होती है।

'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि' के भेदों की चर्चा करने के पश्चात् संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का विवेचन किया है कि अनुरणन के समान लक्ष्य है क्रम जिसका ऐसे व्यंग्यार्थ की स्थिति जिसमें होती है वह संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि है। 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि' के तीन प्रकार हैं—१. शब्दशक्तिमूलक अनुरणरूपव्यंग्य, २. अर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूपव्यंग्य, ३. उभयशक्तिमूलका अनुरणनरूपव्यंग्य ध्वनि।[४]

काव्यप्रदीप---गोविन्द ठक्कुर 'अनुस्वान' का अर्थ स्पष्ट करते हैं 'घण्टायां हन्यमानायां मुख्यशब्दानन्तरं यथा क्षोदीयानपरोऽनुरणनरूप: शब्द: प्रतीयते तद्वत्संलक्ष्यक्रमा व्यङ्ग्यस्य स्थितिर्यत्र स:' अर्थात् घण्टा आदि के पश्चात् मुख्य

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-५३
२.३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-५०, ५१
४. काव्यप्रकाश कारिका, ४-३७

शब्द की प्रतीति के अनन्तर जो हल्का सा शब्द निकला करता है वही 'अनुरणन' कहलाता है। अत: अनुरणन के समान लक्ष्य है क्रम जिसका ऐसी व्यंग्यार्थ की स्थिति जिसमें होती है।

'शब्दशक्तिमूलव्यंग्य' को स्पष्ट करते हैं--'शब्दशक्तिमूलत्वं चेतदेव यत्तेनैव शब्देन तदर्थप्रतीतिः न तु पर्यायान्तरेणापि' अर्थात् शब्द से जो व्यंग्यार्थ प्रकट होता है वहां उस शब्द का पर्याय रख देने से व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती है।

'अर्थशक्तिमूलव्यंग्य' के लिए लिखते हैं--'एतद्वैपरीत्यं चार्थशक्तिमूलत्वम्।' अभिप्राय यह है कि अर्थशक्तिमूलव्यंग्य में शब्द का पर्याय रख देने पर भी व्यंग्य की प्रतीति होती है।

'उभयशक्तिमूलानुरणरूपव्यंग्य' ध्वनि वहां होती है जहां शब्द और अर्थ दोनों के द्वारा अनुरणन सदृश व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अवान्तर भेद

शब्दशक्तिमूलध्वनि—संलक्ष्यक्रमध्वनि के उपर्युक्त तीनों भेदों में से प्रथम शब्दशक्तिमूलानुरणव्यंग्य ध्वनि के दो प्रकार हैं—१. अलंकार ध्वनि, २, वस्तु ध्वनि।

शब्दशक्तिमूलक अलंकार ध्वनि का प्रथम उदाहरण 'उल्लासस्य··· प्रतापः'[१] है। प्रस्तुत उदाहरण में प्रकरण द्वारा अभिधा शक्ति राजपक्ष में नियन्त्रित हो गई है। यहां अन्य अर्थ जो इन्द्र-पक्ष में प्रतीत हो रहा है वह अप्राकरणिक है और व्यंग्यार्थ है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यदि दोनों अर्थों में सादृश्य सम्दन्ध न माना जाए तो असम्बद्ध अर्थ कथन का अवसर आ जाएगा तथा 'करवाल उल्लास' आदि कहने से प्राकरणिक अर्थ सम्पन्न हो सकता है। अत: इस दोष के निवारण हेतु प्रकरण तथा अप्रकरण अर्थ में उपमानोपमेय भाव पड़ता है। अतएव यहां उपमा अलंकार व्यंग्य है। यदि यहां 'देवेन' के स्थान पर उसका पर्याय 'भूपेन' रख दिया जाए तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं होगी।[२]

द्वितीय उदाहरण 'तिग्मरुचिरप्रतापो······भवान्'[3] है। इसमें वताया है कि 'तिग्मरुचिः' 'अप्रतापः' आदि क्रमशः एक-एक पद के दो-दो पद बना लेने

---

१. काव्यप्रकाश; उदाहरण, ४-५४

२. काव्यप्रदीप, पृ० ९९

३. काव्यप्रकाश उदाहरण ४-५५,

पर विरोधाभास अलंकार व्यंग्य है ।

तृतीय उदाहरण मम्मट ने अभङ्गपदमूलक विरोधाभास का 'अमितः··· ···रसतामसि'[1] दिया है । प्रस्तुत उदाहरण में स्पष्ट किया है कि जहाँ कभी भी विरोधाभास प्रतीत हो वहां सर्वत्र वह व्यंग्यरूप से नहीं प्रतीत हुआ करता है। अपितु जहां 'अपि च' विरोधव्यंजक शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ विरोधाभास वाच्य होता है अन्यत्र विरोध व्यंग्य होता है ।[2]

चतुर्थ उदाहरण 'निरूपादानसम्भारम·· शूलिते'[3] व्यतिरेक अलंकार का दिया है । यहां 'चित्रकला' आदि शब्द परिवृत्यसह है अतः वह शब्दशक्ति-मूलक अलंकार ध्वनि है ।

गोविन्द ठक्कुर लिखते कि उपमालंकार ध्वनि के जो उदाहरण दिए हैं उनमें यह शंका होती है कि उपमा आदि की प्रधानता है या नहीं ? यदि प्रधानता मानी जाए तो फिर प्रश्न उठता है कि ये अलंकार कैसे, क्योंकि तब तो ये स्वयं ध्वनिरूप काव्य है, किसी अन्य को अलङ्कृत नहीं करते। यदि यह माना जाए कि इनकी प्रधानता नहीं है तो फिर इसे ध्वनि-काव्य भी नहीं माना जा सकता क्योंकि यहां व्यंग्यार्थ की प्रधानता न होगी। इस शंका का समाधान—'अलङ्कार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कारता' अवतरण से किया है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई ब्राह्मण बौद्ध भिक्षु हो जाने पर भी पूर्वकालिक संस्कार के आधार पर ब्राह्मण कह दिया उसी प्रकार यद्यपि ये अलंकार्य हैं, अलंकृत किए जाने योग्य ध्वनिकाव्य हैं परन्तु इन्हें अलंकार कह दिया जाता है क्योंकि ये पहले अलंकार थे। अन्त में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ की अपेक्षा से ही प्रधानता अथवा अप्रधानता देखी जाती है, रस की अपेक्षा से नहीं क्योंकि वह रस की अपेक्षा से सर्वत्र गौण ही रहते हैं। अतः उपमालंकार रस के ही अंग होते हैं तथा वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान है ।[4]

'पथिक···वससु'[5] और 'शानरशनिश्च·· नुदारश्च'[6] उदाहरण वस्तुध्वनि के हैं।

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-५६

२. काव्यप्रदीप, पृ० ९९

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-५७

४. काव्यप्रदीप, पृ० १००

५. ६. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-५८, ५९

अर्थशक्तिमूलध्वनि—अर्थशक्तिमूल के १२ भेदों की चर्चा की गई है। प्रथमत: व्यंजक अर्थ तीन प्रकार का है—१. स्वत:सिद्ध, २. कविप्रौढोक्ति सिद्ध, ३. कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध । इन तीन प्रकार के व्यंजक अर्थों के दो-दो भेद होते हैं –१. वस्तु रूप व्यंजक अर्थ। २. अलंकार रूप व्यंजक अर्थ इस प्रकार व्यंजक ६ प्रकारका होता है। अत: अर्थशक्तिमूलध्वनि के १२ भेद हो जाते हैं। क्रमश: इन भेदों के उदाहरण दिए गए हैं। प्रथम उदाहरण 'अलस'[१] स्वत: सिद्ध वस्तु से वस्तु की व्यंजना का है।

द्वितीय उदाहरण 'धन्यासि'[२] स्वतः सिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंजना का है।

तृतीय उदाहरण 'दर्प'[३] स्वत: सिद्ध अलंकार से वस्तु की व्यंजना का है। तीनों उदाहरणों का विवेचन गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति किया है।

चतुर्थ उदाहरण 'गाढ'[४] स्वत: सिद्ध अलंकार से अलंकार की व्यंजना का है। मम्मट लिखते हैं कि इस उदाहरण में विरोधाभास अलंकार के द्वारा 'अधरनिदंशनसमकालमेव शत्रवो व्यापादिता:' यह तुल्ययोगिता तथा "मम क्षत्याऽप्यन्यस्य क्षतिर्निवर्ततामिति तद्बुद्धिस्त्प्रेक्ष्यत' उत्प्रेक्षा है।

काव्यप्रदीप—काव्यप्रकाश की अनेक टीकाओं में (सारबोधिनी, काव्य-दर्पण' आदि में) तुल्ययोगिता आदि अलंकार को नहीं माना है उसके स्थान पर 'समुच्चय' अलंकार माना है। गोविन्द ठक्कुर ने भी पूर्ववर्ती टीकाओं का अनुसरण करते हुए विरोधाभास और तुल्ययोगिता के स्थान पर अतिशयोक्ति और समुच्चय अलंकार माना है। प्रदीपकार लिखते हैं कि यहाँ निजाधरदशनवैरिवधूजनौष्ठदशनव्यथामोचनयो:' में कार्य-कारण के पौर्वापर्य भाव से अतिशयोक्ति अलंकार तथा ओष्ठदशन और शत्रुव्यापादन के तुल्य-काल में होने से समुच्चयालंकार है। समुच्चय अलंकार में गुण और क्रिया का एक काल में होना वर्णित किया जाता है। गोविन्द ठक्कुर ने यहां यह संकेत किया है कि किसी ने समुच्चय के स्थान पर तुल्ययोगिता अलंकार माना है। यहां प्रदीपकार का 'किसी से' अभिप्राय मम्मट आदि आचार्य से है। मम्मट की भाँति गोविन्द ठक्कुर ने यह भी माना है कि यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार भी व्यंजना द्वारा प्रकट होता है।[५]

---

१. २. ३. ४. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-६०, ६१, ६२, ६३

५. काव्यप्रदीप, पृ० १०४

काव्यप्रकाश के हिन्दी टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर ने गोविन्द ठक्कुर के मत का खण्डन करते हुए लिखा है—'यह व्याख्या उचित प्रतीत नहीं होती है क्योंकि यदि ग्रन्थकार को यही अर्थ अभीष्ट होता तो वे स्वयं ही इस प्रकार की स्पष्ट वृत्ति लिख सकते थे। ग्रन्थकार को यदि कार्यकारण के पौर्वापर्य-विपर्यय रूप अतिशयोक्ति अलंकार से समुच्चयालंकार की व्यंग्यता ही अभिप्रेत थी तो वे उसका स्पष्ट रूप से उल्लेख कर सकते थे। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है। इसलिए ग्रन्थकार के विरोधालंकार और तुल्ययोगिता अलंकार शब्दों की अतिशयोक्ति तथा समुच्चयालंकार व्याख्या करना ग्रन्थकार के अभिप्राय एवं गौरव दोनों के प्रतिकूल है। अतएव यहाँ ओष्ठविषयक दंशन तथा दंशनमोचन रूप क्रियाओं में विरोध होने से विरोधालंकार व्यंजक और 'स्वाधर-दशन तथा शत्रु व्यापादान रूप वीर रस के प्रकृत दोनों अनुभावों में समकालत्व रूप एक धर्म का अभिसम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलंकार व्यंग्य है, यह मानकर ग्रन्थकार के अभिप्राय के अनुसार ही व्याख्या करनी चाहिए।'

इस प्रकार स्वतः संभवी के उदाहरणों की चर्चा की है।

कविप्रौढोक्तिसिद्ध के चार उदाहरण—

प्रथम उदाहरण 'कैलासस्य · वर्तयन्ति'[1] वस्तु द्वारा वस्तु व्यंजना का है। गोविन्द ठक्कुर इस उदाहरण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं कि यद्यपि 'बिसिनीकाण्ठसंजातशङ्का' यहाँ भ्रान्तिमान् या ससन्देह अलंकार की व्यंजना है अतः वस्तुमात्रव्यंजकता का उदाहरण उचित नहीं है। परन्तु फिर भी यहाँ वस्तुमात्र की व्यंजना है। देवांगनाओं द्वारा राजा की कीर्ति का गाया जाना तथा हाथियों द्वारा राजा की कीर्ति का श्रवण करना तथा श्वेतता के कारण कमलनाल की शंका होना, यह वस्तु ध्वनित होती है। यह अर्थ स्वतः संभव नहीं है अपितु कविकल्पना प्रसूत है। अतएव यह कविप्रौढोक्ति सिद्ध है।

द्वितीय उदाहरण 'केशेषु'''संस्थापिताः'[2] में वस्तु रूप व्यंजक से अलंकार रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस उदाहरण का स्पष्टीकरण मम्मट करते हैं कि यहाँ काव्यलिंग, अपह्नुति व उत्प्रेक्षा अलंकार व्यंग्य है। १ संग्राम में राजा की विजय देखकर शत्रु भागकर गुफाओं में छिप जाते हैं–यह काव्य-लिंग अलंकार है। २ शत्रु भागकर नहीं गए अपितु अपितु राजा से पराजय की

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-६४

२. वही, ४-६५

आशंका करके कन्दराएँ ही उनको नहीं छोड़ती हैं-यह अपह्नुति है । ३. राजा के द्वारा केश-ग्रहण के दर्शन से काम उद्दीप्त हो गया है, वे कन्दराएं उस राजा के शत्रुओं को मानो गले लगाती हैं–यह 'उत्प्रेक्षा' है ।

सारबोधिनी—'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने प्रस्तुत उदाहरण में 'समासोक्ति' अलंकार की चर्चा की है-'एकस्या नायककर्तृककेशाकर्षणदर्शनेनापरस्याः कामोद्रेकः स्यादेवेति समासोक्तिः । पुनरुत्प्रेक्षाया एवाङ्गम् ।' श्रीभट्टाचार्य ने अपह्नुति अलंकार की चर्चा नहीं की है । अन्त में वे लिखते हैं कि यहाँ 'एकव्यञ्जकानुप्रवेश संकर' है ।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने उपर्युक्त उदाहरण में 'काव्यलिंग' और 'अपह्नुति' अलंकार की चर्चा मम्मट की भाँति की है । 'उत्प्रेक्षा' अलंकार के स्थान पर 'समासोक्ति' अलंकार माना है । वृत्ति में प्रथम-व्यंग्य जो 'उत्प्रेक्षा' अलंकार कहा गया है वह दूषित है ।[1] गोविन्द ठक्कुर का अभिप्राय है कि यहाँ तीनों अलंकारों में किसी भी अलंकार की व्यंजना हो सकती है ।

तृतीय उदाहरण में 'गाढालिंगनभसोद्यते······हृदयात्'[2] अलंकार द्वारा वस्तु व्यंजना है ।

चतुर्थ उदाहरण 'या स्वरमिव ·····वाणी'[3] अलंकार द्वारा अलंकार व्यंजना का है ।

कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध के भेद

प्रथम उदाहरण 'ये लङ्कागिरि··· · इव'[4] वस्तु द्वारा वस्तु व्यंजना का है । प्रस्तुत उदाहरण में 'निश्वासों के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त करके पवन क्या-क्या नहीं करती है' इस प्रकार वस्तु द्वारा वस्तु ध्वनित होती है । 'सारबोधिनी', 'काव्यप्रदीप' आदि टीकाओं में स्पष्ट किया है कि यद्यपि 'इव' से उत्प्रेक्षा अलंकार की प्राप्ति है परन्तु यहाँ अलंकार की व्यंजना नहीं है । इसी प्रकार काव्यलिंग अलंकार की व्यंजना का निषेध किया है । केवलमात्र यहाँ पर वाच्यार्थ रूप वस्तु व्यंजक ही अर्थ है ।

द्वितीय उदाहरण 'सखि···तेनापसृतम्'[5] में वस्तु द्वारा अलंकार ध्वनित होता है ।

तृतीय उदाहरण 'आर्द्रार्द्रकरजरदनक्षतैस्तव······नाक्रान्ते'[6] अलंकार से वस्तु व्यंजना का है ।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १०६

२. ३. ४. ५. ६. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-६६, ६७, ६८, ६९, ७०.

चतुर्थ उदाहरण 'महिलासहस्रभरिते····· नतयति'[1], अलंकार द्वारा अलंकार व्यंजना का है।

इस प्रकार अर्थशक्तिमूलकध्वनि के १२ भेदों की चर्चा की गई है।

उभयशक्तिमूलकध्वनि—शब्द और अर्थ (उभयशक्तिमूलकध्वनि) एक प्रकार की है। 'अतन्द्रचन्द्राभरणा ··कम्'[2] इसका उदाहरण है। यहाँ शब्द और अर्थ दोनों के द्वारा वाच्य वस्तु से उपमालंकार की व्यंजना होती है। यहाँ कुछ शब्द परिवृत्त्यसह और कुछ परिवृत्तिसह हैं।

इस प्रकार ध्वनि के १८ भेद हैं। यहाँ यह शंका होती है कि जब रस आदि के अनन्त भेद हैं तो ध्वनि के १८ भेद कैसे हैं? इसका समाधान किया है। 'रसादीनामनन्तत्वाद्भेद एको हि गण्यते।'

'शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि' केवल वाक्यगत होती है। अन्य ध्वनि के १७ भेद वाक्य और पद दोनों में होते हैं। १७ प्रकार की पदध्वनि के क्रमशः उदाहरण दिए हैं, जिनकी चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भांति की है।

'अर्थशक्तिमूलक ध्वनि' प्रबन्ध में भी होती है—'प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः।' गोविन्द ठक्कुर 'प्रबन्ध' से अभिप्राय लिखते हैं—'परस्पर सम्बद्ध अनेक वाक्यों का समुदाय। वह ग्रन्थ रूप भी हो सकता है और अवान्तर प्रकरण रूप भी।'[3]

पद के एक देश रचना और विशेष प्रकार के वर्णों में भी रसादि रूप असंलक्ष्यक्रमध्वनि होती हैं 'पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः।'

मम्मट की कारिका को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'अपि' शब्द से अभिप्राय प्रबन्ध से है। 'पद' से अभिप्राय सुबन्त तथा तिङन्त से है। पद के एकदेश से अभिप्राय प्रकृति, प्रत्यय तथा उपसर्ग से है।[4]

क्रमशः प्रकृति प्रत्यय आदि के उदाहरणों की चर्चा की गई है।

'प्रत्यय' की व्यंजकता के उदाहरण की गोविन्द ठक्कुर ने विशेष चर्चा की है। इसका उदाहरण है 'पथि पथि······माननीमानचर्चा।'[5] प्रदीपकार स्पष्ट करते हैं कि यहाँ 'किरति' में तिङ् प्रत्यय द्वारा किरण की साध्यता है। 'निवृक्त' इस पद में सुप् प्रत्यय द्वारा सिद्ध अवस्था है एवं उस सिद्धता में

---

१. २. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-७१, ७२

३. काव्यप्रदीप, पृ० १२१

४. काव्यप्रदीप, पृ० १२२

५. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-९९

क्त प्रत्यय द्वारा अतीतता की व्यंजना है। यहाँ कारण तथा कार्य का पौर्वापर्य होने से अतिशयोक्ति द्वारा 'रसोत्कर्ष' की अभिव्यक्ति है।[1] (यहाँ पौर्वापर्य इसलिए है कि प्रथम में वाण चलाना माननिवृत्ति का कारण है किन्तु उसे 'ति' प्रत्यय द्वारा साध्य रूप में रखा है तथा माननिवृत्ति कार्य है किन्तु उसे क्त तथा सुप् प्रत्यय द्वारा सिद्ध अवस्था में वताया है।) गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'लटा साध्यत्वम् प्रत्ययेन भूतत्वम्' यह व्याख्या युक्त नहीं है। यहाँ सुप् और तिङ् प्रत्यय द्वारा समाप्ति की सिद्धता एवं उस सिद्धता में भी अतीतता की व्यंजना की जा रही है।

निपात की व्यंजकता

मम्मट ने 'निपात की व्यंजकता' का उदाहरण 'कृतं च ·····मौलिताम्'[2] दिया है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'उपर्युक्त' उदाहरण में तुल्ययोगिता के स्थान पर 'समुच्चयालंकार' माना है। वे लिखते हैं कि मन का गर्वाभिमुखीकरण तथा शत्रुविनाश दोनों का एक ही समय से सम्बन्ध होने से 'समुच्चयालंकार' है। समुच्चयालंकार 'च' इस निपात द्वारा द्योतित है।

अन्य उदाहरणों की चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के समान की है।

'अनेकपदैकदेश' आदि की व्यंजकता के मम्मट ने दो उदाहरण दिए हैं जिसका स्पष्टीकरण गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के समान किया है।

ध्वनि भेदों की गणना

ध्वनि-भेदों की गणना के लिए मम्मट के सूत्र हैं 'भेदास्तदेकपञ्चाशत्, तेषां चान्योन्ययोजने, वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः, शरेषुयुगरवेन्दवः।'[3] जिसका अभिप्राय है कि अब तक किए गए विवेचन के अनुसार ध्वनि के ५१ भेद हैं। ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों में से प्रत्येक के ५१ प्रभेद होते हैं। प्रत्येक के चार-चार भेद और हो सकते है—तीन प्रकार के संकर तथा एक प्रकार की संसृष्टि। इस प्रकार ध्वनि के भेद होते हैं—'वेदखाब्धिवियत्चन्द्राः' अर्थात् १०४० (वेद ४ ख°, अब्धि³ वियत्° और चन्द्र¹)। ५१ शुद्ध भेदों सहित संख्या हुई 'शरेषुयुगखेन्दवः' अर्थात् १०४५५ (शर ५ इषु ५ युग ४ ख ० और इन्दु।) इस प्रकार मम्मट की यह प्रक्रिया गुणनप्रक्रिया है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १२३

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-१०८

३. काव्यप्रकाश, सूत्र ४-६२, ६३, ६४, ६५

सारबोधिनी—काव्यप्रकाश की 'सारबोधिनी' आदि टीकाओं में मम्मट की गुणनप्रक्रिया के संबंध में यह आक्षेप किया गया है कि दशम उल्लास में विरोधालंकार का विवेचन करते हुए मम्मट ने गुणप्रक्रिया के स्थान पर संकलन प्रक्रिया का आश्रय लिया है। वहाँ मम्मट की कारिका है—'जातिश्चतुर्भि-र्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद्गुणैस्त्रिभिः। क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश। विरोध-जाति, गुण क्रिया और द्रव्य चार तत्त्वों में है। यहां संकलन प्रक्रिया द्वारा गणना की गई है जिसमें अग्रिम-अग्रिम भेदों में एक-एक कम करके गणना की जानी चाहिए। जैसे जाति का चार के साथ, गुण का तीन के साथ, क्रिया का दो के साथ और द्रव्य का केवल एक के साथ विरोध मानकर विरोधालंकार के १० भेद होंगे १६ नही। यही प्रक्रिया ध्वनि-भेदों की गणना प्रसंग में अपनायी जानी चाहिए। परन्तु इसका समाधान भी है कि ध्वनि के ५१ भेदों की ही गणना की जानी चाहिए क्योंकि अर्थान्तरसंक्रमित का अत्यन्तसंक्रमित वाच्य से और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य से सांकर्य मिश्रण एक ही बात नहीं।[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने सर्वप्रथम यह स्पष्ट किया है कि अब तक किए गए विवेचनोपरान्त ध्वनि के ५१ भेद इस प्रकार है – अविवक्षितवाच्य ध्वनि के प्रथमतः दो भेद है—१. अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि २. अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य ध्वनि। दोनों के पद तथा वाच्य की दृष्टि से दो-दो भेद हैं। अतः अविवक्षितवाच्य के चार भेद हुए १. पद प्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, २. वाक्य प्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य, ३. पद प्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य, ४. वाक्यप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के पद, वाक्य, पदैकदेश, रचना, वर्ण, प्रबन्ध-प्रकाश्य आदि ६ भेद हैं। लक्ष्यक्रम में शब्दशक्तिमूल के दो भेद हैं—१. वस्तु व्यंग्य, २. अलंकार व्यंग्य। प्रत्येक पद, वाक्य की दृष्टि से चार भेद हैं—१. शब्द-शक्तिमूलक पदप्रकाश्य वस्तु व्यंग्य, २. शब्दशक्तिमूलपदप्रकाश्य अलंकार रूप व्यंग्य, ३. शब्द वाक्य प्रकाश्य वस्तु व्यंग्य, ४. शब्द वाक्य प्रकाश्य अलंकार रूप व्यंग्य। अर्थशक्तिमूल के १२ भेद हैं। शन्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि का एक भेद है। इस प्रकार ५१ भेद होते हैं।

उपर्युक्त ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों में से प्रत्येक के ५१ प्रभेद हो सकते हैं। तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि द्वारा, इनमें से प्रत्येक के

---

१. सारबोधिनी, पृ० १४३

चार भेद हो सकते हैं। इस प्रकार १०४०४ भेद होते हैं। इन भेदों में ध्वनि के ५१ शुद्ध भेद जोड़ देने पर १०४५५ ध्वनि के भेद होते हैं।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने 'अत्र अर्वाचीनाः' से संकलन प्रक्रिया की चर्चा की है। वे लिखते हैं कि 'अर्वाचीनों' के अनुसार गुणनप्रक्रिया युक्त नहीं है क्योंकि उनके अनुसार प्रक्रिया इस प्रकार होनी चाहिए 'अग्रिमाग्रिम भेदों में एक-एक काम करके गणना की जानी चाहिए। गुणनप्रक्रिया में कई भेदों की पुनरावृत्ति होती है जैसे यदि अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य के उपभेदों की गणना में अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य की योजना होगी और अत्यन्ततिरस्कृत वाक्य के उपभेदों की गणना में अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य की योजना होगी। इस प्रकार सभी भेद अनेक बार आ जायेंगे। इस दशा में गुणन की प्रक्रिया बताई है 'एक से जिस राशि तक गुणन करना हो उस राशि को दो बार रखना चाहिए। एक राशि में एक को जोड़ देना चाहिए जिससे राशि होगी तो सम हो जाएगी और जो सम होगी तो विषम हो जाएगी जो सम हो उसका आधा करके उससे विषम को गुणा कर देना चाहिए।' इस प्रकार १ से ५१ तक प्रत्येक राशि को जोड़ने की प्रक्रिया होगी--५१+१=५२। ५२ का आधा=२६। अब ५१ को २६ से गुना कर देना चाहिए ५१×२६=१३३६ भेद सन्देह-संकर के हुए। कुल मिलाकर ध्वनि के भेद हुए १३२६×४=५३०४।[2]

यहाँ अप्रत्यक्ष रूप में आचार्य विश्वनाथ के मत का उल्लेख किया गया है क्योंकि विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में इसी प्रकार ध्वनि-भेदों की गणना की है। ५१×२६=१३२६ भेद संसृष्टि के हो जाते हैं और कुल भेद १३२६×४=५३०४ संकीर्ण भेद सिद्ध होते हैं। 'अर्वाचीनाः' से गोविन्द-ठक्कुर ने आचार्य विश्वनाथ के मत का प्रतिपादन किया है।

'अत्र ब्रूमः' से गोविन्द ठक्कुर ने स्वमत की चर्चा की है। गोविन्द ठक्कुर ने दर्पणकार के मत का खण्डन किया है। प्रदीपकार का अभिप्राय है कि एक ही ध्वनि यदि भिन्न-भिन्न रूपों में आए—जैसे कि कहीं दो प्रकार की वस्तु ध्वनि हो तो उनके संकर तथा संसृष्टि मानने में कोई बाधा नहीं। अतः दर्पणकार का यह कथन 'अपने साथ अपना मिश्रण नहीं हो सकता' अयुक्त है एवं आचार्य विश्वनाथ का यह कथन भी ठीक नहीं है कि अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य के साथ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के मिश्रण को अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के

---

१. काव्यप्रदीप पृ० १३१

२. वही, पृ० १३१

भेदों में उन भेदों का गिनना अनुचित है।' ईख के दृष्टान्त द्वारा वे स्पष्ट करते हैं कि जैसे सभी ईख रस के साधारण एकरूप होने पर भी रसिकों की दृष्टि में साधारण ईख के रस तथा पुण्ड्रकादि विशिष्ट ईख के रसास्वाद में भेद होता है। ऐसी अवस्था में जहां पुण्ड्रकादि के रस की अधिकता तथा न्यूनता होगी—इन दोनों के मिश्रण को एक रूप नहीं कहा जा सकता वैसे ही ध्वनिस्थल में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य के साथ संसृष्टि होने पर अतिशय चमत्कार की अनुभूति होने से दोनों को पृथक्-पृथक् माना है। यदि यहाँ यह शंका हो कि जहाँ दोनों भेदों में समान चारुत्व होगा किसी एक की प्रधानता नहीं रहेगी वहाँ एक भेद और मानना पड़ेगा। समाधान यह किया है कि ऐसी स्थिति में दोनों नामों में से किसी भी नाम से व्यवहार किया जा सकता है।[1]

अन्त में मम्मट ने दो उदाहरण दिए हैं। प्रथम उदाहरण 'क्षणप्राघुणिका ...वराकी'[2] संशयास्पद ध्वनिद्वय संकर का है। यहाँ पर व्यंग्यार्थ के संदेह से अविवक्षितवाच्य अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्य संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का सन्देह संकर है।

द्वितीय-उदाहरण 'स्निग्धश्यामल...धीरा भव'[3] में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का अनुग्राह्यानुग्राहक से तथा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का एकव्यऽञ्जकानुप्रवेश से संकर है। तथा यहाँ 'लिप्त' और 'पयोदसुहृदाम्' में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यों की संसृष्टि है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने उपर्युक्त उदाहरण की विशेष व्याख्या की है। यहाँ 'लिप्त' शब्द में मुख्यार्थ बाध है, अतः 'लिप्त' शब्द 'संपर्क' को लक्षित करता है और संपर्क के अतिशय का व्यंजना द्वारा बोध कराता है। इसी प्रकार अचेतन मेघ में सौहार्द सम्भव नहीं है। अतएव 'सुहृत्' पद उपकारिता को लक्षित करता है तथा उपकारिता की अतिशयता का व्यंजना द्वारा बोध कराता है। मयूरों की केकानाद ध्वनि मेघों द्वारा प्रोत्साहित होती है।

प्रस्तुत उदाहरण में 'राम' शब्द बाधित है उसका लक्ष्यार्थ है 'सकलदुःखभाजनत्वं' और व्यंग्यार्थ है 'सीतां विनापि जीविष्यामिति।' विप्रलम्भश्रृंगार की व्यंजना है। यहाँ 'लिप्त' तथा 'सुहृद्' शब्द का वाच्यार्थ अत्यन्त

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १३१

२. काव्यप्रकाश उदाहरण, ४-१११

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण, ४-११२

तिरस्कृत हो जाता है, अतः यहाँ दो अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनियों की संसृष्टि है। 'राम' पद अर्थान्तरसंक्रमित है। इसका व्यंग्यार्थ 'लिप्त' और 'सुहृद्' पद की ध्वनियों पर निर्भर है क्योंकि वे उद्दीपक हैं। 'राम' पद का अनुग्राह्यानुग्राहक संबंध है तथा उन दोनों अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनियों के साथ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का अनुग्राह्यानुग्राहक भाव संकर है।

प्रस्तुत उदाहरण में 'राम' पद के द्वारा विप्रलम्भ-शृंगार व्यंग्य है और यह रस-ध्वनि है। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि और रसध्वनि होने से एक-व्यंजकानुप्रवेश संकर है।[1]

इसी प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने प्रस्तुत उदाहरण की विस्तृत व्याख्या की है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि प्रस्तुत अध्याय गोविन्द ठक्कुर के गम्भीर चिन्तन को प्रकट करता है। गोविन्द ठक्कुर द्वारा ध्वनिकाव्य का विस्तृत विवेचन किया गया है। स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों की व्याख्या में गोविन्द ठक्कुर मम्मट की अपेक्षा आचार्य विश्वनाथ के अधिक निकट है। नवम रस 'शान्त रस' की चर्चा में शान्त रस के स्थायी भाव के विषय में प्रदीपकार का मम्मट से मतभेद है, परन्तु आचार्य विश्वनाथ के मत से साम्य है।

आचार्य भरतमुनि के रस-निष्पत्ति सूत्र की व्याख्या में भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर की विशेषता यह रही है कि जहाँ मम्मट ने चारों आचार्यों का विवेचन तटस्थ दृष्टिकोण से किया है जिससे यह समझने में कठिनाई अनुभव होती है कि मम्मट का अभिप्रेत मत कौन सा है, वहाँ प्रदीपकार ने भट्टलोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के मत को उद्धृत करते हुए अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से खण्डन भी किया है और अभिनवगुप्त के 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना की है। इस प्रकार स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर के अनुसार मम्मट को अभिनवगुप्त का मत स्वीकार है। गोविन्द ठक्कुर ने संकेतकार माणिक्यचन्द्र की भाँति 'अभिनव भारती' में दिए गए भट्टलोल्लट आदि आचार्यों के मत को ज्यों का त्यों उद्धृत किया है अपितु अपनी मेधावी दृष्टि द्वारा स्पष्ट व्याख्या की है। 'साधारणीकरण' सिद्धान्त का विशेष विवेचन गोविन्द ठक्कुर ने किया है। अन्त में हम कह सकते हैं कि मम्मट का ध्वनि-विवेचन गोविन्द ठक्कुर की प्रतिभा का स्पर्श पाकर उद्भासित हुआ है। मम्मट के संक्षिप्त कथन की विस्तृत व्याख्या का श्रेय गोविन्द ठक्कुर को है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १३२

षष्ठ अध्याय

दोष विवेचन

आचार्य मम्मट ने 'काव्य-लक्षण' में 'शब्दार्थों' के तीन विशेषणों की चर्चा की है। १. अदोषौ, २. सगुणौ, ३ अनलङ्कृती पुनः क्वापि। काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में दोष का विस्तृत विवेचन किया गया है। दोष का विवेचन भी प्राचीन काल से ही आचार्यों की चर्चा का विषय रहा है। नाट्य-शास्त्र प्रणेता आदि आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में न्यूनाधिक रूप से काव्य-दोष का निरूपण किया है।

आचार्य भरत ने दोष की विस्तृत चर्चा नहीं की है। आचार्य भरत का कथन है 'गुण ही दोषविपर्यय रूप है।' अतः स्पष्ट है भरत ने दोषों का विवेचन भावात्मक रूप में किया और गुणों की सत्ता दोषों के अभाव में मानी। दोषों का शब्दगत तथा अर्थगत विभाजन नहीं किया।

आचार्य भामह ने भरत की अपेक्षा अधिक विस्तृत विवेचन किया है। भामह के अनुसार दोष सर्वत्र नहीं रहता यथावसर दोषाभाव तथा गुण तक हो जाता है। भामह ने 'काव्यालंकार' में ग्यारह दोषों का निरूपण किया है। दोषों के प्रति भामह का मत है कि काव्य में एक पद भी ऐसा प्रयुक्त नहीं होना चाहिए जो सदोष (अवद्य) हो, क्योंकि जिस प्रकार कुपुत्र पिता की निन्दा का कारण बनता है उसी प्रकार कुकाव्य कवि की निन्दा का कारण होता है।[1] भामह का कथन है इस दृष्टि से कवि का उत्तरदायित्व महान् है। वे कहते हैं कि कवि न होना कोई पाप नहीं, परन्तु कुकवि होना तो साक्षात् मृत्यु ही है।[2]

---

१. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्षमणाहि दुकाव्येनःसुतेनेव निन्द्यते।। (काव्यालंकार १.११)

२. नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान् मृतिमाहुर्मनीषिणः।। (काव्यालंकार, १-१२)

भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी का कथन है कि काव्य में लेशमात्र भी दोष हो तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह पूरे काव्य को उसी प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार सुन्दर शरीर में श्वेत कोढ़ का एक दाग।[1]

आचार्य वामन भरत सिद्धान्त के विरोधी रहे अतः दोषों का सामान्य लक्षण करते हुए भरत से विरुद्ध लक्षण दिया। वामन का कथन है कि दोष वह है जिसका स्वरूप गुणों का अभाव है। वामन ने दोष का वर्गीकरण चार विभागों में किया है—१. पददोष, २. वाक्यदोष, ३. पदार्थदोष, ४. वाक्यार्थ-दोष।

आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वतन्त्र रूप में दोषों का विवेचन नहीं किया। अनौचित्य को रसभंग का एकमात्र कारण बताया। गुणों के समान दोषों का भी रस से साक्षात् सम्बन्ध माना।

आचार्य महिमभट्ट ने भी आचार्य आनन्दवर्धन की तरह यह माना कि रसभंग से ही काव्य में दोष की संभावना होती है। महिमभट्ट का मत है कि काव्यार्थ के रूप में विवक्षित रस आदि की प्रतीति के विघ्न का विधायक जो हो वही दोष है।[2] महिमभट्ट के विवेचन का प्रभाव आचार्य मम्मट और उनके टीकाकार गोविन्द ठक्कुर पर पड़ा।

महिमभट्ट के परवर्ती आचार्यों में मम्मट का स्थान सर्वप्रथम है। दोष का समान्य लक्षण करते हुए मम्मट का कथन है कि दोष वही है जिससे काव्य के मुख्यार्थ का अपकर्ष होता है। आचार्य मम्मट के अनुसार दोषों के मूलतः दो भेद हैं—१. नित्य एवं २. अनित्य। दोनों प्रकार के दोषों के प्रकारान्तर से तीन भेद होते हैं—१. शब्ददोष, २. अर्थदोष, ३. रसदोष। शब्द में भी तीन प्रकार के दोषों की चर्चा की है—पददोष, पदांशदोष एवं वाक्यदोष। मम्मट के टीकाकारों में गोविन्द ठक्कुर ने अन्य टीकाकारों की अपेक्षा 'दोष' की विस्तृत चर्चा की है। मम्मट के भाव को स्पष्ट करते हुए प्रदीपकार का कथन है कि मम्मट के मुख्यार्थ का यहाँ वह अर्थ नहीं जिसका निरूपण द्वितीय-उल्लास के अभिधा प्रसंग में किया जा चुका है। मम्मट के दोषों का स्वरूप वामन की परम्परा में गुणविपर्ययात्मक न होकर, भावात्मक है। मम्मट के

---

१ तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ (काव्यादर्श, १.७)

२. एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्।
(व्यक्तिविवेक, पृ० १५२)

अनुसार 'सति तु दोषाभावे गुणादिकं विनापि किंचिदाह्लादसंभवात् ।' अर्थात् दोषरहित रचना गुणादि के अभाव में भी कुछ आह्लादकर अवश्य होती है। अतः काव्यलक्षण में प्रथम विशेषण 'अदोषौ' दिया है।

प्रस्तुत अध्याय में गोविन्द ठक्कुर के मत का विवेचन करते हुए अन्य टीकाकार की चर्चा नहीं है क्योंकि अन्य टीकाकारों का विवेचन मम्मट के समान ही है और अत्यन्त संक्षिप्त है। गोविन्द ठक्कुर पर कहीं-कहीं 'सार-बोधिनीकार' श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य का प्रभाव दिखाई पड़ता है जिसका यथास्थान उल्लेख किया गया है। गोविन्द ठक्कुर ने ही मम्मट के भावों का विस्तृत विवेचन किया है।

मम्मट ने दोष का सामान्य लक्षण दिया—

'मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥'[1]

वृत्ति में मम्मट ने स्पष्ट किया है कि 'हति' का अर्थ है—अपकर्ष। 'शब्दाद्याः' में आदि शब्द प्रयोग से वर्ण और रचना का ग्रहण होता है।

काव्यप्रदीप –'काव्यप्रदीप' टीका में गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की उपर्युक्त कारिका की विस्तृत व्याख्या की है। 'मुख्यार्थहतिः' की व्युत्पत्ति स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि मुख्यार्थ के हनन का तात्पर्य है कि जिससे व्यधिकरण होने पर, गमकत्व से बहुब्रीहि समास है जिसका अर्थ है कि जो मुख्यार्थ का विनाशक है वह दोष है। कतिपय विद्वान् इसका दूसरा अर्थ करते हैं कि हति शब्द को करण कारक अर्थात् साधन के रूप में प्रयुक्त करना उचित मानते हैं जिसका तात्पर्य है कि दोष वह है जिससे मुख्यार्थ नष्ट होता है। गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ यह भी स्पष्ट किया है कि 'मुख्यत्वमर्थस्य न शक्यत्व-लक्षणम् ।' अर्थात् अभिधा प्रसंग में जिस मुख्यार्थ की चर्चा की गई है, उस मुख्यार्थ से यहाँ अभिप्राय नहीं है। अन्य रूप में कहा गया है कि काव्य में रस ही मुख्यार्थ है। रस शब्द से भाव, रसाभास तथा भावाभास का ग्रहण होता है। अतः रस-भावादि के अपकर्षक ही दोष हैं। यहाँ रस को मुख्यार्थ मान लिया जाए तो निश्चित रूप से कहा जाएगा कि नीरस काव्यों में कोई दोष नहीं होगा क्योंकि उसमें नष्ट होने योग्य तत्त्व का अभाव होगा।

अतएव स्पष्ट किया है कि उस रस को आश्रय देने वाला जो वाक्यार्थ है वह भी दोष से नष्ट हो जाता है। 'आश्रय' से अभिप्राय है किसी के आश्रित

---

१. काव्यप्रकाश ७.४९

होना या किसी के अन्तर्गत होना । अतः उस रस के आश्रय से, उस रस के द्वारा आश्रयण से, उपकारी भाव से और उसकी अपेक्षा से, वाच्यार्थ भी मुख्यार्थ हो जाता है। अभिप्राय यह है कि काव्य में रस मुख्यार्थ है अतः जो रस के अपकर्षक हैं, वे ही दोष हैं। परन्तु जिन काव्यों में रस मुख्य नहीं है उनमें वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थ को ही मुख्यार्थ कहा जाएगा और वाच्यादि अर्थों के अपकर्षक ही दोष होंगे। यदि ऐसा न माना जाए फिर तो रस वाले काव्यों में सब दोष आ जाएँगे और नीरस काव्य में जो वाक्यार्थ की प्रतीति में बाधक दोष होते हैं, होंगे ही नहीं। अतः कहा है 'नन्वेवं तयोरेव दोषाधारत्व-मुचितं' अर्थात् दोनों में दोष का आधार उचित है। प्रदीपकार ने तीसरे प्रकार के उन दोषों की चर्चा की है जो शब्दादि के अपकर्षक होते हैं। कारिका में 'आदि' शब्द से वर्ण एवं रचना का ग्रहण होता है। गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ स्पष्ट किया है 'न च तत्र बीजाभावः। अन्यथा वर्णस्यापि शब्दपदेनैव प्राप्तौ शब्दाद्या इति बहुवचनासंगतेः।'

संक्षेप में दोष तीन प्रकार से मुख्यार्थ के अपकर्षक हैं—१. साक्षात् रसभावादि के अपकर्षक, २. रसोपकारक वाच्य अर्थात् शब्दबोध्य अर्थ के अपकर्षक, ३. रसादि तथा अर्थ के उपकारक पद, वाक्य, वर्ण, रचना आदि के अपकर्षक।

मुख्यार्थ को स्पष्ट करने के पश्चात् गोविन्द ठक्कुर ने 'हति' शब्द का विवेचन किया है। मम्मट ने 'हति' का अभिप्राय अपकर्ष लिया है। गोविन्द ठक्कुर को मम्मट का अभिप्राय स्वीकार्य नहीं। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'हति' शब्द का अर्थ 'विनाश' है, यदि ऐसा मानें तो यह लक्षण ठीक नहीं क्योंकि दोष से रस नष्ट नहीं होता अपितु दोष में भी रस का अनुभव होता है। 'हति' का अर्थ यदि 'अपकर्ष' लिया जाए, तो इससे रसानुत्पत्ति के प्रयोजकों में दोषत्व की व्याप्ति नहीं होगी। यदि हति का अर्थ 'अनुत्पत्ति' लें तो जहाँ रस की उत्पत्ति तो होती है, पर अपकृष्ट रूप से होती है, वहाँ इस लक्षण की व्याप्ति न होगी। इस प्रकार यह लक्षण दरिद्र-दम्पत्ति के उस छोटे वस्त्र की तरह है, जिससे रात को शरीर का एक भाग ढक जाता है, तो दूसरा उघार हो जाता है।[1]

इस प्रकार मम्मट के दोष लक्षण में हति शब्द का अर्थ अस्पष्ट रहने से गोविन्द ठक्कुर ने 'अत्र ब्रूमः' से स्वमत की चर्चा की है। गोविन्द ठक्कुर

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १६९

लिखते हैं कि 'हति' शब्द का अर्थ वह अपकर्ष है जिसका लक्षण है 'उद्देश्य-प्रतीतिविघात।' 'उद्देश्यप्रतीति' से तात्पर्य है 'सरस रचना में अविलम्वित तथा अनपकृष्ट रूप से रस प्रतीति और नीरस रचना में अविलम्बित रूप से चमत्कारी अर्थ का ज्ञान।[1] इस प्रकार सरस या नीरस दोनों काव्यों में उद्देश्यप्रतीति का विघात सामान्य तत्त्व है। गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि १. क्वचिद्रसस्याप्रतीतिरेव अर्थात् कहीं रस की अप्रतीति होगी, २. क्वचित्प्रतीयमानस्याप्यपकर्ष: अर्थात् कहीं रस के प्रतीयमान होने पर भी उसका अपकर्ष हो जाएगा। ३. क्वचित्तु विलम्ब: अर्थात् कहीं रस की प्रतीति विलम्ब से होगी। इस प्रकार नीरस रचना का विधान भी तीन प्रकार से है—१. मुख्यभूतस्याप्रतीतिरेव' अर्थात् कहीं मुख्यार्थ की प्रतीति नहीं होगी, २. २. क्वचिद्विलम्बेन प्रतीतिः अर्थात् कहीं विलम्ब से होगी, ३. क्वचिद-चमत्कारितेत्यनुभवसिद्धम् अर्थात् यदि कहीं होगी तो चमत्कार शून्य होगी।

गोविन्द ठक्कुर ने कुछ दोषों को स्पष्ट किया है कि दोष कहीं साक्षात् अपकर्षक होते हैं जैसे रस-दोष। कहीं परम्परा से अपकर्षक होते हैं जैसे शब्दार्थ दोष। कहीं अर्थ की उपस्थिति का अभाव होता है जैसे समर्थ आदि में। कहीं विलम्ब प्रतीति होती है जैसे निहतार्थ में। कहीं वाक्यार्थ-बोध का अभावहोता है जैसे च्युतसंस्कृति में। क्लिष्टादि में विलम्ब से प्रतीति होती है। 'निरर्थक' आदि दोष में सहृदय को उसके प्रयोजन का अनुसन्धान करना पड़ता है। 'विरुद्धमतिकृत्' दोष में विवक्षित अर्थ के विरुद्ध अन्य अर्थ की बुद्धि उत्पन्न हो जाया करती है। इस प्रकार कुछ दोषों का संक्षिप्त परिचय गोविन्द ठक्कुर ने दिया है।

गोविन्द ठक्कुर ने कुछ दोषों को नित्य माना है और कुछ को अनित्य माना है। नित्य दोष वे माने हैं जिनका समाधान अनुकरण के अतिरिक्त अन्य किसी दृष्टि से न हो सके वे नित्य दोष हैं। जिनका दूसरे प्रकार से भी समाधान हो सके वे अनित्य दोष हैं।[1] नित्य दोष हैं जैसे च्युतसंस्कृतिआदि। अनित्य दोष हैं जैसे अप्रयुक्तादि।

सप्तम उल्लास में तीन प्रकार के दोषों का वर्णन किया गया है—१. शब्ददोष, २. अर्थदोष, ३. रसदोष। 'शब्दार्थों' में शब्द की प्राथमिकता है अत: शब्द दोष की प्रथम चर्चा की गई है। शब्द तीन प्रकार के हैं—पद, पदैकदेश और वाक्य। अतएव इनके आश्रित शब्ददोष भी तीन प्रकार के हैं।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १६९

पददोष की चर्चा सर्वप्रथम की गई है। 'काव्यप्रदीप' में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि कुछ आचार्य पददोषों में ही यथासम्भव पदैकदोष मानते हैं। परन्तु गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'इति समादधते तन्नातिमनोरमम्'। यदि ऐसा हो तब भी पदैकदोष से प्रथम पद का ही अभिधान होगा, उत्तरपद का क्या होगा? 'वयं त्वालोचयामः' से प्रदीपकार ने स्वमत की चर्चा की है जिसका अभिप्राय है कि उपदेश में तो प्राथमिकता का विचार रहना चाहिए। अतिदेश तो उपदेश के अनन्तर ही है। परन्तु पदैकदोष में ऐसा नहीं हो सकता। यही उपदेश का तात्पर्य है। पद में तो अतिदेश हो सकता है। पदैकदोष की आवृत्ति का भी कुछ पदों की वृत्ति से उस अर्थ की ग्राह्यता को पदों में उपदेश की आवश्यकता के अनुसार माना गया हैं।[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट से अधिक स्पष्ट और विस्तृत रूप में दोष लक्षण की चर्चा की है। गोविन्द ठक्कुर को मम्मट का 'हति' शव्द से अपकर्ष का अभिप्राय स्वीकार्य नहीं। प्रदीपकार ने अपकर्ष, विनाश, अनुत्पत्ति आदि अर्थों का खण्डन किया और 'उद्देश्यप्रतीतिविघात' यह हति शब्द का अर्थ माना है।

गोविन्द ठक्कुर के दोष-लक्षण की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए एक विद्वान् का कथन है कि गोविन्द ठक्कुर का यह दोष लक्षण 'उद्देश्यप्रतीतिविघात' अधिक संगत है। नीरस-सरस सभी प्रकार के काव्य-दोषों में इस लक्षण की व्याप्ति हो जाती है। आस्वादक की अनुभूति का यहाँ ध्यान रखा गया है। भावक के आस्वाद में जो कुछ भी बाधक, अवरोधक, प्रतिबन्धक या उत्तेजक हैं सबका दोप रूप में ग्रहण इस लक्षण द्वारा हो जाता है। दोष को उद्देश्य या अभिमत अर्थ की प्रतीति में विघात मानने से ऐसे विचार प्रधान काव्य-दोषों का संकेत करने का अवसर मिल जाता है, जिसमें स्रष्टा का लक्ष्य रसात्मक आनन्द की सिद्धि भर नहीं है। काव्य का लक्ष्य आनन्दानुभूति मानें या आत्माभिव्यक्ति या अन्तर्वृत्तियों का सामंजस्य और अधिकतम सन्तुष्टि— उद्देश्य में सबका समावेश हो जाता है। जो लोग काव्यास्वाद को अनिवार्यतः रसात्मक या आनन्दात्मक मानने के पक्ष में नहीं हैं, उन्हें भी इस दोष-लक्षण को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होगी।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दोष-दर्शन के सही स्थान और स्वरूप का भी इस लक्षण में परिचय मिलता है। अतः गोविन्द ठक्कुर के दोष-लक्षण

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १७०

में 'उद्देश्यविघात' का उल्लेख न होकर 'उद्देश्यप्रतीतिविघात' का उल्लेख उपर्युक्त दृष्टि से बड़ा सार्थक है।'[1]

पददोष

मम्मट ने सर्वप्रथम पददोष 'दुष्टं पदं···समासगतमेव'[2] कारिका में १६ पद-दोषों का विवेचन किया है।

गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की कारिका को स्पष्ट किया है। प्रदीपकार का कथन है कि कारिका में प्रयुक्त 'दुष्ट' का संबंध प्रत्येक पद के साथ है जैसे श्रुतिकटु दुष्ट पद आदि। मम्मट ने कारिका में पददोषों का विभाग किया है, प्रत्येक का लक्षण नहीं दिया है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ यह शंका होती है कि यदि श्रुतिकटु आदि शब्दों के लक्षण का विचार किया जाए तो विभाग के परत्व के अभाव से और लक्ष्य की अनुपस्थिति होने से लक्षण वाक्य का निर्वाह कैसे होगा ? पुनः समाधान भी किया है कि 'रूढ़ियोगाभ्यामुभयार्थोपस्थितौ लक्ष्यलक्षणयोरुभयोरपि प्रत्ययः' अर्थात् कारिका में प्रत्येक का लक्षण नहीं दिया गया क्योंकि रूढ़ि या योग से दोनों अर्थों की उपस्थिति से लक्ष्य और लक्षण दोनों का ज्ञान हो जाता है।

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यदि ऐसा मानें कि लक्षणवाक्य में 'त्रिधा अश्लील पद' में प्रयुक्त 'त्रिधा' शब्द निरर्थक हैं, उसका प्रयोग विभाग-मात्र से और लक्षण में ही अर्थ के संगत होने से अनुपयोग का द्योतक है, तो उसकी स्वीकृति नहीं होगी। अश्लील शब्द के व्रीडा आदि व्यंजक होने से तीनों पदों में ही साधारणतः अवयवगत शक्ति न होने से तथा पदों के नाना अर्थ वाले स्वरूप के कारण इन तीनों लक्षणों में उसके अर्थ की सार्थकता उसी से ज्ञात हो जाती है।[3]

श्रुतिकटु

मम्मट ने स्पष्ट किया है 'श्रुतिकटु पुरुषवर्ण रूपं दुष्टं।' जैसे— अनङ्ग-मङ्गल···कदा' उदाहरण[4] में 'कार्तार्थ्य' पद श्रुतिकटु है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में 'श्रुतिकटु' दोष की विस्तृत चर्चा की है। प्रदीपकार का कथन है कि वहाँ श्रुतिकटुता यद्यपि कंप उत्तेजकता का बोधक हैं और परुष भेद के कारण अनियत हैं तथापि

---

१. काव्य-दोषों का उद्भव और विकास, पृ० ६१-६२

२ काव्यप्रकाश कारिका, ७-५०, ५१

३. काव्यप्रदीप, पृ० १७१

४. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१४१

श्रुतिकटुता स्वरूप पद के सम्बन्ध के कारण कहा गया है औरवह कठोर वर्ण से अभिप्रेत है और दुर्वचनता का बोधक है।[1]

'अनङ्गमङ्गल···' उदाहरण में 'कार्तार्थ्य' पद श्रुतिकटु है। गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं कि 'श्रुतिकटु' दोष श्रोता के लिए उद्वेगजनक है परन्तु रौद्र आदि रस की व्यंजना में सहायक है अतः वहाँ यह दोष नहीं है। माधुर्य की व्यंजकता के संबंध में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि माधुर्य-व्यंजक रचना के मध्य में यदि श्रुतिकटु यह गुम्फित हो और वह उत्तेजित करे तो उससे क्या ज्ञात होगा? गोविन्द ठक्कुर ने इसका समाधान भी किया है कि ऐसी परिस्थिति में उत्तर है कि माधुर्य व्यंजक रचना की स्थिति में ऐसा नहीं होगा। रस विशेष की व्यंजकता के न होने पर भी प्राथमिकता में वैसे शब्दों को उत्तेजित करने वाले पदों के भाव से ही श्रुति-कटु दोष होगा। वहाँ किसी चेष्टा का विरोध नहीं होगा क्योंकि अनुभव से पता लगता है कि ऐसे स्थानों पर श्रुतिकटुता दोष नहीं लगता है। पद के अन्त में होने पर उसकी प्रामाणिकता यह है कि श्रुतिकटुता वहीं होगी जब तक विशेष रूप से यह विदित नहीं कि वहाँ श्रोता को उत्तेजित करने वाले पद हैं और अन्यत्र नहीं हैं। यही श्रुतिकटुता का प्रमाण है। गोविन्द ठक्कुर ने 'श्रुतिकटु' दोष की अदोषता की चर्चा की है कि वैयाकरण के वक्ता होने पर दोषाभाव माना जाएगा।'

गोविन्द ठक्कुर ने संक्षिप्त रूप में इस दोष का परिचय दिया है कि स्वायत्त शब्द प्रयोग में कानों को उपतापक करने वाले शब्द प्रयोग से श्रोता को उद्वेग होगा और वह ही रसापकर्षकारक होता है तथा वह ही श्रुतिकटु दोष का मूल बीज है। अतएव प्रतिकूल वर्ण से इसका भेद स्पष्ट है। प्रतिकूल वर्ण में कर्णोपतापकहेतु का अभाव रहता है। दोष की अदोषता के विषय में गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि अनुकरण में, वैयाकरण के वक्ता या श्रोता होने पर, रौद्रादि रस के व्यंग्य होने पर, नीरस काव्य में इस दोष को नहीं माना जा सकता। प्रथम में उसके अनुकरण की शक्ति से स्वायत्ता का अभाव होगा और द्वितीय में उसके स्वभाव से ही वैसे शब्द का प्रयोग होने से उद्वेग का अभाव होगा। तीसरे में श्रोता को ही इससे उद्वेग नहीं होगा। चतुर्थ में रौद्रादि रस में ओज गुण के कारण से उद्वेग का कोई हेतु नहीं होगा। पाँचवी

१. काव्यप्रदीप, पृ० १७१

बात यह है कि मुख्यार्थ का हनन नहीं होगा। इस प्रकार अर्थ का औचित्य और प्रकरणादि के कारण से भी कानों में उत्तेजकता न होने से दोष का अभाव ही उत्पन्न होगा।[1]

सुधासागर—'सुधासागर' टीका में भीमसेन दीक्षित ने प्रदीपकार के भाव को ही ज्यों का त्यों उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि भीमसेन दीक्षित को गोविन्द ठक्कुर का भाव स्वीकार है।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने 'श्रुतिकटु दोष' का स्पष्ट और विस्तृत विश्लेषण किया है। मुख्यतः इस दोष की दो तीन विशेषताएँ समक्ष आयी हैं—१. श्रोता को उद्वेग होता है, २. कर्णोपतापक होता है और ३. परुष वर्ण युक्त होता है। गोविन्द ठक्कुर की सभी दोषों के सम्बन्ध में यह विशेषता है कि उन्होंने दोषों की अदोषता का भी साथ-साथ विवेचन किया है, जबकि मम्मट ने दोषों का ही केवल विवेचन किया है, अदोषता की चर्चा बाद में की है।

'च्युतसंस्कृति'

'च्युतसंस्कृति' दोष के सम्बंध में मम्मट का कथन है—'च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनं' उदाहरण दिया है 'एतन्मन्दविपक्वतिन्दु'' मा कृथाः।[2] प्रस्तुत उदाहरण में 'अनुनाथते' यह व्याकरण लक्षण विरुद्ध है क्योंकि 'नाथ' धातु केवल 'आशिस्' अर्थ में ही आत्मनेपदी होती है, याचना अर्थ में नहीं। यहाँ याचना अर्थ है अतः 'अनुनाथति स्तनयुगम्' यह पाठ होना चाहिए।[3]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'च्युतसंस्कृति' दोष को स्पष्ट करते हैं कि जो शब्द भाषा के संस्कार, व्याकरण के नियमों के विरुद्ध हो वह 'च्युतसंस्कृति' दोष है। इस दोष की अदोषता के विषय में 'सारबोधिनीकार' की भाँति गोविन्द ठक्कुर ने भी स्पष्ट किया है कि 'देश्यं तु न लक्षणविरुद्धं किं तु तद-विषयः। संज्ञाशब्दानां बहुलवचनेन संस्कृतत्वान्न तत्रातिव्याप्तिः।' 'एतन्मन्दवि' उदाहरण में च्युतसंस्कृति दोष की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि यहाँ 'नाथते' शब्द याचना अर्थ में होने के कारण च्युतसंस्कृति दोष है क्योंकि यह व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। 'नाथ' धातु केवल आशिस् अर्थ में आत्मनेपदी होती है। 'आशिषि नाथः' इस सूत्र द्वारा नियम किया गया है। यहाँ नाथ

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १७२

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७.१४२

३. काव्यप्रकाश, पृ० २८२

का प्रयोग याचना अर्थ में होने से 'नाथति स्तनयुगं' परस्मैपद पद का पाठ होना चाहिए।[1] इस दोष के सम्बन्ध में मम्मट से अतिरिक्त चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि शब्द से अर्थ विशेष का ही बोध होता है, ऐसा कहना चाहिए। इस प्रकार यहाँ अर्थदोष की प्राप्ति होती है। अत: यहाँ च्युतसंस्कृति अर्थ दोष होगा। परन्तु इस शंका का निषेध करते हुए गोविन्द-ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ ऐसा नहीं है। शब्द-परिवर्तन करने पर भी जो दोष रहता है उसका स्वरूप अर्थ-दोष का है और जो वैसा परिवर्तन करने पर हट जाता है उसका शब्द दोषत्व विभाग से मानना होगा। यहाँ अर्थ-प्रतीति की दूषकता का बीज विद्यमान है, अत: यह नित्यदोष है। इस दोष की अदोषता की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि अनुकरण करने पर अर्थ के अन्य स्वरूप का अभाव होने से दोष का अभाव होगा।

विशेष—वामनाचार्य झलकीकर गोविन्द ठक्कुर की व्याकरण सम्बन्धी त्रुटि की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि प्रदीपकार ने जो यह लिखा है— 'आशिषि नाथः इति सूत्रेण', इस संबंध में वामनाचार्य का कथन है कि यह सूत्र नहीं कात्यायनकृत वार्तिक है। यही गोविन्द ठक्कुर की व्याकरण संबंधी त्रुटि है।

सुधासागर—भीमसेन दीक्षित ने 'सुधासागर' टीका में च्युतसंस्कृति दोष की चर्चा करते हुए सारबोधिनीकार श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य और प्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर को उद्धृत किया है। भीमसेन दीक्षित ने अनेक स्थानों पर गोविन्द ठक्कुर का खण्डन किया है। परन्तु यहाँ भीमसेन ने गोविन्द ठक्कुर की व्याकरण संबंधी त्रुटि की चर्चा नहीं की।

'अप्रयुक्त'

'अप्रयुक्त' दोष को स्पष्ट करते हुए मम्मट का कथन है 'अप्रयुक्तं तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नादृतम्' उदाहरण दिया है 'यथाऽयं···राक्षसोऽथवा।'[2] प्रस्तुत उदाहरण में 'दैवत्' यह पुल्लिग में अप्रयुक्त है। यद्यपि 'दैवतानि पुंसि वा' इस कोश के द्वारा दैवत शब्द पुल्लिग में कहा गया है तथापि कवि द्वारा प्रयोग नहीं किया जाता।[3]

१. काव्यप्रदीप, पृ० १७३

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१४३

३. काव्यप्रकाश, पृ० २८३

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'अप्रयुक्त' दोष को स्पष्ट करते हैं 'अप्रयुक्तं तथानुशासनसिद्धमपि कविभिर्न प्रयुक्तम् ।' यहाँ अनुशासन से अभिप्राय है व्याकरण आदि शास्त्र अर्थात् व्याकरण आदि नियम के अनुकूल होने पर भी जो शब्द कवियों द्वारा प्रयुक्त नहीं होता वह 'अप्रयुक्त' दोष है । जैसा कि प्रस्तुत उदाहरण के विषय में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं—'अत्र दैवतानि पुंसि वा' इत्यनेनाम्नातोऽपि पुंलिगो दैवतशब्द. कविभिर्न क्वापि प्रयुक्तः ।' गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं—'नन्वत्र किं दूषकताबीजम् ।' यहाँ शक्ति का अभाव भी नहीं है । शब्दानुशासन अर्थात् निरुक्त, व्याकरण शास्त्र के द्वारा उसके ग्रहण होने पर स्मृति में भी प्रतिबन्धकता नहीं है । ऐसी स्थिति में पदार्थ की उपस्थिति का विलम्ब ही उसका बीज है । अतः श्लेष, यमकादि अलंकार के होने पर यहाँ दोष नहीं होगा ।[1] गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि उद्भट के मतानुसार 'प्रतीत्य-विलम्बस्य तत्रानुद्देश्यत्वात्' अर्थात् अलंकार की अविलम्ब प्रतीति का वहाँ कोई उद्देश्य नहीं है वहाँ तो दोष का ज्ञान अपेक्षित है । प्रदीपकार का कथन है कि वस्तुतः कवि समय के विलङ्घन के प्रयोजन और उसके अनुसंधान की व्याकुलता से मुख्यार्थ में बाधकता आती है । अभिप्राय यह है कि 'अप्रयुक्त' प्रयोग को देखकर पाठक प्रयोजनानुसंधान में व्यग्र हो जाता है । मुख्यार्थ की उपस्थिति में विलम्ब होता है । अतः वहाँ दोष का बीज प्रतीत होता है । दोष की अदोषता के विषय में गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि अनुकरण में ऐसे दोष का अभाव होता है । यमकादि अलंकार में भी यह दोष नहीं रहता । अन्यत्र भी दैवत जैसे शब्दों का पुल्लिग में प्रयोग न होने पर और उसके अर्थ का कवियों द्वारा विशेष प्रयोग के दिखाने से व्यग्रता का भी अभाव होगा । अतः यहाँ अप्रयुक्त दोष नहीं होगा ।[2]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने 'अप्रयुक्त' दोष और उसकी अदोषता की विस्तृत चर्चा की है ।

'असमर्थ'

'असमर्थ' दोष के विषय में मम्मट का कथन है 'असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः ।' उदाहरण दिया है—'तीर्थान्तरेषु…सादरम्' ।[3] यहाँ 'हन्ति' गमन अर्थ में असमर्थ है ।

---

१. काव्यप्रदीप पृ० १७३

२. काव्यप्रदीप, पृ० १७३

३ काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१०४

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'असमर्थ' दोष का स्पष्टीकरण मम्मट की भाँति ही किया है। जिसका अभिप्राय है कि असमर्थ वह दुष्ट पद है जिसका किसी अर्थ में तो पाठ किया जाता है किन्तु उस अर्थ को बोध कराने में उसकी शक्ति नहीं होती। असमर्थ शब्द में नञ् ईषदर्थक (अल्पताबोधक) है।[1] गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं—'समर्थस्यैवासामर्थ्यं विरुद्धमिति चेत्। न।' अपितु बिना किसी सहायक के उस अर्थ को बोध कराने की उसमें शक्ति नहीं होती। प्रस्तुत उदाहरण में 'हन्' धातु जघनादि शब्दों में 'पद' आदि शब्दों के अथवा मार्गादि अर्थों के सहयोग से गमनार्थक को प्रकट करने का सामर्थ्य रखती है। बिना सहायक के 'हन्' धातु गमनार्थक का बोध कराने में समर्थ नहीं। प्रदीपकार ने स्पष्ट किया है कि इसके अर्थ की अनुपस्थिति ही दूषकता का बीज है—'अस्यार्थानुपस्थितिर्दूषणताबीजमिति नित्यता।'

निहतार्थ

मम्मट ने 'निहतार्थ' दोष का लक्षण दिया है – 'निहतार्थं यदुभयार्थम-प्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम्।' उदाहरण दिया है 'यावकर'' सहसा।'[2] प्रस्तुत उदाहरण में 'शोणित' शब्द के रुधिर रूप अर्थ के द्वारा उज्जवलीकृत रूप अर्थ व्यवहित होता है।

बालचित्तानुरंजनी—'बालचित्तानुरंजनी' टीका में श्रीनरहरि सरस्वतीतीर्थ ने 'असमर्थ' दोष और 'निहतार्थ' दोष का अन्तर स्पष्ट किया है 'असमर्थ दोषे एकस्मिन्नेवार्थे प्रसिद्धिः, अत्र चोभयत्रापि प्रसिद्धिरित्यनयोर्भेदः।[3]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'निहतार्थ' दोष को स्पष्ट करते हैं 'निहतार्थं निहतः प्रसिद्धेनार्थेनाप्रसिद्धतया व्यवहितो विवक्षितोऽर्थो यस्य तत्।' मम्मट ने 'निहतार्थ' के लक्षण में 'यदुभयार्थम्' का प्रयोग किया, गोविन्द ठक्कुर ने 'उभयार्थम्' से अभिप्राय दिया है कि प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध अर्थ। अभिप्राय यह है कि निहतार्थ वह दोष है जो प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध अर्थ वाला होते हुए अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त होता है। शब्द से प्रसिद्ध अर्थ की तुरन्त उपस्थिति होती है तत्पश्चात् विवक्षित अर्थ उपस्थित होता है। उसकी प्रतीति में विलम्ब होता है। यमकादि में वह दोष नहीं है। 'निहतार्थ' दोष के उदाहरण का स्पष्टीकरण गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति किया है।[4]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १७३

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१४५

३. काव्यप्रकाशटीका, पृ० २८४

४. काव्यप्रदीप, पृ० १७४

अनुचितार्थ

मम्मट ने 'अनुचितार्थ' दोष का केवल उदाहरण दिया है—'तपस्वि-भिर्या•••गता:।'[१] उदाहरण में 'पशु' शब्द कातरता को अभिव्यक्त करता है। इसलिए यह अनुचितार्थक दुष्ट पद है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'अनुचितार्थ' दोष को स्पष्ट करते हैं कि जो शब्द विवक्षित अर्थ को तिरस्कृत करने वाले किसी अर्थ का व्यंजक होता है वह 'अनुचितार्थ' दुष्ट पद है।[२] उदाहरण का स्पष्टीकरण मम्मट की भाँति किया है—'अत्र शौर्ये प्रतिपाद्ये पदान्तरानपेक्षमेव पशुपदं कातरतामभिव्यनक्ति।' अत: विवक्षित अर्थ का तिरस्कार अनुचितार्थ दोष की दूषकता का बीज है। गोविन्द ठक्कुर ने 'विरुद्धमतिकृत्' दोष से अन्तर स्पष्ट किया है 'विरुद्धमतिकृत्तु पदान्तरसापेक्षं तथेति तस्माद्भेदः।' यह नित्य-दोष है।

निरर्थक

मम्मट 'निरर्थक' दोष को स्पष्ट करते हैं कि 'निरर्थकं पादपूरणमात्र-प्रयोजनं चादिपदम्।' उदाहरण दिया 'उत्फुल्लकमल•• युष्मत्प्रसाददेन।'[३] यहाँ 'हि' शब्द निरर्थक है।

'बालचित्तानुरंजनी' और 'सारबोधिनी' टीका में 'निरर्थक' दोष की विशेष व्याख्या नहीं की गई है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'निरर्थक' दोष को स्पष्ट करते हैं कि निरर्थक दोष में अर्थ की विवक्षा नहीं होती। अर्थ के अनुपयोगी होने पर भी पाद-पूर्ति के लिए उसका प्रयोग किया जाता है। जहाँ इनका प्रयोग वाक्या-लंकारार्थ होता है वहाँ यह दोष नहीं होता।[४] प्रस्तुत उदाहरण में 'हि' पद निरर्थक होता है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि निरर्थक दोष में यह कहा गया है कि प्रयुक्त पद में अर्थ की विवक्षा नहीं होती अर्थात् निरर्थक पद का ग्रहण ही नहीं होता। अत: इस दोष की दूषकता चिन्तनीय है। ऐसे पद के प्रयोग से तो अर्थ की अनुपस्थिति होती नहीं। अन्य पदों द्वारा ही अर्थ की उपस्थापना होती है। अवाचक पदों में ऐसा नहीं होता क्योंकि वहाँ अभिधेय (वाँछनीय) वाक्यार्थ के अन्य पदों द्वारा उपस्थापन नहीं होगा और न

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१४६

२. काव्यप्रदीप, पृ० १७४

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१४७

४. काव्यप्रदीप, पृ० १७५

ही प्रतिकूल वर्ण के समान वहाँ रस का विरोध होगा और प्रारंभ में प्रयुक्त शब्दों के सार्थक स्थल में भी रस विरोधी प्रसंग से स्वरूप की एक समानता के कारण वैसा नहीं होगा। अतः कहा जाता है कि प्रयुक्त होने वाले शब्द के निरर्थक होने पर और उस पद के प्रति सहृदयों की विमुखता ही दूषकता का बीज हैं अथवा प्रयोजन के अनुसंधान की व्याकुलता।[१]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और विस्तृत व्याख्या की है।

अवाचक

मम्मट ने 'अवाचक' पद दोष के केवल उदाहरणों की चर्चा की है। प्रथम उदाहरण 'अवन्ध्यकोपस्य···विद्विषादरः'[२] में 'जन्तु' शब्द 'अदाता' के अर्थ में विवक्षित है किन्तु इस अर्थ का बोधक नहीं।

'द्वितीय उदाहरण 'हाऽधिक्···अधुना'[3] में 'दिन' पद प्रकाशमय अर्थ में अवाचक है।

तृतीय उदाहरण 'जङ्घाकाण्डोरुनालो···भवान्याः'[४] में 'दधत्' के अर्थ में 'विदधत्' यह पद अवाचक है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'अवाचक' पददोष की विस्तृत चर्चा की है। 'अवाचक' वह पद है जो विवक्षित-धर्म से विशिष्ट धर्मी का कहीं भी वाचक न हो। अतएव इस दोष का 'असमर्थ' दोष से भेद है (असमर्थ दोष की चर्चा पिछले पृष्ठ में की गई है जिसमें स्पष्ट किया गया है कि जिसका किसी अर्थ में पाठ तो किया जाता है किन्तु उस अर्थ में उसकी 'शक्ति' नहीं होती)। प्रदीपकार ने 'अवाचकता' के अनेक प्रकार स्पष्ट किए हैं—(क) कहीं धर्मी में शक्ति होती है, किन्तु विवक्षित धर्म में नहीं। (ख) कहीं धर्म में शक्ति होती है किन्तु धर्मी में नहीं (ग) कहीं धर्म तथा धर्मी दोनों में शक्ति नहीं होती।[५]

(क) इनमें प्रथम भी दो प्रकार का होता है—१. अपेक्षित योग, २. अनपेक्षित योग।

प्रथम उदाहरण 'अवन्ध्यकोपस्य' अपेक्षित योग का है। प्रस्तुत उदाहरण के पूर्वार्ध में दारिद्र्य रूप आपत्तिविघातक के रूप में दातृत्व विवक्षित है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १७५

२. ३. ४. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१४८, १४९, १५०

५. काव्यप्रदीप, पृ० १७५

उत्तरार्ध में वैपरीत्य प्रदर्शन के लिए 'जन्तु' पद 'अदाता' इस में अर्थ में प्रयोग किया गया है। यहाँ 'अपेक्षितयोग' धर्मी में शक्ति है धर्म में नहीं तथा 'जन्तु' पद अवाचक है।

'अनपेक्षित योग' का उदाहरण 'हाधिक् सा किल' है। यहाँ दिन शब्द प्रकाशमय अर्थ में विवक्षित है। प्रस्तुत उदाहरण से 'तामसी' पद का अर्थ है—तमोमयता। उसके वैपरीत्य-प्रदर्शन के लिए 'दिन' शब्द का प्रयोग प्रकाशमयता के अर्थ में विवक्षित है। यहाँ दिन शब्द की रूढ़ि द्वारा सूर्यावच्छिन्नकालरूपी धर्मी में शक्ति है, किन्तु प्रकाशमयत्व रूप से वह शक्ति नहीं अपितु दिनत्व रूप से है।[1]

(ख) धर्म में शक्ति होती है धर्मी में नहीं, मम्मट ने इसका उदाहरण नही दिया है। गोविन्द ठक्कुर ने 'जलं···हेपते' उदाहरण दिया है। यहाँ 'जलधर' शब्द की जलधरत्व रूप धर्म में शक्ति है किन्तु सागर रूप धर्मी में नहीं।[2]

(ग) 'तृतीयं तूपसर्गसंसर्गादर्थान्तिरगमन्यथा च' अर्थात् जो उपसर्ग के संसर्ग से अर्थान्तर का वाचक होता है। जैसे 'जङ्घाकाण्डोरुनालो' उदाहरण में 'विदधाति' धारण अर्थ में अवाचक है। यद्यपि 'दधाति' की धारण अर्थ में शक्ति है तथापि 'वि' उपसर्ग सहित दधाति की शक्ति 'करण' या 'विधान' अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है। अतः 'विदधत्' शब्द धारण अर्थ में अवाचक हैं क्योंकि वह धारण (धर्मी) या धारणत्व (धर्म) किसी में भी शक्ति नहीं रखता।[3]

गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि वाक्यार्थ की अवाचकता 'प्राभ्रभ्रड्' उदाहरण (१७४) में है। निदूर्षणप्रकाश में जो यह कहा कि 'असमर्थ में धर्म और धर्मी दोनों में शक्ति का अभाव होगा, अवाचक में धर्ममात्र में। 'विदधत्' पद का प्रयोग उदाहरण में अवाचक प्रकरण के मध्य में तो अर्थ देने में समर्थ ही है' यह प्रलाप मात्र है। यह तो वाक्य में अवाचकता के उदाहरण में न देखने और संदर्भ में विरुद्ध होने के कारण उसका निबन्धन है। दूषकता का बीज तो विवक्षित अर्थ की अनुपस्थिति है और यह नित्य दोष है।[4]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १७६
२. काव्यप्रदीप, पृ० १७६
३. वही, पृ० १७७
४. वही, पृ० १७७

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने अवाचकता के अनेक प्रकारों की चर्चा करते हुए मम्मट से अधिक विस्तृत विवेचन किया है ।

त्रिधा अश्लील

मम्मट ने लज्जा, घृणा और अमंगल को प्रकट करने के कारण अश्लील दोष तीन प्रकार का माना है । क्रमश: उन तीनों के उदाहरण दिए हैं—

१. 'साधनं···ध्रुवम् ।'[१]

२. 'लीलामामरसाहतो...चुम्बिता ।''[२]

३. 'मृदुपवन···वर्ही ।'[३]

सारबोधिनी— 'सारबोधिनी' टीका में श्री वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य अश्लील शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ देते हैं—'सम्यग्वशीकरणसंपत्तिः श्रीः, तां लाति गृह्णाति इति श्रीलम् (र को ल) श्लीलम्, न श्लीलम् अश्लीलम् ।' तीनों उदाहरणों को स्पष्ट करने के पश्चात् अन्त में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य का कथन है कि 'अर्थानिश्चय' ही यहाँ दूपकता का बीज है ।[४]

काव्यप्रदीप— गोविन्द ठक्कुर ने 'अश्लील' शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ स्पष्ट किया है । अश्लील पद तीन प्रकार का है । इसमें श्री अर्थात् शोभा इसमें श्री अर्थात् शोभा नहीं रहती, इसी अर्थ में 'सिध्सादि' सूत्र से लच् प्रत्यय होने से अश्लील पद वनता है । 'कपिलकादि' से 'रेफ' का 'ल' हो जाता है । तथा इसमें कान्ति का अभाव है, इसमें पर्यवसान हो जाता है । इसलिए अश्लील शब्द बनता है । कान्ति के अभाव को किस तरह कहा जाए, इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि व्रीडा, जुगुप्सा और अमंगल व्यक्तिगत हेतु से होते हैं, उसी से विशिष्ट होने पर अश्लील पद का अर्थ कहना चाहिए । यह तीनों इस अश्लील पद में अनुगत है और इसी से इसका रूप स्पष्ट होता है । व्रीडा आदि हेतु से कान्ति-रहित होने पर अनेकार्थक यह अश्लील शब्द है ।[५] यह प्रत्येक तीन प्रकार का है । 'क्वचिद्विवक्षितस्यैवार्थस्य व्रीडाद्यालम्बनत्वात्' अर्थात् कहीं विवक्षित अर्थ का व्रीडादि में आलम्बन होता है । 'क्वचिदविवक्षितस्य निर्वाहिणस्तथात्वात्' । अर्थात् कहीं पर अविवक्षित होने पर भी उस अर्थ का निर्वहन करते हुए वैसा होता

---

१. २. ३, काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१५१, १५२, १५३

४. सारबोधिनो, पृ० २११

५. काव्यप्रदीप, पृ० १७७

है। 'क्वचित्तादृशार्थस्यानिर्वाहिणोऽपि स्मृतिमात्रहेतुत्वात्।' अर्थात् कहीं पर तत्समान अर्थ का निर्वहन न होने पर भी स्मृतिमात्र के हेतु रूप होने से अश्लील होता है।

तीनों उदाहरणों की चर्चा करते हुए स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में अश्लील दोष है। प्रथम उदाहरण में व्रीडा के अव्यक्त होने पर अर्थान्तर का भी वैसा अभाव हो जाता है तथा 'सैन्यार्थक' 'साधन' शब्द के द्वारा पुरुषेन्द्रिय रूप अन्यार्थ की प्रतीति होने के कारण 'साधन' पद लज्जा को प्रकट करता है। अतः अश्लील है।

द्वितीय उदाहरण में 'वायु' शब्द अपान वायु का स्मारक है। अतः जुगुप्सा व्यंजक है।

तृतीय-उदाहरण में 'विनाश' शब्द का विवक्षित अर्थ अमंगल वोधक है।

इस दोष की दूषकता की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि अश्लील अर्थ की उपस्थिति रस की अपकर्षक है, अतः यह दूषकता का बीज है। अथवा उस अर्थ की उपस्थिति से श्रोता या पाठक विमुख हो जाता है, यह ही इस दोष का बीज है। प्रदीपकार शम कथा अर्थात् वैराग्यजन वार्ता आदि में अश्लील दोष का अभाव होता है, वह गुण रूप हो जाता है। भावी अमंगल का सूचक और कामशास्त्रादि में स्थित अश्लीलत्व गुणरूप हो जाता है। यहाँ विमुखता का अभाव होता है। शिवलिंग, भगिनी, ब्रह्माण्ड आदि शब्दों में संवीत, गुप्त तथा लक्षित दशाओं में असमयार्थ की अनुपस्थिति रहने से दोष नहीं रहता है।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने शिवलिंग आदि शब्दों की चर्चा आचार्य भोजराज के प्रभावस्वरूप की है। भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में 'ग्राम्यदोषगुण' के अन्तर्गत इन शब्दों की विस्तृत चर्चा की है। भोजराज का ग्राम्य-दोष मम्मट का अश्लील-दोष है। 'ग्राम्य-दोष-गुण' के अन्तर्गत भोजराज लिखते हैं— 'तत्संवीतेषु गुप्तेषु लक्षितेषु न दुष्यति।' उदाहरण द्वारा प्रत्येक शब्द को स्पष्ट किया है।

शिवलिंग के संबंध में कहा है—'शिवलिंगस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्व-भावना।'

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १७८-१७९.

भगिनि के संवंध में कहा है - 'वस्तुमाहात्म्यगुप्तस्य पदार्थस्य विभावनात् । भगिनिभगवत्यादि नासभ्यत्वेन भाव्यते ।

'ब्रह्माण्ड' के संवंध में कहा है—'ब्रह्माण्डशव्दयोरसभ्यस्मृतिहेतुत्वेऽपि अन्यत्र लक्षितत्वाद् गुणत्वम् ।'

गोविन्द-ठक्कुर के प्रारम्भिक कथन 'तच्च प्रत्येकं त्रिविधम्' में भी आचार्य भोजराज का प्रभाव लक्षित होता है । यह पहले भी स्पष्ट किया है कि भोजराज का ग्राम्यत्व दोष मम्मट का अश्लीलत्व दोष है । भोजराज ने प्रत्येक के तीन तीन भेद किए हैं जैसे ग्राम्यत्व अश्लील भेद का प्रथम उपभेद १. असभ्यार्थ, २. असभ्यार्थान्तिर, ३. असभ्यस्मृतिहेतु दोष । घृणा के भेद १. ग्राम्यघृणावदर्थ तथा भेद २. घृणावद् का अर्थान्तिर दोष, ३. घृणावत्स्मृतिहेतु । ग्राम्य अमंगल के भेद --१. अशस्तार्थ-भेद २. अशस्तार्थान्तिर भेद, ३. अशस्तार्थ स्मृति हेतु ।

गोविन्द-ठक्कुर ने प्रत्येक का नामोल्लेख तो नहीं किया है केवलमात्र 'तच्च प्रत्येकं त्रिविधम्' से संकेत किया है ।

प्रभा --'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने शिवलिंग आदि शब्दों की चर्चा करते हुए बताया है कि केवल लिंग का अर्थ अश्लील होता है परन्तु शिव से संबंधित होने से अश्लीलता का अभाव हो जाता है । 'भगिनी' पद में अश्लील अर्थ लोक में प्रसिद्ध नहीं होता अतः वह गुप्त होता है । 'ब्रह्माण्ड' के अंड अंश से असभ्य अर्थ की स्मृति हो सकती है किन्तु यह लक्षणा से उपस्थित होने के कारण दुष्ट नहीं रहते गुण बन जाते हैं ।[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर इस दोष की विस्तृत व्याख्या करते हैं ।

संदिग्ध

मम्मट ने 'संदिग्ध' दोष को स्पष्ट नहीं किया है केवल उदाहरण दिया है । उदाहरण है 'आलिङ्गतस्त्र'''कुरु ।'[2] यहाँ 'वन्द्यां' का अभिप्राय 'बलपूर्वक हरी गई सुन्दरी पर' या 'वन्दनीया को' यह है, इस प्रकार का सन्देह होता है ।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'संदिग्ध' दोष को स्पष्ट करते है कि जब कोई पद दो अर्थों का बोधक होता हुआ यह सन्देह उत्पन्न करता है कि पद

---

१. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० १७९

२ काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१५४

का कौन सा अर्थ तात्पर्य का विषय है वहाँ 'संदिग्ध' दोष है।[1] उदाहरण को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ 'वन्द्या' शब्द से द्वितीया विभक्ति के एकवचन में तथा 'वन्दी' शब्द से सप्तमी विभक्ति के एकवचन में 'वन्द्यां' रूप होता है, अतएव 'वन्द्यां' पद सन्दिग्ध है। सप्तमी एकवचन के रूप में अर्थ है 'बलपूर्वक-हरी गई महिला पर' (वन्द्यां कृपां कुरु)। द्वितीया एकवचन के रूप में यह 'आशीः परम्परां' का विशेषण है जिसका अर्थ है वन्दनीया को'। (वन्द्याम् आशीः परम्पराम्)। यहाँ अर्थ की प्राप्ति में निश्चय न होने से सन्देह बना रहता है अतः 'संदिग्ध' दोष है।[2]

इस दोष की अदोषता के विषय में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'अतो यत्र संदेह एवोद्देश्यस्तत्र यत्र च वाच्यादिमहिम्ना प्रकरणादिवशेन वा निश्चयस्तत्र चादोषत्वम्।'

अप्रतीत

मम्मट ने अप्रतीत' दोष को स्पष्ट किया है 'अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम्।'

उदाहरण दिया है, 'सम्यग्ज्ञान···बन्धनम्'।[3] यहाँ 'आशय' शब्द का अर्थ 'वासना' योगशास्त्र में प्रसिद्ध है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'अप्रतीत' दोष को स्पष्ट करते हैं 'शब्दानुशासनातिरिक्तशास्त्रमात्रप्रसिद्धमित्यर्थः'। 'अप्रतीत' में नञ् अल्पताबोधक है, अभिप्राय यह है कि अप्रतीत वह दुष्ट पद है जो केवल किसी एक शास्त्र में प्रसिद्ध हो। अतएव 'अप्रतीत' दोष का 'अप्रयुक्त' दोष से भेद है। प्रस्तुत उदाहरण में 'आशय' शब्द का 'वासना' अर्थ योगशास्त्र में प्रसिद्ध है। गोविन्दठक्कुर इस दोष की दूषकता के विषय में लिखते हैं कि यह दोष इसलिए है कि जो उस शास्त्र के विशिष्ट शब्द से अनभिज्ञ हैं उसे काव्य से अर्थबोध नहीं होता। जहाँ बोद्धव्य, वक्ता उस शास्त्र से भिज्ञ है और उसे उस शास्त्र में प्रयुक्त शब्द का अर्थ ज्ञात है वहाँ यह दोष नहीं होता।[4]

---

१. संदिग्धं विवक्षिताविवक्षितोभयार्थोपस्थापनानुकूलस्वरूपद्वयसंदेहविषयतः।'
(काव्यप्रदीप, पृ० १७९)

२. काव्यप्रदीप, पृ० १७९

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१५५

४. काव्यप्रदीप, पृ० १७९

बालबोधिनी—वामनाचार्य झलकीकर ने 'आशय' शब्द का अर्थ अधिक स्पष्ट करते हुए 'बालबोधिनी' टीका में लिखा है—'मिथ्याज्ञानजन्यः संस्कार विशेषः' अर्थात् यहाँ पर आशय शब्द का अर्थ संस्कारविशेष है। इस अर्थ में आशय अर्थात् यहाँ पर आशय शब्द का अर्थ संस्कारविशेष है। इस अर्थ में आशय शब्द का प्रयोग—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुपविशेष ईश्वरः' इत्यादि योगशास्त्र में ही हुआ है।

ग्राम्य

'ग्राम्यदोष' को स्पष्ट करते हुए मम्मट का कथन है 'ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम्'। उदाहरण है 'राकाविभावरी···मनः।'[1] यहाँ 'कटि' शब्द ग्राम्य है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'ग्राम्य-दोष' की चर्चा करते हुए दो आचार्यों का मत उद्धृत किया है। ये मत किन आचार्यों के हैं, यह नामोल्लेख नहीं किया है। 'इत्येके' से प्रथम मत की चर्चा और 'अपरे तु' से द्वितीय मत का उल्लेख किया है। प्रथम मतानुसार 'जो केवल लोक में ही स्थित है न कि शास्त्र में'। अतएव 'अप्रयुक्त' से इसका भेद है।[2]

द्वितीय मतानुसार देशी-भाषा में प्रयोग करने योग्य अव्युत्पन्न शब्दों के संग्रह के लिए ग्राम्यत्व दोष माना जाता है'। 'कटि' शब्दादि इसके उदाहरण नहीं हैं। इसके उदाहरण तो गल्ल-भल्ल आदि हैं।'[3]

गोविन्द ठक्कुर ने 'तदुभयमप्यसत्' से दोनों मतों का खण्डन किया है। वे लिखते हैं कि 'कटिशब्दस्य शास्त्रेऽपि प्रसिद्धस्य व्युत्पन्नस्य चोदाहरणत्वेन दर्शितत्वात्' अर्थात् शास्त्र में प्रसिद्ध एवं शास्त्र से व्युत्पन्न 'कटि' शब्द का इसके उदाहरण के रूप में उपन्यास होने से, दोनों मत उचित नहीं है। अतः समस्त लोक में प्रसिद्ध शब्द ग्राम्य है। ऐसा लक्षण करने से देशी-भाषा के शब्दों का भी संग्रह हो जाता है। इसलिए खान-पान-गल्ल (उदाहरण १८०) आदि इसके उदाहरण दिए गए हैं और कमल, महिषी, दधि आदि प्रत्युदाहरण हैं।

'राकाविभावरी' उदाहरण में 'कटि' शब्द ग्राम्य है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि लोक की जानकारी नहीं रखने वाले अर्थात् लोक से अनभिज्ञ

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण, ७-१५६

२. काव्यप्रदीप, पृ० १८०

३. काव्यप्रदीप, पृ० १८०

उस शब्द से अर्थ की उपस्थिति नहीं होना ही दूषकता का बीज है, ऐसी एक मान्यता है। प्रदीपकार का कथन है कि वस्तुतः नागर एवं उपनागर शब्दों को छोड़कर ग्राम्य शब्दों के प्रयोग से वक्ता की अविदग्धता से श्रोता का विमुख हो जाना इसकी दूषकता का बीज है। 'ग्राम्य' दोष की दूषकता के विषय में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि विदूषक आदि अधम प्रकृति की उक्ति में 'ग्राम्यता' गुण है। उनको उसी में औचित्य मालूम पड़ता है, अतः विरसता नहीं होती है। कटि शब्द का प्रयोग ग्राम्यता का सूचक है अतः अश्लील दोष सांकर्य नहीं है।[1]

'अपरे तु' से गोविन्द ठक्कुर ने जिस आचार्य के मत का उल्लेख किया है वह मत आचार्य भोजराज का है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में जिस 'देश्य' दोष की चर्चा की है वह मम्मट का 'ग्राम्य' दोष है। यद्यपि आचार्य भोजराज से पूर्व आचार्य रुद्रट ने 'काव्यालंकार' में 'देश्य' दोष की चर्चा की है। भोजराज गोविन्द ठक्कुर के अधिक निकट है। सम्भवतः गोविन्द ठक्कुर ने उन्हीं का ही यहाँ नामोल्लेख किए बिना मत दिया है। भोजराज ने गल्ल-भल्लादि शब्द (व्युत्पत्तिरिक्त होने से) 'देश्य' के उदाहरण दिए हैं।[2]

सुधासागर—'सुधासागर' टीका में भीमसेन दीक्षित ने 'ग्रामे केवले लोके प्रसिद्धं ग्राम्यं न तु शास्त्रेऽपि, अत एवाप्रयुक्ताद्भेद इति भास्करादयः' से भास्कर के मत का उल्लेख किया है। जबकि गोविन्द ठक्कुर ने भास्कर का नामोल्लेख न करके 'इत्येके' से इस मत की चर्चा की है। इसके अतिरिक्त 'ग्राम्य-दोष' की चर्चा में भीमसेन दीक्षित की मौलिकता नहीं है क्योंकि उन्होंने काव्यप्रदीप की चर्चा का ज्यों का त्यों अनुकरण किया है।[3]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की अपेक्षा अधिक विस्तृत विवेचन किया है।

नेयार्थ

मम्मट 'नेयार्थ' दोष को स्पष्ट करते हैं कि नेयार्थ पद वह है जो रूढ़ि या प्रयोजन से शून्य लाक्षणिक शब्द है क्योंकि कुमारिलभट्ट कृत तन्त्रवार्तिक के अनुसार कुछ लक्षणाएँ तो सामर्थ्य अर्थात् प्रसिद्धि या शब्द-स्वभाव के कारण अभिधा के समान ही चिरकाल प्रसिद्धि होती हैं। कुछ समयानुसार

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १८०

२. सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २७

३. सुधासागर, पृ० ३३४

बनाई जाती हैं किन्तु कुछ अर्थबोधकता न होने के कारण रूढ़ि या प्रयोजन के अभाव में नहीं बनाई जाती। जैसे 'शरत्काल तिथिम्' उदाहरण में 'चपेटापातन' से 'पराजित करना' लक्षित हो रहा है।[1]

अन्त में लिखते हैं कि 'अथ समासगतमेव दुष्टमिति सम्बन्धः। अन्यत्केवलं समासगतं च।' मम्मट के इस कथन का संबंध कारिका ५०-५१ से है जहाँ मम्मट ने १६ पद-दोषों के नाम को उद्धृत किया है। गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं कि अथ अर्थात् क्लिष्ट आदि तीनों दोष दूसरे पद के साहचर्य में ही होते हैं। दूसरे पद के साथ यदि समास है तो पद-दोष माना जाता है, यदि असमास है तो वाक्यदोष माना जाता है। परन्तु श्रुतिकटु आदि अन्य १३ दोष समास तथा असमास दोनों अवस्था में पद-दोष ही कहे जाते हैं। यह नित्य दोष हैं।[2] इसके अतिरिक्त गोविन्द ठक्कुर ने 'नेयार्थ' दोष का स्पष्टीकरण मम्मट की भांति किया है।

क्लिष्ट

'क्लिष्ट' दोष को मम्मट ने स्पष्ट किया है 'क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता' अर्थात् क्लिष्ट वह दुष्ट पद है जिससे अर्थ की प्रतिपत्ति में विलम्ब होता है। उदाहरण दिया है—'अत्रिलोचन''चेष्टितम्।'[3] प्रस्तुत उदाहरण में अत्रि के लोचन से उत्पन्न अर्थात् चन्द्रमा की ज्योति के उदय से प्रफुल्लित होने वाले अर्थात् कुमुदों के समान यह अर्थ विलम्ब से निकलता है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'क्लिष्ट' दोष को मम्मट की भाँति स्पष्ट किया है कि क्लिष्ट दोष में अर्थ की प्रतीति सुगमता से नहीं होती अपितु क्लेश से होती है। प्रदीपकार ने निहतार्थ' दोष से अन्तर स्पष्ट किया है कि 'निहतार्थ' दोष में पदार्थ की उपस्थिति में विलम्ब होता है और 'क्लिष्ट' दोष में विवक्षित अर्थ की प्रतीति में विलम्ब होता है।[4]

'क्लिष्ट' वाक्यदोष तथा पददोष को भी स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं—'विलम्बश्चाप्रत्यासत्तेर्वा, सामान्यशक्तात्प्रकरणाद्यभावे विवक्षित विशेषस्य द्रागनुपस्थितेर्वा।' प्रथम (विलम्बश्चाप्रत्यासत्तेर्वा) वाक्यदोष है, जिसका विवेचन वाक्यदोष प्रसंग में 'धम्मिल्लस्य' उदाहरण (१८२) में किया

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० २६०
२. काव्यप्रदीप, पृ० १८१
३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७.१५८
४. काव्यप्रदीप' पृ० १८१

जाएगा। दूसरा पददोष है। 'प्रतीतिविलम्ब:' क्लिष्ट दोष की दूपकता का बीज है। प्रहेलिका आदि में क्लिष्ट दोष नहीं होती। उदाहरण का स्पष्टीकरण मम्मट की भांति किया है।[१]

अविमृष्टविधेयांश

मम्मट 'अविमृष्टविधेयांश' दोष को स्पष्ट करते हैं कि 'अविमृष्ट: प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तद्' अर्थात् जहाँ विधेय रूप वाक्यांश का प्रधानतया निर्देश नहीं किया जाता। इसके विभिन्न उदाहरण दिए हैं[२]।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'अविमृष्टविधेयांश' दोष की विस्तृत चर्चा की है। 'अविमृष्ट' दोष को स्पष्ट करते हुए प्रदीपकार लिखते हैं 'अविमृष्ट: प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत्। प्राधान्यं च विधिप्रतीतियोग्यता' अर्थात् जहाँ विधेय प्रतीति योग्य ढंग से नही किया जाता। 'न्यक्कारो ह्यमेव' या 'क्षणमप्यमुक्त' आदि उदाहरणों में इस दोष की अव्याप्ति नहीं है क्योंकि 'प्रथमे उक्तरूपप्राधान्याभावेन द्वितीये विधेयस्य प्रसज्यप्रतिषेधस्यानिर्देशेन विशिष्टविरहसत्वात्।'

प्रथम उदाहरण 'मूर्धर्नामुद्वृत्तकृताविरल'[3] उदाहरण का स्पष्टीकरण करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि प्रस्तुत उदाहरण में 'मिथ्यामहिमत्व' उद्देश्य नहीं विधेय है परन्तु वह प्रधानतया निर्दिष्ट नहीं अर्थात् यहाँ मस्तकों की महिमा मिथ्या है यह अर्थ है। 'मिथ्यात्व' विधेयांश है किन्तु यह अप्राप्त है। अत: यह अनुवाद्य (उद्देश्य) नहीं है। प्राप्त में तो 'मिथ्यामहिम्नामफलत्वम्' ही उचित है। इसे स्पष्ट करते हुए प्रदीपकार लिखते हैं कि वह (मिथ्यात्व) तो अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमास का अंग होकर आया है। समासार्थ में गुणीभूत हो जाने के कारण उसकी स्पष्ट प्रतीति नहीं होती। गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि उद्देश्य तथा विधेय की पृथक् पदों के द्वारा ही स्पष्टतया उपस्थिति होती है समास प्रविष्ट पदों द्वारा नहीं। प्राप्त का विधान उद्देश्य और अप्राप्त का विधान का विधेय है। यदि विधेयांश को समास के अन्तर्गत रख दिया जाता है तो वह अप्रधान रूप होता है और उसकी प्रधान रूप से प्रतीति नहीं होती तभी अविमृष्टविधेयांश दोष होता है।[४]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १८१
२. काव्यप्रकाश, पृ० २६१
३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७.१५६
४. काव्यप्रदीप, पृ० १८२

'स्रस्तां'···कार्मुकस्य'[1] उदाहरण को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ पर मौर्वी के केवल 'द्वितीयत्व' की उत्प्रेक्षा करनी है, वही विधेय है और वह समास में गुणीभूत है। 'मौर्वी द्वितीयां' इस पाठ के होने से निर्बाध प्रतीति होगी। यदि यहाँ यह कहा जाए कि कांची में द्वितीय-पद प्रयोग करने पर और मौर्वी से विशिष्ट ही उत्प्रेक्षा रूप अर्थ में दोष का अवकाश नहीं है, तो यह मान्य नहीं। तब भी विशेषण अंश के दूसरा होने से ही द्वितीयत्व का प्राधान्य है। द्वितीय के होने पर एक का न्यास करना उचित होगा। मौर्वीत्व का तो वहाँ प्रयोजन नहीं। अन्य का भी द्वितीय सहित यदि औचित्य कहा जाय तो वह वस्तु विशेष का परिचायक मात्र होगा। अतः प्रदीपकार लिखते हैं 'तस्माद्विशिष्टविधावपि विशेषणमत्र प्राधान्येन वक्तव्यम्' अर्थात् इससे विशिष्ट विधि में भी विशेषण ही यहाँ प्रधानता से कहने योग्य है। अतएव 'आ कडारादेका संज्ञा' आदि सूत्र में एकत्व का अप्रधान्य प्रसंग भय से समास नहीं करना चाहिए ऐसा व्याख्याकारों ने कहा है। अन्यथा वहाँ भी एकत्र संज्ञा के उद्देश्य में एकत्व से विशिष्ट संज्ञा के विधान में दोष नहीं हो।[2] इस प्रकार गोविन्द-ठक्कुर के कथन का अभिप्राय है कि यहाँ द्वितीयत्व मात्र की ही उत्प्रेक्षा करनी है 'द्वितीय मौर्वी' की नहीं। इस प्रकार यहाँ 'द्वितीयत्व' विधेय है और वह उत्तरपद-प्रधान कर्मधारय समास में गौण हो गया है प्रधान रूप से प्रतीत नहीं होता। अतएव यहाँ अविमृष्टधेयांश दोष है।

तृतीय उदाहरण 'वपुर्विरूपाक्षम···त्रिलोचने'[3] उदाहरण को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि प्रस्तुत उदाहरण में अलक्ष्यता ऐसे अन्यपदार्थ प्रधान बहुव्रीहि समास में गौण हो गई है जो बहुव्रीहि स्वयं भी तद्धितार्थ का अंग बन गया है। यहाँ वरों में खोजे जाने वाले योग्य गुणों का शिव में अभाव बतलाते हुए उनके जन्म की अलक्ष्यता बतलानी है। यहाँ पर जन्म में 'अलक्ष्यता' विधेय हैं। विधेयांश का प्रधानतः निर्देश न होने के कारण यहाँ अविमृष्ट-विधेयांश दोष है। अतः 'अलक्षिता जनिः' पाठ होने से यह विधेयांश दोष दूर हो सकता है।

मम्मट ने इसी प्रसंग में कुछ अन्य उदाहरणों की भी चर्चा की है जिसका टीकाकारों ने विस्तृत विवेचन किया है। सारबोधिनीकार, प्रदीपकारादि

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७.१६०

२. काव्यप्रदीप, पृ० १८३

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१६१

टीकाकारों ने महिमभट्ट के प्रभाव का विवेचन किया है। मम्मट ने तीन उदाहरण दिए हैं— प्रथम उदाहरण 'आनन्दसिन्धुरति... क्षणमप्यमुक्ता'[1] में 'न मुक्ता' में न विधेयांश है।

द्वितीय-उदाहरण 'नवजलधरः...ममोर्वशी' है।[2]

तृतीय-उदाहरण 'जुगोपात्मानमत्रस्तो... बभूत्'[3] है।

गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं कि आनन्दसिन्धु इत्यादि पद्य के 'अमुक्ता' पद में 'न मुक्ता भवति' यह अर्थविवक्षित है। 'नवजलधर' इत्यादि उदाहरण में प्रसज्य प्रतिषेध ही विधेय है। 'जुगोपात्मानमत्रस्तो' उदाहरण में 'अत्रस्त' आदि का अनुवाद करके 'अपनी रक्षा करना' आदि का विधान किया गया है। प्रस्तुत उदाहरण में 'अत्रस्तः, अनातुरः, अगृध्नुः, अशक्तः, आदि पर्युदास' के उदाहरण हैं। प्रदीपकार 'प्रसज्यप्रतिषेध और 'पर्युदास' को स्पष्ट करते हैं कि 'नञ्' के दो अर्थ होते हैं—१. प्रसज्यप्रतिषेध २. पर्युदास। 'प्रसज्य-प्रतिषेध' और 'पर्युदास' का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं 'विधेर्यत्र प्रधानत्वं प्रतिषेधेऽप्रधानता। पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेनञ्।' अर्थात् विधेय अंश की अप्रधानता होती है तथा निषेधांश की प्रधानता होती है वहां नञ् का प्रसज्यप्रतिषेध होता है। किन्तु जहाँ विध्यंश प्रधान तथा निषेधांश अप्रधान होता है वहाँ इसका अर्थ पर्युदास होता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों के संबंध में यह भी कहा गया है कि 'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता। प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियसा सह यत्र नञ्' अर्थात् प्रसज्यप्रतिषेध में नञ् का संबंध क्रिया के साथ होता है तथा 'पर्युदास' में नञ् का संबंध उत्तरपद से होता है। इस प्रकार 'प्रसज्यप्रतिषेध' और 'पर्युदास' को स्पष्ट करने के पश्चात् गोविन्द ठक्कुर उपर्युक्त उदाहरणों के संबंध में लिखते हैं कि यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'अश्राद्धभोजी ब्राह्मण' की भाँति प्रसज्यप्रतिषेध में भी समास होता है वैसे ही 'आनन्दसिन्धु' पद्य में 'अमुक्ता' आदि में समास में पड़े 'नञ्' का अभिप्राय प्रसज्यप्रतिषेधात्मक क्यों न लिया जाए? समाधान किया है कि 'अश्राद्धभोजी ब्राह्मण' में नञ् का अभिप्राय पर्युदास है, प्रसज्य-प्रतिषेध रूप नहीं क्योंकि यहाँ नञ् का संबंध प्रधान भूत कर्तृरूप अंश के साथ है न कि अप्रधानरूप से क्रियारूप अंश के साथ। अतः इसकी तुलना 'अमुक्ता' से नहीं हो सकती। 'अमुक्ता' में 'न मुक्ता' यह निषेध विधेय है। यहाँ समासरहित प्रसज्यप्रतिषेध नञ् का प्रयोग होना चाहिए था परन्तु नञ्

---

१. २. ३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१६२, १६३, १६४

समास आ जाने के कारण गौण हो गया है और प्रधान-रूप से विधेयांश की प्रतीति नहीं होती। अतः यहाँ 'अविमृष्टविधेयांश' दोष है। 'विवक्षितार्था-प्रत्ययः' इस दोष की दूषकता का बीज है।[1]

विरुद्धमतिकृत्

मम्मट ने 'विरुद्धमतिकृत्' दोष को स्पष्ट नहीं किया है, केवल उदाहरणों की चर्चा की है। मम्मट ने प्रस्तुत दोष के चार उदाहरण दिए हैं जिसमें बताया है कि किस प्रकार इन उदाहरणों से 'विरुद्धमतिकृत्' दोष है।[2]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'विरुद्धमतिकृत्' दोष को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जहाँ विवक्षित अर्थ के स्थान पर ऐसे अर्थ का उपस्थापन किया जाता है जो प्रस्तुत अर्थ के विरुद्ध मति उत्पन्न करने वाला हो वह 'विरुद्धम-तिकृत्' दोष है।[3] गोविन्द ठक्कुर के विवेचन से स्पष्ट है कि यह दोष अनेक प्रकार का होता है। मम्मट द्वारा दिए गए प्रत्येक उदाहरण इसकी विविधता को सूचित करते हैं। १. 'क्वचित्समासान्तरविग्रहणे' अर्थात् भिन्न-भिन्न समास विग्रह में। जैसे 'सुधाकर···वर्णयामहे'[4] उदाहरण में। यहाँ 'अकार्य' पद विरुद्धमतिकृत् है। यहां कार्य के बिना मित्र यह अर्थ विवक्षित है किन्तु बुरे कार्य में मित्र है, यह प्रतीति हो रही है।

२. 'क्वचिन्नामपदयोः समासे विरुद्धार्थनिरुढपदघटनया' अर्थात् जहाँ पर जो विकसित अर्थ है उसके स्थान पर समास में विरुद्धार्थक निरूढ पद के आ जाने के कारण विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है। जैसे 'चिरकाल···गलग्रहम्'[5] उदाहरण में 'गलग्रह' शब्द से गले लगाना अर्थ विवक्षित है, किन्तु 'गलग्रह' शब्द रोग-विशेष में रूढ है।

३. 'क्वचिद्विवक्षितविशेषपरत्वे पदवैयर्थ्यप्रसङ्गेनाविवक्षितविशेषपरत्व-ग्रहात्' अर्थात् जहाँ किसी पद का कोई विशेष अर्थ विवक्षित होता है किन्तु उस अर्थ में व्यर्थ होकर वह किसी अविवक्षित अर्थ का ग्रहण करा देता है। जैसे 'न त्रस्तं···विस्मृतः[6] उदाहरण में 'भवानीपतिः' शब्द व्यर्थ है तथा इसके द्वारा अविवक्षित अर्थ प्रतीत होता है—'भव की पत्नी का पति और इससे

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १८४-१८५
२. काव्यप्रकाश, पृ० २९५
३. काव्यप्रदीप, पृ० १८५
४. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१६५
५. ६. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१६६, १६७

भवानी के किसी अन्य पति का अभिप्राय निकलता है' अतएव यह पद विरुद्ध-मतिकृत् है ।

४. 'क्वचित्समासैक्येऽपि समस्यमानपादयोर्द्वयर्थतया' अर्थात् जहाँ शब्द के दो अर्थ प्रकट हों जिसमें प्रथम अर्थ विवक्षित हो दूसरा अर्थ अविवक्षित हो अर्थात् विवक्षित अर्थ का तिरस्कार करके अविवक्षित अर्थ की उपस्थिति होती है । जैसे 'गोरपि···रमण:'[1] उदाहरण में 'अम्बिकारमण' का विवक्षित अर्थ 'गौरीपति शिव' है किन्तु इससे 'माता का उपपति' यह अर्थ भी प्रकट होता है जो अविवक्षित है । अतएव यह शब्द विरुद्धमतिकृत् है । इस दोष की अदोषता के विषय में प्रदीपकार लिखते हैं कि 'अतो यत्र विरुद्धोऽर्थो विवक्षित एव तत्रादोषत्वम् ।'

अतएव १६ पद-दोषों की चर्चा में गोविन्द ठक्कुर की विशेषता यह रही कि उन्होंने प्रत्येक दोष का लक्षण स्पष्ट किया है, तत्पश्चात् उस दोष के उदाहरण की व्याख्या की है । मम्मट की अपेक्षा अधिक विस्तृत विवेचन किया है । प्रदीपकार ने कई दोषों के अनेक प्रकारों की चर्चा की जिसका मम्मट में अभाव रहा जैसे अवाचक दोष, विरुद्धमतिकृत् दोष आदि । मम्मट ने केवल इनके उदाहरण दिए हैं ।

वाक्यदोष

'पददोष' की चर्चा करने के पश्चात् मम्मट ने 'वाक्यदोष' का विवेचना किया है । 'वाक्यदोष' के संबंध में मम्मट की कारिका है कि श्रुतिकटु आदि १६ दोषों में से च्युतसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक को छोड़कर शेष दोष वाक्य में भी होते हैं तथा कुछ पदांश में भी होते हैं ।[2]

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने वाक्यदोष की चर्चा में सर्वप्रथम 'वाक्य' को स्पष्ट किया है कि आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि होने पर शब्दों का परस्पर अन्वय होता है, यही वाक्य का लक्षण है । अत: संकेतकार लिखते हैं—'तच्च च्युतसंस्कारादौ मिथो विशेषणविशेष्यभावाकाङ्क्षायोग्यताया अभावान्न स्यादिति ।''[3] वहाँ पददोष ही होते हैं ।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की कारिका की विस्तृत विवेचना की है । वे लिखते हैं कि यह श्रुतिकटु आदि पद प्रवृत्ति के निमित्त वाले हैं ।

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१६८

२. काव्यप्रकाश कारिका, ७-५२

३. संकेत, पृ० १३०

श्रुतिकटु आदि का अर्थ स्पष्ट ही है। गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं कि जो आचार्य यह मानते हैं कि 'अत्र यत्र पदान्तरसाहित्येन पदानां दुष्टत्वं स वाक्य-दोषः। न चासाध्वसमर्थनिरर्थकानां दुष्टत्वे पदान्तरसाहित्यापेक्षेति तत्त्रितयोपासनमिति संप्रदायः' अर्थात् जहाँ पदान्तर के साथ पदों का दोषत्व होता है वह वाक्य दोष है और असाधु, असमर्थ और निरर्थक पदों के अर्थ के अनिर्णीत होने पर दोष की स्थिति में पदान्तर का साथ होना अपेक्षित है। अतः ये तीनों वाक्यदोष नहीं हैं।' प्रदीपकार ने 'तदसत्' से उपर्युक्त मान्यता का खण्डन किया है। गोविन्द ठक्कुर को उपर्युक्त आचार्य का वाक्यदोषलक्षण मान्य नहीं है। वे स्पष्ट करते हैं कि यदि ''पदान्तरसाहित्येन पदानां दुष्टत्वं' वाक्य का लक्षण माने फिर तो मम्मट ने 'सोऽध्यैष्ट'[1] श्रुतिकटु-वाक्यदोष का जो उदाहरण दिया है उसमें इस उपर्युक्त लक्षण की व्याप्ति नहीं होगी क्योंकि प्रस्तुत उदाहरण में श्रुतिकटु दोष होने पर पदान्तर के सहित भाव की अनपेक्षा है। अतः इस उदाहरण से विरोध होगा और वहाँ भी वैसा नहीं कहना चाहिए। कठोर वर्णों से आरम्भ होने वाले पद में स्वतः ही श्रुतिकटु दोष होगा। वैसा होने पर भी 'स रातु वोदुश्च्यवनः'[2] वाक्यदोष का उदाहरण देना अव्याप्ति है। वहाँ भी दोष भाव होने पर पदान्तर की अपेक्षा नहीं है। अवाचक पद भी असमर्थ समान भाव वाला होने पर यहाँ गृहीत नहीं होगा। ऐसी दशा में सारे व्याख्यानों में उसे विनिगमक ही कहना चाहिए।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर को 'पदान्तरसाहित्य' वाक्यदोष का लक्षण स्वीकार नहीं है।

उपर्युक्त लक्षण का खण्डन करने के पश्चात् 'अत्र ब्रूमः' से प्रदीपकार ने स्वमत की चर्चा की है। गोविन्द ठक्कुर का कथन है 'विवक्षितधर्मिप्रत्यायकशब्दवृत्तित्वे सति। नानापदवृत्तित्वमेवात्र वाक्यवृत्तित्वमभिप्रेतम्' वाक्य लक्षण है अर्थात् विवक्षितधर्मी प्रत्यय की शब्द-वृत्ति होने पर, नाना पदवृत्ति ही यहाँ वाक्यवृत्ति के रूप में कथनीय है। अभिप्राय यह कि 'एक-पदवृत्ति' आदि पददोष है तथा 'अनेकपदवृत्ति' में वाक्यदोष है। अतएव 'न्यक्कारो ह्ययमेव'[4] उदाहरण में इस लक्षण की अव्याप्ति नहीं है। उद्देश्य

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१७०

२. वही ७-१७१

३. काव्यप्रदीप, पृ० १८७

४. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१८३

और विधेय दोनों में ही दोष है। यहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष अंश पद में प्राप्त है। 'योऽसौ सुभगे तावगतः' उदाहरण में (वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश दोष के उदाहरण में) तो यह स्पष्ट ही है। अतः प्रदीपकार लिखते हैं— 'एवं च युक्तं च्युतसंस्कृत्यादिव्युदासनम्। न चासमर्थसहोदरस्यावाचकस्यापि व्युदासो युक्तः।' क्योंकि उससे भी किसी विवक्षितधर्मी का ज्ञापन हो जाता है जैसे अवाचक पददोष के उदाहरण में 'जन्तु' पद द्वारा। अन्त में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'व्युदस्तेषु पुनर्न कोऽपि प्रभेदो विवक्षितधर्मिप्रतिपादक इति।'[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर के विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि गोविन्द-ठक्कुर के अनुसार वाक्यदोष लक्षण है 'विवक्षितधर्मिप्रत्यायकशब्दवृत्तित्वे सति। नानापदवृत्तित्वमेवात्र वाक्यवृत्तित्वमभिप्रेतम्।'

गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के समान वाक्यदोषों की चर्चा की है। परन्तु यहाँ उन्हीं वाक्यदोषों की चर्चा की है जहाँ गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के अतिरिक्त कुछ कहने का प्रयास किया है। जो वाक्यदोष मम्मट और गोविन्द ठक्कुर के समान हैं उन्हें छोड़ दिया गया है। केवलमात्र 'अविमृष्ट-विधेयांश वाक्यदोष' की गोविन्द ठक्कुर ने विस्तृत चर्चा की है।

अविमृष्टविधेयांश वाक्यदोष

मम्मट ने 'न्यक्कारो···किमेभिर्भुजैः'[2] उदाहरण 'अविमृष्टविधेयांश' वाक्यदोष का दिया है। मम्मट लिखते हैं कि यहाँ पर 'अयमेव न्यक्कारः' इस प्रकार कहना चाहिए था।

(ख) 'उच्छूनत्व' मात्र ही उद्देश्य है, 'वृथात्व विशिष्ट' नहीं।

(ग) यहाँ पर शब्द-रचना उलट दी है इसलिए वाक्य का ही दोष है, वाक्यार्थ का नहीं।

मम्मट ने इस दोष से संबंधित अनेक उदाहरण दिए हैं जिसकी विस्तृत व्याख्या प्रदीपकार ने की है।

काव्यप्रदीप—'न्यक्कारो' उदाहरण को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ 'अरिसत्त्वम्' (शत्रु वाला होना) प्राप्त है उसको 'अयम्' शब्द के द्वारा उद्देश्य में कहकर अप्राप्त 'न्यक्कार' का विधान किया गया है। अतः 'अयमेव न्यक्कारः' इस प्रकार कहना चाहिए अर्थात् उद्देश्य को पूर्व तथा

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १८७

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण, ७-१८३

विधेय को पश्चात् रखना चाहिए। उद्देश्य और विधेय के पूर्वापर भाव का विपर्यय हो जाने पर दोष हो जाता है. क्योंकि कहा है--'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्'। 'अयं न्यक्कार' इन दोनों पदों के दोष युक्त हो जाने से यह वाक्यदोष है।[1]

पद्य में अन्य दोष दिखलाते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'अपि चात्र वृथोच्छूनैरित्यसंगतम्। उच्छूनत्वमात्रस्यैवानुवादौचित्यात्। न तु वृथात्व-विशेषितस्य' यहाँ मम्मट की भाँति ही गोविन्द ठक्कुर ने लिखा है 'उच्छूनत्व' मात्र ही उद्देश्य है 'वृथात्वविशिष्ट' नहीं।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'न्यक्कारोऽयम्' में अर्थ के उद्देश्य-विधेय भाव की ही विपरीत रूप से प्रतीति हो रही है। अतः यहाँ वाक्यार्थ-दोष होगा वाक्य-दोष नहीं। इसका समाधान किया है कि रचना शब्दों का धर्म है, शब्दों के विपर्यय से ही यह दोष होता है। अतः यह वाक्यदोष है अर्थ दोष नहीं।[2]

'अपाङ्गसंसर्गित ··तावागतः'[3] उदाहरण की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं कि विधेय के गौण हो जाने से ही वाक्यगत अविमृष्ट-विधेयांश दोष नहीं होता किन्तु विधेय की अनुपस्थिति होने पर यह दोष होता है। प्रस्तुत उदाहरण में 'योऽसौ' ये दोनों पद केवल उद्देश्य की प्रतीति कराते हैं। इस प्रसंग में गोविन्द ठक्कुर ने व्यक्तिविवेककार 'महिमभट्ट' के प्रभावस्वरूप 'यत्' और 'तत्' शब्द के प्रयोग की चर्चा की है। 'यत्तदोर्नित्य संबंधः' इस न्याय के अनुसार 'यत्' और 'तत्' पद सापेक्ष और साकांक्ष हैं 'यत्' और 'तत्' का संबंध नित्य है। जहाँ कहीं भी 'यत्' तत्' में से किसी एक का उपादान होगा वहाँ दूसरे का विधान आवश्यक होता है। 'यत्' और 'तत्' दोनों का उपक्रम दो प्रकार का होता है—शाब्द और आर्थ। जहाँ दोनों का शब्दतः उपादान होता है वहाँ शाब्द होता है जैसे 'स दुर्मतिः श्रेयसि यस्य नादरः' उदाहरण में (यह उदाहरण 'व्यक्तिविवेक' का है।) आर्थ वहाँ पर होता है जहाँ यत् और तत् दोनों में एक का तो शब्दतः उपादान किया जाए और दूसरा अर्थतः आ जाए या दूसरे का अर्थ के सामर्थ्य से

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १९३

२. वही, पृ० १९३

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१८४

आक्षेप हो जाता है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि 'यत्' शब्द नियत रूप से 'तत्' शब्द की आकांक्षा करता है। प्रस्तुत उदाहरण में विधेय वाक्य में 'तत्' शब्द (सः) नहीं दिया गया। योऽसौ में 'असौ' शब्द है किन्तु वह 'यः' के अर्थ का विशेषण होकर ही आया है तथा उद्देश्य वाक्य में ही अन्तर्भूत हो जाता है। इस प्रकार यहाँ विधेय की पूर्णतया उपस्थिति नहीं होती तथा 'अविमृष्ट-विधेयांशत्व' वाक्यदोष है।

'यत्' और 'तत्' शब्द की चर्चा करने के पश्चात् यह स्पष्ट किया गया है कि केवल तत् शब्द का अभिधान होने पर आर्थ तीन प्रकार का होता है— 'प्रकान्त-विषयक, प्रसिद्धार्थ-विषयक और अनुभूत-विषयक। 'कातर्यं···सः'[2] 'द्वयं···नेत्रकौमुदी'[3], 'उत्कम्पिनी···वीक्षितासि'[4] क्रमशः तीन उदाहरण दिए हैं जिनमें यह स्पष्ट किया गया है कि 'तत्' शब्द 'यत्' से नित्य संबंध रखते हुए भी कुछ स्थलों में 'यत्' की अपेक्षा नहीं रखता।

'यत्' शब्द जहाँ उत्तरवाक्य में होता है वहीं 'तत्' शब्द का आक्षेप कर सकता है किन्तु जहाँ यह वाक्य के पूर्व भाग में होता है वहाँ 'यत्' शब्द भी कहीं-कहीं तत् शब्द की अपेक्षा नहीं रखता जैसे 'साधु···पुनः'[5] उदाहरण में उत्तरवाक्यगत यत् शब्द है। यह पूर्व वाक्य में 'साधुकृतं' के साथ 'तत्' शब्द के प्रयोग की आकांक्षा नहीं रखता किन्तु 'साधु' इत्यादि पद्य के प्रयोग के बिना साकांक्ष रहता है।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि 'यत्' और 'तत्' शब्द की परस्पर साकांक्षता है। कहीं-कहीं दोनों का प्रयोग न होने पर भी अर्थाक्षेप-सामर्थ्य से दोनों की प्रतीति हो जाती है जैसे 'ये नाम · पृथ्वी'[6] उदाहरण में।

इस प्रकार स्पष्ट है 'योऽसौ सुभगे' उदाहरण (१८४) में 'तत्' शब्द का प्रयोग न करने पर 'यत्' शब्द में साकांक्षता रहती है क्योंकि 'असौ' शब्द भी 'तत्' शब्द के अर्थ को नहीं कहता। 'असौ हनुमानिवागतः'[7] उदाहरण में 'अदस्' शब्द 'तत्' के अर्थ को व्यक्त करने में समर्थ नहीं है। यदि 'अदस्' शब्द से 'तत्' अर्थ की प्रतीति होती तो 'करवाल···स्यात्'[8] उदा-

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १९४

२. ३. ४. ५. ६. ७. ८. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१,

हरण में 'सः' पद की पुनरुक्ति होगी। गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ पुनरुक्ति मानी है जबकि मम्मट लिखते हैं कि 'सः' पद निरर्थक हो जाएगा।

यहाँ यह शंका की जाती है कि 'अदस्' शब्द का अर्थ 'तत्' शब्द से भिन्न है किन्तु प्रकरणानुसार शब्द का नाना अर्थों में प्रयोग हो जाया करता है। जैसे 'यो विकल्पभयम्'[1] उदाहरण में 'इदम्' शब्द का प्रयोग 'तत्' शब्द के अर्थ में है। 'इदम्' और 'अदस्' शब्द समानार्थक हैं अतः 'इदम्' के समान 'अदस्' का भी 'तत्' शब्द के अर्थ में प्रयोग हो सकता है। गोविन्द-ठक्कुर ने इस शंका का समाधान किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार 'यः' और 'अस्य' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न वाक्यों में है उसी प्रकार 'असौ' शब्द यदि 'सः' अर्थ में होता तो उसका प्रयोग एक ही वाक्य में न होता अपितु भिन्न-भिन्न वाक्य में होता। दूसरा कारण स्पष्ट किया है कि 'असौ' शब्द 'यः' के समानाधिकरण रूप में उसके निकट प्रयुक्त हुआ है इसलिए प्रसिद्धि अर्थ का बोध कराता है। 'अदस्' 'इदम्' की बात क्या? यदि 'तत्' शब्द भी 'यत्' के निकट समानाधिकरण रूप में प्रयुक्त होता तो वह भी प्रसिद्धिमात्र का बोधक होता। जैसे 'यत्तदूर्जितमत्युग्रं···हारितम्'।[2] उदाहरण में यत् के निकटस्थ 'तत्' शब्द प्रसिद्धमात्र का बोधक है। इसलिए 'तनोति योऽसौ' (१८४) उदाहरण में 'असौ' से विधेय की प्रतीति नहीं होती तथा वहाँ अविमृष्टविधेयांशत्व वाक्यदोष है।

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'तस्मात् योऽविकल्पं – 'इत्यत्रैव व्यवधाने-मादः प्रयोगो युक्तः, न त्वव्यवधानेन।' तब कैसे? इसे स्पष्ट करते हैं कि 'न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्' उदाहरण में 'तत्' शब्द प्रसिद्ध अर्थ में यदि प्रयुक्त नहीं है तो यत् से आरम्भ उदाहरण में 'सन्धि-विच्छेद' व्यवधान होने से जो वह कहा गया है 'योऽसावित्यत्र' सन्धि से, तो यत् शब्द के एकार्थ में निविष्ट तथा एकदेश में स्थित होने से उसमें सन्धि-विच्छेद नहीं हो सकता।[3] यदि ऐसा हो तो यत् और तत् का नित्य संबंध होगा। परन्तु गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'स एव तु नास्ति'। अन्यथा कैसे होगा? इसे स्पष्ट करते हैं—'यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ, नम्रस्य तन्मे'

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण, १-१९२

२. वही, उदाहरण, ७-१९३

३. काव्यप्रदीप, पृ० १९८

(उदाहरण १९४) पंक्ति में यत् शब्द का दो बार प्रयोग है और तत् का एक बार। यदि 'यत्' शब्द का 'तत्' के साथ नियत संबंध है तो इस उदाहरण में 'तत्' पद के द्वारा एक 'यत्' पद की आकांक्षा पूर्ण हो सकती है किन्तु दूसरा साकांक्ष ही बना रहेगा क्योंकि 'तत्' का प्रयोग एक बार है। द्वितीय तत् का अभाव होने से और कोई आक्षेप नहीं है क्योंकि यत् का पूर्व वाक्य से सम्बन्ध होने के कारण से ऐसा है। इस कथन का अभिप्राय पीछे स्पष्ट किया गया है कि 'यत्' पद यदि वाक्य के पूर्व भाग में होता है तो वहाँ 'तत्' का आक्षेप नहीं कर सकता साकांक्ष बना रहता है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'मैवम्। न खल्वे-केनैव रूपेण यत्तद्भ्यां परामर्शनियम इति ब्रूमः' अर्थात् यह नहीं होगा। गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं कि 'यत्तदोर्नित्यमभिसम्बन्धः' का अभिप्राय यह नहीं कि जितने 'यत्' शब्दों का प्रयोग हो उतने तत् शब्द प्रयुक्त किए जाएँ अपितु इसका तात्पर्य यही है कि 'यत्' पद के अर्थ में 'तत्' पद का परामर्श हुआ करता है। अतः प्रस्तुत उदाहरण में 'यत् यत्' पदों के द्वारा समस्त पाप वस्तु एक रूप में आक्षिप्त होती है तथा 'तत्' पद के द्वारा पापत्व रूप में उसका परामर्श होता है। अत: एक 'तत्' पद का विरोध नहीं है।

गोविन्द ठक्कुर व्याकरणिक नियम द्वारा स्पष्ट करते हैं कि वस्तुतः यत्-यत् दो पद नहीं हैं किन्तु नित्यवीप्सयोः' सूत्र से यत् का द्वित्व यह आदेश होता ही है और एक पद के आदेश होने पर 'यत्' और 'तत्' दोनों से एक ही रूप से पाप परामर्श का बोध होता है। आदेश तो सम्पूर्ण रूप से संबंध-परता का ग्राहक होता है। इस प्रकार यत् पद से ही तत् पद की उपपत्ति हो सकती है तो तत् पद में भी ग्रहण क्यों नहीं होगा। जहाँ तत् पद में भी वीप्सा है वहाँ यत् पद में भी आदेश नहीं होगा अपितु दोनों के द्वारा दो रूपों से सबका उपस्थापन हो जाएगा यही इस कथन का सार है।[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट से अधिक स्पष्ट विवेचन किया है। मम्मट का विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त है।

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में समास के बिना वाक्यगत अविमृष्टविधेयांशत्व दोष का विवेचन किया गया है। 'किं लोभेन···कृतम्'[2] उदाहरण में समास में

---

१. काव्यप्रदीप, पृष्ठ १९८

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१९५

वाक्यगत अविमृष्टविधेयांशत्व दोष बताया है । प्रस्तुत उदाहरण में 'कलत्र' के साथ 'तात' का संबंध तथा 'अनुज' के साथ 'आर्य' का संबंध उत्कर्ष प्रकट करने के लिए दिखलाया गया है । यही संबंध विधेय रूप है तथा इसका प्रधानरूप से उल्लेख होना चाहिये । षष्ठी तत्पुरुष समास करने पर यह गौण हो जाता है तथा अविमृष्टविधेयांशत्व-दोष होता है ।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने 'यत्' 'तत्' शब्दों की व्याख्या महिमभट्ट के 'व्यक्ति-विवेक' में किए गए (यत्, तत् के) विवेचन के अनुसार की है ।

पदैकदोष

मम्मट ने 'पदैकदोष' का स्पष्टीकरण नहीं किया है केवल पदैकदेश श्रुतिकटु, निहतार्थ, निरर्थक, अवाचक, व्रीडादायी अश्लील, नेयार्थ, सन्दिग्ध आदि के उदाहरणों को उद्धृत करते हुए पदैकदोष की चर्चा की है ।

'पदैकदेश श्रुतिकटु'

मम्मट ने 'पदांश श्रुतिकटु' के दो उदाहरण दिए हैं । प्रथम उदाहरण 'अलमति ···रात्मां'[2] में 'त्वात्' यह श्रुतिकटु है । द्वितीय उदाहरण 'तद्गच्छ··· वाम्भः'[3] में 'द्धयै,, 'छ्यै' ये श्रुतिकटु पदैकदेश हैं ।

सारबोधिनी—'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने 'अलमति' उदाहरण को स्पष्ट किया है कि यहाँ पर शान्त का उपमर्दन करके शृंगार रस उदित होता है । श्रुतिकटु दोष उसका अपकर्षक है । 'त्वात्' यह श्रुतिकटु है ।[4]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'काव्यप्रदीप' टीका में श्रुतिकटु 'पदैकदोष' को स्पष्ट करते हैं कि जहाँ एक पद में एक से अधिक दो वर्ण कटु होते हैं वहाँ पद में एक वर्ण कटु होता है वहाँ पदैकदेश में श्रुतिकटुता होती है । किन्तु जहाँ श्रुतिकटुता अनेकपदवृत्ति होती है वहाँ वाक्यदोष होता है जैसे 'सोऽध्यैष्ट' (उदाहरण १७०) में वाक्यदोष है । वाक्यदोष के संबंध में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'नहि नानापददुष्टत्वे वाक्यदोषता किं तु नानापदवृत्तितामात्रेण ।'[5]

प्रदीपकार ने 'अलमति···'उदाहरण में 'त्वात्' में श्रुतिकटुता नहीं मानी

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० १९९

२. ३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-१९७, १९८

४. सारबोधिनी, पृ० २३५

५. काव्यप्रदीप, पृ० २००

है। द्वितीय उदाहरण 'तद्गच्छ' में मम्मट की भाँति 'सिद्धयै' 'लब्धयै' में श्रुतिकटुता मानी है।

निरर्थक

मम्मट ने 'निरर्थक' दोष का उदाहरण दिया है 'आदावञ्जन…… … दृशाम्'।[1] वृत्ति में स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत उदाहरण में 'दृशां' यह बहुवचन निरर्थक है' क्योंकि एक ही मृगनयनी का ग्रहण किया गया है। यह भी नहीं कि 'अलसवलितैः' इत्यादि के समान व्यापार-भेद के कारण नेत्रों में बहुवचन हो गया है क्योंकि व्यापारों का यहाँ ग्रहण नहीं किया गया और 'दृक्' शब्द दर्शन-व्यापार के अर्थ में है भी नहीं। इसी पद्य में 'कुरुते' आत्मनेपद भी अनर्थक है क्योंकि क्रिया का मुख्य फल कर्त्ता से संबंध नहीं रखता जिससे कर्तृगामी क्रियाफल का अभाव है।[2]

काव्यप्रदीप--गोविन्द ठक्कुर ने 'निरर्थक पदैकदोष' की विस्तृत व्याख्या की है। वे लिखते हैं कि 'आदावञ्जन' उदाहरण में 'दृशम्' पद में बहुवचन अविवक्षित अर्थ में ही प्रयुक्त है और यह छन्द-पूर्ति के लिए ग्रहण किया गया है। एक 'कुरङ्गेक्षणी' (मृगनयनी) के षष्ठी-एकवचन प्रयोग से आँखों का अनेक होना संभव नहीं। अमरुशतक का 'अलसवलितैः' पद्य को उद्धृत करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने भी मम्मट की भाँति यह स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत पद्य में नेत्रों के भिन्न-भिन्न दर्शन-व्यापारों की दृष्टि से बहुवचन का प्रयोग है। परन्तु 'आदावञ्जनपुञ्ज' उदाहरण में अमरुशतक के पद्य के समान व्यापार-भेद से यदि बहुत्व को स्वीकार करें तो भी ऐसा नहीं होगा। 'ईक्षणैः' पद के प्रयोग के समान इस उदाहरण में उसका ग्रहण नहीं होता और न हि भाव-साधना से 'दृक्' शब्द इस व्यापार में विद्यमान है। अभिप्राय यह है कि अमरुशतक के पद्य में 'ईक्षणैः' शब्द से ईक्षण व्यापारों का ग्रहण होता है और प्रकृत में 'दृक्' शब्द से व्यापारों का ग्रहण नही होता, यहाँ दृक् शब्द नेत्रवाचक है दर्शन व्यापार का द्योतक नहीं।[3]

दूसरा दोष है कि 'कुरुते' में आत्मनेपद निरर्थक है क्योंकि 'प्रधानक्रिया-फलसंबन्धस्य कर्तर्यविवक्षणात्' अर्थात् इसमें प्रधान क्रिया के फल के संबंध का कर्तृबोधक पद नहीं कहा गया। 'आशिषि नाथः' के समान कर्ता के द्वारा

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२००

२. वही, पृ० ३१४

३. काव्यप्रदीप, पृ० २०१

अभिप्रेत क्रिया के फल के अभाव होने पर आत्मनेपद का असाधु प्रयोग होने से ही वह निरर्थक नहीं है, 'नाथ' इस पद में भी उसका प्रयोग निरर्थक है क्योंकि उसमें कोई विशेषता नहीं है। इस प्रकार दोनों अर्थों में बहुवचन का प्रयोग असाधु ही है। कहा भी गया है--'आशिषि नाथः' इत्यनेनाशिष्यात्मनेपदं नियमतयानाशिषि तदभावो बोध्यते। तस्माद्याचने तस्य युक्तमसाधुत्वम्' अर्थात् 'आशिषि नाथः' में आत्मनेपद नियमत होने से आशिषि पद में उसका प्रभाव प्रकट होता है इसलिए याचन में उसका असाधुत्व प्रयोग ठीक है। 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' के अनुसार कर्त्ता की अभिप्रेत क्रिया फल की विवक्षा में उसकी नियमता का अन्य से अभिसम्बन्ध की विवक्षा में जो निषेध प्रतिपादिता है वहाँ ही असाधु प्रयोग है न कि कर्त्ता के अभिप्रेत अर्थ के अभावमात्र होने से ऐसा हो सकता है।

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'अत एव कर्त्रभिप्राय इति किम्। पराभिप्रेतक्रियाफले मा भूत इत्यवोचत्' अर्थात् कर्त्ता का अभिप्राय कहने से क्या अर्थ है। अन्य अभिप्रेत क्रियाफल न हो, ऐसा कहा है। कर्त्ता के अभिप्रेत क्रिया फल का अभाव नहीं कहा है और न ही यहाँ अन्य के अभिप्रेत फल का द्योतन है किन्तु कर्ता के अभिप्रेत क्रियाफल का द्योतन जो यहाँ विद्यमान है वह असाधु नहीं है। इस प्रकार 'बहुषु बहुवचनम्' सूत्र बहुवचन का नियम हो अथवा एक की उपस्थिति में उस बहुवचन का निषेध करता है। यहाँ बहुत्व का कथन मात्र नहीं है। इस पद में दो या एक न कहने से असाधुता होगी किन्तु बहुत्व की अविवक्षा होने से यहाँ अनर्थ होगा। चण्डीदास के मत की आलोचना करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि चण्डीदास का यह कथन 'अवयवाभिप्रायेण निरर्थकत्वं समुदायाभिप्रायेण त्वसाधुत्वमेव' ग्रहण करने योग्य नहीं है।[1]

अतएव स्पष्ट है गोविन्द ठक्कुर ने 'निरर्थक' पदैकदोष की विस्तृत चर्चा की है। मम्मट जहाँ यह मानते हैं 'प्रधानक्रियाफलस्य कर्त्रभिप्रायक्रियाफलाभावात्', वहाँ गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'न तु कर्त्रभिप्रेतक्रियाफलत्वाभाव इति।'

वाक्यमात्रदोष

मम्मट ने २१ वाक्यगत दोषों की चर्चा की है—१. प्रतिकूलवर्णयुक्त दोष, २. उपहतविसर्ग, ३. लुप्तविसर्ग, ४. विसन्धि, ५. हतवृत्त, ६. न्यूनपद, ७. अधिकपद, ८. कथितपद, ९. पतत्प्रकर्ष, १०. समाप्तपुनरात्त, ११. अर्धान्त-

१. काव्यप्रदीप, पृ० २०२

रैंकवाचक, १२. अभवन्मतयोग, १३. अनभिहितवाच्य, १४. अपदस्थ पद, १५. अपदस्थ समास, १६. सङ्कीर्ण, १७. गर्भित, १८. प्रसिद्धिहत, १९. भग्न-प्रक्रम, २०. अक्रम, २१. अमतपरार्थ।

'पददोषों' की भाँति गोविन्द ठक्कुर ने वाक्यदोषों में भी यह स्पष्ट किया है कि रूढि या योग से दोनों अर्थों की उपस्थिति से उनके लक्षण का बोध हो जाता है।

प्रतिकूलवर्णता

'प्रतिकूलवर्णता' के संबंध में मम्मट लिखते हैं कि यह तो काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में स्पष्ट किया जाएगा कि कौन वर्ण किस रस के अनुकूल है, उसके विपरीत प्रतिकूल वर्ण वाक्य होता है। उदाहरण दिए हैं - जैसे शृंगार में 'अकुण्ठोत्कण्ठया ·· मुद्धर'[1]। रौद्र रस में जैसे 'देशः ··कोपनः।[2]

'प्रागप्राप्त · ख्याप्यते[3] उदाहरण में बताया है कि जहाँ क्रोध नहीं वहाँ टवर्ग का चतुर्थ चरण में वैसा ही शब्द प्रयोग है।

काव्यप्रदीप गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में उपर्युक्त तीनों उदाहरणों को स्पष्ट किया है। जेसे 'अकुण्ठोत्कण्ठया' उदाहरण (७-२०७) में टवर्ग का प्रयोग शृंगार रस के प्रतिकूल है।

'देशः सोऽयम्' उदाहरण (७-२०८) में रौद्ररस व्यंग्य है और मृदुवर्णों का प्रयोग रौद्ररस के प्रतिकूल है।

'प्रागप्राप्तनिशम्भु' उदाहरण (७-२०९) में रौद्ररस है तथा इसमें बताया है कि रौद्र रस में कठोरवर्ण तथा दीर्घमास का प्रयोग सहायक है। प्रस्तुत उदाहरण में वैसा ही प्रयोग है, परन्तु चतुर्थ चरण में क्रोध का वर्णन न होने से तदनुकूल ही शब्द प्रयोग है।

तीनों उदाहरणों को स्पष्ट करने के पश्चात् गोविन्द ठक्कुर इस दोष के संबंध में लिखते हैं कि यह नित्य दोष है। 'रसविरोधित्व' ही इसकी दूषकता का वीज है। 'रसविरोधित्व' से अभिप्राय है कि 'रसास्वाद के उद्‌बोध में प्रतिवन्धकता'। जो वर्ण किसी रस के प्रतिकूल होते हैं, वे ही प्रतिकूल वर्ण हैं। ऐसे वर्ण जिस वाक्य में होते हैं, उसमें 'प्रतिकूलवर्णत्व' दोष नामक वाक्यदोष है। गोविन्द ठक्कुर ने यह स्पष्ट किया है कि यद्यपि एक पद में भी कोई प्रतिकूल वर्ण होता है तथापि वह वाक्यदोष ही माना जाता है क्योंकि प्रतिकूलवर्णता तो वाक्यगत रूप में ही रस के अनुकूल

१.२.३. काव्यप्रकाश, उदाहरण, ७-२०७, २०८, २०९

नहीं होती है। 'प्रतिकूलवर्ण दोप' का 'श्रुतिकटु दोष' से अन्तर स्पष्ट किया है कि श्रुतिकटुता में परुषवर्ण मात्र ही दुष्ट कहे जाते हैं किन्तु यहाँ रौद्र आदि रस के प्रसंग में सुकुमार वर्ण भी दोषयुक्त होते हैं। श्रुतिकटु नीरस काव्य में भी हो सकता है किन्तु प्रतिकूल वर्ण दोष सरस काव्य में ही होता है।[1] यही 'श्रुतिकटु' और 'प्रतिकूलवर्णत्व' वाक्यदोष में भेद है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ विचारणीय यह है कि रौद्रादि रस प्रधान काव्य में जहाँ श्लोक के पूरे आधे हिस्से में ही समास हो गया है अतः वह श्लोकार्ध एक पद बन गया है। उस पद में रौद्रादि के प्रतिकूल मृदु वर्ण हैं। उस स्थान में वह पद दोष क्यों नहीं माना जाता है। इसका समाधान है कि यदि ऐसा मानेंगे तो क्लिष्टत्वादि भी पद दोष नहीं होंगे। जिस तरह विवक्षा से क्लिष्ट पददोष माना है उसी तरह की विवक्षा यदि यहाँ भी करेंगे तो यह भी पददोष कहलायेगा ऐसी स्थिति में यहाँ का पद दोष विभाग न्यून ही है, अधूरा ही है।[2]

इस प्रकार गोविन्द-ठक्कुर ने 'प्रतिकूलवर्णत्व' वाक्य-दोष का विस्तृत विवेचन किया है।

उपहतविसर्ग और लुप्तविसर्ग

मम्मट ने 'उपहतविसर्ग' की चर्चा एक ही स्थान पर की है। वे लिखते हैं 'उपहत उत्वं प्राप्तो लुप्तो वा विसर्गो यत्र तत्' उदाहरण दिया है—'धीरो ··बुद्धिप्रभाविताः।'[3]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने इस दोष की चर्चा सारबोधिनीकार श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य के समान की है। प्रदीपकार लिखते हैं कि 'उपहत विसर्ग लुप्तविसर्ग चेति द्रव्यमित्यर्थः।' इन दोनों को स्पष्ट करते हुए गोविन्द-ठक्कुर लिखते हैं कि जहाँ विसर्ग उत्व=ओत्व को प्राप्त हो जाते हैं वहाँ 'उपहत विसर्गत्व' दोष होता है, जहाँ लुप्त हो जाते हैं वहाँ 'लुप्तविसर्ग' दोष हो है। यदि एक विसर्ग को 'उत्व' आदि होता है तो दोष नहीं होता। विसर्ग को उ हो जाना ही 'उपघात' है। अतः गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'उपघातान्तरस्य दोषान्तरत्वे प्रवेशात्। तेन नैरन्तर्येणौत्वप्राप्तबहुविसर्गत्वं तथा लुप्तविसर्गत्वं च लक्षणे।' यह नित्य दोष है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २०६

२. वही

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२१०

बन्धपारुष्य के द्वारा सहृदयों का उद्वेग इसकी दूषकता का बीज है अर्थात् उपहतविसर्ग या लुप्तविसर्ग से रचना शिथिल हो जाती है, नीरसता आ जाती है। विसर्ग लुप्त हो जाने से सुकुमारता समाप्त हो जाती है। अतः सहृदयों को सरसता की प्रतीति नहीं होती, उद्वेगजनित प्रतीति होती है।[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने उपहतविसर्ग और लुप्तविसर्ग दोष की विस्तृत चर्चा की है।

विसंधि

मम्मट लिखते हैं कि 'विसन्धि सन्धेर्वैरूप्यम्।' वैरूप्य तीन प्रकार का है—१. सन्धि का अभाव, २. अश्लीलता, ३. श्रुतिकटुता। क्रमशः इनके उदाहरण दिए हैं।

काव्यप्रदीप– गोविन्द ठक्कुर ने 'विसंधि' दोष की चर्चा मम्मट की अपेक्षा अधिक विस्तृत रूप में की है। 'सन्धि का वैरूप्य' विसन्धि है। वैरूप्य तीन प्रकार का है—'विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च।' विश्लेष का अभिप्राय है जहाँ संधिकार्य का अभाव है। विश्लेष दो प्रकार का है—१. ऐच्छिक, २. आनुशासिक। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'अन्यत्र तु विभाषया' इति वचनादैच्छिक अनुशासनिकश्च'। गोविन्द ठक्कुर ने 'अन्यत्र तु विभाषया' उक्ति को पूरा उद्धृत नहीं किया है। इसका दो रूपों में पाठ मिलता है—एक 'संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः। नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते।' दूसरा पाठ है—'संधिरेकपदे नित्यो नित्यो धातूपसर्गयोः। नित्यः समासे द्रष्टव्यो ह्यन्यत्र तु विभाषया।' 'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने दूसरा पाठ दिया है। ऐच्छिक संधि में संधि करना या न करना वक्ता की अपनी इच्छा पर निर्भर है।

अनुशासनिक विश्लेष वह है जो व्याकरण के नियम से होता है। इसके भी दो भेद हैं –१. प्रगृह्यहेतुक, २. असिद्धिहेतुक। 'प्रगृह्यहेतुक' में प्रगृह्यसंज्ञा हो जाने के कारण सन्धि नहीं होती। 'असिद्धिहेतुक' में विसर्गादि का लोप हो जाने के बाद 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से पुनः संधि नहीं हो सकती। इस प्रकार 'विश्लेष' तीन प्रकार का हुआ है। ऐच्छिक विश्लेष यदि एक बार भी काव्य में होता है तो वह दोष है क्योंकि इससे कवि की अशक्ति प्रकट होती है और सहृदय उद्विग्न हो जाता है।[2] शेष दोनों के विषय में लिखते हैं—'अन्त्यौ

१. काव्यप्रदीप, पृ २०६

२. वही

त्वसकृत् । आनुशासनिकत्वेनाशक्त्यनुन्नायकतया बन्धपारुष्येणैव हि तस्य दोषत्वम् ।' अर्थात् शेष दोनों तो अनेक बार आ जाते हैं तभी बन्ध शैथिल्य उत्पन्न करने के कारण दोष कहलाते हैं ।

विश्लेष' के प्रथम दो उदाहरण हैं १. राजन् ··भातः ।'[१] २. तत'····· कास्त्यनर्घः ।[२]

'अश्लीलत्वं' का उदाहरण है 'वेगादुड्डीय'···'करु ।'[३] यहाँ चिङ्कु' अश्लील शब्द है ।

'कष्टत्व' का उदाहरण है 'उर्व्यसावत्र'' तन्मनाक्' ।[४] 'कष्टत्व' दोष से अभिप्राय श्रुतिकटुता से है । अतः गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'अत्र दूषकताबीजं पददोषप्रस्तावे उक्तमिति ।' यहाँ चिन्तनीय यह है कि जहाँ समास के कारण अनेक पद मिलकर एक पद हो जाते हैं वहाँ अश्लील, कष्ट एवं ऐच्छिक विश्लेष सन्ध्यभाव का अश्लील कष्ट एवं असाधु पदों के मध्य में प्रवेश कर देने पर और लोप की असिद्धि के निबन्धन से होने वाले आनुशासनिक विश्लेष सन्ध्यभाव को भी पद में सद्भाव होने से इनको पददोष क्यों न मान लिया जाए । जैसे 'भूयः उच्चैः' 'यश उदार' आदि उदाहरणों में । गोविन्द ठक्कुर ने समाधान भी किया है कि सम्पूर्ण भेदों वाले ये दोष अन्य दोषों से असंकीर्ण होकर वाक्य में ही रहते हैं अतः इनको वाक्यदोष मानना ही उचित है । पददोष के विभाग की न्यूनता भी नहीं है क्योंकि उक्त प्रकार के ही दोष पदों में रहते हैं और इस प्रकार के ही दोष वाक्य में । ऐसा ही विभाग वहाँ किया गया है ।[५]

हतवृत्तता

'हतवृत्तता' को स्पष्ट करते हुए मम्मट लिखते हैं कि हत अर्थात (क) छन्दः शास्त्र के लक्षण का अनुसरण करने पर भी अश्रव्य (ख) गुरुत्व को प्राप्त न होने वाले पादान्त लघु वर्ण से युक्त (ग) रस के प्रतिकूल छन्द है जिसमें वह 'हतवृत्त' है ।[६] क्रमशः उदाहरण दिए हैं ।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'हतं वृत्तं यत्र तत् । हतत्वं

१-२.३.४. काव्यप्रकाश उदाहरण ७-२११. २१२. २१३. २१४

५. काव्यप्रदीप पृ० २०८

६. काव्यप्रकाश पृ० ३२३-३२४

चाश्रव्यत्वं गुरुकार्याक्षमपादान्त्यलघुवर्णत्वं प्रकृतरसाननुगुणत्वं वा।' गोविन्द-ठक्कुर ने अश्रव्य वृत्त के तीन प्रकारों को स्पष्ट किया है – १. छन्दोभंग के कारण २. यति भंग के कारण ३ किसी स्थान पर गणविशेष का योग न होने के कारण[१]।

काव्यप्रकाश में छन्दोभंग दोष का उदाहरण नहीं है। गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' में इसका उदाहरण दिया है 'यस्मिन्पञ्च··· ब्राह्मणः'।[२] प्रस्तुत उदाहरण में पंचम-वर्ण के स्थान पर गुरु कर देने से छन्दोभंग हो गया हैं। 'सरस्वतीकण्ठभरण' में श्री भोजराज ने 'छन्दोभंग' में इस उदाहरण की चर्चा की है।

यतिभंग दोष का उदाहरण 'अमृतममृतं ··स्यात्प्रियादशनच्छदात्[3] है। इस उदाहरण में 'हारिणी' छन्द हैं। यहाँ प्रत्येक चरण के षष्ठ और दशम अक्षर में यति होनी चाहिए किन्तु यहाँ चतुर्थ-पाद में यतिभंग है। अतएव यतिभंग दोष के कारण छन्द अश्रव्य है।

तृतीय भेद गणविशेषयोग का उदाहरण है जो 'जं परिहरउं ···पडिवण्णो'[४] प्राकृत है। इस उदाहरण में द्वितीय गण सगण है तथा तृतीय गण भगण है। इन दोनों गणों का अव्यवधान से श्रवण होता है वह श्रुतिमधुर नहीं।

'अवृत्त' के तीनों प्रकारों की चर्चा करने के पश्चात् 'पादान्तलघोर्गुरू-कार्यक्षमत्वं' का उदाहरण दिया है 'विकसित वसन्तः'[५]। प्रस्तुत उदांहरण में प्रथम पाद के अन्तिम अक्षर 'रि' को 'वा पादान्ते' नियम के अनुसार गुरू माना जाता है। अतः यहाँ छन्दोभंग का अभाव है किन्तु यह लघु इकार गुरुवर्ण का कार्य करने में असमर्थ है। 'लघोर्गुरुकार्यकरणाक्षमत्वम्।'

इन्द्रवज्रा आदि वृत्तों में तो 'वा पादान्ते' इस नियम द्वारा गुरू होने वाला लघु वर्ण गुरु का कार्य करने में समर्थ है अतः वहाँ यह अदोष है।[६] यहाँ 'हारिप्रमुदितसौरभ' यह पाठ होना चाहिए।

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'न केवलं प्रथमतृतीयपादयोरेवायं दोषः।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ २०८

२. वही

३. ४. ५ काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२१५ २१६ २१७

६. काव्यप्रदीप, पृ० २१०

कि त्वन्ययोरपि ।' जैसे 'अन्यास्ता······वस्त्राणि च'[१] उदाहरण में 'वस्त्राण्यपि' यह पाठ होने से संयुक्त वर्ण के न रहने से स्वरवृद्धि हो जाती है तथा लघु भी गुरु कार्य करने में समर्थ हो जाता है। यह नित्य दोष है।[२] 'एषु चाश्रव्यता सहृदयोद्वेजिनी' इसकी दूषकता का बीज है।

'प्रकृतरसाननुगुणत्वं' का उदाहरण दिया है 'हा नृप···तवैते।'[३] प्रस्तुत उदाहरण में दोधक वृत्त हास्य रस का व्यंजक है तथा करुण रस का अननुगुण है। अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत उदाहरण करुण रस का है। अत: दोधक छन्द इसके अनुकूल नहीं है। 'प्रतिकूलवर्णत्व' इसकी दूषकता का बीज है। नीरस काव्य में इसका अभाव होता है। यह नित्यदोष है।[४]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने 'हतवृत्त' दोष की विस्तृत चर्चा की है।

न्यूनपद

मम्मट ने 'न्यूनपद' का उदाहरण 'तथाभूतां·····कुरुषु' दिया है।[५] प्रस्तुत उदाहरण में 'अस्माभिः' यह पद तथा 'खिन्ने' इस पद से पूर्व 'इत्थं' यह पद न्यून है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने सर्वप्रथम 'न्यूनपद' को स्पष्ट किया है। 'तत्र न्यूनपदं न्यूनं पदं वाचकशब्दो यत्र तत्र। द्योतकन्यूनतायां त्वनभिहितवाच्यमिति विशेषः।' अर्थात् जिस वाक्य में विवक्षित अर्थ के वाचक किसी शब्द का प्रयोग नहीं होता है' अर्थात् कहने योग्य उस शब्द का कथन नहीं किया जाता है वह 'न्यूनपद' है। 'तथाभूतां······' उदाहरण में प्रथम तीन चरणों के मध्य में 'अस्माभिः' तथा चतुर्थ चरण में 'खिन्ने' से पूर्व 'इत्थं' का प्रयोग नहीं है। कर्तृरूप में अन्वित होने के लिए 'अस्माभिः' तथा 'एकवाक्यता' करने के लिए 'इत्थं' का प्रयोग आवश्यक है। अतः प्रदीपकार लिखते हैं 'अन्यथा कर्तुरलाभादेकवाक्यत्वासंभवाच्च तदर्थस्य विवक्षितत्वात्।' 'विवक्षिताप्रतिपत्तिश्च' इसकी दूषकता की बीज है। 'झटित्याक्षेपतस्तल्लाभेऽदोषत्वम्।' अर्थात् जहाँ पदों का अध्याहार हो जाने से अविलम्ब ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है, वहाँ न्यूनपद भी गुण हो जाता है।

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण, ७-२१८
२. काव्यप्रदीप, पृ० २१०
३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२१९
४. काव्यप्रदीप, पृ० २११
५. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२२०

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने 'न्यूनपद' दोष का मम्मट से विस्तृत विवेचन किया है। जैसा कि पीछे भी उल्लेख किया है कि गोविन्द ठक्कुर ने कई स्थानों पर श्री वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य के मत को ग्रहण किया है। यहाँ भी सारबोधिनीकार की भाँति 'न्यूनपद' को स्पष्ट किया है।[१]

अधिकपद

'अधिकपद' दोष के मम्मट ने दो उदाहरण दिए हैं। प्रथम उदाहरण 'स्फटिकाकृति ··स कोपि।'[२] में 'आकृति' शब्द अधिक है। द्वितीय उदाहरण 'इदमनुचित···वा'[३] में 'कृतं' यह पद अधिक है। मम्मट यहाँ लिखते हैं कि 'कृतं' पद प्रक्रमभंग दोष को भी प्रकट करता है। अतः यहाँ 'यदपि च न कुरङ्गलोचनानाम्' यह पाठ होना चाहिए परन्तु निराकाङ्क्ष प्रतीति हो सकती है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर प्रथम उदाहरण 'स्फटिक···कोऽपि' को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं यहाँ स्फटिक ही निर्मलता उपमान रूप से विवक्षित है। 'आकृति' पद के ग्रहण करने पर भी 'स्फटिक' पद से निर्मलता की प्रतीति होती है। अतः 'आकृति' पद अधिक है।[४] प्रदीपकार लिखते हैं 'न तु व्यर्थत्वादपुष्टार्थेन संकर इति वक्ष्यते।' 'अपुष्ट अर्थदोष' का विवेचन आगे अर्थदोष प्रसंग में किया जाएगा। इस 'अपुष्ट-अर्थदोष' को ही भोजराज ने 'व्यर्थदोष' कहा है। इसके अतिरिक्त केवल समास में ही नहीं अपितु असमास में भी अधिकपदत्व वाक्यदोष होता है। जैसे द्वितीय उदाहरण 'इदमनुचित ··रसं वा' में। यहाँ 'कृतम्' पद अधिक है। पूर्वपद में 'कृतं' पद के बिना ही प्रतीति हो रही है। यहाँ 'प्रक्रमभंग' दोष की भी प्राप्ति है। अतः यहाँ 'यदपि च न कुरङ्गलोचनानां' यह पाठ होना चाहिए। 'निष्प्रयोजन शब्दश्रवणेन श्रोतुर्वैमुख्यं' इसकी दूषकता का वीज है। हर्ष आदि से युक्त होने पर इसकी अदोषता कही जाती है।

इस प्रकार मम्मट की अपेक्षा गोविन्द ठक्कुर ने 'अधिकपद' की चर्चा स्पष्ट रूप से की है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २११
२. ३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२२१ २१२
४. काव्यप्रदीप, पृ० २१२
५. काव्यप्रदीप, पृ० २१२

कथितपद

मम्मट ने 'कथितपद दोष' का केवल उदाहरण दिया हैं—'अधिकरतलतल्पं······राज्याभिषेकम्'।[१] प्रस्तुत उदाहरण में 'लीला' कथितपद दोष है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'अधिकरतलतल्पं' उदाहरण को स्पष्ट करते हैं कि यहाँ 'लीला' पद बिना प्रयोजन के दो बार आया है, अतः यह दोष है। इससे कवि की अशक्ति प्रकट होती है और श्रोता विमुख हो जाता है, यही इसकी दूषकता है। लाटानुप्रासादि में यह 'अदोष' है।[२] प्रतिकूलवर्ण-दोष की भाँति गोविन्द ठक्कुर 'कथितपद' दोष में भी लिखते हैं—'इदं तु चिन्त्यम्-समासे प्रत्येकमस्मिन्नपि पदे व्यवधानाल्लाटानुप्रासाविरहेऽप्यस्य संभवात्कथं न पददोषत्वमिति'।

पतत्प्रकर्ष

मम्मट ने 'पतत्प्रकर्ष' का उदाहरण दिया है 'कः कः ·····वर्तते।'[३]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'पतत्प्रकर्ष' दोष को स्पष्ट करते हैं—'पतत्प्रकर्षम् अलंकारकृतस्य बन्धकृतस्य वा प्रकर्षस्य यत्रोत्तरं पातो निकर्षः' अर्थात् जिस वाक्य में अलंकृत या बन्धकृत उत्कर्ष का उत्तरोत्तर ह्रास होता है वह 'पतत्प्रकर्ष' दोष है। 'कः कः' उदाहरण में सूकर वर्णन में जो विकटबन्धकृत तथा अनुप्रासकृत प्रकर्ष है वह सिंहवर्णन में नहीं रहा, अतः पतत्प्रकर्षता दोष है। कवि की अशक्ति का प्रकट होना तथा श्रोता के रसास्वाद का ह्रास होना इसकी दूषकता का बीज है।[४]

समाप्तपुनरात्त

मम्मट ने 'समाप्तपुनरात्त' दोष का केवल उदाहरण दिया है 'क्रेङ्कार··· ······वेणुस्वनः।'[५]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'समाप्तपुनरात्त' दोष को स्पष्ट करते हैं 'वाक्ये समाप्ते पुनस्तदन्वयिशब्दोपादानं यत्रेत्यर्थः' अर्थात् जहाँ कोई वाक्य क्रियाकारक आदि के अन्वय से समाप्त हो जाता है किन्तु फिर भी उस वाक्य

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२२३
२. काव्यप्रदीप, पृ० २१३
३. काव्यप्रकाश, उदाहरण, ७-२२४
४. काव्यप्रदीप, पृ० २१३
५. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२२५

से अन्वित पदों का प्रयोग कर दिया जाता है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि जो आचार्य समाप्तपुनरात्त का यह लक्षण मानते हैं 'समाप्ते वाक्येऽविशेषविधायि विशेषणान्तरोपादानवत्त्वं तल्लक्षणम्', वह उचित नहीं है। इस दोष की अदोषता की चर्चा करते हुए प्रदीपकार का कथन है कि 'प्रागप्राप्त…' (उदाहरण ३१८) में जो 'समाप्तपुनरात्त' है वह दोष नहीं क्योंकि यह एक अन्य वाक्य के रूप में है। यहाँ समाप्त अर्थ का विशेषणमात्र देने के लिए उसका पुनः ग्रहण नहीं किया गया।[1] 'क्रेंकारः' उदाहरण (७-२२५) में 'तनोतु वः' पर्यन्त वाक्य समाप्त हो जाता है, पुनः 'नववयोलास्याय वेणुस्वनः' का विशेषण रूप में प्रयोग किया गया है, अतः वहाँ यह दोष है। 'निराकाक्षत्वं' इसकी दूषकता का बीज है। यह अनित्यदोष है।[2]

अभवन्मतयोग

मम्मट 'अभवन्मतयोग' को स्पष्ट करते हैं 'अभवन्मत इष्टो योगः संबंधो यत्र तत्।' उदाहरण दिया है 'येषां · प्रवादेचितम्।'[3] यहाँ 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्याद्' इस न्याय के अनुसार 'यत्' शब्द से निर्देश्य पदार्थों का परस्पर अन्वय न होने के कारण 'यैः' इस पद के विशेष्य की प्रतीति नहीं होती। 'क्षपाचारिभिः' ऐसा पाठ हो जाने पर उचित अन्वय हो जाता है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं कि 'अभवन्मतयोग' वहाँ होता हैं जहाँ पदार्थों का अभीष्ट संबंध नहीं हो सकता। इसका अविमृष्टविधेयांश में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। एक मत तो यह है कि अविमृष्टविधेय इसका उपजीव्य है और उपजीव्य से उपजीवक का भेद सिद्ध है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं वस्तुतः अविमृष्टविधेयांश में उपस्थित पदार्थों का अन्वय होता ही है परन्तु वह अविमृष्ट अप्रधान रूप से होता है अर्थात् उद्देश्य विधेय भाव की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती, किन्तु 'अभवन्मतयोग' में तो पदार्थों का संबंध ही नहीं प्रतीत होता, यही तीनों में भेद है।[4]

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जब ऐसी स्थिति है तब तो अभवन्मतयोग में मत का योगत्व में विशेषण देना अनर्थक

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २१३

२. काव्यप्रदीप, पृ० २१४

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण, ७-२२७

४. काव्यप्रदीप, पृ० २१५

है। उत्तर है नहीं। यहाँ मतत्व का अर्थ है अन्वय बोध विषयत्व और योग का अर्थ है एक वाक्य में रहने वाले पदों से अर्थों का उपस्थापित होना।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने 'अभवन्मतयोग' जिन ६ कारणों से होता है उसका भी उल्लेख किया है – १. विभक्ति भेद, २. न्यूनता, ३. आकांक्षाविरह, ४. वाच्य तथा व्यंग्य अर्थों में विवक्षित संबंध का अभाव, ५. समासाच्छन्नता, ६. व्युत्पत्ति विरोध।

'येषां‥प्रवादेचितम्' उदाहरण 'विभक्ति-भेद' निमित्तक 'अभवन्मतयोग' का है। यहाँ 'यैः' विशेषण का 'क्षपाचारी' विशेष्य के साथ योग विवक्षित है, किन्तु विभक्ति-भेद के कारण यैः (तृतीया विभक्ति) और 'क्षपाचारिणां' (षष्ठी विभक्ति) के साथ संबंध नहीं हो सकता। भेदान्वय के लिए समान विभक्ति का होना आवश्यक है। यदि भिन्न विभक्ति वाले 'यत्' के अर्थों का इस प्रकार अभेदान्वय करके—'येषां प्रतापोष्माभिः पीताः, यैः—पानभुवः कल्पिताः येषां हुङ्कृतयः'— फिर सबका समिम्लित रूप में विशेष्यभूत क्षपाचारी पदार्थ से अन्वय हो जाएगा, तो यह उचित नहीं। (यत्पद) निर्देश्य अनुवाद्यों का (तच्छब्द के अर्थ) विधेय के ही साथ साक्षात् अन्वय होता है न कि उसमें अन्तर्भाव प्राप्त नहीं करने वाले भिन्न-भिन्न अनुवाद्यों के साथ, क्योंकि जब अनुवाद्य यत्पद के अर्थ सभी बराबर होने से गुण हैं तब विनिगमक के अभाव में किसी एक को विशेष्य बनाना अशक्य है। कहा भी है 'गुणानां च परार्थत्वादसंबंधः समत्वात्स्यात्' अर्थात् गुण का प्रधानापेक्षित होने के कारण परस्पर अन्वय नहीं होता, क्योंकि वे सभी समान होते हैं। अतएव 'अरुणयैकहायन्या पिङ्गाक्ष्या गवा सोमं क्रीणाति' में अरुणा आदि का एक हायनी आदि से संबंध नहीं होता है और न इनका अन्वय गो से ही होता है क्योंकि क्रयण में जैसे आरुण्यरूपगुण हायनगत एकत्व संख्या और आँखों का पीलापन साधन है वैसे ही गो भी साधन है और गो भी गुण हैं। अतः सभी गुण है। हाँ क्रयण के साथ सबका अन्वय होता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि यही बात है तब क्यों नहीं 'वसनानि क्रीणाति' में वस्त्ररूपी अन्य धर्मी के साथ आरुण्यादि का अन्वय हो जाता है। उत्तर दिया है 'आरुण्यादीनां गवान्तानामार्थसमाजात्' अर्थात् आरुण्यादि गवान्त पदार्थों का एक समाज है, यद्यपि शब्द के द्वारा नहीं कहा गया है तथापि सिद्ध है। इसी प्रकार 'येषां' उदाहरण में आर्थ समाज मान लिया जाए तो क्या हानि है? उत्तर है कि

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २१५

माना जा सकता है यदि यहाँ भी उसी प्रकार से विभक्तियां समान हों। यह नहीं कहा जा सकता है कि विभक्तियों को बदलकर अन्वय हो सकता है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ प्रश्न उठता है कि अभिमत योग कैसे हो? समाधान है कि 'क्षपाचारिभिः' पाठ मान लिया जाए तो अन्वय हो सकता है। यत्पदों से निर्दिष्ट सकल पदार्थों का तत्पद से परामर्श होने पर उसके पश्चात् तत् पद से समझे गए उन सबका क्षपाचारी के रूप में अवगम हो जाएगा और अभिमत योग होने में बाधा नहीं होगी।[1]

इस प्रकार विभक्ति निमित्तक अभवन्मतयोग की विस्तृत चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने की है।

तृतीय प्रकार—आकांक्षाविरहनिमित्तक—मम्मट ने 'आकांक्षाविरह-निमित्तक' का उदाहरण दिया है—'संग्रामाङ्गणमागतेन...लोकत्रयम्।[2] वृत्ति में स्पष्ट किया है कि यहाँ १. 'आकर्णन' क्रिया में कर्मरूप से अन्वय करने पर 'कोदण्डं शरान्' प्राप्त होता है। २. वाक्यार्थ का कर्मरूप से अन्वय करने पर 'कोदण्डः शराः' प्राप्त होता है। ३. कोदण्ड आदि न तो यत् शब्द का अर्थ है। ४. न उसका विशेषण है। ५. तथा 'केन केन' यह प्रश्न भी नहीं है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'आकांक्षाविरहनिमित्तक' दोष का विस्तृत विवेचन किया है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि पूर्वार्ध से उत्तरार्ध का संबंध विवक्षित है किन्तु यह सम्पन्न नहीं होता। अर्थों का वाक्यार्थ संबंध क्रियात्व से या कारकत्व से या सम्बिन्धत्व से या उसके विशेषण से या हेतुत्व और लक्षण आदि से या तत् पद आदि से पूर्व वाक्य के अर्थ का अनुवाद करके वाक्यान्तर का ग्रहण करने से वाक्य की एकवाक्यता सिद्ध होती है। १. प्रस्तुत उदाहरण में 'कोदण्डादि' के प्रथम तृतीय-पंचम-षष्ठ पक्ष उस पक्ष से असंभावित ही हैं। कारकत्व भी कर्म और कर्तृभाव द्वारा अन्यत्र घटता है। वहाँ 'आकर्णन' क्रिया में पदार्थमात्र से कर्मत्व में विवक्षित होने पर 'कोदण्डं शरान्' होता है। १. यदि परस्पर-अन्वित कोदण्ड आदि को एक वाक्यार्थ के रूप में 'आकर्णय' क्रिया का कर्म मानें तो प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति होकर 'कोदण्डः शराः' यह प्रयोग होना चाहिए। ३. यत् शब्द की बुद्धिस्थ वाचकता से कोदण्डादि पद का अर्थ ही 'यत्' शब्द का अर्थ है तथा 'यत्' शब्द के अर्थ के

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २१६

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२२९

क्रियान्वय में 'कोदण्ड' आदि का भी क्रिया के साथ अन्वय जाना जाता है—यदि ऐसा मानें तो भी ग्राह्य नहीं है। ऐसा होने पर कोदण्ड आदि का पुनः उपादान व्यर्थ ही होगा। अतः कोदण्ड आदि 'यत्' शब्द का अर्थ नहीं है। ४. 'कोदण्ड' आदि के 'यत्' शब्द के अर्थ का विशेषण मानें तो 'कोदण्डेन येन शराः यत् समासादितं तद् आकर्णय' यह वाक्यार्थ होगा और पुनः विशेष के अनुक्त होने पर आकांक्षा की अनिवृत्ति प्रसंग से, शरा यत् आदि अन्वय बाहुल्य के प्रसंग से विचारणीय है। अतः 'कोदण्डादिशरादिकर्तृकर्मणी' और उसका विशेषण तो यत् शब्दार्थ जो कहा गया है, वह भी समाप्त है। अभिप्राय यह है कि यदि 'यत्' शब्द के अर्थ को 'कोदण्ड' आदि का विशेषण अथवा 'कोदण्ड' आदि को 'यत्' शब्द के अर्थ का विशेषण मानें तो भी दोष ज्यों का त्यों बना रहेगा। ५. गोविन्द ठक्कुर अब यह स्पष्ट करते हैं कि यहाँ 'केन केन' यह प्रश्न भी नहीं है। वे लिखते हैं जिसके द्वारा यत् इत्यादि सामान्यतः अवगमन से किसका किससे विशेष प्रश्न होने पर, उसके उत्तर में 'कोदण्डेन शराः' इत्यादि कहा गया है, यदि ऐसा मानें तो वह भी ग्राह्य नहीं क्योंकि गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं—'तादृशप्रश्नाश्रवणात्'। 'अथासावुन्नीयते' में ही उत्तर अलंकार भी प्राप्त होगा, यदि ऐसा मानें तो वह भी स्वीकार नहीं। जिसके द्वारा 'आसादितं तदाकर्णयेति' प्रतिज्ञा करने के प्रश्न के बिना भी कोदण्डादि के निर्देश के सम्भावन से उसका उन्नयन असिद्ध होता है। अभिप्राय यह है कि यहाँ प्रश्न नहीं किया गया अपितु प्रश्न के बिना ही 'कोदण्ड' आदि का अर्थ-निष्पन्न हो जाता है। यहाँ 'आसादितम्' इस क्रियापद के वचनादि के विपरिणाम से अनुषङ्ग में ही 'कोदण्डेन शराः समासादिताः' इत्यादि वाक्यान्तर के आरम्भ में क्या दोष है? यदि ऐसा कहा जाएगा तो कहना होगा यही वाक्यभेद है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'पूर्वापरार्धयोरनन्वयतादवस्थ्यात्। लोके तादृशवाक्यभेदेऽपि दोषाभावात्तथा प्रयोग इति' अर्थात् पूर्वापर में अन्वय के स्थित होने से लोक में वैसे वाक्य से भेद होने से दोषाभाव से वैसा प्रयोग होता ही है।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने यद्यपि मम्मट की भाँति ही इस दोष की चर्चा की है परन्तु अन्तर इतना है कि प्रदीपकार ने स्पष्ट और विस्तृत व्याख्या की है। मम्मट ने वृत्ति में जो यह कहा 'अत्राकर्णनक्रियाकर्मत्वे कोदण्डं शरानित्यादि-वाक्यार्थस्य कर्मत्वे कोदण्डः शरा इति प्राप्तम् न च यच्छब्दार्थस्तद्विशेषणं वा

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २१७-२१८-२१९

कोदण्डादिः । न च केन केनेत्यादि प्रश्नः', इन्हीं पंक्तियों की विस्तृत व्याख्या गोविन्द ठक्कुर ने की है।

चतुर्थ प्रकार विवक्षितव्यंग्य अभवन्मतयोगत्व है—

मम्मट ने 'चापाचार्य•••चन्द्रहासः'[1] उदाहरण दिया है। पद्य का परशुराम की निन्दा में तात्पर्य है। 'कृतवता' इस पद से वह निन्दा परशु में प्रतीत होती है। 'कृतवत' इस पाठ में तो अभीष्ट अन्वय हो जाता है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'चापाचार्य' उदाहरण की व्याख्या करते हुए चण्डीदास के मत का खण्डन भी किया है। वे लिखते हैं कि रेणुकाकण्ठ-बाधाजन्य निन्दा के द्वारा भार्गव का संबंध विवक्षित है, उसके निन्दा प्रकरण से परशु के अपनी क्रिया के चातुर्य से अनिन्दनीय होने से वैसा प्रतीत नहीं होता है। 'कृतवता' यह तृतीयान्त पाठ परशु का विशेषण है और इसका परशु के साथ संबंध भान होने से ऐसा होता है। 'कृतवतः' ऐसा पाठ होने पर तो भार्गव में निन्दा का संबंध प्रतीत होता है और यदि परशु की निन्दा के अनन्तर विदग्धोक्ति द्वारा भार्गव में निन्दा की प्रतीति मानी जाए तब 'कृतवत्त्व' के प्रयोग से वाच्य का अयोग होने से यह 'वाच्यायोगनिमित्तक' उदाहरण होगा। तब भी स्पर्धा के योग्य होने की उपपत्ति के लिए परशु के स्वामी महादेव के शिष्यत्व आदि विशेषणों का ग्रहण होगा और उसके अयोग्य उपपादन के लिए उसका ही कोई धर्म कहना उचित होगा। ऐसा कहने पर भार्गव के कृतवत्त्व का अन्वय विवक्षित प्रतीत नहीं होता। इसलिए दोषयुक्त है, ऐसा चण्डीदास का मत ग्राह्य नहीं है।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर के मत का सारांश यही है कि यहाँ परशुराम की निन्दा विवक्षित है किन्तु 'कृतवता' यह तृतीयान्त पाठ परशु का विशेषण है और इसका परशु के साथ संबंध होने से ही उसकी निन्दा प्रतीत होती है जो अभीष्ट नहीं है। अतएव व्यंग्य के साथ विवक्षित योग न होने के कारण अभवन्मतयोग नामक वाक्यदोष है।

पंचम प्रकार 'समासाच्छन्नतानिमित्तक' और षष्ठ प्रकार 'व्युत्पत्ति-विरोधनिमित्तक' का विवेचन मम्मट ने गोविन्द ठक्कुर की भाँति किया है।

अनभिहितवाच्य

'अनभिहितवाच्य' दोष को स्पष्ट करते हुए मम्मट का कथन है—'अवश्यवक्तव्यमनुक्तं यत्र।' इस दोष के तीन उदाहरण दिए हैं—१. अप्राकृतस्य

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२३०

•••पदार्थः ।'[1] प्रस्तुत उदाहरण में 'अपहृतोऽस्मि' इस प्रकार की विधेयता कहना उचित था क्योंकि 'तथापि' यह पद द्वितीय वाक्य में स्थित होकर ही युक्तियुक्त हो सकता है।

द्वितीय उदाहरण 'एषोऽहम्···विधाय'[2] है। यहाँ पर मनोरथों का भी दूरवर्ती यह अर्थ कहना चाहिए था।

तृतीय उदाहरण 'त्वयि·····चितः' है।[3] यहाँ पर 'अपराधस्य लवमपि' कहना चाहिए था।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'अनभिहितवाच्य' दोष की विस्तृत चर्चा की है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'अनभिहितवाच्य' इसमें आवश्यक अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय है। अतः वाचक पद से अतिरिक्त, जहाँ अवश्य कहने योग्य वाच्य शब्द का प्रयोग न हो। 'अनभिहितवाच्य' का 'न्यूनपदत्व' दोष से अन्तर स्पष्ट किया है कि न्यूनपद दोष में वाचक पद का अभाव रहता है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि जो यह मानते हैं कि 'न्यूनपदेऽप्रतीतिमात्रमत्र तु विरुद्धा प्रतीतिरित्यनयोर्भेदः' यह व्याख्यान विरुद्ध हैं।

गोविन्द ठक्कुर के अनुसार 'अनभिहितवाच्य' दो प्रकार का है— १. अन्यथावक्तव्य को अन्य प्रकार से कहना, २. निपात आदि द्योतक पद का अप्रयोग। अन्यथावक्तव्य का उदाहरण है 'अप्राकृतस्य' (उदाहरण २३३)। प्रस्तुत उदाहरण में 'अपहृतोऽस्मि' इस प्रकार अपहृतत्व की विधि कहना उचित था क्योंकि 'तथापि' में 'तत्' शब्द का अर्थ निहित है और वह पूर्व वाक्य में उक्त किसी अर्थ की अपेक्षा रखता है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि इस तरह तो अविमृष्टविधेयांशत्व दोष हुआ, न कि उक्त दोष। समाधान किया है कि अविमृष्टविधेयांशत्व तो 'तथापि' की असंगति के कारण उपस्थित होता है क्योंकि उसी के अनुरोध से अपहृतत्व को विधेय माना है न कि उसके अपने प्राधान्य से। अतएव किसी का यह कहना कि 'अवान्तर वाक्यों में विधेयाविमर्शत्व नहीं होता है', अग्राह्य है। इसमें बीज का अभाव है। 'क्षणमप्यममुक्ता' यह अवान्तर वाक्य का उदाहरण है। अथवा मान भी लें कि यहाँ विधेयाविमर्श है किन्तु दूसरे भेद में असंकीर्ण स्थिति

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२३३
२. वही, ७-२३४
३. वही, ७-२३५

होने से स्वतंत्र रूप से यह दोष तो है ही ।[1] जैसे 'एषोऽहम्' उदाहरण में । इस उदाहरण में गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि यहाँ विधेयाविमर्श का भी संकर नहीं है । प्रस्तुत उदाहरण के विषय में मम्मट के अनुसार एक ही 'अपि' का अभाव है । गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'अत्र सुरासुराणामपि मनोरथस्य दूरवर्तीत्यप्यर्थोऽवश्यवाच्यः ।' यहाँ गोविन्द ठक्कुर के अनुसार भी एक 'अपि' का अभाव है । अन्तर यह है कि मम्मट ने 'मनोरथानामपि' में 'अपि' का संवंध माना है । वहाँ प्रदीपकार ने 'सुरासुराणामपि' में 'अपि' का संबंध माना है । इसके विपरीत वामनाचार्य झलकीकर ने 'बालबोधिनी' टीका में दो 'अपि' का अभाव बतलाया है । वे लिखते हैं 'सुरासुरणामपि मनोरथानामपि, दूरवर्तीत्यप्यर्थद्वयम् अवश्यं वक्तव्यम् । अन्यथा अन्यमनोरथविषयत्वं सुरासुर-बहिरिन्द्रिय—विषयत्वं च प्रतीयते ।'

तृतीय उदाहरण 'असमासगत' का है 'त्वयि ··यतः ।'[2]

अन्त में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि प्रथम उदाहरण में अभिमत अर्थ की अप्रतीति तथा द्वितीय और तृतीय उदाहरण में विरुद्ध अर्थ की प्रतीति ही दोष का निमित्त है । यह नित्य दोष है ।

अस्थानपद

मम्मट ने 'अस्थानपद' के दो उदाहरण दिए हैं । प्रथम उदाहरण—'प्रियेण···वस्तुषु'[3] । यहाँ 'काचित् न विजहौ' यह कहना चाहिए था ।

द्वितीय उदाहरण है 'लग्नः···पातु वा ।'[4] यहाँ 'नखलक्ष्म' इससे पूर्व 'कुटिलाताम्रच्छवि' यह पद होना चाहिए ।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि 'अस्थानस्थत्वं चायोग्य-स्थानस्थत्वम्' अर्थात् 'अस्थानस्थपद' वह वाक्यदोष है जिसमें कोई शब्द अयोग्यस्थान पर होता है । इससे कहीं तो विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो जाना संभव है; कहीं पद का अभीष्ट उपयोग नहीं होता ।[5] प्रथम उदाहरण 'प्रियेण संग्रथ्य' में 'न' पद अयोग्य स्थान पर है । 'न काचिद् विजहौ अपि तु सर्वाः' में 'न' के अयोग्य स्थान पर होने से विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है । 'काचित् न विजहौ' पाठ होने से विवक्षित अर्थ की प्रतीति हो सकती है ।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २२१

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२३६

३. ४. काव्यप्रकाश; उदाहरण ७-२३६, २३७

५. काव्यप्रदीप, पृ० २२३

द्वितीय उदाहरण 'लग्नः केलिकच' में विवक्षित पद का उपयोग न होने से 'अस्थानपदत्व' वाक्यदोष है। मम्मट की भाँति इस उदाहरण की चर्चा की है जबकि यहाँ 'कुटिलाताम्रच्छवि' ही 'नखलक्ष्म' की शंका का बीज है अतएव 'कुटिलाताम्रच्छवि' पद का 'नखलक्ष्म' इत्यादि से पूर्वपाठ होना चाहिए था। यह नित्य दोष है।[1]

अस्थानस्थ समास

'अस्थानस्थसमास' का मम्मट ने उदाहरण दिया है 'अद्यापि········ शशी।'[2] यहाँ पर क्रुद्ध (चन्द्रमा) की उक्ति में समास नहीं किया, कवि की शक्ति में कर दिया।

काव्यप्रदीप—'अद्यापि' उदाहरण का स्पष्टीकरण करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'अत्र पूर्वार्धे क्रुद्धस्य शशिन उक्तिरिति तत्समासस्य योग्यं स्थानं न पुनः कवेरुक्तिरुत्तराधमित्यस्थानसमासता' अर्थात् यहाँ पूर्वार्ध में क्रुद्ध चन्द्रमा की उक्ति है, उसमें समास करना उचित था। उत्तरार्द्ध में तो कवि की उक्ति है उसमें क्रोध का वर्णन नहीं। इस प्रकार अनुचित स्थान पर समास का प्रयोग करने के कारण अस्थानस्थसमासत्व वाक्य-दोष है। इस दोष का 'प्रतिकूलवर्णत्व' और 'पतत्प्रकर्षता' दोष में अन्तर्भाव नहीं। 'सहृदयवैमुख्य' इस दोष की दूषकता का बीज है।[3]

संकीर्ण

'संकीर्ण' वाक्यदोष को गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति ही स्पष्ट किया है। गोविन्द ठक्कुर 'संकीर्ण' दोष को स्पष्ट करते हैं 'संकीर्णं वाक्यान्तर-पदेन मिश्रम्' अर्थात् जहाँ एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य में प्रविष्ट हो जाते हैं। उदाहरण है 'किमिति······तमोरूपम्।'[4] इससे अर्थप्रतीति में विलम्ब होता है, यही इसकी दूषकता का बीज है।

गर्भित

मम्मट 'गर्भित' दोष के संबंध में लिखते हैं कि गर्भित वह वाक्य है—'यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशत' अर्थात् जहाँ एक वाक्य में दूसरा

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २२३
२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२३८
३. काव्यप्रदीप, पृ० २२४
४. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२३९

वाक्य प्रविष्ट हो जाता है। दो उदाहरण दिए हैं। प्रथम उदाहरण है—'परापकारनिरतैः······कदाचन।'[1] इसमें तृतीय चरण अन्य वाक्य के मध्य में प्रविष्ट हो जाता है।

द्वितीय उदाहरण है 'लग्नं रागावृताङ्गया······कीर्तिः।'[2] यहाँ पर 'विदितं तेऽस्तु' यह गर्भित कर दिया है। इसके अतिरिक्त 'यह लक्ष्मी वहाँ से हट रही है।' इस प्रकार विरुद्धमतिकृत् भी वाक्य है।

काव्यप्रदीप—'गर्भित' दोष को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'गर्भितं जातगर्भम्। अन्तःस्थित-वाक्यान्तरं वाक्यमित्यर्थः।' यह 'गर्भित' वाक्यदोष दो प्रकार से होता है—१. कहीं तो वह वाक्य स्वभावतः एक ही होता है, २. कहीं हेतुहेतुमद्भाव से वाक्यैकवाक्यता करके एक बना लिया जाता है।[3]

'परापकारनिरतैः' (उदाहरण २४०) प्रथम का उदाहरण है। यहाँ स्वभावतः एक वाक्य है। उसके भीतर 'वदामि भवतस्तत्त्वम्' दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो गया है।

'लग्नं' इत्यादि द्वितीय का उदाहरण है। यहाँ पर 'तत्सक्तोऽयं न किंचिद्गणयति तेन भृत्येभ्यो दत्तास्मीति' यह वाक्यैकवाक्यता होकर बना हुआ वाक्य है। इसके भीतर 'विदितं तेऽस्तु' यह दूसरा वाक्य प्रविष्ट किया गया है। 'प्रतीतिविच्छेद' यहाँ दूषकता का बीज है। इस दोष की अदोषता के विषय में लिखते हैं 'अतो न यत्र प्रतीतिर्विच्छिद्यते तत्र नायं दोषः'।

प्रसिद्धिहत दोष का विवेचन गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भांति किया है।

भग्नप्रक्रम

'भग्नप्रक्रम' दोष को स्पष्ट करते हुए मम्मट लिखते हैं 'भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र'। यह प्रकृति, प्रत्यय, सर्वनाम, पर्याय आदि के प्रक्रमविषयक होने से अनेक प्रकार का होता है। क्रमशः इनके उदाहरणों का विवेचन किया है।

काव्यप्रदीप—'भग्नप्रक्रम' दोष को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि भग्नप्रक्रम वह वाक्य है जिसमें प्रस्ताव नष्ट हो जाता है।[4] प्रस्ताव शब्द का अर्थ प्रस्ताव का औचित्य है। गोविन्द ठक्कुर ने 'पर्याय-

---

१. २. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२४०-२४१

३. काव्यप्रदीप, पृ० २२४

४. वही, पृ० २२६

प्रक्रमभंग' के उदाहरण की विस्तृत चर्चा की है। अन्य प्रकारों का (प्रत्यय, सर्वनाम, प्रकृति) उल्लेख मम्मट की भाँति किया है। मम्मट ने 'पर्यायप्रक्रम-भंग' का उदाहरण दिया है 'महीभृतः···तृप्तिम्'।[1]

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ अपत्यों के बहुत होने पर भी उस विशेष अपत्य में स्नेह अतिशय की विवक्षा से अपत्य शब्द के प्रयोग में पुत्र शब्द प्रयोग से पर्यायप्रक्रमभंग दोष है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि कतिपय विद्वान् 'पुत्र न होने पर पुत्री में भी स्नेहयुक्त होने से और पुत्र के होने पर भी पुत्री में उसी स्नेह-भाव से वह हुआ, इस प्रकार अर्थ की विवक्षा से यहाँ दोष प्रतीति नहीं है' ऐसा समाधान करते हैं। परन्तु प्रदीपकार 'तदयुक्तम्' से इस अर्थ का निषेध करते हैं क्योंकि ऐसा अर्थ मानने पर अनन्त पुष्पों वाले आम के दृष्टान्त से विषमता का प्रसंग होगा और वहाँ सामान्य-विशेष भाव से दृष्टान्त के वैसे ही औचित्य होने से यह ठीक है। इससे 'अपत्यवतोऽपि' यह पाठ युक्त है। यहाँ पर बहुत्व के लाभ न होने से दृष्टान्त की विषमता नहीं है। अपत्य दूसरे के हैं यह बहुवचनार्थ बोधक मतुप् प्रत्यय के विधान से ही है। इससे 'साधुरेव पुत्रवताः' यह पाठ है। यहाँ कुछ सांप्रादायिक विद्वान् इस अर्थ से वृत्ति करके अनुमान से सार्थकता सिद्ध करते हैं ऐसा चण्डी-दास का मत ग्राह्य नहीं हैं। प्रदीपकार लिखते हैं यहाँ अपत्यं और पुत्र शब्द में कैसे पर्याय-वाचकता हो सकती है। वहाँ कतिपय विद्वानों का मत है 'अपत्य' शब्द पुत्र का पर्याय है। अन्यथा पुत्री शब्द में स्त्री प्रत्यय का अन्वय कैसे होगा। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'तन्न युक्तम्'। वैसा होन पर दोष का प्रसंग नहीं होगा, अपत्यार्थ तत्त्व का वैशिष्ट्य नहीं होने से। इससे पर्याय एकार्थ प्रतिपादक मात्र है। यह एक प्रकार की प्रतीति का जनक भी नहीं है। अतः 'लघुतामुपक्रम्यागरीयान्' इस उक्ति से भी पर्यायक्रम-भंग कहा जाता है।[2]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर की उपर्युक्त चर्चा का सारांश यह है कि अपत्य शब्द के स्थान पर 'पुत्र' शब्द के प्रयोग से प्रक्रमभंग हो रहा है। गोविन्द ठक्कुर ने इस कथन का खण्डन किया है कि 'अपत्य' शब्द 'पुत्र' का पर्याय है। जिस प्रकार यहाँ दृष्टान्त में सामान्य-विशेष भाव है कि 'सामान्य पुष्प होने पर भी पुष्प-विशेष में भ्रमरों की आसक्ति होती है, उसी प्रकार अपत्य सामान्य होने पर भी अपत्य विशेष में स्नेह था' यह अभिप्राय है।

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२४७

२. काव्यप्रदीप, पृ० २२८

अक्रम

मम्मट लिखते हैं कि 'अक्रम' वह वाक्यदोष है जिसमें शब्दों का क्रम विद्यमान न हो। इस दोष के मम्मट ने तीन उदाहरण दिए हैं। प्रथम उदाहरण है—'द्वय गतं···नेत्रकौमुदी।'[१] यहाँ 'त्वं' शब्द के अनन्तर 'च' का प्रयोग उचित है। द्वितीय उदाहरण है 'शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं···प्रयासम्'।[२] यहाँ पर 'इत्थं प्रोच्च इव' यह कहना उचित है। तृतीय उदाहरण है 'लग्नं रागावृताङ्गया···कीर्तिः।'[३] यहाँ 'इतिश्रीनियोगात्' ऐसा कहना चाहिए।

काव्यप्रदीप—'अक्रम' दोष को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है 'अक्रममविद्यमानः क्रमो यत्र तत्। पदानन्तरं यत्पदोपादानमुचितं ततोऽन्यत्र तदुपादानं यत्रेत्यर्थः।' अर्थात् जहाँ शब्दों का क्रम विद्यमान न हो। वाक्य में जिस पद को जिस पद के अनन्तर रखना उचित है यदि उसे वहाँ नहीं रखा जाता अन्य स्थान पर रख दिया जाता है वहाँ 'अक्रम' दोष है। 'द्वयं गतं' उदाहरण में 'लोकस्य च' में 'च' का प्रयोग 'त्वं' शब्द के अनन्तर उचित है। शोचनीयता में 'कला' के साथ 'त्वं' का समुच्चय ही विवक्षित है। लोक पदार्थ में समुच्चय का अभाव है।[४]

गोविन्द ठक्कुर ने 'अक्रमत्व' दोष, 'अस्थानपदत्व' आदि दोष से भिन्न है, इसे स्पष्ट किया है। प्रदीपकार लिखते हैं कि जो विद्वान् 'अक्रमत्व' दोष और 'अस्थानपदत्व' दोष का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट करते हैं 'तत्र प्रतीत्यन्तरमत्र सैव प्रतीतिः किं तु विलम्वितेति केचित्।' 'तत्र से अभिप्राय 'अस्थानपदत्व' दोष से है। प्रदीपकार 'तन्न' से इस मत का निषेध करते हैं। वे लिखते हैं कि—'कुटिलाताम्रच्छविः' अस्थानपदत्व के उदाहरण में 'प्रतीत्यन्तर' का अभाव है। गोविन्द ठक्कुर दोनों का अन्तर स्वमत से स्पष्ट करते हैं 'अव्यवधानेनैव यत्राभिमतप्रतीतिजननसामर्थ्यं तदेतस्य विषयः। अन्य पुनरितरस्य।' 'द्वयं गतं' उदाहरण में 'च' अव्यवहित पदार्थों में ही समुच्चयादि का द्योतक है। इस संदर्भ में गोविन्द ठक्कुर ने महिमभट्ट की उक्ति को उद्धृत किया है जिसका अभिप्राय है कि विद्वान् लोग वाक्य में व्यवहित 'च' आदि के द्वारा विशेष्य-विशेषण में संबंध नहीं करना चाहते अपितु वे अपनी शक्ति को अव्यवहित पद के अर्थ में ही निहित रखते हैं।[५] गोविन्द ठक्कुर ने भी

१.२.३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२५२, २५३, २४१

४. काव्यप्रदीप, पृ० २३०

५. वही, पृ० २३१

'अक्रम' दोष में अव्यवहित' पद की विशेष चर्चा की है।

'च' आदि में ही यह दोष नहीं है किन्तु 'त्वित्थमादि' में भी है। जैसे 'शक्तिनिस्त्रिशजेयं' उदाहरण में 'प्रोच्येवेति' वह कहना उचित है। 'इत्थं' शब्द अव्यवहित पूर्व कथित वस्तुओं का परामर्श कराता है। 'इत्थं' शब्द यहाँ पादत्रय-कथित अर्थ का परामर्शक है।[1] इसी प्रकार 'लग्नं रागावृताङ्गया:' में 'इति श्रीनियोगात्' पाठ उचित है। 'उद्देश्यप्रतीतिविरह' इसकी दूषकता का बीज है। यह नित्य दोष है।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने 'अक्रमत्व' वाक्यदोष की विस्तृत चर्चा की है।

अमत

मम्मट 'अमत' दोष को स्पष्ट करते हैं कि 'अमतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र।' उदाहरण दिया है 'राममन्मथशरेण···सा।'[2] प्रस्तुत उदाहरण में अन्य अर्थ प्रकृत रस (वीभत्स) में विरुद्ध अर्थात् शृंगार का व्यंजक है।

काव्यप्रदीप—'अमत' दोष के संबंध में गोविन्द ठक्कुर का कथन है 'अमतपरार्थममतः परार्थो द्वितीयोऽर्थो यस्य तत्।' जिसका अभिप्राय है कि 'अमत' वह दुष्ट वाक्य है जहाँ कोई अन्य अर्थ प्राकरणिक अर्थ के विरुद्ध होता है। गोविन्द ठक्कुर ने एक कारिका उद्धृत की है जिसमें बताया है कि कौन-कौन से रस किस-किस रस के विरोधी हैं 'ज्ञेयौ शृंगारवीभत्सौ तथा वीरभयानकौ। रौद्राद्भुतौ तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथः'। प्रस्तुत उदाहरण में प्रकृत रस वीभत्स है जिसका विरोधी शृंगार है। द्वितीय अर्थ व्यंग्यार्थ है जो वीभत्स विरुद्ध शृंगार रस का व्यंजक है। यह नित्य दोष है। इस दोष की दूषकता के विषय में लिखते हैं—'तादृशार्थोपस्थित्या रसापकर्षकतास्य दोषत्वबीजम्।' नीरस आदि काव्यों में इस दोष का अभाव होता है।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने वाक्यदोषों का विस्तृत विवेचन किया है। वाक्यदोषों के प्रसंग में किसी-किसी वाक्यदोष में पददोष की भी शंका की है, परन्तु उसका समाधान भी किया गया है कि पददोषों में अवांछित तत्व केवल एक पद के कारण आता है और उसका प्रभाव भी उस पद तक सीमित रहता है परन्तु वाक्यदोष अपने तक ही सीमित न रहकर पूरे वाक्य को प्रभावित करता है, पूरे वाक्य को दुष्ट कर देता है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २३२

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण, ७-२५४

अर्थदोष

अर्थदोष—मम्मट ने २३ अर्थ-दोषों का निरूपण किया है। उन २३ अर्थ-दोषों में प्रमुख दोषों का गोविन्द ठक्कुर की दृष्टि से विवेचन किया गया है।

अपुष्ट दोष

मम्मट ने 'अपुष्ट दोष' का उदाहरण दिया है 'अतिवितत...... जयति'।[1] यहाँ 'अतिविततत्व' आदि का ग्रहण न करने पर भी, विवक्षित अर्थ का बाध नहीं होता, अतः ये 'अपुष्ट' अर्थ-दोष हैं 'असंगत' या 'पुनरुक्त' अर्थ नहीं।

काव्यप्रदीप—'अपुष्ट' दोष की चर्चा में गोविन्द ठक्कुर ने यह स्पष्ट किया है कि पददोष तथा अर्थदोष में अन्तर यह है कि जहाँ अन्य शब्दों द्वारा कहने में भी विवक्षित अर्थ दोषयुक्त ही रहता है, वह अर्थदोष है। अन्य दोष शब्ददोष है।[2]

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि पद-दोषों के लक्षण-बोधक सूत्र में कहे हुए दुष्ट पद को पुल्लिग बनाकर यहा योजित करना चाहिए 'पददोषलक्षणसूत्रस्थं दुष्टमिति पदं लिङ्गविपरिणामेन संबध्यते।' अपुष्ट अर्थ पुष्ट से भिन्न होता है। 'पुष्टत्व' का अर्थ है 'पुष्टत्वं च विवक्षितार्थबाधप्रयोजकानुपादानत्वम्' अर्थात् जिस अर्थ को कहना चाहते हैं उसको बाधित करने वालों का उपादान नहीं करना। वह अनुपादान भी या तो बाध करने वाला बाध का प्रयोजक नहीं हो पाता है या बाध में प्रयोजक होने पर भी किसी दूसरे से बाध्य उस अर्थ के मिल जाने से बाध नहीं होता है। आचार्य भोजराज ने इसे 'व्यर्थ' कहा है और इसका लक्षण दिया है 'व्यर्थमाहुर्गतार्थं यत् यच्च स्यान्निष्प्रयोजनम्।'

उपर्युक्त उदाहरण में 'अतिविततत्व' आदि अर्थों का शब्द द्वारा प्रतिपादन न करने पर भी विवक्षित अर्थ में कोई बाधा नहीं होती क्योंकि आकाश की अतिदीर्घता आदि स्वतः गगन के स्वरूप से प्राप्त है अर्थात् स्वतः सिद्ध है जैसे अग्नि की उष्णता। अतएव यहाँ अपुष्टत्व नामक अर्थ दोष है।

मम्मट ने स्पष्ट किया है कि यहाँ असंगत या पुनरुक्त अर्थ नहीं है। गोविन्द ठक्कुर ने 'असंगत' से अभिप्राय 'अधिकपद' से लिया है। 'अधिकपद' में ऐसे पद का प्रयोग होता है जिसका अर्थ विवक्षित न हो, वह अधिकपद है। जैसे 'स्फटिकाकृतिनिर्मलः' उदाहरण में 'आकृति' पद अविव-

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२५५

२. काव्यप्रदीप, पृ० २३३

क्षितार्थक है। यहाँ 'स्फटिक' ही निर्मलता में उपमान रूप से विवक्षित है। अतएव 'आकृति' पद अधिक है। इसके अतिरिक्त 'अधिकपद' में पदार्थों की अन्वयप्रतीति के साथ ही बाध की प्रतीति हो जाती है परन्तु 'अपुष्ट' दोष में विवक्षित अर्थ का बाध नहीं होता। अतः यह अपुष्ट दोष है।

पुनरुक्त दोष भी यहाँ नहीं है क्योंकि जहाँ शब्द द्वारा अवगत अर्थ को पुनः शब्द द्वारा प्रतिपादित किया जाता है वहाँ 'पुनरुक्ति' होती है। अर्थ-पुनरुक्ति तो अपुष्टार्थ है ही।[1]

अन्त में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि अशक्ति का प्रकट होना और श्रोता की विमुखता इस दोष की दूषकता का बीज है। 'यमक' आदि में यह दोष नहीं है। इस दोष की अदोषता के विषय में गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं 'कर्णावतंसादिपदे च विशेषकद्योतकतया तदुपादानं नाशक्त्युन्नायकमित्य-दुष्टत्वम्'। अर्थात् जैसे काव्य में 'कर्णावतंस' शब्द का प्रयोग उपलब्ध है। किन्तु जब 'अवतंस' आदि शब्द ही कर्णाभूषण के वाचक हैं तो 'कर्णावतंस' में अपुष्टार्थ दोष होगा। इसका समाधान है कि 'कर्णावतंस' आदि शब्दों से, कहीं लक्षणादि के द्वारा उन आभूषणों की कर्ण आदि में उपस्थिति विवक्षित है। अतएव वहाँ इनका प्रयोग सप्रयोजन होने से 'अपुष्टार्थ' दोष नहीं होता और न ही कवि की अशक्ति प्रकट होती है।

इस प्रकार मम्मट ने 'अपुष्टार्थ' दोष का केवल उदाहरण दिया है वहाँ गोविन्द ठक्कुर ने इस दोष की विस्तृत व्याख्या की है।

कष्ट दोष

मम्मट ने 'कष्ट दोष' का उदाहरण दिया है 'सदामध्ये···रुचयः।'[2] वृत्ति में स्पष्ट किया है कि जिन कविरुचियों के मध्य में सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम तीन मार्गों वाली भारती चमत्कार उत्पन्न करती है, गम्भीर वाक्यों से परिचित वे अन्य कवियों के समान सुबोध कैसे हो सकती है। यह प्रकृत अर्थ है। तथा जिन आदित्य प्रभाओं के मध्य में आकाश गंगा बहती है वे मेघों से आच्छादित होकर कैसे स्वच्छ हो सकती है, यह अप्रकृत अर्थ है।[3]

काव्यप्रदीप—कष्ट दोष को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'कष्टः प्रतीतिक्लेशवान्। दुरुह इत्यर्थः' अर्थात् जिसकी प्रतीति में क्लेश होता है वह कष्ट दोष है। उदाहरण का स्पष्टीकरण मम्मट की भाँति ही किया

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २३३-२३४

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२५६

३. काव्यप्रकाश, वृत्ति, पृ० ३५२

है। (जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया है) गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ यह भी स्पष्ट किया है कि इस पद्य का जो विवक्षित अर्थ है वह अन्य शब्दों की योजना करके भी क्लेश पूर्वक प्रतीत होता है। क्लिष्ट पद दोष से अन्तर स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'कष्ट' में अर्थ ही दोषयुक्त होता है तथा क्लिष्टत्व में शब्द ही दोषयुक्त होते हैं।[१] 'सम्यक्प्रतीतिविरह' इसकी दूषकता का बीज है।

व्याहत

मम्मट ने 'व्याहत' दोष का उदाहरण दिया है 'जगति·· महोत्सवः'।[२] यहाँ पर इन्दुकला आदि जिसके प्रति तुच्छप्राय है वही मालती में उत्कर्ष हेतु चन्द्रिकात्व का आरोप करता है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'व्याहत' दोष को स्पष्ट करते हैं कि व्याहत दोष वहाँ देखा जाया करता है जहाँ किसी वस्तु का पहले उत्कर्ष दिखाकर फिर उसके विपरीत अपकर्ष या उत्कर्ष वर्णन होने लगता है।[३] व्याहत के उदाहरण में 'काव्यप्रदीप' में 'जगति' के स्थान पर 'जयति' पाठ है। उदाहरण का स्पष्टीकरण मम्मट की भाँति किया है 'अत्र पूर्वार्धे साधारणचन्द्रिकाचन्द्र-कलाः एवं प्रत्यसारतया प्रतिपादिताः। तेनैवोत्तरार्धे चन्द्रिकात्वमुत्कर्षा-यारोप्यत इति व्याघातः।' 'वाक्यार्थाप्रतीतिः' इसकी दूषकता का बीज है। यह नित्यदोष है।

पुनरुक्त

मम्मट ने 'पुनरुक्त' दोष के दो उदाहरण दिए हैं। प्रथम उदाहरण 'कृत-मनु-मतमित्यादिः'[४] दिया है। यहाँ पर 'अर्जुन' इस सम्बोधन से तथा 'भवद्भिः' इस शब्द से कहा जाने पर भी 'सभीमकिरीटिनाम्' इस समस्त पद में अर्जुन रूप पदार्थ पुनरुक्त है।

द्वितीय उदाहरण 'अस्त्रज्वाला···भयस्यावकाशः'[५] यहाँ चतुर्थ चरण का वाक्यार्थ पुनरुक्त है।

काव्यप्रदीप—'पुनरुक्त' दोष को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि शब्द द्वारा कथन करना ही पुनरुक्त दोष है। अर्थ की पुनरुक्ति 'अपुष्ट'

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २३४

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२५७

३. काव्यप्रदीप, पृ० २३५

४ ५. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२५८, २५९

दोष के अन्तर्गत आती है। गोविन्द ठक्कुर ने महिमभट्ट के अभिप्राय की चर्चा की है कि जहाँ विशेषण का प्रयोग किसी प्रयोजन के लिए होता है वहीं विशेष्य का उपादान ठीक होता है। जो विना प्रयोजन के विशेषण होता है वह अयुक्त है। गोविन्द ठक्कुर ने भी स्पष्ट किया है कि प्रयोजमस्थल में पुनरुक्त का अभाव होता है।[1] वह दो प्रकार का हैं—१. पदार्थ की पुनरुक्ति, २. वाक्यार्थ की पुनरुक्ति।

प्रथम उदाहरण 'कृतमनुमत' पदार्थ की पुनरुक्ति का है। गोविन्द ठक्कुर ने उदाहरण का स्पष्टीकरण मम्मट की भाँति किया है 'अत्रार्जुनार्जुनेति संबोध्यैर्भवद्भिरित्यनेन परामृश्य तेषायित्यनेन परामर्शादर्जुनस्यापि प्राप्तेः सभीमकिरीटिनामिति किरीटपदार्थः पुनरुक्तः।'

द्वितीय उदाहरण 'अस्त्रज्वाला' वाक्यार्थ की पुनरुक्ति का है। यहाँ पर 'अलं सम्भ्रमेण' रूप व्राक्यार्थ की 'को भयस्यावकाशः' इन शव्दों के द्वारा पुनरुक्ति हो रही है।

'निष्प्रयोजनाभिधानेन श्रोतुर्वैमुख्यम्' इसकी दूषकता का बीज है। गोविन्द ठवकुर लिखते हैं कि प्रयोजन के होने पर इसकी अदोषता है और यह अनित्य दोष है। प्रदीपकार लिखते हैं कि कहीं ऐसा भी मानते हैं कि 'अर्थ-प्राप्ति के वचन में पुनरुक्तता होती है। जैसे 'अस्त्रज्वाला' उदाहरण में। अप्रयोजकाभिधानमात्रस्थल में 'अपुष्टार्थत्व' दोष होता है। परन्तु यह मान्यता काव्यप्रकाश के विरुद्ध है।

दुष्क्रमत्व

मम्मट ने 'दुष्क्रमत्व' दोष का उदाहरण दिया है 'भूपालरत्न··· मदालसम्।'[2] यहाँ मातंग का पहले निर्देश करना उचित है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'दुष्क्रमत्व' दोष का स्पष्टीकरण दिया है कि 'दुष्क्रम' का अर्थ है 'दुष्टक्रम'। 'दुष्टक्रम' का अभिप्राय है लोकशास्त्र विरुद्ध कर्म। लौकिक क्रम तो यह है कि पहले बहुमूल्य वस्तु की कामना की जाती है जिसके न मिलने पर अल्प वस्तु की याचना की जाती है। परन्तु प्रस्तुत उदाहरण में लोकविरुद्ध क्रम का निर्वाह हुआ है। 'तुरंग' का पहले निर्देश है 'मातंग' का बाद में।[3]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २३५
२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२६०
३. काव्यप्रदीप, पृ० २३६

गोविन्द ठक्कुर ने इस प्रसंग में एक अन्य उदाहरण की भी चर्चा की है जो प्राकृत का है। इस उदाहरण की चर्चा आचार्य भोजराज ने 'अपक्रम' दोष में की है। भोजराज का अपक्रम दोष मम्मट का 'दुष्क्रम' दोष है। प्रस्तुत उदाहरण में क्षौर कर्म के पश्चात् नक्षत्र पूछने से 'दुष्क्रम' दोष है।[1] अन्त में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'विरोधेनाप्रतीतिः सहृदयोद्वेगो वेति' इसकी दूषकता का बीज है। यह नित्य दोष है।

ग्राम्य

मम्मट ने 'ग्राम्य' दोष का उदाहरण दिया है 'स्वपिति···कुचितम्।'[2] यहाँ नायक अविदग्ध है।

गोविन्द ठक्कुर 'ग्राम्य' दोष को स्पष्ट करते हैं 'ग्राम्यो ग्रामसंभवः।' जो ग्राम में सम्भव है। अविदग्धजनों की उक्ति ग्राम्य दोष है। कहा भी है—'स ग्राम्योऽर्थोरिरंसादिः पामरैर्यत्र कथ्यते। वैदग्ध्यवक्रिमबलं हित्वैव वनितादिषु।' सहृदयजनों में अरुचि उत्पन्न होती है 'अश्लीलवत्' इसकी दूषकता का बीज है।

संदिग्ध

मम्मट ने 'संदिग्ध' का उदाहरण दिया है 'मात्सर्यमुत्सार्येत्यादि।'[3] यहाँ प्रकरणादि के अभाव में सन्देह है। किन्तु यदि वक्ता शान्त है अथवा शृंगारी, इनमें से एक का निश्चय हो जाता है तो अर्थ-निश्चय होता है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'संदिग्ध' का अभिप्राय है सन्देह का विषय। प्रस्तुत उदाहरण में प्रकरण का अभाव है। यहाँ 'भूधरनितम्बानां कामिनीनितम्बानां वा सेव्यत्वं' में सन्देह है। अतः यह निश्चय करना असंभव है कि वक्ता शान्त है या शृंगारी। यदि वक्ता शान्त है तो अर्थ होगा शम-प्रधान लोगों को पर्वत नितम्बों का सेवन करना चाहिए। यदि शृंगारी है तो अर्थ होगा प्रिय लोगों को विलासिनी नितम्बों। अतः इन अर्थों का निश्चय

---

१. संस्कृत—'कारयित्वा क्षौरं ग्रामवृद्धौ मङ्क्त्वा भुक्त्वा च।
नक्षत्रं तिथिवारौ ज्यौतिषिकं प्रष्टुं चलितः।'
नक्षत्रादिज्ञानपूर्वकं क्षौरस्य शास्त्रेण विधानात्तद्विरुद्धमिदम्।'
(काव्यप्रदीप, पृ० २३७)

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२६१

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२६२ (१३३)

प्रकरण से हो सकता है । अतएव गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'तन्निश्चये एकतर-नितम्बस्य सेव्यत्वनिर्णयेनासंदेहात् ।' 'संदिग्ध' पददोष से भिन्नता बताते हैं कि वहाँ पदमात्र में दोष होता है । संदिग्ध पद दोष के उदाहरण 'आलिङ्गित-स्तत्र' (उदाहरण १५४) में 'वन्द्या' पद संदिग्ध है क्योंकि 'वन्द्या' शब्द से द्वितीय एकवचन में 'वन्द्यां' तथा 'वन्दी' शब्द से सप्तमी एकवचन में 'वन्द्यां' यही रूप बनता है । अतः यह पदमात्र में सन्देह है ।[1] 'उद्देश्यनिश्चयविरह' इसकी दूषकता का बीज है । इस दोष की अदोषता के विषय में लिखते हैं कि 'यत्र तु संदेह एवोद्देश्यस्तत्रादोषत्वमेवेति ।'

निर्हेतु

मम्मट ने 'निर्हेतु' दोष का उदाहरण दिया है 'गृहीतं······भवते ।'[2] यहाँ अश्वत्थामा के शस्त्र त्याग का हेतु नहीं कहा गया है ।

काव्यप्रदीप—'निर्हेतु' को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है 'निष्क्रान्तो हेतुः यस्मात् ।' जिसके हेतु का कथन न किया गया हो । 'काव्य-प्रदीप' की 'उद्योत' टीका में नागेशभट्ट ने स्पष्ट किया है कि यहाँ द्रोणाचार्य के शस्त्र त्याग से 'सुतशोक' का हेतु कहा गया है, इसी प्रकार अश्वत्थामा के शस्त्र-त्याग का हेतु 'पितृशोक' कहना चाहिए था किन्तु कहा नहीं गया है ।[3]

गोविन्द ठक्कुर ने 'निर्हेतु' दोष का 'साकांक्ष' (जिसे आगे स्पष्ट किया जाएगा) से अन्तर स्पष्ट किया है । गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि कहीं इस प्रकार दोनों दोषों का अन्तर स्पष्ट किया गया है 'उपात्तस्य परेणान्वये साकाङ्क्षत्वमनुपादाने निर्हेतुत्वमिति विशेषः ।' परन्तु यह ठीक नहीं है । 'साकाङ्क्ष' में किसी अनुपात्त अर्थ की आकांक्षा बनी रहती है । जैसे 'अर्थित्वे' (उदाहरण २७७) में 'स्त्रीरत्न' 'उपेक्षितम्' की आकांक्षा रखता है । अतः दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'यद्वात्राप्रतीतिमात्रं तत्र तुविरुद्धा प्रतीतिः ।' अतः 'उद्देश्यप्रतीतिविरह' इसकी दूषकता का बीज है । प्रसिद्ध अर्थ में 'निर्हेतु' दोष नहीं है ।[4]

प्रसिद्धिविरुद्ध

मम्मट ने प्रसिद्धिविरुद्ध दोष के उदाहरण दिए हैं—प्रथम उदाहरण

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २३७

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२६३

३. उद्योत (बालबोधिनी में उद्धृत)

४. काव्यप्रदीप, पृ० २३८

है—'इदं ते···विनिहितम् ।'[1] यहाँ काम का चक्र लोक में अप्रसिद्ध है ।

द्वितीय उदाहरण में 'उपपरिसरं······कुरकञ्चुकः ।'[2] यहाँ पाद-प्रहार से अशोक का पुष्पोद्गम कवि प्रसिद्ध हैं, अङ्कुरोद्गम नहीं ।

तृतीयउदाहरण है—'सुसितवसनालङ्कारायां······शुभप्रदः ।[3] यहाँ अमूर्त कीर्ति को चाँदनी के समान प्रकाशमय कहा गया है, यह लोक-विरुद्ध होते हुए भी कवि प्रसिद्धि होने के कारण दोषयुक्त नहीं ।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'जो अर्थ प्रसिद्धि के विरुद्ध होता है, वह प्रसिद्धि विरुद्ध है । यह दो प्रकार का होता है—१. लोकप्रसिद्धि विरुद्ध, २. कविप्रसिद्धि विरुद्ध । गोविन्द ठक्कुर ने 'इदं ते' (७-२६४) उदाहरण की चर्चा की है जिसमें लोकप्रसिद्ध-विरुद्ध अर्थ की चर्चा की है । इस उदाहरण में काम का चक्र लोक में या कविमार्ग में प्रसिद्ध नहीं है । लोक में विष्णु का चक्र प्रसिद्ध है काम का नहीं ।

द्वितीय उदाहरण 'सुसितवसनालंकारयां' (७-२६६) का दिया है । यहाँ कीर्त्ति का चन्द्रिका-सदृश प्रकाशमय होने का वर्णन लोकविरुद्ध है किन्तु कवि-समय प्रसिद्ध है । अतः यह दोष नहीं । अभिप्राय यह है कि जो अर्थ लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध होते हुए भी कविसम्प्रदाय में प्रसिद्ध होता है वह प्रसिद्ध-विरुद्ध नहीं कहा जाता ।

तृतीय उदाहरण है 'उपपरिसरं' । यहाँ गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'इति कविसमयसिद्धोदाहरणं तदयुक्तम् ।' प्रस्तुत उदाहरण में चरणन्यास से अशोकाङ्कुर का उद्गम होना कविप्रसिद्धिविरुद्ध है । कवि-सम्प्रदाय में 'चरण-न्यासे' से पुष्पोद्गम होना प्रसिद्ध है । 'विरोधादर्थाप्रतीतिरिति' इसकी दूषकता का बीज है ।

यहाँ उदाहरणों का स्पष्टीकरण गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के समान किया है । परन्तु गोविन्द ठक्कुर का यह कथन 'इति कविसमयसिद्धोदाहरणं तदयुक्तम्' विवेचनीय है । मम्मट ने क्रमशः उदाहरणों की चर्चा इस प्रकार की है—१. लोक प्रसिद्धि विरुद्ध उदाहरण 'इदं ते केनोक्तं ।', २. कविप्रसिद्धि विरुद्ध उदाहरण 'उपपरिसरं' । ३. अदोषता का उदाहरण है जो प्रसिद्धि-विरुद्ध नहीं कहा जाता अपितु कविसमय में प्रसिद्धि का है—'सुसितवसनालंकारायां ।'

गोविन्द ठक्कुर ने सर्वप्रथम लोकप्रसिद्धि विरुद्ध का उदाहरण दिया है। तत्पश्चात् कविसमय में प्रसिद्धि का उदाहरण दिया है और अन्त में कवि-

१. २. ३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२६४; २६५; २६६

प्रसिद्धि विरुद्ध का उदाहरण दिया है। कविसिद्धि का उदाहरण पहले है और कविप्रसिद्धि विरुद्ध का बाद में। प्रदीपकार को स्पष्टीकरण कविप्रसिद्धि-विरुद्ध का करना है परन्तु लिख रहे हैं कि कविप्रसिद्धि उदाहरण अयुक्त है। वस्तुतः यदि गोविन्द ठक्कुर की इस पंक्ति का संबंध 'कवि प्रसिद्धिविरुद्ध' उदाहरण 'उपपरिसरं' से माना जाए तब भी प्रदीपकार का कथन उचित नहीं है क्योंकि मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में 'उपपरिसरं' उदाहरण कविसमयसिद्ध का नहीं माना है अपितु कविप्रसिद्धि-विरुद्ध का ही माना है। अतः इस उदाहरण के संबंध में प्रदीपकार का यह वक्तव्य 'इति कविसमयसिद्धोदाहरणं तदयुक्तम्' निराधार सिद्ध होता है।

अब यदि गोविन्द ठक्कुर के इस कथन का संबंध 'सुसितवसनालंकारायां' से माना जाए जिस उदाहरण में मम्मट ने यह सिद्ध किया है कि यहाँ कीर्त्ति का सदृश प्रकाशमय होना कविसमय में प्रसिद्ध होने से दोष नहीं हैं। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि गोविन्द ठक्कुर को यदि कविसमयसिद्ध उदाहरण का खण्डन करना अभीष्ट था तो उन्हें 'सुसितवसना' उदाहरण के पश्चात् यह पंक्ति लिखनी चाहिए थी 'इति कविसमय–सिद्धोदाहरणं तदयुक्तम्।' परन्तु वास्तव में देखा जाए तो प्रदीपकार ने 'सुसितवसना' उदाहरण का भी खण्डन नहीं किया है क्योंकि इस उदाहरण का स्पष्टीकरण करते हुए प्रदीपकार लिखते हैं 'अत्र कीर्तेर्मूर्तत्वं ज्योत्स्नावत्प्रकाशता च लोकविरुद्धे अपि कविसमय-सिद्धे इत्यदोषः।' अतः यहाँ पुनः यह शंका होती है कि गोविन्द ठक्कुर के इस कथन का अभिप्राय क्या है? गोविन्द ठक्कुर के कथन का अभिप्राय मेरी दृष्टि से तो यह हो सकता है कि मम्मट ने अब तक जितने भी पददोष, वाक्य-दोष तथा अर्थदोषों का निरूपण किया है उसमें किसी भी दोष प्रसंग में उनकी अदोषता का विवेचन नहीं किया गया है अपितु जो दोष दशाविशेष में अदोष हो जाते हैं उनका वर्णन मम्मट ने दोष चर्चा के पश्चात् किया है। परन्तु 'प्रसिद्धि-विरुद्ध' दोष में मम्मट ने 'सुसितवसनालंकारायां' उदाहरण में इस दोष की अदोषता का निरूपण किया है। सम्भवतः यही कारण है कि मात्र इस दोष में अदोषता का उदाहरण देना गोविन्द ठक्कुर को उचित प्रतीत नहीं हुआ अतएव उन्होंने मम्मट की क्रमभंगता के लिए ही यह पंक्ति लिखी—
'इति कविसमयसिद्धोदाहरणं तदयुक्तम्।'

'सुधासागर' टीका में आचार्य भीमसेन दीक्षित ने प्रदीपकार के इस कथन की निन्दा करते हुए लिखा है 'एवं च यत्प्रदीपकारैरुक्तम्' इति कविसमय-सिद्धोदाहरणं तदयुक्तम्'। 'चरणन्यासेनाशोकाङ्कुरस्य कवीनामप्यसंमतेः।

पुष्पोदङ्गम एव तेषां समयात् ।' तद्रिक्तं वचः, न हि श्रीवृत्तिकारैः कविप्रसिद्धे-र्बलवत्त्वदर्शनायोपपरिसरमित्युदाहृतं किन्तु कविप्रसिद्धिविरोधदर्शनायैव । न च पूर्वोदाहरणेन गतार्थता शङ्क्या, उदाहरणयोर्भेदस्य प्रतिपादित्वात् । कथम-न्यथाऽग्रे सुसितवसनेत्युदाहरणं सङ्गच्छेत । तस्मान्महामहोपाध्यायानाम् प्रदीपकारणाम् ईर्ष्यामात्रमत्रावशिष्यते । न हि गीर्वाणगुरवोऽपि श्रीवाग्देवतारो-क्तिमाक्षेप्तुं प्रभवन्ति किं पुनर्मानुषा मशकाः ।'[1]

विद्याविरुद्ध

'विद्याविरुद्ध' दोष का स्पष्टीकरण गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति किया है ।

अनवीकृत

'अनवीकृत' दोष का उदाहरण मम्मट ने दिया है 'प्राप्ताः······किम् ।'[2] यहाँ पर 'ततः किम्' अनवीकृत है ।

'नवीकृत' का उदाहरण है 'यदि दहत्यनलोत्र···विषादिता ।'[3]

काव्यप्रदीप—'अनवीकृत' दोष को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं—'अनवीकृतो भङ्ग्यन्तरेण यन्नवत्वं तन्न प्राप्तिः । एकभङ्गिनिर्दिष्टानेकार्थं इत्यर्थः' अर्थात् जिसका एक ही भंगिमा से ही निर्देश किया गया हो । प्रकारा-न्तर से कथन करके नवीनता उत्पन्न न की गई हो । 'प्राप्तःश्रियः' उदाहरण (७-२७१) में सर्वथा 'ततः किम्' एक ही भंगिमा है । गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं इसका कथितपद में अन्तर्भाव नहीं हो सकता । अनवीकृत और कथितपद में अन्तर यह है कि अनवीकृत में पर्यायवाचक पद के प्रयोग से भी दोष बना रहता है । इसके विपरीत कथितपद में पर्याय-परिवर्तन से दोष की मुक्ति हो जाती है । 'दहत्यनलोऽत्र' उदाहरण 'नवीकृत' का है । यहाँ एक ही आश्चार्या-भावरूप अर्थ को 'किमद्भुतम्' किं ततः' आदि भंगिभेद से कहा गया है ।

'अनवीकृत' दोष के संबंध में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि इससे कवि की अशक्ति प्रकट होती है तथा सहृदयों के मन में उद्विग्नता हो जाती है । यही इसकी दूषकता का बीज ।[4] यह नित्य दोष है ।

---

१. सुधासागर, पृ० ४२३
२. ३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२७१, २७२
४. काव्यप्रदीप, पृ० २४१

सनियमपरिवृत्तत्व

'सनियमपरिवृत्तत्व' का मम्मट ने उदाहरण दिया है 'यत्रानुल्लिखितार्थमेव···वोचितम् ।'[1] यहाँ छायामात्र से मणिरूप किए जाने वाले पाषाणखण्डों में चिन्तामणि का पाषाणत्व ही उचित है, इस प्रकार नियम सहित कहना चाहिए ।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने सर्वप्रथम यह स्पष्ट किया कि 'सनियमानियमसविशेषाविशेषपरिवृत्ताः' यह एक समस्त पद है । इसमें चार अर्थ-दोषों की गणना की गई है । 'परिवृत्त' पद सबके साथ है । सनियमपरिवृत्त, अनियमपरिवृत्त, विशेषपरिवृत्त और अविशेष ये चार प्रकार के अर्थदोषों का प्रतिपादन किया गया है ।

'सनियमपरिवृत्त' का अर्थ स्पष्ट करते हैं कि जहाँ नियम से कहना अभीष्ट है वहाँ बिना नियम से कहना 'सनियमपरिवृत्त' है । प्रदीपकार ने स्पष्ट किया है कि 'सनियमपरिवृत्त' का न्यूनपद और अनभिहितवाच्य दोष से भेद है । न्यूनपदादि में विवक्षित अर्थ के वाचक किसी शब्द का अप्रयोग होता है । परन्तु सनियमपरिवृत्त में नियमपूर्वक कहने का विधान है । परन्तु अनियम के साथ कथन करने से विवक्षित अर्थ का बोध नहीं होता । यह अर्थदोष है । इसी प्रकार अनभिहितवाच्य का भी इस दोष से भेद है । अनभिहितवाच्य नियमद्योतक पद के अतिरिक्त भी पद के अभाव में होता है । अतः इनका परस्पर भेद है । गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि जब सनियमपरिवृत्त, न्यूनपदादि में वक्तव्य पद का अभाव ही कारण है तब इनको पददोष क्यों न माना जाए । गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि जो यह मानते हैं 'अर्थत्वेन विशेषणं समाधानम्' वह ठीक नहीं । न्यूनपदादि तीनों में तीनों का संकर है 'न्यूनपदादिषु त्रिषु त्रयाणां संकरप्रसङ्गात् ।'[2] 'न्यूनपदादिषु त्रिषु' का अभिप्राय है 'न्यूनदोष, अधिकपददोष और अनभिहितवाच्य दोष ।' 'त्रयाणां' से अभिप्राय है 'सनियमपरिवृत्त, अनियमपरिवृत्त, तथा विशेषपरिवृत्त दोष । प्रथम का न्यूनपद के द्वारा संकर, द्वितीय का अधिकपद के द्वारा तथा तृतीय का अनभिहितवाच्य के द्वारा संकर है, ऐसा वैद्यनाथ ने 'प्रभा' टीका में स्पष्ट किया है ।[3]

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२७३

२. काव्यप्रदीप, पृ० २४२

३. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० २५२

गोविन्द ठक्कुर ने चण्डीदास का मत उद्धृत किया है। चण्डीदास के अनुसार 'शब्द उच्चारण के अनन्तर ही जिस दोष का ज्ञान होता है वह शब्ददोष है। जो अर्थबोध के बाद होता है वह अर्थदोष है। अतएव अनभिहितवाच्य दोष से इसका भेद है।[1] प्रदीपकार ने चण्डीदास के मत को अयुक्त बताया है। वे लिखते हैं कि 'बहुषु स्थानेषु व्यभिचारात्' अर्थात् बहुत स्थानों में इस कथन का अपवाद है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं—'शब्दार्थविभागस्यासंगतत्वात्।' अभिप्राय यह है कि 'सनियमपरिवृत्त' अर्थ दोष है और यह 'अनभिहितवाच्यादि' दोष से सर्वथा भिन्न है। चण्डीदास ने जो शब्ददोष और अर्थदोष का अन्तर बताया वह मत उचित नहीं। गोविन्द ठक्कुर ने प्रारंभ में ही स्पष्ट किया है कि जहाँ अन्य शब्द द्वारा कहने में भी विवक्षित अर्थ दोषयुक्त ही रहता है वह अर्थदोष है।

गोविन्द ठक्कुर 'यत्रानुल्लिखितार्थमेव' उदाहरण को स्पष्ट करते हैं कि प्रस्तुत उदाहरण में 'छायामात्रेण मणिकृतेषु' इस प्रकार नियमसहित कहना चाहिए जिससे अन्य मणियों में अन्य गुणों का निषेध होकर निन्दातिशय की प्रतीति हो जाए। परन्तु यहाँ 'अनियमे तु निन्दनीयानां गुणान्तरव्यवच्छेदप्रत्ययः' अर्थात् अनियम से कथन पर निन्दनीय मणियों में अन्य गुणों के अभाव की प्रतीति नहीं होती।[2] यह नित्य दोष है। 'अव्युत्पत्त्युन्नयनेव वैमुख्याधायकत्वमेव' इसकी दूषकता का बीज है।

अनियमपरिवृत्त दोष, विशेषपरिवृत्त और अविशेषपरिवृत्त की चर्चा मम्मट की भाँति की है।

साकाङ्क्ष दोष

मम्मट ने 'साकाङ्क्ष' दोष का उदाहरण दिया है 'अर्थित्वे···मृष्यते।'[3] यहाँ 'स्त्रीरत्न' यह 'उपेक्षितम्' इसकी आकाङ्क्षा रखता है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'साकाङ्क्ष' दोष की चर्चा 'निर्हेतु' दोष के प्रसंग में की है। यहाँ गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'साकाङ्क्ष साकाङ्क्षया वर्तते। इतरपदार्थान्वयाय विशेषणसाकाङ्क्ष इत्यर्थः।' साकांक्ष में अगृहीत अर्थ की आकांक्षा बनी रहती है। 'अर्थित्वे' उदाहरण की चर्चा करते हुए स्पष्ट किया है कि यहाँ 'स्त्रीरत्न' शब्द का अर्थ 'उपेक्षितम्' के अर्थ की आकांक्षा रखता

१. काव्यप्रदीप, पृ० २४२
२. वही, पृ० २४३
३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२७७

है अन्यथा 'कथं मृष्यते' के साथ इसका अन्वय कैसे सम्भव है। स्त्रीरत्न में ही अमर्ष नहीं है किन्तु उसकी उपेक्षा में है। यहाँ 'परस्य' के साथ स्त्रीरत्न का अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि परस्य का 'उत्कर्ष' के साथ अन्वय होने के कारण वह निराकांक्ष है। विवक्षित अर्थ की परिसमाप्ति न होने के कारण साकांक्ष अर्थ दोषयुक्त है।[1] प्रदीपकार ने यह भी स्पष्ट किया है इस दोष का अभवन्मतयोग और न्यूनपद में अन्तर्भाव नहीं है। यह नित्य दोष है। 'अभिधानपर्यवसानम्' इसकी दूषकता का बीज है।

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि कहीं इस प्रकार की व्याख्या है 'स्त्रीरत्नस्य कथं मृष्यत इत्यनेनाकाङ्क्षा तदन्वयश्च परस्येत्यन्तर्भाव्य संभवति। तच्च जनितान्वयबोधत्वेन निराकाङ्क्षमिति दूषणार्थः। अन्वयप्रयोजकरूपवत्त्वेनोपस्थितत्वे सत्यपर्यवसितार्थान्वयत्वं च लक्षणमतोऽभवन्मतयोगाद्भेदः। तत्रान्वयप्रयोजकरूपेणानुपस्थितेः। 'समाप्तनुरात्ते विशेषणस्यापर्यवसानमिह तु विशेष्यस्येति ततो भेदः' इत्याह।[2] गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यह मत उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से वृत्ति विरोध से ग्रसित हो जाती है। उपर्युक्त कथन में स्त्रीरत्न की 'कथं मृष्यत' के साथ आकांक्षा है और उसका 'परस्य' के साथ अन्वय माना है। परन्तु मम्मट ने वृत्ति में स्पष्ट किया है कि 'स्त्रीरत्न' 'उपेक्षितम्' की आकांक्षा रखता है और उसका परस्य के साथ सम्बन्ध भी उचित नहीं। गोविन्द ठक्कुर ने भी मम्मट के अनुसार व्याख्या की है।

अपदयुक्त

मम्मट ने 'अपदयुक्त' दोष का उदाहरण दिया है—'आज्ञा······सर्वे गुणाः।'[3] यहाँ पर 'स्याच्चेदेष न रावणः' यहीं पर समाप्त कर देना चाहिए।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'अपदयुक्त' दोष को स्पष्ट करते हैं 'अपदेऽस्थाने युक्तः। यत्र तद्योगे प्रकृतविरुद्धप्रतीतिः' अर्थात् जो प्रकृत अर्थ के विरुद्ध रखने वाले पदों से सम्बद्ध होता है। उदाहरण का स्पष्टीकरण करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं यहाँ 'जगदाक्रन्दन-दायित्वादिना रावणस्य त्याज्यत्वं' यह विवक्षित है। अतः यहाँ वाक्यार्थ को 'स्याच्चेदेष न रावणः' पर ही समाप्त हो जाना चाहिए। परन्तु 'क्व न पुनः' पर वाक्यार्थ का समाप्त होना अनुचित होने से दोषयुक्त है। 'प्रकाशितविरुद्ध' दोष में इसका अन्तर्भाव

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २४५

२. वही, पृ० २४५

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२७८

नहीं है। यह नित्यदोष है। 'विरुद्धप्रतीति' दूषकता का बीज है।[1]

'सहचरभिन्न' दोष की चर्चा मम्मट की भाँति की है।

प्रकाशितविरुद्ध

मम्मट ने प्रकाशितविरुद्ध का उदाहरण दिया है 'लग्नं रागावृताङ्‌ग्या'[2] यहाँ पर 'विदितं तेऽस्तु' इसके द्वारा 'उसके पास से लक्ष्मी हर रही है' यह विरुद्ध अर्थ प्रकाशित होता है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'प्रकाशितविरुद्ध' को स्पष्ट करते हैं 'प्रकाशितो विवक्षितार्थस्य विरुद्धोऽर्थो येन वाक्यार्थेन सः' अर्थात् जिससे व्यंग्य द्वारा विवक्षित अर्थ के विरुद्ध अर्थ का वोध हुआ करता है। 'प्रकाशित-विरुद्ध' दोष का सहचरभिन्न दोष से भेद स्पष्ट किया है। सहचरभिन्न दोष में पदार्थ ही भिन्न अर्थ का बोधक होता है किन्तु प्रकाशित अर्थ में वाक्यार्थ विरुद्धार्थ का वोध होता है।[3] उदाहरण का स्पष्टीकरण मम्मट की भाँति करते हैं 'अत्र विदितं तेऽस्त्विवति वाक्यस्यार्थो लक्ष्मीस्ततोऽपसरतीति विरुद्धं प्रकाशयति।' 'विरुद्ध अर्थ की प्रतीति' इसकी दूषकता का बीज है। यह नित्य-दोष है।

विध्ययुक्त

मम्मट ने 'विध्ययुक्त' दोष के दो उदाहरण दिए हैं। प्रथम उदाहरण है 'प्रयत्नपरिबोधितः···भुवः।'[4] यहाँ पर 'शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे' यह विधेय है।

द्वितीय उदाहरण 'वाताहारतया··गुणानीहते'।[5] यहाँ पर 'वाताहार' इत्यादि तीनों को विपरीत क्रम से कहना चाहिए।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'विध्युक्त' दोष को स्पष्ट करते हैं 'अयुक्त-विधिरित्यर्थः'। विधि की अयुक्तता का अभिप्राय है—१. अयुक्तत्वं च विधेरविधेयस्यैव विधेयत्वेन अर्थात् अविधेय अर्थ का विधेय रूप से कथन, २. अयुक्तक्रमतया अर्थात् विधि का विपरीत क्रम से कथन है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २४६

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२८०

३. काव्यप्रदीप, पृ० २४६

४. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२८१, २८२

५. वही; उदाहरण ७-२८२

प्रथम-उदाहरण 'प्रयत्नपरिबोधित' में 'सोया हुआ तू प्रयत्न से जगाया जाएगा' यह उचित विधि है। अर्थात् 'प्रयत्नेन बोध्यसे' यह तात्पर्य है। अतः यही विधेय है। 'शेष इति शयनस्य' विधेय नहीं है। 'अविमृष्टविधेयांश' से अन्तर स्पष्ट करते हैं कि अविमृष्टविधेयाँश में युक्त का ही विधान होता है परन्तु उसका अविमर्श होता है। किन्तु विध्ययुक्त में अयुक्त की ही विधि होती है। यही दोनों का भेद है।[1] 'विवक्षितानिर्वाहो' यहाँ दूषकता का बीज है।

द्वितीय उदाहरण में मृगचर्मवसन, मेघतोयकणिकापान और वायुभक्षण ये तीनों उत्तरोत्तर कठिन व्रत हैं, इनका विपरीत क्रम से कथन करने के कारण 'विध्ययुक्त दोष' है। 'लोकप्रसिद्धक्रमलङ्घने श्रोतुरुद्वेगो' यहाँ दूषकता का बीज है। यह नित्यदोष है।[2]

अनुवादायुक्त

मम्मट ने इसका उदाहरण दिया है 'अरे रामाहस्ताभरण ·· वदना'।[3] यहाँ पर 'विरहिप्राणदमन' इसे उद्देश्यरूप में नहीं कहना चाहिए।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'अनुवादायुक्त' को स्पष्ट करते हैं 'अयुक्तोऽनुवादः। अयुक्तत्वं चात्र विध्यननुगुणत्वम्' अर्थात् विधेय के प्रतिकूल अनुवाद्य का कथन ही अनुवादायुक्त है। 'अरे रामाहस्ताभरण' में 'कथय कवेन्दुवदना' में यह विधि है। अतएव 'विरहिप्राणदमन' अनुवाद रूप में कहना विधि के प्रतिकूल है। 'विधिविरुद्ध' की प्रतीति इसकी दूषकता का बीज है। यह नित्य दोष है।

त्यक्तपुनः स्वीकृत

मम्मट ने इसका उदाहरण 'लग्नं रामावृताङ्ग'[4] दिया है। इस पद्य में 'विदितं तेऽस्तु' इससे समाप्त किया हुआ अर्थ 'तेनास्मि' इत्यादि से गृहीत किया है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'त्यक्तपुनः स्वीकृत' को स्पष्ट करते हैं 'त्यक्तपुनः स्वीकृतः पूर्वं त्यक्तोऽनन्तरं पुनः स्वीकृत उपात्तः' अर्थात् पहले समाप्त किए हुए वाक्यार्थ को पुनः प्रतिपादित किया जाता है। 'समाप्त-

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २४७
२. काव्यप्रदीप, पृ० २४७
३. काव्यप्रकाश, उदाहरण, ७-२८२
४. वही, उदाहरण, ७-२८४

पुनरात्त दोष' से अन्तर स्पष्ट करते हैं। जहाँ समाप्त वाक्यार्थ में अन्य विशेषण का ग्रहण होता है वहाँ 'समाप्तपुनरात्त' दोष होता है किन्त् जहाँ अन्य ही वाक्यार्थ फिर से गृहीत होता है वहाँ 'त्यक्तपुनः स्वीकृत' दोष होता है।

उपर्युक्त उदाहरण में 'विदितं तेऽस्तु' से समाप्त किया हुआ अर्थ भी 'राजदोषस्तेनास्मि दत्ता भृतेभ्यः" से पुनः गृहीत किया गया है। वह अप्रयोजक है। 'श्रीनियोगादि' अदुष्ट ही है। 'अप्रयोजकत्वं तथा सहृदयवैरस्याधानं' इसकी दूषकता का बीज है। यह नित्य दोष है।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने अर्थदोषों का विवेचन किया।

दोष निर्णय के अपवाद

मम्मट ने अब तक जिन दोषों का विवेचन किया है वह दशा विशेष में अदोष भी हो जाया करते हैं। मम्मट ने 'कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः सन्निधानादिबोधार्थम्, स्थितेष्वेतत्समर्थनम्, ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता, अनुकरणे तु सर्वेषाम्' आदि सूत्रों की उदाहरण सहित व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि उपर्युक्त दशाओं में दोष गुण जाते हैं।

गोविन्द ठक्कुर ने पददोष, वाक्यदोष तथा अर्थदोष की चर्चा करते हुए उन दोषों की अदोषता की चर्चा भी साथ-साथ की है। परन्तु यहाँ गोविन्द ठक्कुर ने इस प्रसंग को भी अछूता नहीं छोड़ा है। मम्मट की भाँति ही गोविन्द ठक्कुर ने दोषों की अदोषता की चर्चा की है। जैसे 'कर्णावतंस' सूत्र की व्याख्या करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि 'कर्णावतंस' में अवंतस शब्द ही कर्णाभरण के लिए प्रयुक्त है तो 'कर्णावतंस' आदि में 'पुनरुक्त' या 'अपुष्टार्थ' दोष होगा। 'तथापि' से समाधान किया है 'क्वचित्कर्णेऽवतंस इत्यादि व्युत्पत्त्या क्वचिल्लक्षणादिना च कर्णस्थित्यादिरूपस्याधिकस्य विवक्षितार्थस्य प्रतिपत्तेरदोषत्वम्।' अर्थात् कर्णावतंस आदि शब्दों से कहीं कर्णेऽवतंस इस अर्थ के द्वारा कहीं लक्षणा आदि के द्वारा उन आभूषणों की कर्ण आदि में विद्यमानता विवक्षित है। अतः यहाँ पुनरुक्त आदि दोष नहीं है। इसी प्रकार मम्मट की भाँति अन्य सूत्रों की व्याख्या करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि अप्रयुक्त, निहतार्थ, अश्लीलत्व, संदिग्ध, अप्रतीतत्व, ग्राम्यता, न्यूनपद, अधिकपद, कथितपद, पतत्प्रकर्षत्व, समाप्तपुनरात्तत्व, अपदस्थसमास तथा गर्भित आदि दोष गुण हो जाते हैं।

यहाँ 'काव्यप्रदीप' की चर्चा विस्तार से नहीं की गई है क्योंकि उन्होंने मम्मट के अनुरूप ही विवेचन किवा है।

रस-दोष

पद, वाक्य तथा अर्थ-दोषों के पश्चात् मम्मट ने १३ रस-दोषों का विवेचन किया है। रस-दोष हैं—१. व्यभिचारी भाव, २. रस तथा ३. स्थायीभावों का स्वशब्द द्वारा कथन, ४. अनुभाव और ५. विभाव की कष्ट कल्पना द्वारा अभिव्यक्ति, ६. प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण, ७. बार-बार दीप्ति, ८. विस्तार, ९. विच्छेद, १०. अंग या अप्रधान का अत्यन्त विस्तार, ११. प्रधानतया वर्ण्य की उपेक्षा, १२. प्रकृति अर्थात् पात्रों का विपर्यय, १३. अनंग का वर्णन।[1]

व्यभिचारी का स्वशब्द द्वारा कथन

गोविन्द ठक्कुर ने तेरह रस दोषों में 'व्यभिचारी भाव का स्वशब्द द्वारा कथन' दोष की चर्चा विशेष रूप से की है।

'व्यभिचारी-भाव का स्वशब्द से कथन' का उदाहरण मम्मट ने 'सुव्रीडा ......शिवायाऽस्तु वः' दिया है।[2] मम्मट ने स्पष्ट किया है कि यहाँ पर 'व्रीडा' आदि में शब्द-वाच्यत्व दोष है। यहाँ 'व्यानम्रा' इत्यादि पाठ उचित है।

काव्यप्रदीप—'सुव्रीडा...वः' उदाहरण में गोविन्द ठक्कुर ने भी स्पष्ट किया है कि यहाँ 'व्रीड़ा' आदि व्यभिचारी-भावों का स्वशब्द से उपादान है। अतः वह दोष का आधायक है। गोविन्द ठक्कुर ने इस विषय में किसी सम्प्रदाय विशेष का मत उद्धृत किया है और उसका खण्डन किया है। प्रदीपकार का कथन है कि एक ऐसा सम्प्रदाय है जो यह मानता है 'जहाँ व्यभिचारी-भावों का स्वशब्द कथन होता है वहाँ आस्वाद का अनुभव सम्भव नहीं है। आस्वाद का अनुभव तो विभाव एवं अनुभावों के द्वारा व्यक्त होने पर सम्भव है। अतः उनको स्वशब्द से कहने पर आस्वाद का न होना, इसमें दूषकता का बीज है।'[3]

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि इस विषय में आलोचनीय यह है कि व्यभिचारी-भावों का स्वशब्द से कहना रस का प्रतिबन्धक होता है वह क्या विभाव एवं अनुभाव की उपस्थिति में होता है या उनकी अनुपस्थिति में होता है। यदि विभाव एवं अनुभाव की अनुपस्थिति में होता है तब तो उचित है

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-३२१

२. वही

३. काव्यप्रदीप, पृ० २६२

क्योंकि अनुभावों की उपस्थिति रूप कारण के अभाव में आस्वाद रूप कार्य का अभाव होना स्वाभाविक है। उसमें व्यभिचारियों का स्वशब्द से कथन कारण नहीं है क्योंकि कारण चक्र के रहने पर ही कार्य की अनुत्पत्ति दशा में अमुक-अमुक का प्रतिबन्धक है, ऐसा व्यवहार होता है। अतः उनको अपने शब्द से कहना दोष नहीं अपितु यहाँ न्यूनपदत्व या अनभिहितवाच्य दोष है। यदि यह कहा जाए कि विभाव एवं अनुभाव की उपस्थिति में वैसा कहना रस का प्रतिबन्धक माना गया है, तब ऐसी दशा में जब अनुभावादि से ही रस की अभिव्यक्ति होनी है तब स्वशब्द से उनको कहने का क्या फल है? अतः यहाँ व्यर्थत्व दोष है स्वशब्द कथन दोष नहीं है।[1]

गोविन्द ठक्कुर 'वयं त्वालोचयामः' से स्वमत की चर्चा करते हैं कि—'अनुभावादीनामुपस्थितावेव भावादीनां शब्दवाच्यतया स्वादोपघातः प्रतीयत इति तस्याः पृथग्दोषत्वम्' अर्थात् अनुभावादि की उपस्थिति में ही व्यभिचारियों की स्वशब्दवाच्यता आस्वाद का उपघात करती है, अतः स्वशब्द वाच्यता एक पृथक् दोष है। 'औत्सुक्य' का स्वशब्दोपादान दोष नहीं माना जाता क्योंकि वह आस्वाद-विघातक नहीं होता।

अतः 'सुव्रीडा दयितानने' उदाहरण में सुव्रीडा के स्थान पर 'व्यानम्रा' पाठ होना चाहिए। इस प्रकार 'व्यभिचारी-भाव का स्वशब्द द्वारा कथन' की चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने विस्तृत रूप में की है।

अन्य रस-दोषों का विवेचन मम्मट की भांति किया है। अतएव उस विवेचन में कोई नवीनता नहीं है।

रस दोषों के अपवाद

मम्मट ने जिन रसदोषों का विवेचन किया है, उन रस-दोषों में से कुछ कहीं-कहीं दोष नहीं माने जाते जैसे कहीं-कहीं व्यभिचारी भाव के स्वशब्द वाच्य होने पर भी दोष नहीं होता। उदाहरण दिया है 'औत्सुक्येन...वः।'[2] यहाँ 'औत्सुक्य' शब्द के समान उसका (त्वरा रूप) अनुभाव उस (उत्सुकता) की वैसी (असन्दिग्ध रूप से) प्रतीति नहीं करा सकता। अतएव 'दूरादुत्सुकम्' इत्यादि (उदाहरण २९) में 'व्रीडा, प्रेम आदि के 'विवलन' आदि के समान औत्सुक्य के अनुभाव 'सहसाप्रसरण' आदि से अभीष्ट प्रतीतिकृत् न होने के कारण 'उत्सुक' यह शब्द प्रयुक्त किया गया है।

१. काव्यप्रदीप, पृ० २६३

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-३३०

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर के 'काव्यप्रदीप' टीका में मम्मट के उपर्युक्त भाव का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है 'अत्रौत्सुक्यशब्दवत्सहसा प्रसरणादि-रूपोऽनुभावो नौत्सुक्यमसंदिग्धं प्रतिपादयितुमीष्टे भयादिसाधारणत्वात् ।' भाव यह है कि औत्सुक्य शब्द के समान 'औत्सुक्य' नामक व्यभिचारी भाव का 'त्वरा' रूप अनुभव उसकी असंदिग्ध रूप से प्रतीति नहीं करा सकते क्योंकि 'त्वरा' आदि अनुभाव असाधारण नहीं क्योंकि वे भय आदि के भी व्यंजक होते हैं। इस संबंध में अमरुक का उदाहरण 'दूरादुत्सुकमागते' दिया है। प्रस्तुत उदाहरण में व्रीडादि के 'विवलितत्व' आदि अनुभावों के समान 'औत्सुक्य' का का स्वशब्द कथन दोष नहीं है। अतः कहीं-कहीं अभिव्यक्ति के लिए व्यभिचारी भावों का स्वशब्द कथन आवश्यक हो जाता है। वे वहाँ आस्वाद प्रतीति के व्यंजक होते हैं विघातक नहीं। अन्त में प्रदीपकार लिखते हैं 'एवं च व्यवस्थिते शब्देन तदुपस्थितिं विना न तदनुभावस्यासाधारण्यम्, न च तेन विनाभिव्यक्तिः, न चाभिव्यक्तिं विनास्वादसंभवः, न च तेन विना भावमध्यप्रवेशः, न च तमन्तरेण तथा कीर्तनं युक्तमिति भावस्योत्कीर्तनमप्येतादृशस्य व्यभिचारिणि शब्दावाच्यताया दोषत्वाभावं साधयतीति युक्तमुत्पश्यामः ।'[1]

'सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा' सूत्र में मम्मट ने स्पष्ट किया है कि कहीं-कहीं प्रकृत रस-विरोधी रस के भी व्यभिचारी भाव आदि का बाध्यत्व रूप में कथन गुण रूप हो जाता है। 'क्वाकार्य···कुलम्'[2] उदाहरण में मम्मट का कथन है कि यहाँ वितर्क आदि भावों का उदय होने पर उनकी चिन्ता में ही समाप्ति हो जाती है। इसी हेतु प्रकृत रस का परिपोषण होता है।

'पाण्डुक्षामं वदनं·· हृदन्तः'[3] उदाहरण मे 'पाण्डुता' आदि साधारण अनुभाव है अतः यहाँ विरोध नहीं।

'सत्यं मनोरमा · जीवितम्'[4] उदाहरण में पूर्वार्ध का बाध्य रूप में वर्णन है। जीवन की अपेक्षा भी तरुणी के कटाक्षों की अस्थिरता अधिक है इसलित प्रसिद्ध भंगुर वस्तु का उपमान रूप में ग्रहण करना शान्त रस को ही पुष्ट करता है। यहाँ शृंगार रस की प्रतीति ही नहीं होती क्योंकि उसके योग्य अंगों का प्रतिपादन नहीं किया गया है। मम्मट लिखते हैं कि यह दोष परिहार शिष्यों को प्रवृत्त करने के लिए है तो यहाँ उचित नहीं क्योंकि शान्त और शृंगार दोनों अव्यवहित रूप से एक साथ नहीं रहते और यह परिहार भी

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २६८

२. ३. ४. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-३३१, ३३२, ३३३

उचित नहीं कि यहाँ श्रृंगार काव्य की शोभा के लिए है क्योंकि अन्य रस से ही काव्य शोभा हो जाती है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ विस्तृत विवेचन किया है। प्रतिकूल-विभावादिग्रह की अदोषता की चर्चा करते हुए प्रदीपकार लिखते हैं 'प्रकृत-विरुद्धं व्यभिचार्यादि बाध्यत्वेनोच्यते तदा दूरे दोषत्वम्। प्रत्युत प्रकृतरसपरि-पोषकतया गुणत्वम्।' 'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः' (७-३३१) उदाहरण को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ प्रत्येक चरण के पूर्वभाग में शान्त-रस के १. वितर्क, २. मति ३. शंका, ४. धृति इन चार व्यभिचारी भावों का तथा उत्तरभाग में श्रृंगार के व्यभिचारी भाव १. औत्सुक्य, २. स्मृति, ३. दैन्य, ४. चिन्ता का वर्णन है। परन्तु श्रृंगार के व्यभिचारी भावों द्वारा शान्त रस के व्यभिचारी भावों को तिरस्कृत (बाधित) किया जाता है। अन्त में श्रृंगार रस के व्यभिचारी भाव चिन्ता में समस्त भावों का पर्यवसान हो जाता है। अतएव भावशवलता के पोषक वितर्क आदि गुणरूप हो जाता है।[1] इस प्रकार विरुद्ध व्यभिचारी भाव का बाध्यत्व रूप में कथन गुण रूप हो जाता है।

द्वितीय उदाहरण 'पाण्डुक्षामं ··हृदन्तः' (७-३३२) में मम्मट ने केवल इतना ही लिखा है 'साधारणत्वं पाण्डुतादीनामिति न विरुद्धम्'। यहाँ ध्वनिकार से मतभेद प्रकट किया गया है जिसका गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्टतः उल्लेख किया है। प्रदीपकार लिखते हैं 'इत्यत्र पाण्डुत्वादीनां रोगानुभावतया विरुद्धत्वेऽपि विप्रलम्भश्रृंगारे समारोपादङ्गभावप्राप्त्या दोषत्वाभाव इति ध्वनिकारः।' ध्वनिकार आनन्दवर्धन का इस उदाहरण के संबंध में मत है कि यहाँ मुख का पीला पड़ जाना आदि विरोधी करुण रस के अंग हैं और अर्थ-श्लेष से ऐसे अनुभाव जो दोनों में सम्भव हैं उनका आरोप श्रृंगार पर किया है। अतएव विप्रलम्भ श्रृंगार में समारोप होने से वह विप्रलम्भ का अंग हो गया है और श्रृंगार में करुणोचित व्याधि का वर्णन दोष नहीं है। गोविन्द ठक्कुर ने 'तद्युक्तम्' से ध्वनिकार के मत का खण्डन किया है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं—'तेषामुभयसाधारण्याद्विरोधस्यैवासिद्धेः' अर्थात् 'पाण्डुता' आदि करुण तथा विप्रलम्भ दोनों के साधारण अनुभाव है, अतः यहाँ विरोध है ही नहीं।[2]

तृतीय उदाहरण 'सत्यं मनोरमा' (७-३३३) का विस्तृत विवेचन गोविन्द ठक्कुर ने किया है। यहाँ भी ध्वनिकार के मत का खण्डन किया गया है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २६८
२ काव्यप्रदीप, पृ० २६६

उदाहरण का स्पष्टीकरण करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ पूर्वार्ध में शृंगार के विभाव हैं और उत्तरार्ध में शान्त रस के विभाव है। ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं तथापि दोष नहीं क्योंकि 'पूर्वार्धस्य बाध्यत्वेनैवोक्तत्वान्न दोषत्वम्' अपितु शान्त रस का परिपोषक होने से गुण है। यहाँ विरुद्ध रस (शृंगार) का विभाव शान्त रस का पोषण कर रहा है तभी यह प्रतीति होती है 'सर्वा रामादयः सत्येव जीविते तत्सौकर्यार्थमुपादेयाः जीवितं चातिभङ्गुरमिति किं कृतं तेषामुपादेयत्वम्।'

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि पूर्वार्ध का बोध हो जाने पर भी 'मत्ताङ्गभङ्ग' रूप अनुभाव के द्वारा जो शृंगार की प्रतीति हो रही है वह दोष है। इस शंका का समाधान भी किया गया है कि कटाक्ष का उपमान रूप में ग्रहण किया है, शृंगार के अनुभाव रूप में नहीं। कटाक्ष के समान जीवन क्षणिक है—यह प्रतीति शान्त रस का पोषण करती है। यहाँ शृंगार रस की प्रतीति नहीं होती क्योंकि उसके योग्य अंगों (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव) का अभाव है। शृंगार रस की प्रतीति न होने से शृंगार और शान्त रस का विरोध भी नहीं बन सकता। अभिप्राय यह है कि कटाक्ष का उपमान रूप में ग्रहण शान्त रस को ही पुष्ट करता है। अन्त में गोविन्द ठक्कुर का यह कथन है 'तदेतदुक्तं जीवितादप्यधिकमपाङ्गस्या-स्थिरत्वमिति प्रसिद्धं भङ्गुरोपमानतयोपात्तं शान्तमेव पुष्णाति।'[1]

ध्वनिकार के मत की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'भवत्येवात्र शृंगार-प्रतीतिः परन्तु तया गुडजिह्विकान्यायेनोन्मुखीकृत्तविनेयाः शान्तरसे निवेश्यन्त इत्यदोषता। यद्वा काव्यशोभानिमित्तमेव तदुपादानाद्दोषाभावः।' अर्थात् यहाँ शृंगार के अंग होने से (विभावादि के) शृंगार की प्रतीति तो होती, परन्तु वह दोष नहीं क्योंकि (क) जिस प्रकार गुड़ या चीनी के संयोग के कटु औषधी का ग्रहण होता है उसी रीति से शिष्यों को अभिमुख करके शान्त रस में प्रवृत्त कराया जाता है अथवा (ख) काव्य शोभा के लिए ही उसका समावेश किया गया है।' इस प्रकार ध्वनिकार के मत की चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने की है। ध्वनिकार के मत का खण्डन करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि ध्वनिकार का प्रथम समाधान असंभव है क्योंकि शृंगार और शान्त दोनों का नैरंतर्य-रूप विरोध है अर्थात् दोनों रस (शान्त और शृंगार) बिना किसी व्यवधान के एक साथ नहीं रह सकते। द्वितीय समाधान

---

१. काव्यप्रदीप पृ० २६६

भी उचित नहीं कि शृंगार काव्य की शोभा के लिए है क्योंकि अन्य रस शान्त अथवा अनुप्रास से ही काव्य की शोभा हो जाती है।[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने रस दोषों की अदोषता की चर्चा मम्मट की अपेक्षा विस्तृत रूप में की है। मम्मट ने ध्वनिकार का स्पष्टतः नामोल्लेख नहीं किया है परन्तु उनके मत का खण्डन किया है। गोविन्द ठक्कुर ने ध्वनिकार के मत की स्पष्ट चर्चा की है।

रसविरोध के परिहार के उपाय

'आश्रयैक्ये···रसः।'[2] कारिका में मम्मट ने रसविरोध को स्पष्ट किया है और उसके उपाय बताए है जिसका अभिप्राय है कि रसविरोध दो प्रकार का है—१. आश्रयैक्यनिमित्तक, २. नैरन्तर्यनिमित्तक। इसके उपाय हैं कि 'आश्रयैक्यनिमित्तक विरोध' के परिहार में उसे विभिन्न आश्रय वाला बना देना चाहिए। जहाँ नैरन्तर्यनिमित्तक विरोध हो वहाँ दोनों के बीच में अन्य रस का वर्णन करना चाहिए। वृत्ति में स्पष्ट किया है कि वीर और भयानक का आश्रयैक्य में विरोध है। अतः प्रतिपक्षी आश्रय में भयानक का संनिवेश करना चाहिए। शान्त और शृंगार का अव्यवहित विरोध है अतः उनके मध्य में अन्य रस का वर्णन करना चाहिए।

मम्मट ने यह भी स्पष्ट किया है कि केवल प्रबन्ध में ही नहीं अपितु एक वाक्य में भी अन्य रस के व्यवधान से रसों का विरोध दूर हो जाता है। 'भूरेणुदिग्धान्···पश्यन्'[3] उदाहरणों में स्पष्ट किया है कि यहाँ वीभत्स और शृंगार के मध्य में वीर रस का सन्निवेश किया गया है।

बालचित्तानुरंजनी—'बालचित्तानुरंजनी' टीका में श्रीनरहरि सरस्वतीतीर्थ ने रसविरोध की चर्चा में ध्वनिकार आनन्दवर्धन की चर्चा का अक्षरशः अनुकरण किया है। 'यत्तूक्तम्' से 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं को उद्धृत किया है जिसका आशय है कि जो एक आश्रय में विरोध रखने वाला स्थायी का विरोधी वह विभिन्न आश्रय वाला बना दिया जाना चाहिए उसके परिपोष में

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २६६

२. आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः॥
(काव्यप्रकाश, कारिका ७-६४)

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७·३३३

भी दोष नहीं होता।[1]

दूसरी कारिका का आशय है कि दूसरे रस से अन्तरित, एक वाक्यस्थ भी दो रसों के समावेश में विरोधी भाव जाता रहता है।[2]

भूरेणुदिग्धान्' उदाहरण (७-३३) के स्पष्टीकरण में श्रीसरस्वतीतीर्थ ने अभिनवगुप्त की 'ध्वन्यालोकलोचन' में की गई चर्चा का अक्षरशः अनुकरण किया है जिसका अभिप्राय इस प्रकार है कि प्रस्तुत उदाहरण में यह शंका उत्पन्न होती है कि यहाँ वीर रस ही है, न शृंगार न बीभत्स। किन्तु रति और जुगुप्सा वीर के प्रति व्यभिचारी भाव हो गए हैं। यह सत्य है तथापि प्रकृत का उदाहरण होना तो सिद्ध हो ही जाता है अथवा उसके दोनों अंगों रति और जुगुप्सा के एक साथ समाविष्ट होने का उदाहरण हो सकता है। प्रस्तुत पद्य में 'वीराः स्वदेहान्' इत्यादि द्वारा उत्साह की प्रतीति होती है। शेष पद्य खण्डों में बीभत्स और शृंगार की प्रतीति होती है। 'वीर' देखना क्रिया का कर्त्ता है और देह कर्म। समस्त वाक्य में कर्त्ता और कर्म के विशेषण हैं जिनसे शृंगार और बीभत्स रस की अभिव्यक्ति होती है। अतः जब शृंगार और बीभत्स का विश्लेषण किया जाता है तो उत्साह रूप वीर रस सामने आता है। यद्यपि वीर रस का मध्य में पाठ नहीं होता तथापि वीर रस की व्यवधायकता विद्यमान है ही।

इस प्रकार श्री सरस्वती तीर्थ ने 'लोचन' के अंश को ही उद्धृत किया है।[3]

सारबोधिनी—'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने स्पष्ट किया है कि रस विरोध दो प्रकार का होता है—१. देशिक, २. कालिक। देशिक विरोध से अभिप्राय 'आश्रयैक्यनिमित्तक' विरोध से है और कालिक विरोध से अभिप्राय 'नैरन्तर्यनिमित्तक' विरोध से है।

'भूरेणुदिग्धान्' उदाहरण में सारबोधिनीकार शंका करते हैं—'ननु कथमत्र वीररसप्रतीतिः'? समाधान भी किया है कि वीर शब्द मात्र से वीर रस की

---

१. 'विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधिस्थायिनो भवेत्।
स हि भिन्नाश्रयो कार्यस्तस्य दोषोऽप्यदोषता।'
(बालचित्तानुरंजनी, पृ० ३०९, ध्वन्यालोक, ३.२५)

२. 'रसान्तरान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि।
निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता।'
(बालचित्तानुरंजनी, पृ० ३०९, ध्वन्यालोक, ३.२७)

३. बालचित्तानुरंजनी, पृ० ३१०, लोचन, पृ० ९७७

प्रतीति नहीं होती अपितु 'साहसनिपातजन्यस्वर्गलाभरूपानुभावस्याक्षेपलब्धगर्वादेः' संचारी के द्वारा वीर रस की अभिव्यक्ति होती है।[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में रस-विरोध की चर्चा करते हुए स्पष्ट किया कि रस-विरोध दो प्रकार का होता है—१. समानाधिकरण के द्वारा, २. नैरन्तर्य के द्वारा विरोध। मम्मट ने जिस 'आश्रयनिमित्तक' विरोध की चर्चा की है गोविन्द ठक्कुर ने उसे 'समानाधिकरण' विरोध कहा है। वीर और भयानक में 'एकाधिकरण्य' विरोध है। एक ही आश्रय में अथवा एक ही आलम्बन विषयक दो रस नहीं हो सकते अर्थात् जिस आश्रय में वीर भाव जागृत होता है उसमें उसी समय भय का उद्भव नहीं होता। इसके परिहार के लिए लिखते हैं कि वीर और भयानक में आश्रयनिमित्तक विरोध होने के कारण प्रतिपक्षी में भयानक का वर्णन करने से विरोध-परिहार हो जाता है। एक ही समय में एक ही आश्रय में वीर और भयानक की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः भिन्न आश्रय में सन्निवेश कर देना चाहिए। ऐसा करने से दोष का निराकरण हो जाता है और प्रकृत रस का परिपोष होता है। गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ स्वरचित उदाहरण की चर्चा की है।

'नैरन्तर्यनिमित्त' विरोध को स्पष्ट करते हैं कि जो रस एक साथ बिना किसी व्यवधान के नहीं रह सकते उनका नैरन्तर्यनिमित्तक विरोध होता है। इस विरोध के परिहार के लिए दोनों के बीच में किसी अन्य रस का वर्णन करना चाहिए जैसे नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन विषयक शान्त रस का—'अहो गोतम अहो वादित्रम्'। इस अद्भुत के द्वारा व्यवधान करके मलयवती विषयक श्रृंगार का वर्णन किया गया है।[2]

'भूरेणुदिग्धान्' उदाहरण को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि यहाँ उत्साह आदि से वीर रस की प्रतीति होती है। 'भूरेणु' आदि में कर्त्ता वीर के विशेषण द्वारा सर्ववाक्य अन्वित है तथा बीभत्स और श्रृंगार के मध्य में उत्साहादि वीर रस की अभिव्यक्ति होने से बीभत्स और श्रृंगार में विरोध नहीं रहता।

उद्योत—'उद्योत' टीका में नागेश भट्ट ने साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की भाँति चर्चा की है। रस का विरोध तीन प्रकार का है—१. आलम्बनैक्य विरोध, २. आश्रयैक्यविरोध, ३. नैरन्तर्य विरोध। १. उदाहरणार्थ (क) वीर

१. सारबोधिनी, पृ० ३१०
२. काव्यप्रदीप, पृ० २७०

और शृंगार का (ख) सम्भोग शृंगार का हास्य, रौद्र और बीभत्स के साथ, (ग) विप्रलम्भ का वीर, करुण, रौद्र आदि के साथ आलम्बनैक्य विरोध है। २. वीर और भयानक का आश्रयैक्य विरोध है तथा आलम्बनैक्य विरोध भी है। ३. इसी प्रकार शान्त और शृंगार का नैरन्तर्य विरोध है तथा आलम्बनैक्य विरोध भी है।

किन्हीं रसों में उक्त तीनों प्रकार का विरोध नहीं होता है, जैसे— १. वीर का अद्भुत तथा रौद्र के साथ, २. शृंगार का अद्भुत के साथ, ३. भयानक का बीभत्स के साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं।[1]

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के सप्तम परिच्छेद में इस प्रकार की विस्तृत चर्चा की है। नागेश भट्ट ने विश्वनाथ की चर्चा का ही अनुकरण किया है।

रस-विरोध के अपवाद

'स्मर्यमाणे…परस्परम्'[2] कारिका में मम्मट ने स्पष्ट किया है कि विरुद्ध रसों का तीन अवस्थाओं में अविरोध हो जाया करता है—(क) प्रधान-रस के साथ विरोधी रस का स्मरण। (ख) जो विरोधी रस साम्य भाव से विवक्षित होता है वह दोष युक्त नहीं होता। (ग) जो दो विरोधी रस प्रधान रस के अंगभाव को प्राप्त हो जाते हैं वे भी परस्पर विरोधी नहीं रहते। मम्मट ने क्रमशः इनके उदाहरणों की चर्चा की है।[3]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने रस-विरोध के अपवाद की चर्चा मम्मट की भाँति की है। केवल 'साम्यविवक्षां' का 'दन्तक्षतानि'[4] उदाहरण विवेचनीय है। प्रस्तुत उदाहरण में मम्मट ने स्पष्ट नहीं किया है कि यहाँ कौन-कौन से विरोधी रस हैं।

आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में दयावीर और शृंगार का बिरोध माना है। अभिनवगुप्त ने 'दयावीर' शब्द से शान्त का नामोल्लेख करते हुए शान्त और शृंगार का विरोध माना है।

'संकेत' में माणिक्यचन्द्र ने अभिनवगुप्त के अनुसार शान्त और शृंगार में विरोध माना है।

---

१. उद्योत (बालबोधिनी में उद्धृत, पृ० ४५२)
२. काव्यप्रकाश ७-८६
३. काव्यप्रकाश, पृ० ३९९ से ४०४ तक
४. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-३३७

गोविन्द ठक्कुर ने ध्वनिकार आनन्दवर्धन के मत का अनुसरण करते हुए स्पष्ट किया हैं कि यहाँ शृंगार तथा दयावीर का विरोध है। शृंगार रस उपमान रूप से दयावीर का अंग है अतः रस-विरोध नहीं है। प्रदीपकार लिखते हैं 'न चात्र दयापि विस्मयोपकारकत्वेनाङ्गम्। बौद्धानां स्वाभाविकदयाशीलत्वेन विस्मयाजनकत्वात्।,'[1] अन्य उदाहरणों की चर्चा मम्मट के समान है। अन्त में मम्मट की भाँति गोविन्द ठक्कुर ने इस कथन से 'ननु प्राक्प्रतिपादितरूपवेद्यान्तरसंपर्कशून्यरसस्य न रसान्तरेण विरोधो नाप्यङ्गाङ्गिभाव इत्यसंबद्धमेवैतत्सर्वमिति चेत्' न। रसशब्देनात्र प्रकरणे स्थायिभावस्याभिधानात्। रसस्य इति व्युत्पत्तेः' काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास की समाप्ति की है। गोविन्द ठक्कुर के इस कथन का अभिप्राय यह है कि चतुर्थ उल्लास में यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि रस वेद्यान्तरसंपर्कशून्य है। अतः एक साथ दो दो रसों की प्रतीति नहीं हो सकती। फिर दो रसों का विरोध या अङ्गाङ्गिभाव कैसे वन सकता है? इसका समाधान किया है कि प्रकरण में 'रस' शब्द का अर्थ है—स्थायीभाव। स्थायीभावों का परस्पर विरोध या अङ्गाङ्गिभाव हो सकता है।

इस प्रकार अन्त में हम कह सकते हैं कि दोष प्रकरण में गोविन्द ठक्कुर का विशेष योगदान रहा है। मम्मट की अपेक्षा गोविन्द ठक्कुर ने प्रत्येक दोष का विस्तृत विवेचन किया है। मम्मट तथा अन्य टीकाकारों ने प्रत्येक दोष का स्पष्टीकरण नहीं किया है केवल दोषों के उदाहरणों को उद्धृत किया है। वहाँ गोविन्द ठक्कुर की विशेषता यह रही कि उन्होंने प्रत्येक दोष का स्पष्टीकरण किया है। यद्यपि इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि गोविन्द ठक्कुर के विवेचन में अप्रत्यक्ष रूप से 'सारवोधिनी' के टीकाकार श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य का काफी प्रभाव है परन्तु फिर भी प्रदीपकार का सूक्ष्म विवेचन उनकी मौलिकता का परिचायक हैं। सर्वप्रथम दोष-लक्षण की व्याख्या वड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से गोविन्द ठक्कुर ने की है जहाँ अनेक भ्रान्तियों का निराकरण हो जाता है। मम्मट का दोष-लक्षण विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखता है जिसकी पूर्ति गोविन्द ठक्कुर ने की।

शब्द-दोष, वाक्य-दोष और अर्थ-दोषों की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने यह भी स्पष्ट किया कि उस दोष की दूषकता का मूल बीज क्या है तथा वह दोष किस परिस्थिति विशेष में अदोष हो जाता है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २७२

दोषों की नित्यता और अनित्यता के सम्बन्ध में भी गोविन्द ठक्कुर ने विचार किया। प्रदीपकार का कथन है 'स चायं द्विविधः...नित्योऽनित्यश्च। तत्रानुकरणादन्येन प्रकारेण समाधातुशक्यो नित्यः। अन्यादृशस्त्वनित्यः।' प्रत्येक दोष की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने साथ ही इसका भी उल्लेख किया कि यह नित्य दोष है या अनित्य।

स्वतन्त्र रूप से प्रदीपकार ने कोई नया दोष उद्धृत नहीं किया प्रत्युत मम्मट के दोष निरूपण का ही विस्तार किया।

सप्तम अध्याय

गुण-विवेचन

गत अध्याय मे दोषों का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् प्रस्तुत अध्याय में 'गुण' और 'अलंकार' का निरूपण किया गया है। काव्यप्रकाश के अष्टम-उल्लास में मम्मट ने काव्य-लक्षण में स्थित 'सगुणौ' पद की व्याख्या की है। प्रारंभिक काल से ही साहित्यशास्त्र के आचार्यों (भरत, भामह, दण्डी आदि) ने गुणों का विवेचन किया है। दण्डी के समय तक गुणों और अलंकारों का भेद स्पष्ट नहीं था। आचार्य वामन ने गुण तथा अलंकार के भेद को स्पष्ट किया है। तदनन्तर आनन्दवर्धन, मम्मटआदि ने भी गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट करते हुए सूक्ष्म विवेचन किया।

मम्मट के गुण विवेचन पर आचार्य आनन्दवर्धन का प्रभाव है। मम्मट में प्रतिपादन की प्रौढ़ क्षमता थी, अतः आनन्दवर्धन की गुण धारणा में मम्मट ने अपनी ओर से वहुत कुछ जोड़ा है तथा मौलिकता का परिचय दिया है।

गुण

'गुण' का लक्षण मम्मट ने कारिका में स्पष्ट किया है कि शौर्यादि जिस प्रकार आत्मा के धर्म हैं इसी प्रकार जो काव्य में आत्मवत् स्थित अंगी रस के धर्म हैं तथा अचल स्थिति वाले हैं ऐसे रस में उत्कर्ष का आधान करने वाले 'गुण' कहलाते हैं।[1]

इस कारिका का आशय वृत्ति में मम्मट ने अधिक स्पष्ट किया है। मम्मट का कथन हैं कि जिस प्रकार शूरतादि आत्मा के धर्म हैं, उन्हें शरीर का धर्म नहीं माना जा सकता उसी प्रकार माधुर्यादि रस के ही धर्म हैं शब्द के नहीं। इसे और अधिक स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार किसी शौर्यहीन व्यक्ति में केवलमात्र पुष्ट शरीर को देखकर यह शूर है ऐसा व्यवहार करने लगते हैं, और कहीं शूर व्यक्ति में भी केवल क्षीण देह को देखकर यह शौर्यहीन है

---

१. 'ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।'
(काव्यप्रकाश, पृ० ४०६, कारिका ८.६६)

ऐसा व्यवहार करते हैं उसी प्रकार सुकुमार वर्णों को ही माधुर्यादि गुण का आधार मान बैठना तथा रस-माधुर्य आदि के बिना ही 'मधुरा वर्णाः' व्यवहार करना भ्रान्तिजन्य है। माधुर्य आदि गुण नियत रूप से रस के साथ रहते हैं एवं रस के धर्म हैं तथा यथोचित वर्णों के द्वारा प्रकाशित किए जाते हैं।[1]

संकेत—'संकेत' में माणिक्यचद्र ने गुण को रस का अंगी धर्म स्वीकार किया है और काव्य में गुणों को आवश्यक माना है। संकेतकार ने 'यः कौमारहरः' (जिसका उल्लेख मम्मट ने 'काव्य-लक्षण' में किया) उदाहरण में अलंकार न होने पर भी केवल रस-तत्त्व विद्यमान होने से काव्य माना। दूसरा उदाहरण अलंकारयुक्त लेकिन निर्गुण का दिया और ऐसे काव्य को रोचक नहीं माना।[2] वृत्ति को मम्मट की भाँति ही लिखा जिसमें कोई नवीनता नहीं।

सारबोधिनी, बालचित्तानुरंजनी—'सारबोधिनी' एवं 'बालचित्तानुरंजनी' टीकाओं में भी मम्मट की भाँति गुण को रस का धर्म माना गया है एवं रस के साथ गुणों की नियत स्थिति बताई गई है। 'सारबोधिनी' में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने 'अचलस्थितयः' को अधिक स्पष्ट किया है। टीका-कार लिखते हैं कि गुण रस के बिना नहीं पाये जाते तथा रस के साथ स्थित होकर रस का उपकार करते हैं। इसके अतिरिक्त 'अचलस्थितयः' द्वारा गुण का अलंकार से भेद प्रकट होता है।[3]

मम्मट ने 'गुणों को शब्द का धर्म मानने वाले' किसी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया परन्तु माणिक्यचंद्र, सरस्वतीतीर्थ, श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य आदि सभी ने इस प्रसंग में वामन का नामोल्लेख किया है। इन टीकाकारों ने

---

१. 'आत्मनः ... वर्णमात्राश्रयाः।' ?

(काव्यप्रकाश, वृत्तिभाग, पृ० ४०७, ८.६६)

२. 'रसोऽङ्गी। वाच्यवाचकावंगम्। अचलेति। एतेन काव्ये गुणानामवश्यं भावः। तथा हि। अनलंकारेऽपि वाक् सगुणा रोचते। यथा—यः कौमारहर इत्यादौ। निर्गुणा तु सालंकाराऽपि न रोचते।' (संकेत पृ० १८५)

३. 'अचलस्थितयः अपृथक्स्थितयः नियतस्थितय इति यावत्। ... ये रसं बिना नावतिष्ठन्ते, अवस्थिताश्चावश्यं रसमुपकुर्वन्तीत्यर्थः। ... एवं च रसोत्कर्षहेतुत्वे सति रसधर्मत्वं गुणलक्षणमित्याहुः। ... उत्कर्षहेतुष्वलंकारेष्वतिप्रसंगवारणार्थं अचलस्थितय इति।' (सारबोधिनी, का. प्र. ३१६)

स्पष्ट लिखा है कि 'वामनदयोऽपि अमधुरान् वर्णान् मधुरान् वर्णयन्तीत्यर्थः ।' जिसका आशय यही है कि वामन ने गुण को शब्द का धर्म माना ।

दीपिका—'दीपिका' में चण्डीदास ने मम्मट की कारिका की विस्तृत व्याख्या नहीं की है। गुण को काव्य की आत्मा 'रस' का धर्म माना। 'उत्कर्षहेतु' के लिए मात्र इतना ही कहा—'गुणपदस्य प्रवृत्तिबीजमाह--उत्कर्षहेतव इति ।' चण्डीदास के मत का खण्डन गोविन्द ठक्कुर ने अपनी टीका 'काव्यप्रदीप' में किया है, जिसकी चर्चा आगे करेंगे ।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'कारिका' की व्याख्या से पूर्व काव्य-प्रकाश के अष्टम उल्लास का संक्षिप्त परिचय दिया है कि दोष का निरूपण करने के पश्चात् अब गुण और अलंकार का निरूपण किया जाएगा। गोविन्द ठक्कुर ने दो कारिकाओं में गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट किया है। 'ये रसस्य——गुणाः', मम्मट की इस कारिका में गोविन्द ठक्कुर ने अन्य टीकाकारों की भाँति गुण को रस का धर्म माना है। वे लिखते हैं कि शरीर में आत्मा के समान काव्य में प्रधानतया स्थित अंगी रस है गुण रस पर साक्षात् आश्रित हैं ।

'अचलस्थितयः' के गोविन्द ठक्कुर ने दो अभिप्राय दिए हैं—एक तो रस के साथ गुणों की स्थिति अव्यभिचारी रूप से है अर्थात् गुण रस के बिना नहीं पाए जाते । दूसरा रस के साथ स्थित होकर वे रस के उपकारक अवश्य होते हैं । इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध होता है कि गुण रस के ही धर्म हैं ।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने इस कारिका को स्पष्ट करते हुए रस के साथ संबंध की दृष्टि से गुण के तीन लक्षण स्वीकार किए हैं—१. रसस्योत्कर्षहेतुत्वे सति रसधर्मत्वं अर्थात् गुण रस के धर्म हैं २. सति रसाव्यभिचारिस्थितित्वं अर्थात् नियम से रस के साथ रहना, रस के बिना नहीं ३. अयोगव्यवच्छेदेन रसोप-कारकत्वं अर्थात् विद्यमान होकर रस का उपकार करना। इस प्रकार अलं-कारों से भी गुणों का भेद स्पष्ट होता है क्योंकि अलंकार न तो नियम से रस के साथ रहते हैं और न नियम से रसोपकारक ही हैं ।

गोविन्द ठक्कुर ने इस प्रसंग में 'चण्डीदास' के गुण संबंधी मत का खंडन किय है । चण्डीदास के अनुसार 'रसधर्ममात्रं लक्षणं, उत्कर्षहेतुत्वं गुणशब्द-

१. काव्यप्रदीप, पृ० २७४

प्रवृत्तिवीजम् ।' अर्थात् चण्डीदास ने उत्कर्षहेतु गुण के लक्षण का अंग नहीं, उसकी प्रवृत्ति का द्योतक माना है। गोविन्द ठक्कुर ने इस मत का खण्डन किया है। प्रदीपकार लिखते हैं कि यदि उत्कर्षहेतु होना गुण का लक्षण नहीं माना जाए तो 'शृंगारत्वादौ धर्मेऽतिव्याप्तेः ।' क्योंकि 'जो रस का धर्म हो वह गुण है' ऐसा कहने से माधुर्यादि तीन गुणों (माधुर्य, ओज, प्रसाद) तक परिभाषा की व्याप्ति नहीं रह जाएगी, सभी रसों के धर्मों तक अतिव्याप्ति हो जाएगी जैसे शृंगारत्व शृंगार रस का धर्म है। रस-धर्म होने से शृंगारत्त्र भी गुण होने लगेगा। यह ठीक नहीं। अतः रसधर्मत्व के साथ रस का उत्कर्ष हेतुत्व भी गुण-लक्षण में आवश्यक है।[1]

वृत्ति को मम्मट की भाँति ही लिखा है जिसका अभिप्राय यह है कि शारीरिक पुष्टता और अपुष्टता के आधार पर ही उस व्यक्ति को शूर और अशूर समझने की भ्रान्ति कुछ अविवेकी कर दिया करते हैं। किन्तु गुण को आत्मा का धर्म समझने वाले विवेकी भी उपचार से उसे शरीरगत कहते हैं। जिस प्रकार यदि शरीर की आत्मा में वीरता का निवास हो तो उस शरीर को उपचार से वीर कहा जाता है। प्रदीपकार का अभिप्राय यही है कि जहाँ माधुर्यदि गुण नही हों, वहाँ केवल कोमल वर्णों को देखकर यदि उसे मधुर कहा जाए तो यह अविवेकी मनुष्य की भ्रान्ति है। किन्तु मधुर रस के रहने पर उसके व्यंजक सुकुमार वर्णों को मधुर कहा जाए तो औपचारिक प्रयोग माना जाएगा।[2]

अलंकार

काव्यप्रकाश के 'प्रथम उल्लास' में काव्य-लक्षण में मम्मट ने काव्य में अलंकार का होना भी आवश्यक माना क्योंकि मम्मट ने लिखा—'अनलंकृती पुनः क्वापि ।' यहाँ 'अनलंकृती' से अभिप्राय 'अस्फुट' अलंकार से है। जिसकी चर्चा तृतीय अध्याय में की गई है। यहाँ मम्मट ने अलंकारों का लक्षण दिया—

जिस प्रकार हारादि आभूषण शरीर के माध्यम से आत्मा का उपकार करते हैं उसी प्रकार काव्य में रस के रहने पर जो काव्य के अंगभूत शब्दार्थ

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २७४

२. वही, पृ० ८७४

के माध्यम से रस का उपकार करते हैं वे अनुप्रास तथा उपमादि अलंकार है ।[१]

वृत्ति में मम्मट ने यह स्पष्ट किया है कि अलंकार काव्य के शरीर वाचक-वाच्य के धर्म हैं। अलंकार रस का उपकार करते हैं । मम्मट ने यह माना है कि जिस काव्य में रस नहीं रहता वहाँ केवल उक्ति-वैचित्र्य मात्र दिखलाते है । इसके अतिरिक्त तीसरी संभावना यह है कि कहीं रस होता है तो भी अलंकार उसका उपकार नहीं करते ।[२]

मम्मट ने क्रमशः चार उदाहरण दिए हैं जिसमें बताया है कि अलंकार वाचक द्वारा रसोत्कर्षक है, वाच्य-वाचक द्वारा रसोत्कर्षक हैं, कहीं अलंकार वाचक के ही उत्कर्षक हैं रस के नहीं, कही वाच्य के ही उत्कर्षक हैं रस के नहीं । उदाहरण क्रमशः दिए हैं—

१. 'अपसारय.... बाला ।'[३]

२. 'मनोरागस्तीव्रं ...... न भवती ।'[४]

३. 'चित्ते विघटते .... प्रगल्भा ।'[५]

४. 'मित्रे क्वापि .... निर्गच्छतः ।'[६]

बालचित्तानुरंजनी, सारबोधिनी, दीपिका—बालचित्तानुरंजनी, सारबोधिनी तथा दीपिका आदि टीकाओं में मम्मट की भाँति ही अलंकार का लक्षण स्पष्ट किया गया है कि अलंकार रस के साक्षात् उपकारक नहीं हैं । वाचक शब्द और वाच्य अर्थ की शोभा बढ़ाते हुए रस की शोभा बढ़ाते हैं । रस के बिना भी पाये जाते हैं और कहीं रस का उपकार नहीं करते हैं । इसके अतिरिक्त श्री नरहरिसरस्वतीतीर्थ एवं चण्डीदास ने अपनी टीका 'बालचित्तानुरंजनी' और 'दीपिका' मे अलंकारों के औचित्य की भी चर्चा की है । वस्तुतः शौर्यादि के द्वारा आत्मा ही अलंकार्य है, अचेतन शरीर नहीं । काव्य का मुख्य तत्त्व रस है । यदि काव्य में रस नहीं है तो वह काव्य निष्प्राण होता है । जिस प्रकार मनुष्य के निष्प्राण शरीर पर कटक, कुण्डलादि अलंकार व्यर्थ होते हैं

---

१. 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।'
(काव्यप्रकाश, कारिका, ८-६७)

२. 'ये वाचक ...... नोपकुर्वन्ति ।' (काव्यप्रकाश. पृ० ४०९)

३,४,५,६, काव्यप्रकाश, उदाहरण ८.३४१, ३४२, ३४३, ३४४

उसी प्रकार रसहीन काव्य में अलंकार निरर्थक सिद्ध होते हैं। अनौचित्य से अलंकार हास्यास्पद सिद्ध होते हैं। अतः चण्डीदास का कथन है कि अलंकार शरीर की शोभा बढ़ाते हैं परन्तु चेतन शरीर की, अचेतन की नहीं। अतएव सजीव शरीर से ही आत्मलाभ होता है।[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने अलंकारों का गुणों से भेद 'ये रसस्यांगिनो' कारिका में स्पष्ट किया है (१. रसस्योत्कर्षहेतुत्वे सति रसधर्मत्वं, २. रसाव्यभिचारिस्थितित्वम्। ३. अयोगव्यवच्छेदेन रसोपकारकत्वम्।)

अलंकारों का स्वरूप गुणों से नितान्त भिन्न है। वे भी रस के उपकारक तो हैं किन्तु रस के साक्षात् उपकारक नहीं हैं, इस कथन को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर मम्मट की 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं' कारिका की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि रस के अंगभूत जो शब्दार्थ हैं अलंकार उनमें उत्कर्ष उत्पन्न करते हैं।

'अलंकार' से अभिप्राय लौकिक पक्ष में शृंगार आदि से है और काव्य-पक्ष में शब्दालंकार अनुप्रासादि और अर्थालंकार उपमादि से है। गोविन्द-ठक्कुर ने भी यह माना है कि जहाँ रस नहीं होता वहाँ अलंकार केवल उक्तिवैचित्र्य मात्र दिखलाकर रह जाते हैं, कहीं रस के विद्यमान होने पर भी रस का उपकार नहीं करते। अतः अलंकारों की गुणों से विपरीत चल-स्थिति है——'एतावता रसावृत्तित्वं चलस्थितित्वं च दर्शितम्।' गुणों की भाँति यहाँ भी अलंकार के तीन लक्षण हैं—१. रसोपकारकत्वे सति तदवृत्तित्वं (रस के धर्म न होना) २. रसव्यभिचारित्वं (रस के न होने पर भी विद्यमान रहना), ३. अनियमेन रसोपकारकत्वं (नियत रूप से रसोपकारक न होना।)

गोविन्द ठक्कुर के अनुसार गुण और अलंकार के भेद को इस प्रकार समझा जा सकता है—

---

१. (क) 'शौर्यादिभिरात्मैवालंकार्यः न त्वचेतनम्। शवशरीरं यतिशरीरं वा कटकादिवत् हास्यावहम्। अनौचित्यात्।
(बालचित्तानुरंजनी, पृ० ३१६)

(ख) 'तमित्यस्य मुख्यं रसमिति, सन्तमित्यस्य च सम्भविनमिति विवृतिः। शरीरिणोऽप्युपकारका इत्यलंकारणौपाधिकत्वाद लंकारपदस्यालंकरणदशायामेव मुख्यत्वनीत्या सजीव एव शरीरे शोभामावहतामलंकाराणामात्मलाभो नान्यथा, मृत-शरीरेऽपि शोभाधानप्रसंगादित्यर्थः।' (दीपिका, पृ० ३५०)

गुण	अलंकार
१. रसस्योत्कर्षहेतुत्वे सति रसधर्मत्वं	रसोपकारकत्वे सति तदवृत्तित्वं
२. रसाव्यभिचारिस्थितित्वं	रसव्यभिचारित्वं
३. अयोगव्यवच्छेदेन रसोपकारकत्वं	अनियमेन रसोपकारकत्वं

बालबोधिनी—वामनाचार्य झकलीकर ने इस कारिका की व्याख्या अधिक स्पष्ट रूप में की है। १. जिस प्रकार हारादि आभूषण कण्ठ की शोभा बढ़ाते हुए कामिनी-सौन्दर्य के वर्द्धक होते हैं उसी प्रकार अलंकार शब्दार्थ की शोभा बढ़ाते हुए रस के उत्कर्षक हो जाते हैं। २. जिस प्रकार कुरुपा के अंगों में हारादि सौन्दर्य उत्पादक न होकर केवल मात्र दृष्टि-चमत्कार के हेतु होते है उसी प्रकार अलंकार नीरस या चित्रकाव्य में उक्ति-वैचित्र्य मात्र दिखलाकर रह जाते हैं। जैसे ग्रामीण अलंकार सुकुमार नायिका के सौन्दर्य-वर्द्धक नही होते उसी प्रकार कहीं-कहीं रस के विद्यमान होने पर भी अलंकार रस का उपकार नहीं करते हैं।[1]

मम्मट तथा उसके टीकाकारों पर आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त का प्रभाव है। आनन्दवर्धन ने गुण को रस का धर्म माना है और अलंकार को काव्य के शरीर शब्द और अर्थ के साथ संबंधित माना है।[2] आनन्दवर्धन ने भी यह स्पष्ट किया है कि गुण अर्थ से सम्वद्ध रहकर रस पर आश्रित रहता है। अतः उसे उपचार से ही शब्द-गत माना जाता है। जैसे आत्मा के धर्म शौर्यादि को उपचार से ही शरीर-धर्म मान लिया जाता है।[3]इस प्रकार मम्मट

---

१. 'यत्र रसस्य संभवस्तत्र तमुपकुर्वन्ति यत्र तस्यासंभवस्तत्रोक्तिवैचित्र्य-मात्रपर्यवसिता इत्यर्थः यथा हारादयोऽपि कामिनीसौन्दर्ये सति तदंगानामुत्कर्षकाः कुरूपांगे तु दृष्टिवैचित्र्यमात्रहेतव इति भावः। ...... सन्तमपि रसं क्वचिन्नोपकुर्वन्तीत्यर्थः, यथा अति-सुकुमारनायिकांगे ग्रामीणालंकारा इति भावः।'

(बालवोधिनी, पृ० ४६५-४६६)

२. 'तमर्थमवलम्वन्ते येऽगिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।'

(ध्वन्यालोक, २-६)

३. 'अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम्।
शब्दधर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वेऽपि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम्।'

(ध्वन्यालोक, पृ० ७२७)

तथा गोविन्द ठक्कुर पर आचार्य आनन्दवर्धन का प्रभाव है।

गोविन्द ठक्कुर ने अलंकारों के औचित्य की चर्चा नहीं की है परन्तु चण्डीदास और वामनाचार्य आदि टीकाकारों ने अभिनवगुप्त के प्रभावस्वरूप अलंकारों के औचित्य की चर्चा की है। 'अभिनवगुप्त' ने 'लोचन' टीका में स्पष्ट किया है कि मनुष्य के अचेतन शरीर पर कटक, कुण्डलादि अलंकार व्यर्थ हैं। काव्य की शोभावृद्धि के लिए अलंकार-योजना में औचित्य होना चाहिए। यति का शरीर कटक इत्यादि से युक्त होकर हास्यास्पद होता है क्योंकि अलंकार्य अनुचित है।[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट करते हुए लक्षण-त्रय का निर्वाह किया है।

गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के उदाहरणों का भी स्पष्टीकरण किया है जिसमें क्रमशः बताया है कि अलंकार १. वाचक द्वारा रसोत्कर्षक हैं, २. वाच्य द्वारा रसोत्कर्षक हैं, विद्यमान रस का भी उपकार न करके, ३. वाचक का हो अथवा, ४. वाच्य का ही वैचित्र्य मात्र प्रकट करते हैं, ५. कहीं-कहीं रस के न होने पर उक्ति-वैचित्र्य मात्र को प्रकट करते हैं।

प्रथम उदाहरण 'अपसारय घनसार' में गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि 'र' वर्ण के अनुप्रास अलंकार द्वारा विप्रलम्भ-शृंगार रस का उत्कर्ष है।

द्वितीय उदाहरण 'मनोरागस्तीव्रं विषमिव' में 'विषमिव' आदि उपमा अलंकार अर्थ की सौन्दर्य-वृद्धि के द्वारा विप्रलम्भ शृंगार रस का उपकार करते हैं।

तृतीय उदाहरण गोविन्द ठक्कुर ने प्रथम उल्लास के चित्रकाव्य का 'स्वच्छन्दोच्छल' दिया है जिसमें बताया है कि रस के विना भी अलंकार संभव है।

'चतुर्थ उदाहरण' 'चित्ते विहट्टदि' प्राकृत-भाषा का है। प्रस्तुत उदाहरण में अनुप्रास से शब्द-मात्र ही अलंकृत है विप्रलम्भ शृंगार रस नहीं क्योंकि टवर्ग शृंगार के प्रतिकूल है। गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ यह भी स्पष्ट किया है कि प्रतिकूल वर्ण होने से यह नहीं कह सकते हैं कि रस कि उत्पत्ति नहीं होती है।

---

१. 'तथाहि--अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्यानौचित्यात्।' (ध्वन्यालोक, लोचन, पृ० ७३)

रस उत्पन्न तो होता है परन्तु उसका उत्कर्ष नहीं होता। अतएव प्रदीपकार का यह कथन है कि प्रतिकूल वर्ण (टवर्गादि) विद्यमान रस (विप्रलम्भ-शृंगार) का उपकार करते हैं।[१]

'पंचम उदाहरण' 'मित्रे क्वापि' की विशेष चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने की है। गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि मम्मट ने पिछली कारिका में कहे गये अपने उस भाव को स्पष्ट किया है कि कहीं-कहीं रस विद्यमान होता है फिर भी अलंकार उसका उपकार नहीं करते। 'मित्रे क्वापि' उदाहरण में अलंकार भी है और विप्रलम्भ शृंगार रस भी। परन्तु अलंकार रस का अपकार कर रहे हैं उपकार नहीं। प्रस्तुत उदाहरण में अलंकार केवल वाच्य का ही उपकार करते हैं। इस उदाहरण में उपमा अलंकार है तथा वियोगी चक्रवाक की दशा का वर्णन होने से विप्रलम्भ शृंगार रस है। परन्तु रस की बाधक यह पंक्ति है 'कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः'। मम्मट ने भी वृत्ति में स्पष्ट किया है कि एक ओर तो उत्कट विरहावस्था का वर्णन है। परन्तु दूसरी ओर प्राणों के निकलने का वर्णन नहीं अपितु बिसलता को प्राण-निरोध के लिए अर्गला के समान माना है जिससे प्रकृत भाव उद्दीप्त नहीं होता है। अतएव उपमा अलंकार केवल अर्थ का उत्कर्षक है, रस का नहीं। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यदि यहाँ उपमा के स्थान पर 'उत्प्रेक्षा' अलंकार मानकर इस पद्य की व्याख्या की जाए तब भी वही दोष उत्पन्न होगा जो 'उपमा' अलंकार में है अर्थात् यहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलंकार भी रस का अपकर्षक है, उत्कर्षक नहीं। अभिप्राय यह है कि विरह की चरमावस्था में विरही प्राणों को रोकने के लिए कामना नहीं करता है अपितु प्राण जाने की आकांक्षा रखता है।[२] अतः 'जीवं निरोद्धुमशक्तेति' विप्रलम्भरस का अपकर्षक है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि विप्रलम्भ शृंगार में मृत्यु की केवल इच्छा की जाती है, मृत्यु का होना निषेध है। मिलन की इच्छा से विरही अपनी अवस्था को सहन करता है। यदि मृत्यु हो जाती है तो वहाँ विप्रलम्भ-शृंगार नहीं होगा।

उद्भट् वामनादि आचार्यों की गुणालंकार संबंधी मान्यताओं का खण्डन— 'एवं च . . . . . इत्यभिधानमसत्' वृत्ति में मम्मट ने किसी आचार्य के मत

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २७७

२. काव्यप्रदीप, पृ० २७८

का उल्लेख किया है। परन्तु यह मत किस आचार्य का है इसका नामोल्लेख मम्मट ने नहीं किया है। इस मत का सारांश यह है कि लौकिक व्यवहार में शौर्यादि गुण व्यक्ति के साथ समवाय संबंध से रहते हैं तथा हारादि अलंकार व्यक्ति शरीर पर संयोग संबंध से रहते हैं। अतएव लौकिक गुण तथा अलंकार में तो इस प्रकार का विभाजन हो सकता है किन्तु काव्य में ओजः प्रभृति गुण तथा उपमादि अलंकार दोनों समवाय संबंध से रहते हैं।' मम्मट ने इस मान्यता को अनुचित माना है क्योंकि उन्होंने गुण, अलंकार विवेचन में यह सिद्ध किया है कि गुण की काव्य के साथ अव्यभिचारी या नित्य स्थिति तथा अलंकार की व्यभिचारी या अनित्य स्थिति है।[1]

वस्तुतः उपर्युक्त मत आचार्य भट्टोद्भट का है। आनन्दवर्धन ने तथा अभिनवगुप्त ने 'लोचन' में भट्टोद्भट का स्पष्टतः नामोल्लेख करके इसका खण्डन किया है।[2]

'काव्यप्रकाश' की संकेत टीका में माणिक्यचन्द्र ने इस मत को उद्भट का मत स्वीकार किया है।[3]

गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति 'काव्यप्रदीप' टीका में बिना किसी आचार्य का नामोल्लेख किए इस मत का विवेचन किया है। 'कैश्चिदुक्तम्' से इस मत को गोविन्द ठक्कुर ने उद्धृत किया है।[4]

वामन का मत—

गोविन्द ठक्कुर ने वामन के मत का उल्लेख मम्मट की भाँति वामन का नामोल्लेख करते हुए किया है। वामन ने जो यह कहा 'काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' उचित नहीं। यहाँ-यह प्रश्न उपस्थित होता है कि समस्त गुणों के मानने से कोई रचना काव्य हो सकती है या कतिपय गुणों से ? यदि प्रथम विकल्प को माने तो प्रदीपकार लिखते हैं 'पाञ्चालीगौडीया च रीतिः कथं काव्यस्यात्मा।' क्योंकि केवल वैदर्भी ही समस्तगुण विशिष्ट होती है, गौडी या पांचाली नहीं।

---

१. काव्यप्रकाश, वृत्ति, पृ० ४१३
२. 'संघटनाया धर्मा गुणा इति भट्टोद्भटादयः धर्माश्च धर्म्याश्रिता इति प्रसिद्धो मार्गः।
३. 'शब्दार्थालंकाराणां गुणवत्समवायेन स्थितिरिति भामहवृत्तौ भट्टोद्भटेन भणनमसत्।' (संकेत, पृ० १८७)
४. काव्यप्रदीप, पृ० २७८

यदि द्वितीय विकल्प मानें तो 'अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यःप्रोद्यल्लसत्येष धूमः' वाक्य भी ओज गुण विद्यमान होने से काव्य हो जाएगा। परन्तु मम्मट के अनुसार अलंकारों के अभाव में इसे काव्य नहीं कहा जा सकता है।[1] यह गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है।

'वामन' के (तदतिशयहेतवस्त्वलङ्.काराः) अलंकार लक्षण का भी गोविन्दठक्कुर ने खण्डन किया है। मम्मट ने 'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव'[2] उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि प्रस्तुत उदाहरण में विशेषोक्ति तथा व्यतिरेक नामक दो अलंकार गुणों की अपेक्षा किये विना ही काव्य-व्यवहार के प्रवर्तक हैं।

गोविन्द ठक्कुर ने 'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव' उदाहरण की विस्तृत व्याख्या की है। गोविन्द ठक्कुर ने वामन के अनुसार 'विशेषोक्ति' और 'व्यतिरेक' अलंकार का लक्षण दिया है और स्पष्ट किया है कि यहाँ पूर्वार्ध में 'विशेषोक्ति' अलंकार है और उत्तरार्ध में 'व्यतिरेक'' अलंकार। प्रदीपकार लिखते हैं कि यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि प्रस्तुत उदाहरण में प्रसाद आदि गुण वर्तमान हैं फिर गुणनिरपेक्ष अलंकार को काव्य का शोभा हेतु कैसे माना जा सकता है? दूसरा यह कि यदि निर्गुण हो और केवल अलंकार युक्त हो तो उसे काव्य कैसे मानेंगे क्योंकि मम्मट की (प्रथमउल्लास में कहीं गई) काव्य-लक्षण की 'सगुणावनलंक्कृती पुनः क्वापि', उक्ति असिद्ध हो जाएगी। पुनः इस शंका का गोविन्द ठक्कुर समाधान भी करते हैं कि उक्त श्लोक में वामन के समग्र गुण नहीं हैं और कतिपय गुणों के होने से काव्य नहीं माना जा सकता है। अतः यहां अलंकार ही काव्यत्व का हेतु है।[3] अभिप्राय यह है कि वामन का 'तदतिशयहेतवः' अलंकार लक्षण भी दूषित है। क्योंकि 'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव' उदाहरण में गुणजनित शोभा का अभाव होने से घटित नहीं होता है। मम्मट गुण को शब्दार्थ पर आश्रित न मानकर रस पर आश्रित मानते हैं।

गुण-भेद

काव्यगुणों पर काव्यशास्त्रीय दृष्टि से विचार प्राचीन आचार्य भरत से ही परम्परागत रूप से चला आ रहा है। किसी आचार्य ने (भरत)

---

१. 'नहि मन्मत इव त्वन्मतेऽपि तद्व्वहारेऽलंकारापेक्षा।'

(काव्यप्रदीप, पृ० २७८)

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ८-३४६

३. काव्यप्रदीप, पृ० २७९

दस गुण मानें, किसी ने तीन (भामह), किसी (वामन) ने दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण मानें। परन्तु मम्मट ने आनन्दवर्धन की भाँति तीन गुण स्वीकार किए—माधुर्य, ओज और प्रसाद।

माधुर्यगुण

मम्मट ने माधुर्य का लक्षण दिया कि चित्त की द्रुति का कारण जो आह्लादकता है वही माधुर्य-गुण है और वह श्रृंगार रस में होता है।[1] वृत्ति में स्पष्ट किया है कि द्रुति अर्थात् चित्त का पिघलना। मम्मट ने स्पष्ट किया कि श्रव्यता को माधुर्य नहीं कहना चाहिए क्योंकि श्रव्यता तो ओज तथा प्रसाद में होती है। श्रृंगार के अतिरिक्त माधुर्य गुण करुण, विप्रलम्भ तथा शान्त रसों में अतिशय प्रकर्षावस्था में रहता है।[2]

आनन्दवर्धन ने शान्त रस में माधुर्य की सत्ता नहीं मानी। इसके अतिरिक्त सम्भोग श्रृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ श्रृंगार में एवं उसकी अपेक्षा करुण रस में चित्त की अधिक द्रुति होती है।

संकेत—गोविन्द ठक्कुर ने बड़े विस्तार से इन गुणों की चर्चा की है। गोविन्द से पूर्व के टीकाकारों को देखें तो सर्वप्रथम माणिक्यचन्द्र हैं। माणिक्यचन्द्र लिखते हैं कि हास्य, अद्भुतादि श्रृंगार के अंग है। यद्यपि हास्यादि में चित्त-वृत्ति का विस्तार होने से ओज गुण भी होता है तथापि श्रृंगार होने से माधुर्य गुण का ही उत्कर्ष प्रतीत होता है।[3] 'द्रुति' से अभिप्राय आर्द्रता से है। संकेतकार ने माधुर्य गुण की चर्चा में भरत, दण्डी, वामन तथा भामहादि के मतों की चर्चा की है। मम्मट ने जो यह कहा—'श्रव्यत्वं पुनरोजःप्रसादयोरपि' उसके विषय में संकेतकार लिखते हैं कि यहाँ 'भामह' का लक्षण परास्त हुआ हैं। यद्यपि मम्मट ने 'भामह' का उल्लेख नहीं किया है।[4]

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ४१७

२. 'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्। (वही, पृ० ४१७)

३. 'श्रृंगारांगे हास्याद्भुतादावपि। यद्यपि हास्याद्भुतयोश्चित्तविस्तार-हेतुतयौजोऽप्यस्ति तथाऽपि श्रृंगारागंतया प्रकृष्टं माधुर्यमेव तत्र प्रतीयते।' (संकेत, पृ० १८९)

४. 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते।' 'इति माधुर्यलक्षणं भामहोक्तमतिव्यापकत्वेन निरस्तम्।' (संकेत, पृ० १८९)

बालचित्तानुरंजनी—'बालचित्तानुरंजनी' टीका में श्रीनरहरिसरस्वती तीर्थ ने 'श्रव्यत्वमेव माधुर्यमिति भामहेनोक्तम्', कहकर इसे असंगत माना है।[1]

सारबोधिनी—'सारबोधिनी' में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने 'भामह' का नामोल्लेख नहीं किया मात्र 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यत इति यन्मधुरलक्षणं तदुपेक्षितम्' लिखा। सारबोधिनीकार तीनों गुणों को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि नवरस के आस्वादन में सामाजिक चित्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं।— १. द्रुति, २. विस्तार, ३. विकास। शृंगार करुण और शान्त में चित्त द्रुति होती है। वीर, बीभत्स तथा रौद्र में चित्त का विस्तार होता है। हास्य, अद्‌भुत तथा भयानक में विकास होता है। हास्य में मुख का विकास, अद्‌भुत में नयन का विकास और भयानक में गति का विकास होता है।[2]

दीपिका—चण्डीदास ने 'दीपिका' में 'द्रुतिर्गलित्वममिव' को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि इसमें सहृदय का चित्त आवेश-रहित काठिन्य, क्रोधादिजन्य दीप्तरुपत्व और विस्मय हास आदि रागित्व रूप का परित्याग कर देता है, केवल आनन्द रूप होता है।[3] 'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्' में दीपिकाकार लिखते हैं कि शृंगार और करुण में केवल माधुर्य होता है किन्तु शान्त जुगुप्सादि का संबंध होने के कारण ओज के अल्पांश से भी युक्त होता है।[4]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि मम्मट का यह कहना 'आह्लादकत्वं माधुर्य. शृंगारे द्रुतिकारणम्', माधुर्य का लक्षण है। यहाँ 'आह्लाद-

---

१. बालचित्तानुरंजनी, पृ० ३२०

२. 'इह हि सामाजिकानां चित्तेषु नवरसजन्यास्तिस्रोऽवस्थाः द्रुतिर्विस्तारो विकासश्चेति। तत्र शृंगारकरुणशान्तेभ्यो द्रुतिः, वीरबीभत्सरौद्रेभ्यो विस्तारः, हास्याद्‌भुतभयानकेभ्यश्च विकास इति। येन हास्ये वदनविकासः, अद्‌भुते नयनविकासः, भयानके द्रुतापसरणमिति त्रिष्वेव वदननयनगमनेषु प्रसारिता विकास इति।' (सारबोधिनी, पृ० ३२१)

३. 'स्वाभाविकानाविष्टत्वात्मककाठिन्यमन्युक्रोधादिकृतदीप्तत्व विस्मय-ह्रासाद्युपहितविक्षेप-परित्यागेन।' (दीपिका, पृ० ३५६)

४. 'शृंगारकरुणयोर्न्निस्सपत्नं माधुर्य्यम्, शान्ते तु विषयजुगुप्साद्यनुगमादोजोलेशानुविद्धमिति।' (दीपिका, पृ० ३५७-३५८)

कत्वं द्रुतिकारणम्' का विशेष अभिप्राय है। गोविन्द ठक्कुर ने यह स्पष्ट किया है कि गुण आह्लाद का हेतु नहीं होता। यदि माधुर्य गुण में केवल आह्लाद की सत्ता मानें तो अन्य दीप्त रसों में जहाँ माधुर्य नहीं रहता, आह्लाद का अभाव माना जाएगा। ऐसा मानने से रस की मौलिक मान्यता में विरोध पड़ता है क्योंकि आह्लाद केवल श्रृंगार रस में नहीं होता, सभी रसों का स्वरूप है। अतः मम्मट ने लक्षण में यह विशेष रूप से कहा कि 'चित्त' की द्रुति का कारणभूत आह्लाद ही माधुर्य गुण है।"[1]

'द्रुतिकारणम्' से अन्य रसों में माधुर्य लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती क्योंकि अन्य दीप्त रसों में आह्लाद रहता है पर वहाँ चित्त की द्रुति नहीं होती। 'द्रुति' से अभिप्राय है चित्त का पिघलना। द्वेषादिजन्य काठिन्य के अभाव में चित्त का पिघलना ही 'द्रुति' है।

मम्मट ने यह स्पष्ट किया है कि 'श्रव्यता' माधुर्य-गुण का लक्षण नहीं है क्योंकि श्रुतिप्रियता तो ओज तथा प्रसाद में भी रहा करती हैं। यहाँ किस आचार्य के लक्षण का खण्डन किया है, मम्मट ने इसका कोई संकेत नहीं दिया है। आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने भामह के माधुर्य-गुण 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते'[2] की आलोचना की है। 'काव्यप्रकाश' के टीकाकारों में 'चण्डीदास' ने किसी भी आचार्य का उल्लेख नहीं किया है। 'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने स्पष्ट किया है कि 'श्रव्यत्वं पुनरोजः' (मम्मट के इस कथन) में आचार्य भामह के माधुर्य-गुण के लक्षण का खण्डन किया गया है।

गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ 'भास्कर' टीकाकार का नामोल्लेख किया है—भास्कर का लक्षण हैं 'श्राव्यत्वं माधुर्यस्य लक्षणमाह'। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने 'तदयुक्तम्' से भास्कर के मत का खण्डन किया है। 'श्रवणानुकूलता' लक्षण मानने से ओज और प्रसाद गुणों में भी अतिव्याप्ति हो जाएगी। अतएव माधुर्य को श्रुतिसुखद शब्दों का गुण नहीं कहा जा सकता।[3]

गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति माधुर्य केवल संभोग श्रृंगार में नहीं माना अपितु संभोग से करुण में, करुण से विप्रलम्भ में विप्रलम्भ से शान्त में अधिक

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २७९
२. काव्यालंकार ३.३
३. काव्यप्रदीप, पृ० २७९

माधुर्य माना है। मम्मट ने 'हास्यादि' रस की चर्चा नहीं की है, परन्तु प्रदीपकार ने स्पष्ट किया है कि हास्यादि रसों में चित्त की द्रुति होने से माधुर्य-गुण होता है।[1] गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ 'चण्डीदास' का अनुसरण करते हुए, जो विशेषता चण्डीदास ने बताई उसका स्वयं भी उल्लेख किया— 'संभोग-विप्रलम्भयोस्तन्निःसपत्नम्। शान्ते तु जुगुप्साद्यन्वयादोजोलेशानुविद्धमिति।' गोविन्द ठक्कुर के इस कथन में चण्डीदास से भिन्नता यह है कि चण्डीदास ने शृंगार और करुण में माधुर्य प्रतिपक्ष रहित माना है और गोविन्द ठक्कुर ने संभोग और विप्रलम्भ—शृंगार को प्रतिपक्ष रहित माना अर्थात् इनमें केवल माधुर्य होता है। 'शान्त' रस में जुगुप्सा आदि का संबंध होने से ओज का लेश भी होता है।

यहाँ गोविन्द ठक्कुर के 'संभोगविप्रलम्भयोस्तन्निःसपत्नम्' के स्थान पर चण्डीदास का 'शृंगारकरुणयोर्न्निस्सपत्नं माधुर्यं' अधिक युक्त है क्योंकि चण्डीदास ने शृंगार के साथ-साथ करुण की भी चर्चा की है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने 'करुण' रस की चर्चा नहीं की केवल शृंगार के दोनों पक्षों को लिया। यदि यह कहा जाए कि 'करुण' में 'माधुर्य' की चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने आरम्भ की है जहाँ वे लिखते हैं 'संभोगत्करुणे विप्रलम्भे ततोऽपि शान्तेऽतिशयितं। परन्तु यह भी कह सकते हैं कि वहाँ 'करुण' के साथ-साथ शृंगार के दोनों पक्षों की भी चर्चा है। अतएव यदि शान्त रस में ओज का मिश्रण बतलाना प्रदीपकार को अभीष्ट था तो केवल 'शान्ते तु जुगुप्साद्यन्वयादोजो-लेशानुविद्धमिति' ही लिखते या फिर चण्डीदास की भाँति संभोग, विप्रलम्भ के स्थान पर 'शृंगारकरुण' लिखते।

प्रभा—'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने 'निःसपत्नमिति' का अभिप्राय स्पष्ट किया है 'प्रतिपक्ष-रहित'। यहाँ माधुर्य के अतिरिक्त और दूसरा गुण नहीं है अर्थात् ओजादि से रहित है। 'जुगुप्सेति' का अभिप्राय है कि शान्त में वीभत्स का स्थायी 'जुगुप्सा' होने से 'ओज' का भी लेशमात्र संबंध होता है, इसी प्रकार वीभत्स में माधुर्य का लेशमात्र संबंध होता है।[2]

अतः गोविन्द ठक्कुर के विवेचन में नवीनता यह रही कि मम्मट ने 'शान्त' में केवल माधुर्य माना परन्तु प्रदीपकार ने 'शान्त' में ओज का भी

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २७९

२. काव्यप्रदीप, प्रभा, पृ० २७९-२८०

संबंध माना है। गोविन्द ठक्कुर के विवेचन में आचार्य अभिनवगुप्त का प्रभाव माना जा सकता है। आनन्दवर्धन ने शान्त रस में माधुर्य की सत्ता नहीं मानी। परन्तु अभिनवगुप्त ने 'लोचन' टीका में शान्त-रस में ओज के साथ माधुर्य का भी सन्निवेश माना। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने यह भी माना कि शृंगार का अंग होने के कारण हास्य में माधुर्य प्रकृष्ट होता है।[1] परन्तु 'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्' की मान्यता का आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के मत से कुछ अन्तर है। मम्मट तथा गोविन्द ठक्कुर ने माधुर्य को करुण, विप्रलम्भ तथा शान्त रस में उत्तरोत्तर अधिक उत्कृष्ट रूप में माना है परन्तु आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने माना है कि संभोग-शृंगार से मधुरतर है विप्रलम्भ और उससे भी मधुरतम है करुण।[2]

ओज गुण

मम्मट ने 'ओज' का लक्षण करते हुए चित्त के विस्तार पर बल दिया। 'दीप्ति रूप चित्त के विस्तार का हेतु ओज गुण है। यह वीर रस में रहता है। इसके अतिरिक्त वीर रस से बीभत्स में तथा बीभत्स से रौद्र में ओज गुण अधिक रहता है।[3]

संकेत—'संकेत' में माणिक्यचन्द्र ने मम्मट की भाँति ही 'ओज' में चित्त का विकास माना है। 'विस्तार' से अभिप्राय 'विकास' से है। इस दीप्ति का जनक जो रस का धर्म है वह 'ओज' है।[4] 'माधुर्य' की भाँति यहाँ भी माणिक्यचन्द्र ने विभिन्न आचार्यों (भरत, वामन, दण्डी) के 'ओज' गुण के लक्षण का उल्लेख किया है।

सारबोधिनी—श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने माना है कि दीप्तिचित्त की विशेष प्रकार की वृत्ति है जिसमें मन प्रज्वलित हो जाता है। हास्य रस में मधुर एवं

---

१. 'शान्ते तु विभाववैचित्र्यात्कदाचिदोजः प्रकृष्टं कदाचिन्माधुर्यमिति विभागः। हास्यस्य शृंगारांगतया माधुर्यं प्रकृष्टं। (लोचन, द्वितीय उद्योत, पृ० ११३)

२. 'शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः।' (ध्वन्यालोक, २.८)

३. काव्यप्रकाश, पृ० ४१८

४. 'विस्तारो विकासः। तद्रूपदीप्तिजनकमोजसो लक्षणं सत्।' (संकेत, पृ० १८९)

ओज दोनों गुण माने हैं। यदि हास्य शृंगार का अंग है तो उसमें माधुर्य का प्रकृष्ट होता है और विकासधर्मी होने के कारण ओज भी प्रकृष्ट होता है। भयानक में भी भग्न चित्तवृत्ति के स्वभाव वाला होते हुए भी विभाव के दीप्त होने से ओज का प्रकर्ष होता है और माधुर्य अल्प होता है।[1]

दीपिका—'दीपिका' में चण्डीदास ने रौद्र और वीर को प्रतिपक्ष-रहित माना है अर्थात् उनमें केवल ओज की सत्ता होती है, वीभत्स में माधुर्य का भी लेश होता है, हास्य और भयानक में दोनों गुण रहते हैं।[2]

विस्तारिका—वामनाचार्य ने 'बालबोधिनी' टीका में परमानन्द चक्रवर्ती की चर्चा की है। चक्रवर्ती ने 'ओज' गुण की विस्तृत व्याख्या की है। उन्होंने दीप्ति को 'द्रुति' का विरोधी बताया। 'दीप्ति' सामाजिक के चित्त की विशेष वृत्ति है। जिसमें आत्मविषयक विशेष संपर्क से उष्णता आती है, इस प्रकार चित्त का विस्तार होता है। इनके संबंध की सूर्यकान्त से तुलना की है जैसे सूर्यकान्त का सूर्य किरणों से संबंध होता है। इसके अतिरिक्त चक्रवर्ती ने लिखा है कि वीभत्सादि में तितीक्षा और जिगीषा रहती है। वीर में केवल जिगीषा का भाव रहता है और वैरियों को वश में करना मात्र उद्देश्य होता है। वीभत्स में जुगुप्सित वस्तु के त्याग का भाव रहता है अतः वहाँ तितीक्षा है जिघांसा नहीं। रौद्र में अपकारी के वध का प्रयास होता है अतः जिघांसा है। इस प्रकार क्रमशः जिगीषा प्रधान वीर की अपेक्षा तितीक्षा प्रधान वीभत्स में चित्तवृत्ति अधिक दीप्त होती है और वीभत्स की अपेक्षा जिघांसा प्रधान रौद्र में उससे भी अधिक दीप्ति है।[3]

---

१. 'दीप्तिरूपा ज्वलद्रूपाया आत्मनश्चित्तस्य विस्तृतिः ...। हास्ये शृङ्गारांगतया माधुर्यं प्रकृष्टम् विकासधर्मतया ओजोऽपि। प्रकृष्टे भयानके भग्नचित्तवृत्तिस्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्तरसतया ओजः प्रकृष्टं माधुर्यमल्पमिति।' (सारबोधिनी, पृ० ३२१-३२२)

२. 'रौद्रे वीरे च निःप्रतिभटमोजो वीभत्से तु माधुर्यलवानुविद्धम् हास्याद्भुतभयानकेषु तु द्वयोरपि समावेशः।' (दीपिका, पृ० ३५८)

३. 'वीभत्सेत्यादि। तितिक्षाजिघांसाजनकत्वात्। वीरे तु जिगीषैव वैरिवशीकरणमात्रस्योद्देश्यत्वात्। वीभत्से जुगप्सिते विषये ममतानास्पदत्वेन तितिक्षा न तु जिघांसा। रौद्रे त्वपकारिणि वधावधिकः प्रयास इति जिघांसैव न तु जिगीषा न वा तितिक्षेति क्रमशो दीप्तेराधिक्यम्। अयमेव रौद्रवीररसयोर्भेदोऽवसेयः।' (बालबोधिनी, पृ० ४७६)

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने भी सारबोधिनीकार की भाँति माना कि दीप्ति में मन प्रज्वलित हो जाता है और चित्त का विस्तार हो जाता है। 'चक्रवर्ती' ने 'उष्णता' का प्रयोग किया, गोविन्द ठक्कुर ने 'प्रज्वलित' का। इस दीप्ति का जनक जो रस धर्म है वह 'ओज' है। इसकी स्थिति वीर रस में होती है। प्रदीपकार ने भी माना कि वीर रस से वीभत्स में तथा वीभत्स से रौद्र में चित्त अधिक दीप्त होता है तथा ओज गुण बढ़कर होता है।गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ 'चण्डीदास' के अनुरूप ही चर्चा की कि वीर और रौद्र रसों में ओज प्रतिपक्षरहित होता है पर वीभत्स में माधुर्य का भी थोड़ा मिश्रण ओज के साथ रहता है।[1]

इस प्रकार माधुर्य और ओज गुण के प्रधान आश्रयों का मम्मट ने उल्लेख किया है कि शृंगार, करुण आदि में माधुर्य गुण रहता है और वीर, बीभत्स एवं रौद्र में ओज गुण रहता है। परन्तु अन्य रस हास्य, अद्भुत, भयानक में किसी गुण का विधान नहीं किया। इसका उल्लेख गोविन्द ठक्कुर करते हैं कि हास्य, अद्भुत एवं भयानक में दोनों गुण (माधुर्य, ओज,) रहते हैं।[2]

गोविन्द ठक्कुर ने 'हास्य', 'अद्भुत' और 'भयानक' रसों की चर्चा की तथा यह माना कि इनमें दोनों गुण रहते हैं। 'सारबोधिनी' में श्रीवत्सलाञ्छन-भट्टाचार्य ने अधिक स्पष्ट किया कि हास्य और भयानक में किस प्रकार माधुर्य और ओज का प्रकर्ष रहता है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर में इसका अभाव है उन्होंने केवल इतना ही लिखा 'तेषूभयगुणप्राधान्यात्।'

गोविन्द ठक्कुर का यह कथन 'तदेतद्वीररौद्रयोर्निष्प्रतिपक्षं बीभत्से तु माधुर्यलवानुविद्धमिति विशेषः' चण्डीदास के अनुरूप है क्योंकि गोविन्द ठक्कुर से पहले चण्डीदास ने कहा है 'रौद्रे वीरे च निःप्रतिभटमोजो बीभत्से तु माधुर्यलवानुविद्धम्।' दोनों के कथन में कोई अन्तर नहीं है।

गोविन्द ठक्कुर एवं अन्य टीकाकारों पर वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य, चण्डीदास कहीं-कहीं अभिनवगुप्त का प्रभाव लक्षित होता है। कहीं-कहीं कहने से अभिप्राय यह है कि ओज गुण विवेचन में आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त से भिन्नता भी है। सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने रौद्रादि रसों में

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २८०

२. वही

ओज की स्थिति मानी ।[१] अभिनवगुप्त ने रौद्रादि से अभिप्राय दिया है वीर एवं अद्‌भुत रस[२]। गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के अनुरूप वीर, बीभत्स एवं रौद्र रस में ओज की स्थिति मानी है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने जहाँ हास्यादि रसों में माधुर्य और ओज दोनों गुण प्रधान माने, वहाँ अभिनवगुप्त का प्रभाव है। अभिनवगुप्त ने हास्य, भयानक, बीभत्स में दोनों गुणों का सन्निवेश माना है।[३]

माधुर्य गुण में गोविन्द ठक्कुर ने शान्त में जुप्गुसा आदि का संवंध होने के कारण ओज का मिश्रण माना 'शान्ते तु जगुप्साद्यन्वयादोजोले-शानुविद्धमिति' परन्तु बीभत्स में जुगुप्सा स्वभाविक रूप में होने से ओज गुण है अतः वहाँ माधुर्य गुण का होना किस आधार पर माना गया है इसे स्पष्ट नहीं किया गया है।

प्रसाद गुण

मम्मट ने 'प्रसाद गुण' का लक्षण दिया कि सूखे वन्धन में अग्नि तथा स्वच्छ वस्त्र में जल के समान जो गुण तुरन्त ही चित्त में व्याप्त हो जाता है वह 'प्रसाद' गुण है। वह सर्वत्र रसों तथा रचनाओं में विद्यमान रहता है।[४]

संकेत—'संकेत' में माणिक्यचन्द्र ने माधुर्य एवं ओज की भांति प्रसाद में भी विभिन्न आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है।

सारबोधिनी—'सारवोधिनी' में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य लिखते हैं कि वीर, रौद्रादि रसों में प्रसाद गुण शुष्क इन्धन में अग्नि के समान व्याप्त हो जाता है। श्रृंगार, करुणादि रसों में स्वच्छ जल के समान व्याप्त हो जाता है। प्रसाद गुण सभी रचनाओं में व्यंग्य रूप से रहता है। सारबोधिनीकार

---

१. 'रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।' (ध्वन्यालोक, २.९)

२. 'रौद्रेत्यादि। आदि शब्द प्रकारे। तेन वीराद्‌भुतयोरपि ग्रहणम्।' (लोचन, पृ १०७)

३. 'हास्यस्य श्रृंगारांगतया माधुर्यं प्रकृष्टं विकासधर्मतया ओजोऽपि प्रकृष्टमिति साम्यं द्वयोः। भयानकस्य भयचित्तवृत्तिस्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्तितया ओजः प्रकृष्टं माधुर्यमल्पम्। बीभत्सेऽप्येवम्।' (लोचन, पृ० ११३)

४. 'शुष्केन्धनाग्नित् स्वच्छजलवत्सहसैव यः
व्याप्नोत्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।' (काव्यप्रकाश, कारिका ८-७०)

ध्वनिकार आनन्दवर्धन के 'प्रसाद' गुण को उद्धृत किया है। आनन्दवर्धन का कथन है कि सब रसों के प्रति काव्य का जो समर्पकत्व गुण है उसे प्रसाद कहते हैं, इसकी क्रिया सर्वसाधारण होतो है।[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने सारबोधिनीकार की भाँति ही चर्चा की है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि ओज गुण प्रधान वीर, रौद्रादि रसों में तो प्रसाद गुण शुष्क इन्धन के समान चित्त में व्याप्त हो जाता है अर्थात् ओज गुण प्रधान रसों में चित्त प्रज्वलित हो उठता है। माधुर्य गुण प्रधान शृंगार और करुणादि रसों में स्वच्छ वस्त्र में जल के समान व्याप्त हो जाता है अर्थात् इन रसों में हृदय के आर्द्र हो जाने का भाव है। फिर बताया है कि प्रसाद गुण समस्त रसों का धर्म है तथा सभी रचनाओं में व्यंग्य रूप में रहता है।[2]

मम्मट ने केवल दो दृष्टान्त 'शुष्केन्धनाग्नित्' और 'स्वच्छजलवत्' दिए। परन्तु मम्मट ने दोनों दृष्टान्तों को अधिक स्पष्ट नहीं किया है। मम्मट की अपेक्षा गोविन्द ठक्कुर ने अधिक स्पष्ट विवेचन किया है। प्रदीपकार का कथन है कि ओज गुण प्रधान रसों में यह 'शुष्केन्धनवत्' है और माधुर्य गुण रसों में 'स्वच्छशर्करावस्त्रादिजलवद्' है। सब रचनाओं में इसकी स्थिति व्यंग्य रूप में है। गोविन्द ठक्कुर आदि टीकाकारों पर अभिनवगुप्त का प्रभाव है।

उद्योत—'उद्योत' टीका में नागेशभट्ट ने तीनों गुणों (माधुर्य, ओज, प्रसाद) की स्थिति इस प्रकार बताई है— नव-रसों की अनुभूति की दशा मे चित्त की तीन प्रकार की अवस्थायों की कल्पना की गई है। शृंगार करुण और शान्त रसों के आस्वादन में चित्त आर्द्र होता है, वीर, रौद्र और वीभत्स रस की चर्वणा में चित्त का विस्तार होता है, हास्य, अद्भुत एवं भयानक रसों में चित्त का विकास होता है। हास्य में वदन का विकास, अद्भुत में नेत्र का तथा भयानक में गमनादि का विकास होता है। यह विकास विभाव की

---

१. 'प्रसादः स्वच्छता। यदा वीररौद्रादिषु चित्तं व्याप्नोति तदा शुष्केन्धनाग्निवदिति। यदा शृंगारकरुणादिषु तदा स्वच्छजलवदिति। सर्वेष्वति। झटिति प्रतीयमानत्वं रसेषु, झटिति प्रत्यायकत्वं रचनासु च। तदुक्तम्। 'समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति। स प्रसादो गुणो ज्ञेय. सर्वसाधारणक्रियः। (सारबोधिनी, पृ० ३२२)

२. काव्यप्रदीप, पृ० १८०

विचित्रता के कारण कहीं चित्त की द्रुति के साथ होता है और विस्तार से युक्त होता है। अतः प्रसाद सभी प्रकार की रचनाओं में रहने के कारण से भी रसों का उत्कर्षाधायक होता है।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि माधुर्य का ओज और प्रसाद तीन गुणों की चर्चा मम्मट से अधिक स्पष्ट और विस्तृत रूप में गोविन्द ठक्कुर ने की है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों (अभिनवगुप्त आदि) और टीकाकारों के मत को भी यथा-समय ग्रहण किया है।

काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में 'काव्य-लक्षण' प्रसंग में मम्मट ने 'शब्दार्थौ' 'सगुणौ' द्वारा यह संकेत दिया कि गुण यद्यपि रस के धर्म हैं फिर भी माधुर्यादि गुणों को गौण रूप से शब्दार्थ-निष्ठ माना गया है। 'गुण-विवेचन' के अध्याय में मम्मट ने 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' सूत्र द्वारा प्रथम उल्लास में कहे गए अपने कथन की अधिक स्पष्ट चर्चा की है जिसका अभिप्राय यही है कि माधुर्यादि गुण रस के धर्म हैं तथा उपचारतः शब्द तथा अर्थ में इनकी स्थिति मानी जाती है। जिस प्रकार के शौर्यादि गुणों का शरीर में गौण रूप से व्यवहार होता है उसी प्रकार माधुर्यादि गुणों का भी।[2]

गोविन्द ठक्कुर ने भी मम्मट के उपर्युक्त कथन से सहमति प्रकट करते हुए इस प्रकार का भाव 'काव्यप्रदीप' टीका में व्यक्त किया। 'गुणवृत्ति-रुपचारः। आकारे शौर्यस्येव व्यञ्जके सुकुमारवर्णादौ तदुपचार इत्यर्थः। तेषां गुणानाम्।[3]

वामन के गुणों का खंडन

मम्मट ने रसाश्रित गुणों के तीन प्रकार माने हैं और वामन के दस शब्द गुण एवं दस अर्थगुण के सिद्धान्त का खण्डन किया है। मम्मट ने कारिका में स्पष्ट किया है कि प्राचीन दस गुणों में से कुछ गुण इन तीन

---

१. 'यतः सामाजिकानां नवरसजन्यास्तिस्रोऽवस्थाः। द्रुविस्तारो विकास-श्चेति। तत्र श्रृंगारकरुणशान्तेभ्यो द्रुतिश्चित्तस्य वीररौद्रवीभत्सेभ्यो विस्तारस्तस्य हास्याद्भुतभयानकेभ्यो विकास इति। विकासश्च हास्ये वदनस्य, अद्भुते नयनस्य भयानके द्रुतापसरणरूपो गमनस्य। स च क्वचिद्-द्रुत्या क्वचिद्विस्तारेण च युक्तः विभाववैचित्र्यात्।'
(उद्योत, बालबोधिनी में उद्धृत, पृ० ४७४)

२. काव्यप्रकाश, पृ० ४२०

३. काव्यप्रदीप, पृ० २८०

गुणों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं और कुछ दोषाभाव रूप होते हैं तथा कहीं-कहीं दोष रूप होते हैं।[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में मम्मट के समान तीन गुण माने हैं और वामनादि के दस गुणों को अनावश्यक माना है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि कुछ गुणों का अन्तर्भाव माधुर्यादि गुणों में होता है, कुछ गुण अलंकार में अन्तर्भूत हो जाते हैं। गुणों में कुछ ऐसे हैं, जो स्थिति विशेष में दोष बन जाते हैं। कुछ गुण दोषाभाव मात्र हैं अतः उन्हें भावात्मक गुण की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। कुछ गुणों का पर्यवसान वैचित्र्य-मात्र में होता है। अतः उन्हें गुण मानना युक्तिसंगत नहीं।[2]

गोविन्द ठक्कुर तथा उनके टीकाकार वैद्यनाथ ने वामन के श्लेष, समाधि, ओज, आदि दस शब्द-गुणों का स्पष्टीकरण मम्मट की अपेक्षा अधिक विस्तृत रूप में किया है। गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति श्लेष, समाधि, उदारता और प्रसाद गुण का 'ओज' गुण में अन्तर्भाव माना है।

१. **श्लेष**—बहुत से पदों की एक पद के समान प्रतीति रूप 'श्लेष' है।

२. **समाधि** आरोह और अवरोह का क्रम रूप समाधि है।

३. **उदारता** उदारता को गोविन्द ठक्कुर ने अधिक स्पष्ट किया है। मम्मट ने केवल 'विकटत्वलक्षणा उदारता' लिखा। प्रदीपकार लिखते हैं कि जिस गुण में सजातीय वर्णों का इस प्रकार गुम्फन होता है कि सामाजिक को ऐसा अनुभव होता है कि सभी वर्ण मिलकर नृत्य कर रहे हैं।[3]

प्रभा—'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने प्रदीपकार के भाव को और अधिक स्पष्ट किया है। वैद्यनाथ कहते है कि नर्तकियां जिस प्रकार एक साथ मिलकर एक ताल पर नृत्य करती हैं उसी प्रकार पद के वर्ण भी जहाँ एक रूप में मिलकर नृत्य से करते हैं, वह उदारता है।

४. **प्रसाद**—पद रचना की शिथिलता ही प्रसाद है गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ स्पष्ट किया है कि शैथिल्य स्वतः एक दोष है किन्तु ओज के साथ रहने पर वह गुण बन जाता है।[4]

---

१. काव्यप्रकाश, ८.७२
२. काव्यप्रदीप, पृ २८०
३.४. काव्यप्रदीप, पृ० २८१

प्रभा—'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने 'प्रसाद' का उदाहरण में 'वेणीसंहार' के श्लोक को उद्धृत किया है। वैद्यनाथ ने स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत उदाहरण में शैथिल्य का प्राधान्य है परन्तु गाढत्व और शैथिल्य साथ-साथ रहते हैं अतः दोष का परिहार हो जाता है।[1]

५. **ओज**—इन चारों गुणों के विषय में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'तदेतच्चतुष्टयमोजस्यन्तर्भूतम्।'

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि जब इन चारों गुणों को ओज में समाहित किया गया तब यह प्रश्न उठता है कि ओज गुण रसाश्रित है और वामन के उक्त चारों गुण शब्दगत हैं। अतः उनका अन्तर्भाव कैसे संभव है? प्रदीपकार इस शंका का समाधान करते हुए लिखते हैं कि 'तद्व्यञ्जके गाढबन्धलक्षणे तदन्तर्भाव इत्यर्थः' अर्थात् गुण को रसाश्रित मानने पर भी उनको व्यंजित करने की शक्ति शब्द, अर्थ एवं संघटना में मानी है। मम्मट के अनुसार दीर्घसमास विकट रचना ओज की व्यंजक है[2] (जिसका वर्णन आगे कारिका '७५' में है।) अतः ओज-व्यंजक गाढबन्ध में उक्त गुणों का अन्तर्भाव जाता है।

६. **माधुर्य**—वामन का पृथक्पदत्व माधुर्य मम्मट के माधुर्यगुण में ही अन्तर्भूत है अल्प-समास वाली या मध्य-समास वाली रचना माधुर्य की व्यंजक है।[3]

७. **अर्थव्यक्ति**—मम्मट के प्रसाद गुण में 'अर्थव्यक्ति' को अन्तर्भूत कर लिया गया है। 'अर्थव्यक्ति' से अभिप्राय है अर्थ का झट से बोध कराना। सुनते ही अर्थ-बोध करा देने वाले पद को प्रसाद व्यंजक माना है।[4]

८. **समता**—'समता' गुण को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि जिस रीति से काव्य आरंभ किया गया हो, समाप्ति पर्यन्त उसका निर्वाह

---

१. 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥'
(वेणीसंहार, तृतीय अंक)
इत्यादौ वेण्याम्। अत्र हि शैथिल्यस्य प्राधान्यमाधिक्यात्। गाढत्वं च शैथिल्यदोषपरिहारार्थमल्पं गुणभूतम्।'(प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ. २८१)

२. काव्यप्रदीप, पृ० २८२

३. वही

४. वही

करना, उसे न त्यागना। यह सर्वत्र गुण नहीं कहीं दोष भी है। 'मातङ्गाः किमु वलितैः' उदाहरण में सिंह के वर्णन में कोमल मार्ग का त्याग गुण है। यहाँ मार्ग का त्याग न करना रूप 'समता' दोष हो जाती है। भाव परिवर्तन के अनुरूप शैली का परिवर्तन गुण है। जहां भाव परिवर्तन होने पर शैली में परिवर्तन न हो वहाँ दोष है।[1]

९. **सुकुमार**—वामन का शब्दगत सौकुमार्य शब्दगत अपारुष्य है। दण्डी ने इसे 'अनिष्ठुराक्षरत्वं' कहा है। गोविन्द ठक्कुर ने भी इसे 'अनिष्ठुराक्षरत्वं' कहा है। यह अपारुष्य गुण नहीं, कष्टत्व दोष का अभावमात्र है।

१०. **कान्ति**—वामन ने 'कान्ति'को वन्ध की उज्ज्वलता कहा है। वन्ध में उज्ज्वलता अग्राम्य पदों की योजना से आती है। अतः कान्ति ग्राम्यत्व दोष का अभाव है। अतएव सुकुमार और कान्ति दोषाभावात्मक है।

प्रभा—प्रभा टीका में वैद्यनाथ ने उदाहरणों द्वारा प्रत्येक गुण का विस्तृत विवेचन किया है। वामन के उस श्लोक को भी वैद्यनाथ ने उद्धृत किया है जिसमें दस गुण के लक्षण हैं।[2]

इस प्रकार वामन के दस शब्द-गुणों का खण्डन करने के पश्चात् दस अर्थ-गुणों का खण्डन किया है।

दस शब्द गुण की चर्चा के आरंभ में ही गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि वामन के दस गुणों में कुछ का अन्तर्भाव माधुर्यादि तीन गुणों में हो जाता है, कुछ गुण दोषाभावमात्र हैं, कुछ अलंकार में अन्तर्भूत हो जाते हैं कुछ का पर्यवसान वैचित्र्य-मात्र में होता है। इन्हीं के आधार पर वामन के दस अर्थ गुणों का भी खण्डन किया है।

१. **ओज**—गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि वामन के अनुसार

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २८२

२. 'उक्तानां श्लेषादिगुणानां लक्षणश्लोका वामनवृत्तौ——

'पदन्यासस्य गाढत्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः।
श्लथत्वमोजसामिश्रं प्रसादं च प्रचक्षते ॥
यत्रैकपदवद्भावः पदानां भूयसामपि।
अनालक्षितसंधीनां स श्लेषः परमो गुणः ॥
......(अन्त में) औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः।'

(प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० २८१-२८२)

'अर्थस्य प्रौढिः ओजः' अर्थात् अर्थ की प्रौढता ही ओज है। यह प्रौढ़ता पांच प्रकार की है—१. पद के अर्थ को प्रकट करने के लिए वाक्य रचना, २. वाक्य के अर्थ में पदमात्र का प्रयोग, ३. एक वाक्यार्थ का अनेक वाक्यों द्वारा कथन, ४. अनेक वाक्यार्थों का एक वाक्य द्वारा कथन, ५ विशेषण की सार्थकता। मम्मट की भाँति गोविन्द ठक्कुर ने लिखा है कि अर्थ-प्रौढि के प्रथम चार भेद उक्ति-वैचित्र्यमात्र होने के कारण गुण नहीं माने जा सकते और पाँचवा भेद अपुष्टार्थत्व दोष का अभाव रूप है। इस प्रकार अर्थ-प्रौढि के पाँचों भेद गुण नहीं माने जा सकते।[1]

'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने पाँचों प्रकार की 'प्रौढ़ता' को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। जैसे प्रथम प्रकार की प्रौढता का उदाहरण है 'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः' यहाँ चन्द्रमा के लिए 'अत्रियनसमुत्थं ज्योतिः' इस वाक्य का प्रयोग किया है। द्वितीय प्रकार की प्रौढता का उदाहरण है 'कान्तार्थिनी संयोगस्थानं गच्छति'। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी दिए हैं।[2]

२. **अर्थवैमल्य प्रसाद**—मम्मट ने केवल 'अर्थवैमल्यात्मा प्रसाद' इतना ही लिखा है। गोविन्द ठक्कुर ने वामन की वृत्ति का उल्लेख किया है कि प्रयुक्त पदों द्वारा अनुपयोगी अर्थ का त्याग कर अपेक्षित अर्थ की स्पष्टतया प्रतीति होना। यह अधिकपदत्व दोष का अभाव है।[3]

३. **उक्तिवैचित्र्य माधुर्य**—यह अर्थ माधुर्य 'अनवीकृतत्व' दोष का अभावमात्र है, पृथक् गुण नहीं।

४. **अर्थगत सौकुमार्य**—मम्मट ने इसे अमगल रूप अश्लील दोष का अभावमात्र माना है। गोविन्द ठक्कुर ने इसे स्पष्ट भी किया है कि जिसमें परुष अर्थ के लिए भी अपरुष (कोमल) शब्द का व्यवहार होता है, वह अर्थगत सौकुमार्य है। यह दोषाभाव है।[4]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २८०

२. काव्यप्रदीप, पृ० २८२-२८३

३. वही

४. वही

५. उदारता

यह ग्राम्यत्व दोष का अभाव है।

६. अर्थव्यक्ति

वामन ने जिसे वस्तुभाव की स्फुटता कहा है वह 'स्वभावोक्ति' अलंकार में अन्तर्भूत है।

७. कान्ति

अर्थगत 'कान्ति' को वामन ने 'दीप्त-रसत्व' कहा है। गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति रसवादि अलंकार, गुणीभूतव्यंग्य अथवा रसध्वनि में इसका अन्तर्भाव माना है।

८. श्लेष

गोविन्द ठक्कुर 'श्लेष' का अर्थ स्पष्ट करते हैं—क्रमहीनता में होने वाली अस्पष्टता में युक्तिपूर्वक मेल दिखाना। अमरुशतक का उदाहरण दिया है——'दृष्ट्वैकासन'।[1] प्रस्तुत उदाहरण में जिसके नेत्र मुंदे हैं उससे दूसरी का चुम्बन करना क्रम का अतिक्रमण है। जिसके नेत्र मुंदे हैं उसने दूसरी के साथ किए गए चुम्बन को नहीं जाना यही अस्फुटता है। युक्तिपूर्वक मेल बैठाने के लिए 'नयन मुँदना', 'गर्दन टेढी करना' आदि का कथन किया है। अतः श्लेष गुण नहीं है, उक्ति-वैचित्र्य मात्र है।[2] आचार्य भोजराज ने भी इसे श्लेष गुण माना है।

९. समता

वामन ने अर्थ में वैषम्य का अभाव 'समता' गुण माना। वह क्रम का अभेद है अतः मम्मट ने इसे क्रमभेद या क्रमहीन दोष का अभाव मात्र माना है।

१०. समाधि

'समाधि' गुण को वामन ने 'अर्थ-सृष्टि' या अर्थ का दर्शन माना है। अर्थ के दो प्रकार माने हैं—१. अयोनि, २. अन्यच्छायायोनि। मम्मट ने इसे गुण नहीं माना। गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि अर्थ काव्य का शरीर होता है गुण नहीं। स्वतः दुष्ट या अन्य छाया सिद्ध अर्थ का यदि दर्शन

---

१. 'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादराद्
एकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लासन्मानसाम्-
अन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति।'

२. काव्यप्रदीप, पृ० २८३

न हो तो काव्य-शरीर निष्पन्न नहीं हो सकता। काव्य में असाधारण शोभा का आधान करने करने वाला धर्म ही गुण माना जाता है। काव्य शरीर का निष्पादक तत्त्व गुण नहीं कहा जाता। अतः काव्य शरीर भूत अर्थ-दर्शन को काव्य मानना असमीचीन है।[१]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने प्रत्येक गुण का स्पष्टीकरण करते हुए वामन के दस शब्द गुणों और दस अर्थ गुणों का खण्डन किया है। मम्मट का अनुकरण करते हुए उन्होंने तीन गुण माने हैं।

गुणों के व्यंजक वर्ण

कौन-कौन से गुण के कौन-कौन से व्यंजक वर्ण हैं मम्मट ने इसका उल्लेख किया है। गोविन्द ठक्कुर ने भी मम्मट का अनुकरण करते हुए उन व्यंजक वर्णों का उल्लेख किया है। जैसे—

माधुर्य गुण

माधुर्य गुण के व्यंजक वर्णों का वर्णन किया है कि टवर्ग को छोड़कर 'क' से लेकर 'म' पर्यन्त वर्ण जो पूर्व भाग में अपने वर्ग के टवर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त हों तथा रेफ एवं णकार जिनके बीच में लघु स्वर हो जैसे कुंज, अनंग आदि। अल्प समास तथा मध्यम समास वाली रचना तथा अन्य पद के संबंध से सौकुमार्ययुक्त रचना ये तीनों माधुर्य के व्यंजक हैं।[२] उदाहरण दिया है 'अनङ्गरङ्गप्रतिम'।[3]

ओज गुण

मम्मट की कारिका है 'योग ··ओजसि'।[४] वृत्ति में मम्मट ने अधिक स्पष्ट किया है जिसका उल्लेख गोविन्द ठक्कुर ने भी किया है। ओज के व्यंजक वर्ण हैं—प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण का योग जैसे 'कच्छपुच्छेत्यादि'। रेफ से किसी वर्ण का ऊपर नीचे संबंध तुल्य वर्णों का योग जैसे 'कुक्कुर'। टवर्ग में 'ण' वर्ण को छोड़कर शेष चारों वर्ण 'श' तथा 'ष' वर्ण। दीर्घ समास तथा विकट रचना ये तीनों ओज गुण के व्यंजक हैं।[५]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २८३

२. काव्यप्रकाश कारिका ८.७४

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ८.३४७

४. काव्यप्रकाश, कारिका ८.७५

५. काव्यप्रकाश, वृत्ति, पृ० ४२६, काव्यप्रदीप, पृ० २८४

प्रसाद गुण

प्रसाद गुण के व्यंजक वर्ण हैं 'श्रुतिमात्रेण···मतः।'[1] अर्थात् जिसके द्वारा श्रवण-मात्र से ही शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाती है जो सब रसों में समान रूप से हो सकता है, वह प्रसाद व्यंजक है।[2]

उदाहरण है 'परिम्लानं···शयनम्।'[3]

अतएव स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर को भी मम्मट का विवेचन ही ग्राह्य है।

वर्णादि की गुणव्यंजकता में अपवाद

यद्यपि वर्णादि गुणों के व्यंजक वर्ण हैं तथापि कहीं-कहीं वक्ता, वाच्य तथा प्रबन्ध के औचित्य से समास तथा वर्णों का अन्य प्रकार का प्रयोग भी उचित माना जाता है।[4] क्रमशः उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है—

१. मन्थायस्तार्णवाम्भः···ऽसौ'[5] उदाहरण में बताया है कि यहाँ वाच्य तथा प्रबन्ध के बिना ही वक्तृगत औचित्य के अनुसार रचनादि है।

२. 'प्रौढच्छेदानुरूपो···माङ्गम्'[6] उदाहरण में बताया है कि यहाँ वाच्य-गत औचित्य के अनुसार रचनादि है।

३. कहीं-कहीं वक्ता तथा वाच्य की अपेक्षा के बिना भी रचनादि केवल प्रबन्ध के अनुसार होते हैं जैसे आख्यायिका में श्रृंगार रस में भीं कोमल वर्णादि नही होते, कथा में रौद्र रस में भी अत्यन्त उद्धत रचना नहीं होती तथा नाटकादि में रौद्र रस में भी दीर्घ-समास नहीं होता।[7]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने वक्तृगत औचित्य का विवेचन तो मम्मट की भाँति किया हैं। प्रबन्धगत औचित्य का विस्तृत विवेचन किया है। मम्मट ने केवल इतना ही कहा 'आख्यायिकायां श्रृंगारेऽपि न मसृणवर्णादयः'। परन्तु गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि आख्यायिका में श्रृंगार रस में भी कोमल-वर्णादि नहीं होते अपितु विकट वन्ध से ही शोभा बढ़ती है। श्रृंगार के अतिरिक्त

---

१. काव्यप्रकाश, कारिका ८.७६
२. काव्यप्रदीप, पृ० २८४
३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ८.३४६
४. काव्यप्रकाश, कारिका ८.७७
५. काव्यप्रकाश, उदाहरण ८.३५०,
६. काव्यप्रकाश, ८.३५१
७. काव्यप्रकाश, पृ० ४३०

विप्रलम्भ तथा करुणादि रसों में भी दीर्घसमास नहीं होते क्योंकि ये दोनों रस अत्यन्त सुकुमार हैं।[1]

'कथा' में रौद्र रस में भी अत्यन्त उद्धत रचना नहीं होती क्योंकि गोविन्द ठक्कुर का कथन है 'वर्णनीयमहापुरुषसुखप्रतिपत्तिसमर्पणस्योद्देश्यत्वात्' अर्थात् वर्णनीय विषय की सुगमता से प्रतीत होना भी वहाँ अभीष्ट है।

नाटकादि अभिनय में भी रौद्र रस व्यंग्य हो तो भी दीर्घसमासादि का प्रयोग नहीं होता क्योंकि 'विच्छेदेनाभिनयसौकुमार्यात्' अर्थात् पद-विच्छेद में ही अभिनय की सुकुमारता है।

मम्मट ने केवल नाटकादि की ही चर्चा की है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने मुक्तकादि में भी औचित्य की चर्चा की है। मुक्तकादि को स्पष्ट करते हुए प्रदीपकार का कथन है कि—१. मुक्तक—स्वयं में परिपूर्ण श्लोक। २. संदानितकम्—दो श्लोकों में क्रिया का अन्वय होने वाला, ३. विशेषक—तीन श्लोकों में समाप्त होने वाला, ४. कालापक—चार का एक साथ अन्वय होने वाले श्लोक। गोविन्द ठक्कुर आगे लिखते हैं कि मुक्तक में यदि कवि में रसनिबन्ध करने का आग्रह हो तो कवि के लिए रसाश्रित-औचित्य होता है (जिन औचित्यों का वर्णन पहले किया है)। जैसे 'शून्यं वासगृहं' उदाहरण है। 'शून्यं वासगृहं' उदाहरण में कवि श्रृंगार रस को प्रवाहित कर रहा है। इसके विपरीत रसाभिनिवेश रहित काव्य में कवि जैसी रचना करे स्वतन्त्र होता है। सन्दानितक आदि में विकट बन्ध के उचित होने से मध्य समास और दीर्घसमास रचनायें ही उपयुक्त हैं। प्रबन्ध आश्रितों में प्रबन्ध के औचित्य का अनुसरण करना चाहिए।[2]

गोविन्द ठक्कुर का यह विवेचन आनन्दवर्धन के विवेचन पर आधारित है। आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत में इस प्रकार का विवेचन उपलब्ध है।[3]

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ४३०

२. काव्यप्रदीप, पृ० २८६

३. 'तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्। अन्यत्र कामचारः। सन्दानितकादिषु तु विकटबन्धनौचित्यान्मध्यमसमासादीर्घसमासे एव रचने।'

(ध्वन्यालोक, लोचन, पृ० ७६२)

अन्त में कह सकते हैं कि गोविन्द ठक्कुर का विवेचन मम्मट से अधिक विस्तृत और स्पष्ट है। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त का प्रभाव गोविन्द ठक्कुर के विवेचन पर है। अप्रत्यक्ष रूप में चण्डीदास तथा श्रीवत्सलाञ्छन-भट्टाचार्य के मत को भी गोविन्द ठक्कुर ने ग्रहण किया है (जिसका यथा समय उल्लेख किया गया है) गोविन्द ठक्कुर का गुण विवेचन उनके व्यापक अध्ययन और प्रखर मेधावी दृष्टि का प्रतिफलित रूप है। प्रदीपकार ने न्याय के आवरण में आबद्ध होकर 'गुण' और 'अलंकार' के भेद का विवेचन करते हुए मम्मट की कारिका में प्रयुक्त दो विशेषणों द्वारा लक्षणत्रय का निर्देश किया है—१. रसोत्कर्षहेतुत्वे सति रसधर्मत्वम्, २. रसाव्यभिचारिस्थितित्वम्। ३. अयोगव्यवच्छेदेन रसोपकारकत्वम् (अलंकार भेदक लक्षणत्रय)। इसी प्रकार गुण भेदक लक्षण-त्रय का भी निर्देश किया है—१. रसोपकारकत्वे सति रसावृत्तित्वम्, २. रसव्यभिचारित्वम्, ३. अनियमेन रसोपकारकत्वम्। गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति पूर्वपक्ष में वामन का विंशतिगुणवाद प्रस्तुत किया है और उत्तरपक्ष में ध्वनिवाद का गुणत्रयवाद प्रस्तुत किया है। अन्त में वामन सम्मत दस शब्दगुण और दस अर्थगुणों का गुणत्रयवाद में अन्तर्भाव दिखाया है। गोविन्द ठक्कुर का माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण का विवेचन मम्मट की अपेक्षा अभिनवगुप्त के अधिक निकट है।

अष्टम अध्याय

अलंकार विवेचन

जहाँ गोविन्द ठक्कुर के अन्य विवेचन मौलिकता एवं गंभीरता से पूर्ण हैं, वहाँ उनका अलंकार विवेचन भी कम महत्त्व का नहीं। वस्तुतः अलंकारों का काव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रस्तुत ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में 'काव्य-लक्षण' का विवेचन करते हुए 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' की व्याख्या में अलंकारों की अनिवार्यता सिद्ध की जा चुकी है। 'गुण' विवेचन अध्याय में 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् हारादिवलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः' में अलंकारों के लक्षण की चर्चा की गई है। मम्मट ने तीन प्रकार के अलंकारों का निरूपण किया है—१. शब्दालंकार, २. अर्थालंकार, ३. उभयालंकार। मम्मट के पूर्ववर्ती रुद्रट आदि आचार्यों ने वास्तव, औपमम्य, अतिशय और श्लेष, इन चार मूल तत्त्वों को अलंकार विभाजन का आधार बनाया था। मम्मट के उत्तरवर्ती आचार्य रुय्यक ने इस वर्गीकरण को विशद करके सादृश्यमूलक, विरोधमूलक, श्रृंखलामूलक, तर्कन्यायमूलक, वाक्यन्यायमूलक, लोकन्याय-मूलक और गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकारों के वर्ग बनाए। मम्मट ने इस प्रकार का वर्गीकरण नहीं किया। गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि मम्मट के वर्गीकरण का आधार अन्वय-व्यतिरेक है, रुय्यक का आश्रय-आश्रयीभाव नहीं। मम्मट ने जो तीन प्रकार के अलंकार माने हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार उसे स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि जहाँ शब्द का परिवर्तन हो जाने पर अलंकार नहीं रहता वहाँ शब्दालंकार होता है। शब्द-परिवर्तन से अभिप्राय शब्द के पर्यायवाची से है। शब्द परिवर्तन को ही 'शब्दपरिवृत्त्यसहत्व' कहा गया है। जहाँ शब्द-परिवर्तन करने पर भी अलंकार बना रहे वहाँ अर्थालंकार होता है। अर्थालंकार को 'शब्दपरिवृत्तिसहत्व' कहा है। इसके अतिरिक्त उभयालंकार वह हैं जो शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित है।

काव्यप्रकाश के 'नवम उल्लास' में शब्दालंकारों का और 'दशम उल्लास' में अर्थालंकारों का निरूपण है। शब्दालंकारों का निरूपण पहले है और

अर्थालंकार का बाद में। गोविन्द ठक्कुर इसका कारण स्पष्ट करते हुए लिखते हैं 'काव्यलक्षणे शब्दस्य प्राथम्यात्तदलंकारविशेपलक्षणे वक्तव्ये प्रथमं।' मम्मट ने ६ शब्दालंकारों का निरूपण किया है। मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी शब्दालंकार और अर्थालंकार का विवेचन किया है, परन्तु शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की संख्या निर्धारण में सभी आचार्यों के विभिन्न मत हैं। आचार्य भरत ने केवलमात्र यमक को शब्दालंकार माना। भामह ने अनुप्रास, ग्राम्यानुप्रास, यमक, प्रहेलिका आदि शब्दालंकारों की चर्चा की। उद्भट ने पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास तथा लाटानुप्रास का विवेचन किया। वामन ने यमक और अनुप्रास का निरूपण किया। रुद्रट ने वक्रोक्ति, अनुप्रास यमक, श्लेष तथा चित्रालंकार का शब्दालंकारों में विवेचन किया हैं। आचार्य भोजराज ने २४ शब्दालंकारों का विवेचन किया है। इस प्रकार मम्मट के समय तक शब्दालंकारों का विवेचन विभिन्न आचार्यों द्वारा किया जा रहा था। मम्मट ने वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्रालंकार तथा पुनरुक्तवदाभास शब्दालंकारों का विवेचन किया है। मम्मट के परवर्ती आचार्यों में रुय्यक ने अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक तथा चित्रालंकार को शब्दालंकार माना है। आचार्य विश्वनाथ ने अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति. भाषासम, श्लेष, चित्रालंकार तथा प्रहेलिका का शब्दालंकारों में विवेचन किया है।

अर्थालंकारों की संख्या में भी आचार्यों में विभिन्न मत हैं। भरत मुनि ने चार अलंकारों का उल्लेख किया है। भामह ने ३९, दण्डी ने ३५, उद्भट ने ४०, वामन ने ३३, रुद्रट ने ५२ तथा मम्मट ने ६१ अर्थालंकारों का विवेचन किया है। मम्मट के परवर्ती आचार्यों में विश्वनाथ ने ७७ तथा जयदेव ने १०० अलंकारों का वर्णन किया है। अप्पय्यदीक्षित ने कुवलयानन्द में १२४ अलंकारों का विवेचन किया है।

गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में मम्मट के ६ शब्दालंकारों का और ६१ अर्थालंकारों का क्रमशः विवेचन किया है। प्रदीपकार ने स्वतन्त्र रूप से इन अलंकारों के अतिरिक्त अन्य किसी अलंकार की चर्चा नहीं की है। प्रस्तुत अध्याय में उन अलंकारों का ही विवेचन किया गया है जिनकी गोविन्द ठक्कुर ने विशेष व्याख्या की है।

श्लेष (शब्द श्लेष) अलंकार

मम्मट का लक्षण है—'वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः। श्लिष्यन्ति शब्दाः, श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।' वृत्ति में स्पष्ट किया है कि

'अर्थ को भिन्नता से शब्द भी भिन्न-भिन्न होते हैं'—इस सिद्धांत के अनुसार अर्थ-भेद के कारण भिन्न-भिन्न होने वाले भी शब्द जब—'काव्य के क्षेत्र में स्वर का विचार नहीं किया जाता' इस न्याय के अनुसार—एक उच्चारण के द्वारा श्लिष्ट हो जाते हैं, तब श्लेष अलंकार होता है। यह श्लेष अलंकार-वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति तथा वचन के भेद से आठ प्रकार का है। क्रमशः इनके उदाहरणों की चर्चा की है।[1]

मम्मट ने श्लेष का नवम प्रकार भी बताया है कि जहाँ प्रकृति आदि का भेद न होने पर भी शब्द का अनेक अर्थ में तात्पर्य होता है वहाँ श्लेष का नवम प्रकार भी होता है—'योऽसकृत्परगोत्राणां.........राजते।'[2] उदाहरण दिया है।

मम्मट ने 'श्लेष' प्रकरण में पूर्वपक्षी की ओर से उठाई गई तीन शंकाओं की चर्चा की है। शंकाएँ हैं—१. अभङ्ग श्लेष अर्थालंकार है. २. श्लेष उपमा आदि अलंकारों का बाधक है, ३. सभङ्ग तथा अभङ्ग श्लेष दोनों ही अर्थालंकार है। पुनः इन शंकाओं का समाधान भी किया है।

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने 'श्लेष' अलंकार का लक्षण मम्मट की भाँति ही स्पष्ट किया है कि अर्थ की भिन्नता से जहाँ शब्द एक ही उच्चारण का विषय होते हुए श्लिष्ट होते हैं, वह 'श्लेष' अलंकार है। जैसे 'कर' शब्द का अर्थ पाणि और शुण्डादि होता है, अतः यहाँ अर्थभेद है। 'वर्ण-भेद-श्लेष' के उदाहरण की अलङ्कार 'शङ्काकरनरक'[3] चर्चा में माणिक्यचन्द्र ने अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक के मत की चर्चा की है कि रुय्यक ने प्रस्तुत उदाहरण में 'अर्थापत्ति' अलंकार माना है। इसके अतिरिक्त मम्मट ने जिन शंकाओं का उल्लेख किया है, माणिक्यचन्द्र ने स्पष्ट किया है कि यह शंकाएँ उद्भट आचार्य की हैं।[4] मम्मट ने उद्भट के मत की चर्चा की है और उसका खण्डन किया है।

---

१. काव्यप्रकाश, कारिका, ९-८४, पृ० ४४५

२. वही, उदाहरण, ९.३७६

३. वही, उदाहरण, ९.३६९

४. 'अलङ्कारसर्वस्वमते अत्रार्थापत्तिरलङ्कारः, तथाहि— विधौ वक्रे यदेश्वर-स्यापीदृग्दशा तदर्थादन्येषामीदृग्दशा सिद्धैवेति। संसृष्टिरपि।

(संकेत, पृ० २०९)

काव्यप्रदीप--गोविन्द ठक्कुर ने 'श्लेष' अलंकार का विवेचन मम्मट के अनुरूप किया है। परन्तु कहीं-कहीं मम्मट से भिन्न गोविन्द ठक्कुर की कुछ विशेषताएँ भी हैं। गोविन्द ठक्कुर ने 'श्लेष' के दो प्रकार माने हैं—१. सभङ्गश्लेष, २. अभङ्गश्लेष। मम्मट ने प्रथम जिन आठ प्रकारों (वर्ण, पद, लिंग, वचन, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति) की चर्चा की है वे सब 'सभङ्ग-श्लेष' के अन्तर्गत आते हैं। मम्मट ने श्लेष का नवम प्रकार जो बताया है, वह अभङ्गश्लेष है। अभिप्राय यह है कि 'सभङ्ग श्लेष' में पद भङ्ग की आवश्यकता होती है तथा 'अभङ्गश्लेष' में पदों को तोड़ा नहीं जाता।

'अभङ्गश्लेष' के उदाहरण 'योऽसकृत्परगोत्राणां'[1] की गोविन्द ठक्कुर ने विशेष चर्चा की है। प्रदीपकार का कथन है कि जहाँ प्रकरणादि के द्वारा एक अर्थ में शब्द का नियन्त्रण हो जाता है, वहाँ द्वितीय-अर्थ की प्रतीति व्यंजना का विषय है। परन्तु प्रस्तुत उदाहरण में एकार्थ में नियन्त्रित प्रकरणादि का अभाव है, अतः यहाँ दोनों अर्थ 'वाच्य' हैं। 'भद्रात्मनो'[2] के समान इसे ध्वनि-काव्य नहीं कहा जा सकता।

मम्मट ने पूर्वपक्ष की ओर से उठाई गई जिन शंकाओं का उल्लेख किया है, गोविन्द ठक्कुर ने भी उन शंकाओं का उल्लेख किया है। परन्तु भिन्नता यह है कि गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट से अधिक विस्तृत चर्चा की है। तथा इस शंका में मम्मट के पूर्ववर्ती अलंकारसर्वस्वकार आचार्य रुय्यक के मत की भी चर्चा की है।

गोविन्द ठक्कुर ने इस शंका से पूर्व 'सभङ्गश्लेष' और 'अभङ्गश्लेष' को स्पष्ट किया है। गोविन्द ठक्कुर का कथन है पूर्वपक्षी ने दो प्रकार का श्लेष माना है। १. सभङ्ग श्लेष २. अभङ्ग श्लेष। सभङ्गश्लेष में भिन्न-भिन्न स्वर वाले पद होते हैं किन्तु उच्चारण की समानता के कारण उनमें एकरूपता की प्रतीति होती है। वहाँ 'जतुकाष्ठन्याय' से भिन्न-भिन्न अर्थों के दो शब्द शिलष्ट रहते हैं। अतः इसे शब्द-श्लेष कह दिया जाता है। 'अभङ्ग श्लेष' में शब्दों की भिन्नता नहीं होती अपितु अर्थों की भिन्नता होती है। यहाँ 'एक-वृन्तगतफलद्वयवत्' न्याय से दो अर्थ ही शिलष्ट होते हैं। अतः यह अर्थश्लेष है।

दूसरी शंका है कि श्लेष उपमा आदि अलंकारों का बाधक है। तीसरी शंका है सभङ्ग तथा अभङ्ग श्लेष दोनों ही अर्थालंकार हैं।

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण ९.३७६

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण २.१२

गोविन्द ठक्कुर ने उद्भट की 'एकप्रयत्नोच्चार्याणां ··तत्प्रतीयताम्' उक्ति हो उद्धृत किया है जिसका अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त शंका उद्भट की उक्ति का निष्कर्ष है।

प्रदीपकार ने यहाँ अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक का मत भी दिया है कि रुय्यक ने भी श्लेष को अलंकारों के मध्य रखा है।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति इस शंका का समाधान किया है कि अभङ्ग श्लेष शब्दालंकार है। दोष, गुण और अलंकारों का शब्दगत तथा अर्थगत रूप में विभाग अन्वय-व्यतिरेक से होता है। शब्दों का परिवर्तन कर देने से जहाँ 'श्लेष' भंग नहीं होता, वह 'शब्दपरिवृत्तिसहत्व' है। इसी प्रकार कष्टत्वादि दोष, गाढत्वादि गुण, अनुप्रासादि अलंकार शब्दगत हैं। 'स्वयं च···प्रदा'[2] उदाहरण के पूर्वार्ध में अभङ्ग श्लेष है तथा उत्तरार्ध में सभङ्ग श्लेष। दोनों श्लेष, (सभङ्ग तथा अभङ्ग) अन्वय-व्यतिरेक से शब्द के ही आश्रित हैं, अतएव दोनों का शब्द-श्लेष होना ही उचित है। इस प्रसंग में अर्थ-श्लेष की भी चर्चा की है। 'स्तोकेन्नति···खलस्य च'[3] उदाहरण में 'स्तोकेनोन्नतिमायाति' के स्थान पर 'अल्पेनोद्रेकमायाति' रख देने पर भी श्लेष-भंग नहीं होता। अतएव शब्दपरिवृत्तिसह होने से यह अर्थश्लेष है।

श्लेष उपमा का बाधक नहीं

गोविन्द ठक्कुर का कथन है कि 'स्वयं च पल्लवाताम्र' (९-३७७) उदाहरणमें जो यह कहा गया है 'उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः' यह कथन युक्तियुक्त नहीं। श्लेष की तो आभासमात्र प्रतीति हो रही है। जिस प्रकार 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्कचतितराम्' में गुणसाम्य तथा क्रियासाम्य होने पर उपमा होती है उसी प्रकार शब्द-मात्र में भी उपमा होती है जैसे 'सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुबिम्बमिव' उदाहरण में। इस कथन की पुष्टि के लिए रुद्रट की 'स्फुटमर्थालंकार' उक्ति उद्धृत की है।

पूर्वपक्षी का यह कथन कि 'कमलमिव मुखम्' में जहाँ साधारण धर्म का प्रयोग नहीं किया जाता वहाँ श्लेष न होने से उपमा सावकाश है, यह युक्तिसंगत नहीं। गोविन्द ठक्कुर पूर्ववक्षी के इस मत का खण्डन करते हुए लिखते

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २९८-२९९

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ९.३७७

३. वही, उदाहरण ९.३७८

हैं कि उपर्युक्त शंका को मानने से पूर्णोपमा निर्विषय हो जाएगी अर्थात् उसका कहीं विषय ही नहीं रहेगा क्योंकि पूर्णोपमा में साधारण धर्म अवश्य रहता है। साथ ही यह कहना भी संगत नहीं कि उपमादि से असंकीर्ण श्लेष का विषय नहीं, अतः श्लेष अपने विषय में उपमा का बाधक है। 'देव त्वमेव' इत्यादि उदाहरण में श्लेष सावकाश है अर्थात् उपमादि अलंकारों का यहाँ प्रसंग ही नहीं है। अतएव श्लेष तथा उपमा का बाध्य-बाधक भाव नहीं अपितु दोनों का योग होने पर संकर होता है। 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इस न्याय से 'कमलमिव मनोज्ञं मुखम्' उपमा का ही वास्तविक विषय है, श्लेष उसका निर्वाहक मात्र हैं। यदि श्लेष को उपमा का बाधक मानेंगे तो पूर्णोपमा का कहीं विषय नहीं रहेगा।[1]

केवल उपमा ही नहीं अन्य विरोध, रूपक आदि अलंकार भी श्लेष के बाधक होते हैं। क्रमशः इनके उदाहरण देते हुए इस कथन को स्पष्ट किया गया है।[2] 'अबिन्दुसुन्दरी' उदाहरण में विरोधालंकार ही श्लेष का बाधक है। 'सद्वंशमुक्तामणिः' उदाहरण परम्परित श्लिष्ट रूपक प्रधान है। श्लेष रूपक का अंग है अतः रूपक श्लेष का बाधक है।

'नाल्पः कपिरिव' उदाहरण में व्यतिरेकालंकार प्रधान है, श्लेष उसका निर्वाहमात्र है। अतः व्यतिरेक श्लेष का बाधक है। 'अनुरागवती संध्या' में समासोक्ति अलंकार है।

'आदाय चापमचलं' उदाहरण में विरोधाभास ही अलंकार है श्लेष उसका अंगमात्र है। इन उदाहरणों के अतिरिक्त गोविन्द ठक्कुर ने स्वनिर्मित उदाहरण की भी चर्चा की है। 'कवीनां संतापो'[3] उदाहरण में काव्यलिंग उदाहरण की प्रधानता है और श्लेष उसका अंग है। अतः काव्यलिंग श्लेष का बाधक है।

अतएव स्पष्ट है कि केवल उपमा ही नहीं अन्य अलंकार भी श्लेष के बाधक हैं।

तृतीय शंका का भी खण्डन किया है कि सभंग तथा अभंग दोनों ही श्लेष अर्थालंकार हैं। गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं कि जो शब्द श्लेष है वह अर्थालंकार कैसे हो सकता है। 'प्रभात संध्येव' में शब्द श्लेष को अर्थालंकार

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३००-३०१

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ३८०, ३८१, ३८२, ३८३

३. काव्यप्रदीप, पृ० ३०२

कहना उचित नहीं ।

कवि अपने प्रतिभा से जिस शब्द या अर्थ में वैचित्र्य लाता है वहीं अलंकार विषय है , अर्थात् कवि की प्रतिभा का विषय यदि शब्दों में चमत्कार लाना है तो वह शब्दालंकार हैं । 'स्वयं च पल्लवताम्र' उदाहरण में शब्द-वैचित्र्य ही है । अतः श्लेष को शब्दालंकार कहना ही युक्त है । यदि अर्थ के आश्रित होने पर अर्थालंकार है, तब तो अनुप्रास आदि अलंकार अर्थालंकारों की श्रेणी में आ जायेंगे क्योंकि रस आदि के व्यंजक रूप जो अर्थ-विशेष हैं अनुप्रासादि उनकी अपेक्षा रखते है । अर्थ की अपेक्षा से ही यदि अर्थालंकार मानें तब तो दोष, गुण आदि की व्यवस्था नहीं बनेंगी । शब्द और अर्थ दोष दोनों ही एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं ।

यदि एक ही प्रयत्न से उच्चारित होने पर अर्थ श्लेष मानें फिर तो 'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' भी शब्द-भेद होने पर अर्थ श्लेष होने लगेगा ।

इस प्रकार मम्मट की भाँति गोविन्द ठक्कुर ने पूर्वपक्ष द्वारा उठाई गई शंकाओं का समाधान किया है । मम्मट ने उद्भट की शंकाओं का तथा गोविन्द ठक्कुर ने उद्भट तथा रुय्यक दोनों का खण्डन किया है । उद्भट और रुय्यक के 'आश्रयाश्रयिभाव' का खण्डन करते हुए मम्मट के अन्वय-व्यतिरेक सिद्धान्त द्वारा शब्दालंकार और अर्थालंकार का निर्णय किया है । 'श्लेष' की भी शब्दालंकार और अर्थालंकार की व्यवस्था अन्वय-व्यतिरेक से मानी है । मम्मट के भावों का विस्तृत विश्लेषण गोविन्द ठक्कुर ने किया है ।

चित्रालंकार

मम्मट ने 'चित्रालंकार' का अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन किया है । 'चित्र-अलंकार' का लक्षण हैं 'तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ।' वृत्ति में लिखते हैं कि यह काव्य कष्ट-साध्य है अतएव इसका दिग्दर्शन मात्रा कराया जाता है ।[1]

मम्मट ने उदाहरण दिए हैं—

खड्गबन्ध — 'माराररिशक्रारामे··· दिश्यादुमादिमा ।'[2]

मुरजबन्ध — 'सरला··· बहुलामला ।'[3]

पद्मबन्ध—'भासते··· सभा ।[4]

सर्वतोभद्रम्—'रसासार··· त्वतक्षर ।'[5]

---

१. काव्यप्रकाश, कारिका ९-८५

२. ३. ४. ५. वही, ९. ३८४, ३८५, ३८६ ३८७, ३८८

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'चित्रालंकार' का विस्तृत विवेचन किया है। उपर्युक्त उदाहरणों में प्रयुक्त वर्णों की किस प्रकार खड्गादि की आकृति बन जाती है इसका विशद विवेचन किया है।

'चित्रालंकार' के लक्षण को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि मम्मट के लक्षण में यह शंका हो सकती है कि वस्तुतः शब्दात्मक वर्ण आकाश के गुण है और समवाय सम्बन्ध से आकाश में ही रहा करते हैं अतः उनके द्वारा खड्गादि की आकृति का निर्माण कैसे सम्भव है? समाधान करते हैं कि वर्णों को प्रकट करने वाली जो लिपियाँ हैं उनके विशेष प्रकार के विन्यास से जहाँ खड्गादि का निर्माण हो जाता है, वहाँ 'चित्र-अलंकार' होता है। गोविन्द ठक्कुर ने 'कश्चित्' से किसी आचार्य के मत की चर्चा की है कि कहीं लिपि तथा वर्णों में अभेद मानकर इसे चित्रालंकार कहा है और शब्दालंकार के अन्तर्गत इसकी गणना की है।[1]

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'चित्रालंकार' के विषय में यह भी प्रश्न उठता है कि श्रृंगार आदि रसों का अनुपकारक होने से यह अलंकार कैसे हो सकता है? प्रदीपकार लिखते हैं कि यद्यपि यह अलंकार श्रृंगार आदि रसों का उपकारक नहीं तथापि कवि की निपुणता को प्रकट करता है और चमत्कार-जनक होता है तथा अद्भुत-रस का उपकारक हो सकता है। अन्य रसों के समान रसोपकारक न होने से मम्मट ने दिग्दर्शन मात्र ही कराया है।[2]

'चित्रालंकार' के आरम्भ में गोविन्द ठक्कुर का यह विवेचन कि 'वर्ण तो शब्दात्मक है उनसे खड्गादि की आकृति का निर्माण असम्भव है और फिर समाधान किया है कि 'वर्णों को प्रकट करने वाली लिपियों से खड्गादि के आकार का निर्माण हो जाता है', रुय्यक के 'चित्रालंकार' विवेचन के समान है। रुय्यक 'अलंकारसर्वस्व' में 'चित्रालंकार' के विषय में लिखते हैं कि यद्यपि खड्गादि का सन्निवेश लिपि के अक्षरों में होता है, किन्तु उन अक्षरों का लोक में श्रोत्राकाश में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्दों के साथ अभिन्न रूप में ज्ञान होता है अतः इसे शब्दालंकार कहा गया है।[3]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३०३

२. काव्यप्रदीप, पृ० ३०३

३. 'यद्यपि लिप्यक्षराणां खड्गादिसंनिवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाश-समवेतवर्णात्मकशब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतेर्वाचक-शब्दालंकारोऽयम्।'
(अलंकारसर्वस्व, पृ० २९)

गोविन्द ठक्कुर ने 'कश्चित्' लिखकर जिस मत की चर्चा की है वह मत आचार्य विश्वनाथ का है। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में यह चर्चा की है कि वस्तुतः तो शब्दात्मक वर्ण आकाश के गुण है और चित्रालंकार के रूप में जो वर्ण-विन्यास है वह पद्यादि रूप में रचित लिपिसन्निवेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं। किन्तु वैचित्र्याधायक लिपिसन्विेश रूप वर्णों का वैचित्र्याधायक श्रोत्राकाशसमवेत वर्णों से कोई भेद नहीं हुआ करता।[1]

गोविन्द ठक्कुर प्रत्येक उदाहरण की व्याख्या करते हैं कि किस प्रकार वर्णों के विन्यास से खड्गादि की आकृति वन जाती है।

(i) खड्गबन्ध

प्रथम उदाहरण 'मरारिशक्र...' खड्गवन्ध है। प्रस्तुत श्लोक में जो शब्द आए हैं उनका विन्यास करने पर खड्गादि की आकृति बन जाती है। 'खड्गवन्ध' में दो श्लोक हैं। प्रथम श्लोक फल रूप है और दूसरा मूठ रूप। ताडिका में प्रथम 'मा' वर्ण रखना चाहिऐ, फिर उर्ध्व आरोह क्रम से आगे के चौदह वर्ण रखने चाहिए, उसके आगे 'सा' वर्ण अर्थात् 'सा' वर्ण श्लिष्ट है वह फल के नीचे तिरछे आकार में रखना चाहिए। फिर दूसरीं धारा में अवरोह क्रम से आगे के चौदह वर्णों का विन्यास होना चाहिए। 'मा' शब्द श्लिष्ट है वह 'प्रथम श्लोक के आरम्भ में, तृतीय चरण के अन्त में और द्वितीय श्लोक के प्रारम्भ में तथा प्रथम पंक्ति के अंत में है। अतः 'मा' के दाएँ पार्श्व में 'निष्क्रम' से सात वर्ण और वाएँ पार्श्व में 'प्रवेशक्रम' से सात वर्ण होने चाहिए। 'मा' शब्द श्लिष्ट है। यह 'आद्रिका' है। ताडिका में स्थित 'मा' शब्द के ऊपर तीन वर्ण रखने चाहिए। यह गण्डिका है। फिर 'मा' रखना चाहिए फिर 'मा' के दक्षिण-पार्श्व में 'निष्क्रम' से चार और प्रवेश क्रम से चार वर्ण रखने जाहिए। 'मा' शब्द श्लिष्ट है।[2]

(ii) मुरजबन्ध

'मुरजवन्ध' उदाहरण का विश्लेषण इस प्रकार है कि इसमें प्रत्येक चरण के आठों वर्णों को क्रम से लिखा जाता है। फिर प्रत्येक वर्ण के नीचे-नीचे क्रम से तीनों चरणों के वर्णों को लिखा लिखा जाता है। वर्णों को इस प्रकार

---

१. 'अस्य च तथाविधलिपिसन्निवेशविशेषवशेन चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविधश्रोत्राकाशसमवायविशेषवशेन चमत्कारविधायिभिर्वर्णै- रभेदेनोपचाराच्छब्दालङ्कारत्वम्। (साहित्यदर्पण, पृ० ५८८)

२. काव्यप्रदीप, पृ० ३०४

रेखांकित किया जाता है कि 'मुरजाकार' वन जाता है ।[1]

(iii) **पद्मबन्ध**

यह अष्टदल पद्म है । 'कर्णिका' अर्थात् बीज कोष में स्थित एक वर्ण रहता है और वह श्लिष्ट होता है। कर्णिका में चार प्रमुख तथा चार उपदिशाओं में पंखुड़ियां फैली होती हैं । कर्णिका में श्लोक का प्रथम वर्ण होता है । प्रत्येक दल में दो-दो वर्ण होते हैं इसमें प्रवेश तथा निर्गम दोनों ही कार्य प्रत्येक मुख्य दिशा से होता है । जैसे प्रस्तुत उदाहरण में 'भा' वर्ण कर्णिका रूप में स्थित है । पूर्वदिशा में निर्गमक्रम से 'सते' और आग्नेयदिशा में प्रवेश क्रम से 'प्रति' वर्ण है । इसी प्रकार दक्षिण-दिशा में 'निर्गमक्रम' से 'सा र' यह दो वर्ण हैं । इस प्रकार पद्मबन्ध का आकार वनता है ।[2]

(iv) **सर्वतोभद्र**

'सर्वतोभद्र' में श्लोक प्रतिलोम गति से घूम जाता है । चारों ओर से पढ़ने पर एक सा पाठ होता है ।[3]

इस प्रकार प्रत्येक उदाहरण का गोविन्द ठक्कुर ने विश्लेषण किया है । अन्त में प्रदीपकार लिखते हैं कि 'चित्र-अलंकार' के अन्य भी भेद हो सकते हैं किन्तु वे कवि के शक्तिमात्र के प्रकाशक हैं काव्य-स्वरूप के प्रयोजक नहीं ।[4]

अर्थालंकार

उपमा अलंकार

मम्मट का लक्षण है 'साधर्म्यमुपमा भेदे ।' वृत्ति में स्पष्ट किया है कि उपमान तथा उपमेय का ही साधर्म्य होता है, कार्य-करण आदि का नहीं । अतएव उन दोनों का ही समान धर्म से संबंध होना उपमा है । उपमा के लक्षण में 'भेद' शव्द का ग्रहण अनन्वय अलंकार की पृथकता के लिए किया है ।

मम्मट ने 'उपमा' अलंकार के अनेक भेदों-उपभेदों का उदाहरण सहित विवेचन किया है । प्रथमतः उपमा के दो भेद हैं—१. पूर्णोपमा २. लुप्तोपमा । पूर्णोपमा के दो भेद किए हैं—१. श्रौती २. आर्थी । श्रौती और आर्थी उपमा १. वाक्य २. समास ३. तद्धित में हुआ करती है । इस प्रकार पूर्णोपमा के ६ भेद हैं—१. वाक्यगा श्रौती, २. समासगा श्रौती, ३. तद्धितगा श्रौती,

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३०५
२. वही, पृ० ३०५
३. वही, पृ० ३०५
४. वही, पृ०

४. वाक्यगा आर्थी, ५. समासगा आर्थी, ६. तद्धितगा आर्थी। १९ प्रकार की लुप्तोपमा है—५ प्रकार की धर्मलुप्ता। २ प्रकार की उपमान लुप्ता। ६ प्रकार की वादिलुप्ता । २ प्रकार की धर्मवादिलुप्ता । २ प्रकार की धर्मोपमान लुप्ता। एक प्रकार की वाद्युपमेयलुप्ता। एक प्रकार की वादिधर्मोपमानलुप्ता। इस प्रकार ६ प्रकार की पूर्णोपमा और १९ प्रकार की लुप्तोपमा से उपमा के २५ प्रकारों का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त रुद्रट आदि ने उपमा के अन्य भेदों का भी निरूपण किया है जैसे मालोपमा तथा रशनोपमा आदि। मम्मट का कथन है कि इस प्रकार की सहस्रों विचित्रताएं संभव हैं तथा ये उक्त २५ भेदों से अतिरिक्त नहीं हैं।[1]

बालचित्तानुरंजनी एवं सारबोधिनी आदि टीकाओं में मम्मट की भाँति ही उपमा का भेदों उपभेदों सहित निरूपण किया गया है। 'साधर्म्य' का अभिप्राय दोनों टीकाकारों ने 'समानधर्म' से दिया है अर्थात् उपमान तथा उपमेय का समान धर्म के साथ सम्बन्ध-वर्णन ही 'उपमा' अलंकार है।[2]

काव्यप्रदीप—'तेष्वनेकालंकारमूलभूतत्वेन सौकुमार्यातिशयाच्च प्रधानमुपमां प्रथमं लक्षयति' कथन से गोविन्द ठक्कुर ने 'उपमा' अलंकार का विवेचन प्रारम्भ किया है जिसका अभिप्राय है कि रूपक, उत्प्रेक्षा आदि साधर्म्यमूलक अलंकारों की अपेक्षा 'उपमा' अलंकार में अधिक सुकुमारता है अतएव 'उपमा' का विवेचन प्रथम किया जा रहा है।

'साधर्म्यमुपमा भेदे' में 'साधर्म्य' की व्याख्या करते हुए गोविन्द ठक्कुर स्पष्ट करते हैं कि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'साधर्म्य' है समान धर्मप्रयोज्य सादृश्य नामक सम्बन्ध। वह सम्बन्ध दो में रहता है उसका एक अनुयोगी होता है दूसरा प्रतियोगी। अतः प्रकृत में अनुयोगी कौन और प्रतियोगी कौन। यदि जिस किसी को उस संबंध के अनुयोगी तथा प्रतियोगी बना दें तब तो कार्य-कारण भी, उसके अनुयोगी एवं प्रतियोगी हो सकते हैं। उत्तर है कि ऐसा नहीं है। कार्य-कारण भाव संबंध के अनुयोगी एवं प्रतियोगी बनने वाले कारण एवं कार्य साधर्म्य के प्रतियोगी नहीं बन सकते हैं। किन्तु सादृश्य के योग्य उपमान एवं उपमेय का ही नियमतः प्रतियोगी एवं अनुयोगी के रूप में आक्षेप करते हैं। यही कारण है कि प्रकृत लक्षण में उनका अनुपादान दोष नहीं है। अभिप्राय यह है कि लक्षण में उपमान तथा उपमेय का ग्रहण नहीं

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ४६६ से ४८४ तक

२. बालचित्तानुरंजनी, सारबोधिनी, पृ० ३६२-३६३

किया गया तथापि 'साधर्म्य' शब्द के द्वारा उनका आक्षेप हो जाता है। उपमान एवं उपमेय में ही साधर्म्य होता है, कार्य-कारण में नहीं। अतः उपमान एवं उपमेय में समान धर्म से प्रयोज्य संबंध उपमा है। उपमा के लक्षण में भेद ग्रहण अनन्वय की व्यावृत्ति के लिए किया गया है।

उपमा के भेदों का स्पष्टीकरण मम्मट की भाँति किया गया है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि उपमा के चारों अंगों (उपमान, उपमेय, साधारणधर्म और वाचक) का ग्रहण होने पर पूर्णोपमा होती है तथा इनमें से एक, दो या तीन का लोप होने पर लुप्तोपमा होती है। जहाँ उपमान आदि चारों असमस्त होते हैं वहाँ उपमा वाक्यगत होती है। २. जहाँ उन चारों में से किन्हीं दो का समास होता है वहाँ उपमा समासगत होती है। ३. जहाँ उपमानवाचक से तद्धित प्रत्यय का योग होता है वहाँ उपमा तद्धितगत होती है। पूर्णोपमा के दो भेद हैं—१. श्रौती उपमा वहाँ होती है 'श्रौतत्वं चोपमानोपमेययोः साधारणधर्मसम्बन्धरूपायास्तस्याः शाब्दबोधविषयत्वम्' अर्थात् जहाँ यथा, इव शब्द के श्रवणमात्र से ही साधर्म्य की प्रतीति हो जाती है। २. आर्थी उपमा है 'अर्थापत्तिगम्यत्वं चार्थत्वम्' अर्थात् साधर्म्य की प्रतीति अर्थवशात् होती है। इस प्रकार श्रौती तथा आर्थी उपमा वाक्य समास तथा तद्धित गत हुआ करती है।

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि जो जिसकी विशेषता प्रकट करता है वह उसका ही विशेषण होता है अन्य का नहीं। जैसे 'कमलमिव मनोज्ञं मुखम्' में इव शब्द कमलपद का विशेषण है तथा कमल में ही साधारण धर्म संबंध का बोध करा सकता है, मुख में नहीं। इस प्रकार साधर्म्य की प्रतीति शाब्दी नहीं है और उपमा को श्रौती नहीं कहा जा सकता तथा श्रौती और आर्थी विभाग ही नहीं बनता 'नन्वयं विभागोनुपपन्नः।' समाधान किया है कि यथा, इव, वा आदि शब्द उपमान के विशेषण होते हैं तथापि इव आदि शब्द श्रवणमात्र से ही षष्ठी विभक्ति की भाँति उपमान तथा उपमेय के साधर्म्य की प्रतीति करा देते हैं। अतः 'यथा' इत्यादि के प्रयोग से श्रौती उपमा होती है।

आर्थी-उपमा का स्वरूप है कि 'तुल्य' 'सादृश' आदि शब्दों की सादृश्य-युक्त में शक्ति होती है। इनके द्वारा (क) 'पद्मेन तुल्यं मुखम्' आदि उपमेय में (ख) 'पद्मतुल्यं मुखमस्य' इत्यादि उपमान में (ग) 'मुखं पद्मं च तुल्यम्' आदि दोनों में तुल्य आदि शब्दों का व्यापार समाप्त हो जाता है। वहाँ धर्म विशेष से सादृश्य नहीं बन सकता इसलिए साधारण धर्म संबंध का आक्षेप हो

जाता है अतएव उपमा आर्थी है ।

षड्विध पूर्णोपमा के उदाहरणों की क्रमशः चर्चा की है ।

'वाक्यगा श्रौती' उपमा के उदाहरण 'स्वप्नेऽपि···यथा'[1] की विशेष चर्चा की गई है ।

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ शंका यह है कि प्रथम उल्लास में मम्मट ने स्पष्ट किया है—'चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम् ।' उसके दो भेद हैं—शब्दचित्र और अर्थचित्र । पुनः षष्ठ उल्लास में कहा है—'चित्रभेदा-अलंकार-निर्णये निर्णेष्यन्ते ।' अतः यहाँ चित्रकाव्य का उदाहरण देना चाहिए था । किन्तु 'स्वप्नेऽपि' आदि का उपमा के उदाहरण के रूप में उपन्यास किया है, वह चित्रकाव्य का उदाहरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ 'स्वाधीन-भर्तृका, कान्तं भजमाना यथा चमत्कारभूस्तथा जयश्रीस्त्वदासेवनेनेत्यादि' व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है । अतः यदि व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है तो ध्वनि काव्य होगा और यदि गौण है तो गुणीभूतव्यङ्ग्य होगा । इस प्रकार मम्मट के पूर्वापर कथन में विरोध है ।[2]

मम्मट ने स्वयं भी उपर्युक्त शंका का समाधान किया है । गोविन्द ठक्कुर इस शंका का समाधान करते हैं कि यहाँ 'जिस प्रकार स्वाधीनपतिका नायिका अपने पति में तल्लीन होकर अलौकिक चमत्कार का विषय हो जाती है इसी प्रकार आपका सेवन करती हुए विजयश्री भी-इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, किन्तु व्यंग्य के सम्बन्ध से चमत्कार की प्रतीति नहीं होती अपितु वाच्य (उपमा) की प्रतीति ही चमत्कार उत्पन्न करती है और वह उपमा वाच्य है । व्यंग्यार्थ की प्रतीति तो उपमाकृत चमत्कार के बाद होती है । अतः यहाँ ध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य काव्य की शंका नहीं करनी चाहिए ।[3] यहाँ चित्रकाव्य है ।

दूसरी शंका यह है कि 'स्वप्नेऽपि' उदाहरण में रसादि की प्रतीति हो रही है, फिर यह चित्रकाव्य कैसे हो सकता है ? दूसरा दोष यह है कि यह उपमालंकार का उपयुक्त उदाहरण नहीं क्योंकि अनुप्रास अलंकार भी यहाँ विद्यमान है । अतः यहाँ अनुप्रास और उपमा की संसृष्टि या संकर होगा । समाधान करते हुए प्रदीपकार का कथन है कि उत्तम काव्यों में रसादि रूप व्यंग्य अर्थ तथा दो-दो अलंकार भी हो सकते हैं । इस हेतु उनकी ओर ध्यान

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.३९२

२. ३. काव्यप्रदीप, पृ० ३१२, ३१३

न देकर उपमा आदि अलंकारों के उदाहरण दिये गये हैं। यदि यह कहा जाए कि 'चन्द्रधवल: पट:' इत्यादि रस तथा अलंकारों से रहित केवल शुद्ध उपमा के उदाहरण क्यों न दिये ? तो इसका उत्तर है कि नीरस पद्यों का उदाहरण के रूप में उपन्यास करने से नीरसता आ जाती। अत: अपर कथन पूर्व के विरुद्ध नहीं है।[1]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने उपर्युक्त शंका की विस्तृत चर्चा की है।

लुप्तोपमा की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि उपमावाचक, साधारणधर्म तथा उपमान—इन तीनों का लोप होने पर त्रिलुप्ता होती है। उपमेयोपमानधर्मलुप्ता अथवा उपमेयधर्मवादिलुप्ता रूप में यह नहीं हो सकती। वाक्यगा और तद्धितगा भी वह नहीं होती क्योंकि वहाँ केवल उपमेय से उपमा का बोध नहीं हो सकता। यह श्रौती भी नहीं क्योंकि इव आदि का लोप हो जाता है। अत: केवल समासगा आर्थी ही होती है।

'त्रिलोपे च समासगा' के उदाहरण 'तरुणिमनि···मुनेर्मन:'[2] की विशेष चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने की है। प्रदीपकार स्पष्ट करते हैं कि यदि मृग शब्द का लक्षणा द्वारा मृगलोचन अर्थ में प्रयोग किया जाए तब तो यह त्रिलुप्तोपमा का उदाहरण न होगा अपितु वादिधर्मलुप्ता का उदाहरण होगा। मृगनयना तभी त्रिलुप्तोपमा का उदाहरण होता है जबकि यहाँ 'मृगलोचने इव नयने यस्या:' यह अर्थ विवक्षित है तथा 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहि-रुत्तरपदलोपश्च' वार्तिक द्वारा मृगलोचन इस उपमान रूप पूर्व पद का नयन के साथ बहुव्रीहि समान होने पर उपमानवाची 'मृगलोचन' इस पूर्व पद में 'लोचन' रूप उत्तरपद का लोप हो जाता है। इस प्रकार उपमान के लोप होने पर इव शब्द का तथा चंचल इस साधारण-धर्म का ग्रहण नहीं किया गया, अतएव त्रिलुप्ता उपमा है।[3]

अन्त में रशनोपमा तथा मालोपमा की चर्चा करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति यह माना है कि मालोपमा तथा रशनोपमा आदि विविध भेदों का पृथक् विवेचन करना युक्तियुक्त नहीं क्योंकि इस प्रकार उपमा के सहस्रों भेद हो सकते हैं।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३१३

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.४०६

३. काव्यप्रदीप, पृ० ३१८

गोविन्द ठक्कुर के टीकाकार वैद्यनाथ एवं नागेश भट्ट ने प्रदीप के भावों का ही स्पष्टीकरण किया है अन्य कुछ नहीं कहा ।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर का 'उपमा' अलंकार विवेचन मम्मट की अपेक्षा विस्तृत है । उपमा-भेदों की चर्चा प्रदीपकार ने मम्मट के समान की है ।

अनन्वय

मम्मट का लक्षण है 'उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे अनन्वयः ।' वृत्ति में स्पष्ट किया है—अन्य उपमान के सम्बन्ध का अभाव ही 'अनन्वय' है । तात्पर्य यह है कि एक ही वस्तु के एक वाक्य में उपमान तथा उपमेय रूप होने पर 'अनन्वय' अलंकार होता है ।[1]

उदाहरण दिया है 'न केवलं······तद्विलासाः ।'[2]

मम्मट के 'अनन्वय' अलंकार के लक्षण में 'एकस्य', 'एव' और 'एकवाक्य' शब्द विशेष विवेचनीय हैं । टीकाकारों ने उपर्युक्त शब्दों की विस्तृत व्याख्या की है ।

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने 'अनन्वय' अलंकार की चर्चा करते हुए 'अनन्वय' और 'उपमा' अलंकार का अन्तर स्पष्ट किया है । माणिक्यचन्द्र लिखते हैं कि 'उपमा' अलंकार दो वस्तुओं के सादृश्य पर है, 'अनन्वय' अलंकार में अन्य किसी सादृश्य की अपेक्षा नहीं । 'अनन्वय' अलंकार में 'द्वित्व' का अभाव होता है अर्थात् एक ही वस्तु उपमेय तथा उपमान होती है ।[3]

सारबोधिनी—'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने 'अनन्वय' अलंकार को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'अनन्वय' अलंकार के लक्षण में 'एकवाक्यगे' शब्द का प्रयोग 'उपमेयोपमा' अलंकार से अन्तर स्पष्ट करने के लिए है । 'उपमेयोपमा' अलंकार में यद्यपि एक ही वस्तु उपमेय तथा उपमान हो जाती है तथापि वह भिन्न-भिन्न वाक्यों में होती है एक में नहीं । 'अनन्वय' अलंकार में एक ही वस्तु एक ही औपम्यप्रतिपादक वाक्य में उपमान और उपमेय दोनों रूपों में प्रतीत होती है । 'एव' शब्द का प्रयोग 'भिन्नशब्द-बोध्यत्वव्यवच्छेदः' है अर्थात् 'एव' शब्द का प्रयोग यह प्रकट करता है कि एक ही शब्द से उपमान तथा उपमेय का कथन किया जाये तभी 'अनन्वय'

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ४८५

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण. १०-४१४

३. 'अयं नोपमा । वास्तवद्वित्वाभावात्' । (संकेत, पृ० २२६)

होता है, भिन्न शब्दों से कहे जाने पर नहीं । 'अतोऽस्यां वदनमिवास्या वक्त्रम्' उदाहरण 'अनन्वय' अलंकार का नही है क्योंकि यहाँ भिन्न शब्द है ।[1]

काव्यप्रदीप--गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' में 'एकस्य', 'एव' और 'एकवाक्यगे' शब्दों को स्पष्ट किया है। प्रदीपकार लिखते हैं कि 'एकस्य' शब्द द्वारा 'उपमा' और 'अनन्वय' में अन्तर किया गया है। उपमा में उपमान और उपमेय भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु अनन्वय में एक ही वस्तु उपमान तथा उपमेय होती है । अतः मम्मट ने यह लिखा है—'उपमानान्तर-संबंधाभावोऽनन्वयः ।'

गोविन्द ठक्कुर ने 'अनन्वय' शब्द की व्युत्पत्ति की चर्चा की है 'उपमानान्तरसंबंधाभावोऽनन्वय इति बहुव्रीहिसमासात् । यद्वा संज्ञायोगनिर्वचनं तत् । अनन्वयः सम्बन्धाभावः ।'[2]

'एव' शब्द से अभिप्राय है कि 'अनन्वय' में चमत्कारप्रतीति अन्य उपमानों से साधर्म्यसम्बन्ध के व्यवच्छेद में है। अर्थात् जहाँ एक ही शब्द से उपमेय तथा उपमान का कथन किया जाता है, वहाँ 'अनन्वय' अलंकार होता है ।

'एकवाक्यगे' शब्द प्रयोग से 'अनन्वय' और 'उपमेयोपमा' अलंकार में अन्तर स्पष्ट किया है । 'उपमेयोपमा' में भी एक ही वस्तु उपमेय तथा उपमान हो जाती है तथापि भिन्न-भिन्न वाक्यों में होती है । परन्तु 'अनन्वय' अलंकार में 'वाक्यद्वये तथाभावः' अर्थात् एक ही वाक्य होता है, भिन्न-भिन्न वाक्य नहीं ।

यहाँ गोविन्द ठक्कुर की इस चर्चा में नवीनता नहीं है क्योंकि प्रदीपकार से पूर्व 'सारबोधिनी' टीका में इस प्रकार की चर्चा की गई है ।

गोविन्द ठक्कुर ने 'अनन्वय' अलंकार में 'अर्थैकत्व' और 'शब्दैकत्व' दोनों की चर्चा की है ।

गोविन्द ठक्कुर के 'अनन्वय' अलंकार विवेचन में रुय्यक का कुछ प्रभाव दिखाई देता है। रुय्यक ने 'अनन्वय' अलंकार में 'अर्थैकत्व' की चर्चा करते हुए लिखा है--'वाच्याभिप्रायेणात्र पूर्वरूपानुगमः' अर्थात् अर्थ की दृष्टि से यहाँ साधर्म्य सम्बन्ध है । 'अनन्वय' की व्युत्पत्ति के संबंध में रुय्यक का यह

---

१. 'उपमेयोपमावारणायैकवाक्यगे इति । एकवाक्यगे एकौपम्यस्य प्रतिपादक-शब्दप्रतिपाद्ये इत्यर्थः । एवकारेण भिन्नशब्दबोध्यत्वव्यवच्छेदः ।'

(सारबोधिनी, पृ० ३७६)

२. काव्यप्रदीप, पृ० ३२१-३२२

कथन 'अत एवानन्वय इति योगोऽप्यत्र संभवति' और गोविन्द ठक्कुर का यह कथन 'यद्वा संज्ञायोगनिर्वचनं तत् । अनन्वयः संबंधाभावः' कितना अधिक साम्य रखता है ।

'अनन्वय' में शब्द-एकता का विवेचन रुय्यक ने लाटानुप्रास के प्रसंग में किया है 'अनन्वय में शब्दएकता औचित्य के नाते आनुषंगिक हैं पर लाटानुप्रास में शब्द की एकता साक्षात् हेतु है ।'[१]

उद्योत तथा प्रभा—गोविन्द ठक्कुर के टीकाकारों ने प्रदीपकार के अभिप्राय को और अधिक स्पष्ट किया है । टीकाकारों ने 'उपमा' अलंकार और 'अनन्वय' अलंकार के अन्तर में यह भी स्पष्ट किया हैं कि देशान्तर या कालान्तर में होने वाली उस वस्तु को भिन्न माना जाए और उससे संबंध दिखाया जाए तो वहाँ 'उपमा' होगी । 'अनन्वय' में एक ही वस्तु उपमान एवं उपमेय रूप होती है, परन्तु एक ही समय में होती है कालान्तर में नहीं । नागेशभट्ट ने 'अनन्वय' का 'उपमेयोपमा' अलंकार से अन्तर स्पष्ट करते हुए 'अनन्वय' का फल 'द्वितीयसदृशव्यवच्छेदः' बताया अर्थात् दूसरी कोई समान वस्तु इसके तुल्य नहीं है ।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर के टीकाकारों ने 'अनन्वय' अलंकार की चर्चा की है। गोविन्द ठक्कुर पर 'सारबोधिनीकार' और 'अलंकारसर्वस्वकार' का प्रभाव है ।

उपमेयोपमा

मम्मट ने 'उपमेयोपमा' अलंकार का लक्षण दिया है—'विपर्यास उपमेयोपमा तयोः' अर्थात् उपमान तथा उपमेय का परिवर्तन 'उपमेयोपमा' अलंकार है । वृत्ति में स्पष्ट किया है कि 'तयोः' से अभिप्राय 'उपमान' तथा 'उपमेय' से है । 'विपर्यास' से अभिप्राय है दो वाक्यों में बदलकर रखना ।[२]

उदाहरण दिया है 'कमलेव मतिर्मतिरिव···वत यस्य ।'[३]

संकेत—सर्वप्रथम माणिक्यचन्द्र ने 'संकेत' टीका में 'उपमेयोपमा' के उदाहरण को स्पष्ट किया है । वे लिखते हैं कि यहाँ पूर्व कहे वाक्य का सादृश्य

---

१. 'अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम् ।
अस्मिस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम् ।। (अलंकारसर्वस्व, पृ० २८)

२. काव्यप्रकाश, पृ० ४८६

३. वही, उदाहरण ४१५

पुनः कहे वाक्य से है। 'सादृश्य' को स्पष्ट करते हुए संकेतकार का कथन है कि जो परस्पर दो अर्थों के बीच है जिसका फल है अन्य अर्थ (प्रकृत उपमान से भिन्न उपमान) की व्यावृत्ति कराना। यहाँ उपमेय तथा उपमान के सदृश अन्य कोई वस्तु नहीं।[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' में 'उपमेयोपमा' अलंकार का लक्षण मम्मट की भाँति ही दिया है। परन्तु प्रदीपकार के विवेचन में विशेषता यह है कि 'अनन्वय' अलंकार की भाँति 'उपमेयोपमा' अलंकार की व्युत्पत्ति भी 'यौगिकीं संज्ञा' से मानी है। इसके अतिरिक्त गोविन्द ठक्कुर ने 'उपमेयोपमा' और 'प्रतीप' अलंकार में अन्तर स्पष्ट किया है। 'प्रतीप' अलंकार में भी उपमेय से उपमा दी जाती है परन्तु वहाँ उपमान की निन्दा या निषेध किया जाता है। 'प्रतीप' अलंकार के इस उदाहरण 'अयि···जनेन[2]' में 'मुख ही चन्द्र है', यहाँ चन्द्र उपमान की निन्दा की गई है। इसके अतिरिक्त 'प्रतीप' अलंकार में वाक्य एक होता है। 'उपमेयोपमा' में दो वाक्य होते हैं। इसमें उपमेय की निन्दा नहीं की जाती है। 'उपमेयोपमा में उपमा से तो उपमा दी जाती है तथा उपमान से भी दी जाती है एवं इसमें उपमेय और उपमान से भिन्न तीसरी सदृश वस्तु का अभाव होता है।[3]

उद्योत—'उद्योत' में नागेश भट्ट ने 'उपमेयोपमा' अलंकार के लक्षण और उदाहरण की स्पष्ट व्याख्या की है। नागेश-भट्ट लिखते हैं कि 'उपमेयोपमा' अलंकार में दो वाक्यों का होना आवश्यक है। 'रामरावणौ मिथस्तुल्यौ' में (राम, रावण के समान है और रावण राम के समान) अर्थ भेद होने से 'उपमेयोपमा' अलंकार नहीं है क्योंकि यहाँ वाक्य एक ही है।

'कमलेव ··यस्य' उदाहरण का स्पष्टीकरण करते हुए नागेशभट्ट लिखते हैं कि प्रस्तुत उदाहरण में तीन साधारण धर्म हैं—१. स्पृहणीयत्व, २. प्रचितत्व ३. विस्तृतत्व। लक्ष्मी और मति में 'स्पृहणीयत्व' साधारण धर्म है। शरीर

---

१. 'अत्र पूर्ववाक्यात्सादृश्यावगतौ पुनरिह सादृश्यमुच्यमानमनन्यार्थत्वे सत्यन्यव्यावृत्ति लक्षयति। अत्र पूर्वत्र चैतयोः सदृशं नान्यदस्तीति भावः।'
(संकेत, पृ० २२९)

२. 'काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५५४

३. काव्यप्रदीप, पृ० ३२२-२२३

और कान्ति में 'प्रचयत्व' साधारण धर्म है एवं धरणी और धृति में 'विस्तृत-तत्व' साधारण धर्म है। अभिप्राय यह है कि लक्ष्मी और मति के साधारण-धर्म स्पृहणीयता में इन दोंनों के सदृश तृतीय वस्तु नहीं है। 'अनन्वय' अलंकार का फल 'द्वितीयसदृशव्यवच्छेदः' बताया है उसी प्रकार 'उपमेयोपमा' का फल 'तृतीयसदृशव्यवच्छेदः' है। इसी कारण यह उपमा अलंकार नहीं है 'अत एवात्रोपमा न।' अर्थात् 'उपमा' अलंकार से उपमेयोपमा अलंकार का अन्तर स्पष्ट है कि उपमा में साधर्म्य दिखलाया जाता है किन्तु उपमेयोपमा में उपमान और उपमेय से भिन्न तृतीय समान वस्तु की व्यावृत्ति दिखलानी होती है।[1]

प्रभा—'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने 'उपमेयोपमा' और 'रशनोपमा' अलंकार का अन्तर स्पष्ट किया है। 'भणितिरिव…' रशनोपमा का उदाहरण है।[2] यद्यपि 'रशनोपमा' अलंकार में भी उपमेय द्वितीय वाक्य में उपमान बन जाता है तथापि वह द्वितीय उपमेय का उपमान बन जाता है।

वैद्यनाथ ने 'द्विलुप्तोपमा' का उदाहरण 'सविता विधवति विधुरपि सवितरति'[3] में यह स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत उदाहरण में यद्यपि 'उपमेय' और 'उपमान' का विपर्यास है परन्तु यह 'उपमेयोपमा' का उदाहरण नहीं बन सकता क्योंकि 'उपमेयोपमा' का फल है 'तृतीयसदृशव्यच्छेदः'। दूसरा 'उपमेयोपमा' में साधारण धर्म एक ही होता है परन्तु 'सविता…' उदाहरण में शीतकरत्वादि और उष्णकिरणत्वादि भिन्न-भिन्न साधारण धर्म है।[4]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने 'उपमेयोपमा' अलंकार का 'प्रतीप' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है। 'कमलेव…' उदाहरण के स्पष्टीकरण में जहाँ प्रदीपकार मौन रहे वहाँ उनके टीकाकारों ने इसकी पूर्ति की है। विशेषकर नागेश भट्ट ने बड़ी ही स्पष्ट व्याख्या की है। वैद्यनाथ ने 'रशनोपमा' अलंकार और 'द्विलुप्तोपमा' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है।

उत्प्रेक्षा

मम्मट ने 'उत्प्रेक्षा' अलंकार का लक्षण दिया है 'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।' 'समेन' से अभिप्राय उपमान से है अर्थात् जहाँ प्रकृत

१. उद्योत, पृ० ३४ (सुखटणकर द्वारा सम्पादित संस्करण)
२. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.४१२
३. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.४०५
४. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३२२

(उपमान) के साथ सम्भावना की जातो है वहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है।[1] मम्मट ने 'उत्प्रेक्षा' अलंकार के दो उदाहरण दिए हैं—

१. 'उन्मेषं ··· पद्मलक्ष्मीः'।[2]

२. 'लिम्पतीव···गता'[3]

मम्मट का प्रथम उदाहरण स्पष्ट ही है परन्तु दूसरा उदाहरण टीकाकारों के लिए विशेष चर्चा का विषय है।

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र 'उत्प्रेक्षा' अलंकार को स्पष्ट करते हैं 'जहाँ उपमान में रहने वाले धर्म गुण-रूप एवं क्रिया-रूप संबंध से उपमेय की संभावना की जाती है, वहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है।'[4]

प्रथम उदाहरण में चरणशोभा उपमेय है उसमें कमल शोभा उपमान की संभावना की गई है।

द्वितीय उदाहरण 'लिम्पतीव······गता' का स्पष्टीकरण माणिक्यचन्द्र करते हैं कि यहाँ अंधेरे में लेपन क्रिया का कर्तृत्व होने की उत्प्रेक्षा में व्यापनादि निमित्त प्रतीयमान है। निमित्त-भूत-धर्म 'अंधकार का प्रसार' अनुपात है। अतः लिखते हैं कि यदि अंधकार के व्यापन को उत्प्रेक्षा का विषय माना जाए तो किसी दूसरे निमित्त को खोजना पड़ेगा। अतः व्यापन को विषय वनाना अनुचित है। जिसको उत्प्रेक्षा का विषय बनाया जाए उसका प्रतीयमान अनुपादान होना युक्त नहीं है क्योंकि वह तो उत्प्रेक्षा का आधार है अतः जो प्रस्तुत है उसको शव्द से कहना ही उचित है। अतः जो यह मानते हैं 'व्यापनाद्युत्प्रेक्षविषयमत्रोचे' वह चिन्तनीय है।

माणिक्यचन्द्र के इस कथन का अभिप्राय यह है कि उन्होंने मम्मट के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में 'उत्प्रेक्षा' नहीं मानी है। मम्मट ने व्यापनादि (फैलने) की लेपनादि के रूप में संभावना की है। परन्तु माणिक्यचन्द्र ने तम में लेपम क्रिया की उत्प्रेक्षा मानी है।

वास्तव में उपर्युक्त चर्चा माणिक्यचंद्र की मौलिकता की द्योतक नहीं है। रुय्यक ने 'अलंकारसर्वस्व' में 'उत्प्रेक्षा' अलंकार में 'लिम्पतीव···' उदा-

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ४८७

२-३. काव्यप्रकाश, उदाहरण, १०.४१६, ४१७

४. उपमानगतगुणक्रियाभिसम्बन्धादुपमानत्वेनोपमेयस्य सम्भावनमुत्प्रेक्षा'

(संकेत, पृ० २३०)

हरण की जो चर्चा की है संकेतकार ने अक्षरश: उसका अनुकरण किया है ।[1] अन्त में यह कह सकते हैं कि माणिक्यचन्द्र को रुय्यक का मत स्वीकार है मम्मट का नहीं ।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में 'उत्प्रेक्षा' का लक्षण मम्मट की भाँति ही दिया है कि जहाँ प्रकृत (उपमेय) की सम (उपमान) के साथ सम्भावना हो वहाँ 'उत्प्रेक्षा अलंकार होता है परन्तु गोविन्द-ठक्कुर ने यह भी स्पष्ट किया कि उपमेय में उपमान के साथ 'एकरूपता' होनी चाहिए । 'एकरूपता' से अभिप्राय है 'समान-धर्म' । प्रदीपकार ने 'उत्प्रेक्षा' के भेदों की भी चर्चा की है । वे लिखते हैं 'उत्प्रेक्षा' के हेतु आदि संभावना से अनेक प्रकार के भेद हैं । परन्तु मुख्यत: तीन भेदों का नामोल्लेख किया—१. हेतूत्प्रेक्षा, २. स्वरूपोत्प्रेक्षा, ३. फलोत्प्रेक्षा ।

'उन्मेषं...पद्मलक्ष्मी:' उदाहरण 'हेतूत्प्रेक्षा का है । यह उदाहरण स्पष्ट है । 'संकेत' टीका की चर्चा में इसका स्पष्टीकरण किया गया है ।) 'लिम्पतीव...गता' उदाहरण 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' का है । गोविन्द ठक्कुर का इस उदाहरण के विषय में कथन है कि यहाँ प्रतीयमान तम की व्याप्ति की लेपनादि के रूप में संभावना की गई है ।[2] अर्थात् यहाँ तम का व्याप्त होना अनुपात्त है, उसका उपादान नहीं किया गया है । केवल इतना ही कहा है 'अंधकार अंगों को लिप्त कर रहा है, इसका निमित्त हुआ 'तम कीं व्याप्ति' इसमें गोविन्द ठक्कुर ने 'उत्प्रेक्षा' मानी है ।

गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ रुय्यक के मत का खण्डन किया है अतएव 'तमसो लेपनकर्त्तृत्वमत्रोत्प्रेक्ष्यम्' इत्यलंकारसर्वस्वकार मतपास्तम्' । रुय्यक के मत की चर्चा (संकेत' टीका के विवेचन) में की जा चुकी है । अभिप्राय यह है कि गोविन्द ठक्कुर को रुय्यक का मत स्वीकार नहीं, उन्हें मम्मट का मत ही मान्य है ।

---

१. अत्र तमोगतत्वेन लेपनक्रियाकर्तृत्वोत्प्रेक्षायां व्यापनादि निमित्तं गम्यमानम् । व्यापनादौ तूत्प्रेक्षाविषये निमित्तमन्यदन्वेष्यं स्यात् । न च विषयस्य गम्यमानत्वं युक्तम् । तस्योत्प्रेक्षिताधारत्वेन प्रस्तुततस्याभिधातुमुचितत्वात् ।' (यह व्याख्या 'संकेत' में पृ० २३० में है और 'अलंकार-सर्वस्व', पृ० ७७ में है)

२. 'अत्र गम्गमानं तमसो व्यापनादि लेपनादिरूपतया संभावितमिति स्वरूपोत्प्रेक्षयम् ।' (काव्यप्रदीप, पृ० ३२४)

गोविन्द ठक्कुर और रुय्यक के मत में अन्तर यह है कि रुय्यक ने तम में लेपन की उत्प्रेक्षा मानी और प्रदीपकार ने निमित्तभूत धर्म व्यापन में लेपन की उत्प्रेक्षा मानी है।

'फलोत्प्रेक्षा' का उदाहरण नहीं दिया है।

गोविन्द ठक्कुर के अभिप्राय का विस्तृत निरूपण उनकी टीकाओं में उपलब्ध है।

उद्योत—'उद्योत' टीका में नागेश भट्ट ने सर्वप्रथम 'उत्प्रेक्षा' शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट की है। उद्योतकार लिखते हैं कि 'उत्प्रेक्षा' में 'उत्' 'प्र' और 'ईक्षा' ये तीन पद हैं। 'उत्' का अर्थ है 'उत्कट', और 'प्र' का अर्थ अर्थ है 'प्रकृष्ट'। इस प्रकार 'उत्प्रेक्षा' का अर्थ हुआ 'प्रकृष्ट की उत्कट ईक्षा' अर्थात् ज्ञान है वह 'उत्प्रेक्षा' है। अतः उत्प्रेक्षा में उपमान की कोटि उत्कट होती है।

नागेश भट्ट ने 'उत्प्रेक्षा' और 'उपमा' अलंकार का अन्तर स्पष्ट करते हुए 'चक्रवर्ती' का नामोल्लेख किया है। 'चक्रवर्ती' के अनुसार उपमान जब लोक-प्रसिद्ध होता है तो 'इव' शब्द साधर्म्यवाचक होता है, वहाँ 'उपमा' अलंकार माना जाता है। जब उपमान कल्पित होता है तब 'इव' शब्द संभावना को प्रकट करता है और वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

स्वयं नागेश भट्ट ने भी 'उत्प्रेक्षा' और 'उपमा' का अन्तर स्पष्ट किया है। वे लिखते है 'मुख मानो चन्द्रमा है' यहाँ 'उत्प्रेक्षा' है तथा 'चन्द्र ही मुख है' यहाँ उपमा है। उद्योतकार के कथन का अभिप्राय यह है कि—१. यदि उपमान लोक प्रसिद्ध है तो 'उपमा' अलंकार है और यदि उपमान कल्पित है तो 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है। (चक्रवर्ती के अनुसार)। २. 'उत्प्रेक्षा' में मन्ये आदि शब्दों का प्रयोग होता है 'उपमा' में नहीं। ३. 'इव' शब्द का प्रयोग क्रिया के साथ 'उत्प्रेक्षा' अलंकार का द्योतक है और संज्ञा के साथ 'उपमा' अलंकार का।[1]

'उत्प्रेक्षा' अलंकार के स्पष्टीकरण में गोविन्द ठक्कुर द्वारा प्रयुक्त 'एक-रूपता' की टीका करते हुए उद्योतकार लिखते हैं कि 'एकरूपता' से अभिप्राय

---

१. 'तदुक्तं चक्रवर्तिना 'यदाऽयमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति। तदोपमैव येनेवशब्दः साधर्म्यवाचकः। यदा पुनरयं लोकादसिद्धः कविकल्पितः। तदोत्प्रेक्षैव येनेवशब्दः संभावनापरः। (उद्योत, पृ० ३५)

'तादात्म्य' से है। सम्भावना सदृश के आधार पर होती है, जहाँ संभावना असदृश के आधार पर होती है वहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलंकार भी नहीं होता।

'उत्प्रेक्षा' अलंकार के संबंध में नागेश भट्ट ने यह भी स्पष्ट किया है कि जहाँ विषय और विषयी दोनों में साधारणत्व का अभाव होता है, वहाँ 'उत्प्रेक्षा' नहीं होती। 'वदनकमलेन ··विजितमिति'[१] उदाहरण द्वारा नागेश-भट्ट ने अपने कथन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि यहाँ स्मित के संभावनोत्थापक होने पर भी जगत्कामातुर भवन रूप विषय और जगद्विजय रूप विषयी दोनों में साधारणत्व का अभाव होने से 'उत्प्रेक्षा' अलंकार नहीं है।

नागेशभट्ट ने यह भी स्पष्ट किया कि 'रूपक' ज्ञान में अतिप्रसंग वारण के लिए 'उत्प्रेक्षा' के लक्षण में 'संभावनम्' पद दिया है। 'रूपक' अलंकार में आरोप्यमाण के रूप से विषय को रूपवान् करना है, 'उत्प्रेक्षा' में विषय में उसकी रूप की संभावना करना है।

नागेश भट्ट ने 'उत्प्रेक्षा' के प्रकारों का उल्लेख किया है। इवं, नूनं, मन्ये, जाने, अवैमि, ऊहे, तर्कयामि, शंके आदि संभावना के प्रतिपादकों सहित जहाँ 'उत्प्रेक्षा' की सामग्री रहे वहाँ 'वाच्या उत्प्रेक्षा' होगी। जहाँ प्रतिपादक शब्दों से रहित केवल 'उत्प्रेक्षा' की सामग्री रहे वहाँ प्रतीयमान उत्प्रेक्षा होगी।

जहाँ विना उत्प्रेक्षा सामग्री के केवल प्रतिपादक शब्द रहेंगे वहाँ 'उत्प्रेक्षा' नहीं होगी केवल संभावना होगी।[२]

गोविन्द ठक्कुर ने 'उत्प्रेक्षा' के मुख्यत: तीन भेदों की चर्चा की है परन्तु प्रदीपकार ने यह भी लिखा 'सा चेयं हेत्वादिसंभावनाभेदाद्बहुप्रकारा'। यहाँ नागेश भट्ट 'बहुप्रकारेति' को स्पष्ट करते हैं कि जाति, गुण, क्रिया, द्रव्यों के तथा उनके अभाव रूप और उनके संभावित रूप से 'स्वरूपोत्प्रेक्षा पाँच प्रकार की है। इसी प्रकार हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के भी जात्यादि रूप से पाँच-पाँच भेद हैं। इसके अतिरिक्त उत्प्रेक्षा के निमित्तधर्म के उपादान और अनुपादन के द्वारा अनेक भेद हैं।[3] यही (भेदों की गणना) 'बहुप्रकारेति' का तात्पर्य है।

---

१. उदाहरण, उद्योत, पृ० ३५

२. उद्योत, पृ० ३६

३. वही

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' उदाहरण के स्पष्टीकरण में नागेश भट्ट ने रुय्यक के मत का खण्डन किया है। 'रुय्यक' ने प्रस्तुत उदाहरण के उत्तरार्ध में 'उपमा' अलंकार माना है, उत्प्रेक्षा नहीं।[1] नागेश भट्ट ने 'उपमा' अलंकार का खण्डन करते हुए, यहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलंकार ही माना है। उद्योतकार लिखते हैं कि प्रस्तुत उदाहरण में कालिमा के प्रसरण में 'वर्षण' की संभावना की गई है। अत: यहाँ 'उत्प्रेक्षा अलंकार है। 'इव' शब्द संभावना अर्थ में है। महाभाष्य में भी स्पष्ट किया है कि 'तिङन्त क्रिया के साथ प्रयुक्त शब्द कभी भी 'उपमा' वाचक नहीं होता संभावना का ही बोधक होता है।'[2] अत: यहाँ रुय्यक का मत खण्डित होता है।

इस प्रकार नागेश भट्ट ने 'उत्प्रेक्षा' अलंकार का विस्तृत विवेचन किया है। 'उत्प्रेक्षा' के भेदों की चर्चा आचार्य जगन्नाथ के 'रसगंगाधर' के अनुसार की है।

प्रभा—वैद्यनाथ ने 'प्रभा' टीका में 'उत्प्रेक्षा' और 'संदेह' अलंकार का अन्तर स्पष्ट किया है। वैद्यनाथ का अभिप्राय है कि 'उत्प्रेक्षा' के स्पष्टीकरण में गोविन्द ठक्कुर ने 'एकरूपतया' शब्द प्रयोग द्वारा 'संदेह' और 'उत्प्रेक्षा' का अन्तर स्पष्ट किया है। 'संदेह' अलंकार में भी संभावना होती है परन्तु अन्तर यह है कि 'उत्प्रेक्षा' में एकपक्ष में संशय का झुकाव होता है किन्तु सन्देह अलंकार में दोनों ओर समान रूप से संशय होता है। यही दोनों में भेद है।[3]

वैद्यनाथ ने 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' के दो प्रकार माने— १. धर्म्युत्प्रेक्षा, २. धर्मोत्प्रेक्षा।

'उद्योत' टीका में 'उत्प्रेक्षा' अलंकार की विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। 'प्रभा' में भी इसी प्रकार का विवेचन है।

अन्त में 'उत्प्रेक्षा' अलंकार के संबंध में कुछ विशेषताएँ यह हैं कि जहाँ माणिक्यचंद्र को रुय्यक का मत मान्य है वहाँ गोविन्द ठक्कुर ने रुय्यक के मत का खण्डन किया है। गोविन्द ठक्कुर के टीकाकारों ने भी रुय्यक के मत

---

१. 'उत्तरे त्वर्धे – 'असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता'
इत्यत्रोपमैव नोत्प्रेक्षा।' (अलंकारसर्वस्व, पृ० ६८)

२. उद्योत, पृ० ३८

३. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३२३-३२४

की आलोचना की है। मम्मट ने 'उत्प्रेक्षा' के भेदों की ओर ध्यान नहीं दिया है। गोविन्द ठक्कुर ने 'उत्प्रेक्षा' के तीन भेदों की चर्चा की है तथा गोविन्द ठक्कुर के टीकाकारों ने अनेक भेदों, उपभेदों की चर्चा की है। नागेशभट्ट का 'उत्प्रेक्षा' अलंकार विवेचन विशेष सराहनीय हैं। 'उत्प्रेक्षा' अलंकार की व्युत्पत्ति स्वष्ट करते हुए उद्योतकार ने 'उत्प्रेक्षा' का उपमा, रूपकादि अलंकारों से अन्तर स्पष्ट किया है।

ससन्देह

मम्मट ने ससन्देह' 'अलंकार का लक्षण दिया है 'ससन्देहस्तु भेदौक्तौ तदनुक्तौ च संशयः।' 'ससन्देह' अलंकार दो प्रकार का है—१. भेदोक्ति होने पर, २. भेद की अनुक्ति होने पर। प्रथम भी दो प्रकार है—१. निश्चयगर्भ, २. निश्चयान्त।

निश्चयगर्भ सन्देह के समान निश्चयान्त में निश्चय व्यंग्य नहीं है अतः आचार्य उद्भट ने इसका (निश्चयान्त) निरूपण नहीं किया है।[1]

क्रमशः उदाहरण दिए हैं—

१. (i) भेदोक्ति में निश्चयगर्भ—'अयं मार्तण्डः···विकल्पान्प्रतिभटाः'[2]

(ii) निश्चयान्त का उदाहरण—'इन्दु किं···परतः।'[3]

२. भेद की अनुक्ति का अस्याः···मुनिः।'[4]

संकेत—माणिक्यचन्द्र 'संदेह' अलंकार को स्पष्ट करते हैं कि जहाँ अप्रस्तुत में 'सन्देह' होने पर प्रस्तुत भी सन्देह का विषय बन जाता है, वहाँ संदेह अलंकार हैं। इसके अतिरिक्त कवि प्रतिभा से उत्थापित संदेह रहने पर 'सन्देहालंकार' होता है। 'संदेह' अलंकार उस प्रकार के संशय में नहीं हुआ करता जहाँ कवि-प्रतिभा का कोई हाथ न हो जैसे 'स्थाणुर्वा नरो वा।' यह केवल संशयात्मक ज्ञान है। माणिक्यचन्द्र के अनुसार 'सन्देह' अलंकार तीन प्रकार का है—१. निश्चयगर्भ, २. निश्चयान्त, ३ शुद्ध।[5]

माणिक्यचंद्र के 'संदेह' अलंकार विवेचन पर रुय्यक का प्रभाव है। रुय्यक ने 'संदेह' अलंकार को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रकृत और अप्रकृत में कवि-प्रतिभा से उत्पादित सन्देह रहने पर संदेहालंकार होता है।

---

१ काव्यप्रकाश, पृ० ४८६

२.३.४. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.४१८, ४१९, ४२०

५. 'यत्राप्रस्तुतेन संशयवता वचसा प्रस्तुतमुत्कृष्यते स सन्देहालङ्कारः। अयं च प्रतिभोत्थापितश्चमत्कारीति स्थाणुर्वा नरो वा इत्यादौ नालङ्कारता। तत्रोपमेयमुपमानादभित्त्वा वोच्यते।' (संकेत, पृ० २३०)

रुय्यक ने 'संदेह' अलंकार तीन प्रकार का माना है — १. शुद्ध, २. निश्चय गर्भ, ३. निश्चयान्त।[1]

अतः माणिक्यचन्द्र की चर्चा रुय्यक से प्रभावित है।

सारबोधिनी—सारबोधिनी टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य 'संदेह' अलंकार के स्पष्टीकरण में लिखते हैं कि यहाँ पूर्व सूत्र से 'प्रकृतस्य समेत यत्' की अनुवृत्ति हो रही है, अतएव जहाँ सादृश्य के कारण उपमेय का उपमान रूप में संशय होता है वह 'सन्देह' अलंकार है। माणिक्यचन्द्र की भाँति भट्टाचार्य भी स्पष्ट करते हैं कि 'संदेह' अलंकार सभी प्रकार के संशय में नहीं होता अपितु कवि प्रतिभा से उत्थापित संदेह में 'संदेहालंकार' होता है। यह ठूँठ है या मनुष्य', यह संशय 'संदेहालंकार' का विषय नहीं अपितु संशयात्मक ज्ञान है क्योंकि यहाँ कवि-प्रतिभोत्थापक चमत्कार का अभाव है।

प्रभा तथा उद्योत—'काव्यप्रदीप' की टीकाओं (प्रभा तथा उद्योत) में 'ससन्देह अलंकार' के लक्षण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यहाँ 'ससंदेह' लक्ष्य है, संशय लक्षण है। 'प्रकृतस्य समेन यत्' की अनुवृत्ति हो रही है अतएव जहाँ सादृश्य के कारण प्रकृत (उपमेय) का सम (उपमान) के साथ संशयात्मक ज्ञान होता है, वहाँ 'ससन्देह' अलंकार होता है।[2]

नागेश भट्ट तथा वैद्यनाथ ने भी अन्य टीकाकारों की भाँति कविप्रतिभा से उत्थापित संशय को 'संदेह' अलंकार का विषय माना है।

टीकाओं (उद्योत तथा प्रभा) में 'उत्प्रेक्षा' तथा 'सन्देह' अलंकार का परस्पर भेद बताया गया है। 'उत्प्रेक्षा' में एक पक्ष में संशय होता है किन्तु 'ससन्देह' में दोनों ओर समान रूप से संशय होता है।[3]

अभिप्राय यह है कि 'सन्देह' अलंकार में संशय का सादृश्य पर आधारित होना आवश्यक है। सादृश्य के बिना केवल संशय सन्देह अलंकार का अंग नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि गोविन्द ठक्कुर का 'सन्देह' अलंकार विवेचन अपने

---

१. 'विषयः प्रकृतोऽर्थः यद्धित्तित्वेनाप्रकृतः संदिह्यते। अप्रकृतसंदेहे, विषयोऽपि संदिह्यत एव। तेन प्रकृताप्रकृतगतत्वेन कविप्रतिभोत्थापिते संदेहे संदेहालंकारः। स च त्रिविधः। शुद्धो, निश्चयगर्भो निश्चयान्तश्च।'
(अलंकारसर्वस्व, पृ० ५०)

२ प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३२५

३. उद्योत, पृ० ३९

पूर्ववर्ती टीकाकारों के अनुसार है। गोविन्द ठक्कुर के टीकाकारों ने भी 'उत्प्रेक्षा' और 'सन्देह' अलंकार का अन्तर स्पष्ट किया है।

रूपक

मम्मट का लक्षण है --'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' अर्थात् उपमान तथा उपमेय का अभेदारोप रूपक है। मम्मट ने रूपक के अनेक भेदों-उपभेदों की चर्चा की है। प्रथमतः रूपक के तीन प्रकार हैं—१. सांग, २. निरंग, ३. परम्परित रूपक। सांग रूपक भी दो प्रकार का है—समस्तवस्तुविषयक, एकदेशविवर्ती। निरंग के भी दो भेद हैं— शुद्ध और मालारूपक। परम्परित के श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट रूप से प्रथमतः दो भेद हैं फिर इनमें से प्रत्येक के शुद्ध और मालारूप से दो होकर चार भेद हो जाते हैं। इस प्रकार रूपक के आठ प्रकार हैं। क्रमशः रूपक के प्रत्येक भेदों के उदाहरण दिए हैं।[1]

संकेत—सर्वप्रथम 'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने 'रूपक' अलंकार का लक्षण स्पष्ट किया है कि भिन्न-भिन्न प्रकट होने वाले उपमान तथा उपमेय में अभेद आरोप ही रूपक है। जैसे 'मुखं चन्द्र' में चन्द्र के अपने गुण हैं और मुख के अपने गुण हैं। दोनों में भेद प्रकट है तथा उनमें अत्यन्त साम्य के कारण अभेद की कल्पना की गई है। अतएव भेद में अभेद प्रतीति रूपक है।[2]

'वृत्ति' में प्रयुक्त 'अतिसाम्य' शब्द के आधार पर माणिक्यचन्द्र ने 'रूपक' का 'उपमा' 'अतिशयोक्ति' अलंकारों से अन्तर स्पष्ट किया है। 'साम्य' उपमा में भी होता है परन्तु रूपक में अतिसाम्य होता है। 'अतिसाम्य' 'अतिशयोक्ति' में भी होता है परन्तु फिर भी उपमा, रूपक तथा अतिशयोक्ति में अन्तर है। 'उपमा' में भेद होने पर उपमान और उपमेय के समान धर्म का कथन होता है परन्तु 'रूपक' में साधर्म्य के आधार पर अभेद का आरोप किया जाता है। 'रूपक' का 'अतिशयोक्ति' से अन्तर यह है कि 'रूपक' में उपमेय और उपमान दोनों अपने-अपने रूप में कहे जाते हैं परन्तु अतिशयोक्ति में उपमेय की अपने स्वरूप में उपस्थिति नहीं होती, उपमान के द्वारा उपमेय को छिपा लिया जाता है तथा दोनों में अभेद का निश्चय किया जाता है। माणिक्य-

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ४६३ से ४६६ तक

२. 'रूपयत्येकतां नयतीति रूपकम्। अभेद इति भणनादभेदप्राधान्ये रूपकं स्यादिति लब्धम्। तथा मुखं चन्द्र इत्यादिरूपके चन्द्रेण स्वगुणा लक्ष्यन्ते। तैर्मुखगुणाः। तैरपि मुखम्। ततश्च सामानाधिकरण्यं मुखचन्द्रयोर्गुणद्वारेण ताद्रूप्यादिप्रतीत्योपपद्यते।' (सकेत, पृ० २३३)

चन्द्र ने 'रूपक' और 'अपह्नुति' के भेद को भी स्पष्ट किया है। 'रूपक' में उपमेय और उपमान दोनों का स्वरूप पृथक्-पृथक् प्रकट होता है किन्तु 'अपह्नुति' में उपमेय के स्वरूप का निषेध करके उपमान की स्थापना की जाती है।[1]

मम्मट ने 'निरंग' रूपक का लक्षण नहीं दिया है परन्तु माणिक्यचन्द्र स्पष्ट करते हैं कि जहाँ अङ्गाङ्गिभाव से शून्य एक ही रूपक होता है उसमें अन्य रूपकों का मिश्रण नहीं होता है।[2]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में यह स्पष्ट किया है कि 'रूपक' के लक्षण की 'अपह्नुति' अलंकार में अतिव्याप्ति नहीं है। 'रूपक' का 'अपह्नुति' अलंकार से भेद है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं प्रथमत: रूपक के दो भेद हैं—१. सावयव, २. निरवयव। पुनः 'सावयव' दो प्रकार का है। १. समस्तवस्तुविषय, २. एकदेशविवर्ती। परन्तु 'निरवयव' शुद्ध मात्र है अर्थात् यह एक ही प्रकार का है। मम्मट का सांग और निरंग रूपक को शुद्ध मात्र कहने का अभिप्राय यह है कि निरंग रूपक वह है जहाँ अंगागिभाव से शून्य एक ही रूपक होता है उसमें अन्य रूपकों का मिश्रण नहीं होता अतएव यह शुद्ध-रूपक है। 'सांग' या 'सावयव' रूपक अनेक रूपकों का समुदाय होता है जिसमें एक प्रधान रूपक में अन्य रूपक अंग हुआ करते हैं।[3]

निरंग रूपक का दूसरा प्रकार मालानिरंग रूपक है। 'काव्यप्रदीप' में 'सांगस्यैव वैचित्र्यान्तरमाह'— यह पाठ मिलता है। 'सांगस्यैव' प्रयोग अशुद्ध है। 'सांगस्यैव' के स्थान पर 'निरंगस्यैव' होना चाहिए। 'उद्योत' टीका में भी स्पष्टीकरण किया गया है कि यहाँ 'निरंगस्यैव' पाठ ही युक्त है।[4]

'परम्परित' रूपक में गोविन्द ठक्कुर ने 'परम्परा' का अर्थ स्पष्ट किया है—'कार्यकारण भावरूपा परम्परा।' अर्थात् जहाँ अन्य वस्तु का आरोप मुख्य आरोप का कारण होता है। परम्परित का श्लिष्ट मालारूप उदाहरण 'विद्वन्मानसहसं···' विशेष विवेचनीय है।

मम्मट ने 'श्लिष्टपरम्परित' रूपक को उभयालंकार माना है परन्तु मम्मट ने यह भी लिखा है कि प्रसिद्धि का अनुसरण करके इसका अर्थालंकार

---

१. संकेत, पृ० २३२
२. वही, पृ० २३४
३. काव्यप्रदीप, पृ० ३२८
४. उद्योत, पृ० ५१

में कथन किया गया है क्योंकि अन्य आचार्यों ने इसे 'एकदेशविवर्ती रूपक कहा है। मम्मट के इस कथन में 'प्रसिद्धि' और अन्य 'आचार्यों' से क्या अभिप्राय है इसे गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है।

'प्रसिद्धि' का अभिप्राय माणिक्यचन्द्र ने 'उद्भट' आदि आचार्यों से लिया है। उन्होंने यहाँ 'एकदेशविवर्ती' रूपक बतलाया है तथा 'एकदेशविवर्ती' रूपक अर्थालंकार है।[१]

'बालचित्तानुरंजनी' टीका में भी श्रीनरहरिसरस्वतीतीर्थ ने 'प्रसिद्धि' का अभिप्राय 'उद्भट' आदि आचार्यों से लिया है।

'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने स्पष्ट किया है कि 'विद्वन्मानस' इत्यादि में 'मानस' इत्यादि पद 'परिवृत्त्यसह' है तथा हंस आदि पद 'परिवृत्तिसह' हैं इस हेतु यहाँ उभयालंकार है।[२]

गोविन्द ठक्कुर ने 'प्रस्तुत उदाहरण के विवेचन में अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक की चर्चा की है। गोविन्द ठक्कुर प्रथमतः यह स्पष्ट करते हैं—श्लेष के परिवृत्त्यसह होने से उसे शब्दालंकार कहा गया है। 'श्लेषपरम्परित' रूपक में शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित होने के कारण इसे (श्लिष्ट-परम्परित रूपक) उभयालंकार माना है। 'प्रसिद्धि का अनुसरण करते हुए इसका अर्थालंकारों में कथन किया है' मम्मट के इस कथन में गोविन्द ठक्कुर ने 'प्रसिद्धि' के अभिप्राय मे रुय्यक की चर्चा की है। रुय्यक ने श्लेष को रूपक का बाधक माना है। उनके अनुसार श्लेष अर्थालंकार है और अर्थालंकार किसी अर्थालंकार का बाधक होता है अतः यह अर्थालंकार है। प्राचीनों का अनुसरण करके ही इसे अर्थालंकार में रखा गया है।[३]

वस्तुतः मम्मट ने इसे उभयालंकार माना है तथा मम्मट के लक्षणानुसार यहाँ 'एकदेशविवर्ती' रूपक नहीं अपितु 'श्लिष्ट-परम्परित रूपक' है।

'रूपक' की अन्य चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के समान की है।

प्रभा—'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने स्पष्ट किया है कि 'गौणी सारोपा लक्षणा' में 'रूपक' अलंकार होता है। 'सारोपा' आदि शब्द 'अतिशयोक्ति'

---

१. उद्भटाद्यैः परम्परितमेव एकदेशविवर्तिनाम्नोचे।'
(संकेत, पृ० ३६३, मैसूर संस्करण)

२ 'मानसादिशब्दानां परिवृत्त्यसहिष्णुत्वेन हंसादिपदानां च तत्सहत्वेन च उभयालंकारतेत्यर्थः।' (सारबोधिनी, पृ० ३८३)

३ काव्यप्रदीप, पृ० ३३०

की व्यावृत्ति के लिए है क्योंकि गौणी साध्यवसाना क्षेत्र में 'अतिशयोक्ति' होती है। 'गौणी सारोपा लक्षणा' में आरोप्यमाण और आरोप दोनों कहे जाते हैं, उपमेय की अपने स्वरूप में उपस्थिति होती है परन्तु अतिशयोक्ति में उपस्थिति नहीं होती।[1]

'निरंगरूपक' के द्वितीय प्रकार मालानिरंगरूपक में मम्मट के इस कथन 'माला तु पूर्ववत्' से वैद्यनाथ ने यह सिद्ध किया है कि 'पूर्ववत्' कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत्र और वृत्ति के लेखक एक ही हैं। 'पूर्ववत्' से अभिप्राय 'मालोपमा' से है जिसका कथन वृत्ति में किया गया है सूत्र में नहीं। यहाँ माला-रूपक का कथन सूत्र में है।[2]

उद्योत—नागेश भट्ट ने 'उद्योत' टीका में 'रूपक' का लक्षण दिया है। 'उपमानोपमेययोरित्यस्योपमानतावच्छेदकोपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेण शब्दान्निश्चीयमानयोरित्यर्थः' अर्थात् मुखत्व रूप से उपस्थित उपमेय मुख में शब्द से जो उपमान के तादात्म्य अभेद का निश्चय होता है उसे 'रूपक' कहते हैं। नागेश भट्ट ने 'भ्रांतिमान्' 'अपह्नुति' और 'अतिशयोक्ति' अलंकार में रूपक अलंकार की अतिव्याप्ति का निषेध किया है। 'अपह्नुति' अलंकार में स्वेच्छा से निषेध किया जाता है, भ्रांतिमान्' में 'भ्रांतिजनक दोष से ही उपमेय प्रतिबद्ध हो जाता है। 'अतिशयोक्ति' में साध्यवसाना लक्षणा होती है अतः उपमानतावच्छेदक चन्द्रत्व के द्वारा मुख की उपस्थिति होती है। 'अतिशयोक्ति' के समान 'निदर्शना' अलंकार में भी अतिव्याप्ति नहीं है। लक्षण में 'शब्दात्' विशेषण से जो आहार्य अभेद निश्चय होता है उसका व्यवच्छेद हो गया। निश्चीयमान विशेषण से 'उत्प्रेक्षा' की व्यावृत्ति होती है क्योंकि 'उत्प्रेक्षा' में निश्चय नहीं है।[3]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर आदि टीकाकारों द्वारा 'रूपक' अलंकार का अतिशयोक्ति, अपह्नुति, भ्रांतिमान् आदि अलंकारों से अन्तर स्पष्ट किया है। गोविन्द ठक्कुर ने 'विद्वन्मानसहंस' उदाहरण की विशेष चर्चा की है। इसके अतिरिक्त 'रूपक' अलंकार में गोविन्द ठक्कुर का विवेचन मम्मट के समान ही है। नागेश भट्ट ने आचार्य जगन्नाथ के 'रूपक' अलंकार का ही विवेचन किया है। 'रसगंगाधर' में आचार्य जगन्नाथ के 'रूपक' अलंकार के लक्षण और अन्य अलंकारों से अन्तर कथन का ज्यों का त्यों 'उद्योत' टीका में उल्लेख किया है।

---

१. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३२७

२. वही, पृ० ३२९

३. उद्योत पृ० ४४

अपह्नुति

मम्मट का लक्षण है 'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।' वृत्ति में स्पष्ट है कि जहाँ उपमेय को असत्य बताकर उपमान को सत्य रूप से स्थापित किया जाता है । 'अपह्नुति' के तीन उदाहरण दिए हैं—

१. 'अवाप्तः···गाढमुरसि ।'[१]

२. 'बत सखि···कालकूटम् ।'[२]

३. 'अमुष्मिल्लावण्य · रोमावलिवपुः[३]

संकेत—माणिक्यचन्द्र ने 'संकेत' टीका में 'अपह्नुति' अलंकार की चर्चा करते हुए 'अपह्नुति' अलंकार का 'रूपक अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है । 'रूपक'अलकार में वर्णनीय का निषेध नहीं होता अपितु उपमान तथा उपमेय का सादृश्य के कारण अभेद आरोपित होता है । 'अपह्नुति' में उपमेय के स्वरूप को छिपाकर उसके स्थान पर उपमान की स्थापना की जाती है । 'रूपक' में दोनों का स्वरूप पृथक्-पृथक् प्रकट होता है ।[४]

बालचित्तानुरंजनी—'बालचित्तानुरंजनी' टीका में श्री नरहरिसरस्वती-तीर्थ ने स्पष्ट किया है कि 'अपह्नुति' अलंकार की अभिव्यक्ति-प्रणाली तीन प्रकार की होती है—१. अपह्नव करके आरोप, २. आरोप करके अपह्नव, ३. असत्य का भाव सूचित करने के लिए छल आदि शब्दों का प्रयोग ।[५]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'अपह्नुति' अलंकार के लक्षण की चर्चा मम्मट की भाँति की है—'प्रकृतमुपमेयं निषिध्य असत्यतया व्यवस्थाप्य सत्यतया अन्यदप्रकृतमुपमानं यत्साध्यतेव्यवस्थाप्यते सा अपह्नुतिः' ।[६] 'अपह्नुति' अलंकार विवेचन में गोविन्द ठक्कुर की विशेषता यह है कि प्रदीपकार ने 'अपह्नुति' अलंकार के दो भेदों की चर्चा की है । 'अपह्नुति' दो प्रकार की है—१. शाब्दी, २. आर्थी । 'अवाप्तः···गाढमुरसि' उदाहरण 'शाब्दी अपह्नुति' का है । प्रस्तुत उदाहरण में उपमेय रूप कलंक को असत्य बतला कर उपमानभूत रात्रि को सत्य रूप से स्थापित किया गया है । 'नैवायं' शब्द

१.२.३.—काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.४३०, ४३१, ४३२

४. रूपके ह्यारोप्यारोपविषययोरनपह्नवे स्फुटेन रूपेणादावेव सादृश्यं प्रतीयते ।' (संकेत, पृ० २३६)

५. 'अपह्नुतिस्त्रिधा । अपह्नवपूर्व आरोपः, आरोपपूर्वोऽपह्नवश्च, छलादि-शब्दप्रयोगश्चेति ।' (बालचित्तानुरंजनी, पृ० ३८५)

६. काव्यप्रदीप, पृ० ३३२

द्वारा उपमेय का निषेध किया है अतः 'शाब्दी-अपह्नुति' है।[1] अभिप्राय यह है कि जहाँ शब्द द्वारा उपमेय की असत्यता कही जाती है वहाँ 'शाब्दी अपह्नुति' होती है।

'आर्थी अपह्नुति' तो बहुत सी भंगिमाओं द्वारा होती है अर्थात् कहीं परिणामार्थक शब्दों का ग्रहण किया जाता है।

'बत सखि ··कालकूटम्' उदाहरण में कपटार्थक 'छल' शब्द से उपमेय का निषेध हैं। यहाँ पर ये भ्रमरयुक्त सहकार-पुष्प नहीं हैं अपितु कालकूट सहित बाण हैं यह प्रतीति होती है।[2]

'अमुष्मिंल्लावण्य···रोमावलिवपुः' उदाहरण में 'यह रोमावली नहीं किन्तु धूमशिखा है', ऐसी प्रतीति 'परिणमति' शब्द द्वारा होती है।[3]

प्रस्तुत उदाहरण भी आर्थी अपह्नुति का है।

कपटार्थक, परिणामार्थक शब्द प्रयोग के अतिरिक्त अन्य प्रकारों से भी आर्थी अपह्नुति होती है। गोविन्द ठक्कुर ने 'इदं ते केनोक्तं—'[4] उदाहरण दिया हैं। प्रस्तुत उदाहरण में 'इदं ते केनोक्तम्' ऐसा कहकर प्रकृत का निषेध किया गया है।

उद्योत—नागेश भट्ट ने 'उद्योत' टीका में स्पष्ट किया है कि अपह्नुति अलंकार के लक्षण में प्रयुक्त 'प्रकृतं निषिध्य' शब्द द्वारा रूपक की व्यावृत्ति हो जाती है।

नागेश भट्ट ने 'अपह्नुति' अलंकार का अधिक स्पष्ट विवेचन करने के लिए मम्मट के अतिरिक्त (काव्यप्रकाश में उद्धृत तीन उदाहरणों के अतिरिक्त) अन्य उदाहरणों की भी चर्चा की है। नागेश भट्ट ने 'केसेषु बलामोऽअ' उदाहरण[5] अपह्नुति अलंकार का माना है। प्रस्तुत उदाहरण में यह स्पष्ट किया है कि उसके शत्रु भाग कर नहीं गए अपितु उस (राजा) से पराजय की आशंका करके कन्दराएँ ही उनको नहीं छोड़ती हैं। अतः यह उदाहरण अपह्नुति का है। इसी प्रकार 'नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्' उदाहरण 'अपह्नुति' अलंकार का ही है।

प्रभा—'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने 'अपह्नुति' अलंकार के लक्षण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि लक्षण में 'प्रकृतं निषिध्य' जो ऐसा कहा गया

---

१. २. ३. (काव्यप्रदीप, पृ० ३३३)

४. काव्यप्रकाश, ७.२६४

५. 'केशेषु बलात्कारेण तेन च समरे जयश्रीगृं हीता।
यथा कन्दराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिताः'।

है इससे रूपक की व्यावृत्ति होती है। 'अन्यत् साध्यते' कथन से आक्षेप अलंकार में यह लक्षण नहीं जाता। 'सन्देह' अलंकार और 'अपह्नुति' अलंकार में अन्तर यह है कि 'सन्देह' में संशय होता है तथा 'अपह्नुति' में निश्चय, यही दोनों का भेद है।

इस प्रकार विभिन्न टीकाकारों द्वारा 'अपह्नुति' अलंकार की चर्चा की गई हैं। गोविन्द ठक्कुर की विशेषता यह रही कि उन्होंने 'अपह्नुति' अलंकार के दो भेद माने जबकि मम्मट या मम्मट के अन्य टीकाकारों ने भेदों की चर्चा नहीं की है। गोविन्द ठक्कुर ने 'अपह्नुति' अलंकार का रूपक आदि अलंकारों से अन्तर स्पष्ट नहीं किया है परन्तु गोविन्द ठक्कुर के टीकाकारों ने अन्तर स्पष्ट किया है। नागेश भट्ट ने उन उदाहरणों की भी चर्चा की है जहाँ 'अपह्नुति' अलंकार का निषेध है।

श्लेष

मम्मट का लक्षण है 'श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत्।' वृत्ति में स्पष्ट किया है कि एक ही अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के जहाँ अनेक अर्थ हो जाते हैं वहाँ 'अर्थ-श्लेष' है।

उदाहरण है 'उदयमयते···विभाकरः।'[1]

प्रस्तुत उदाहरण में अभिधा का नियन्त्रण नहीं होता तथा सूर्य और राजा दोनों वाच्य हैं।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर के 'श्लेषालंकार' विवेचन में यह विशेषता है कि उन्होंने शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष का अन्तर स्पष्ट किया है। शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष, दोनों में ही दो अर्थों का बोध होता है। तथापि दोनों में अन्तर है—'शब्दपरिवृत्त्यसह' और 'शब्दपरिवृत्तिसह।' अर्थात् 'शब्द-श्लेष' में किसी शब्द का पर्याय रख देने पर श्लेष नहीं रहता है परन्तु 'अर्थ-श्लेष' में शब्द का पर्याय रख देने पर भी श्लेष बना रहता है।

'अर्थ-श्लेष' में एक ही अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के अनेक अर्थ हो जाते हैं परन्तु 'शब्द-श्लेष' में शब्द सर्वत्र ही अनेकार्थक होते हैं। अतः जहाँ शब्दों के 'एकवृन्तगतफलद्वय न्याय से अनेक अर्थ हो जाते हैं वहाँ 'अर्थ-श्लेष' होता हैं।[2]

'उदयमयते ··विभाकरः' उदाहरण में 'ध्वनि की शंका नहीं करनी

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.४३३

२. काव्यप्रदीप, पृ० ३३३

चाहिए' इस कथन की पुष्टि के लिए प्रदीपकार ने 'ध्वनि' (अभिधामूला ध्वनि) और 'श्लेष' में अन्तर बताया है । 'श्लेष' और 'अभिधामूलाध्वनि' दोनों में दो अर्थों की प्रतीति होती है तथापि 'श्लेष' मे संयोग आदि के द्वारा अभिधा का अनियन्त्रण होता है और दोनों अर्थ वाच्य होते है। 'अभिधामूला-ध्वनि' में संयोग आदि द्वारा अभिधा जिस अर्थ में नियन्त्रित होती है उसमें वह अर्थ तो वाच्य होता है और दूसरा अर्थ व्यंग्य ।[1]

गोविन्द ठक्कुर के टीकाकारों ने विशेष नहीं कहा है । इस प्रकार प्रदीप-कार ने 'अर्थ-श्लेष' अलंकार की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया है कि लक्षण में प्रयुक्त शब्द 'एकस्मिन् वाक्ये' और वृत्ति में प्रयुक्त शब्द 'एकार्थप्रतिपाद-कानाम्' शब्द-श्लेष व्यवच्छेद के लिए दिए हैं ।

उदाहरण में अभिधामूलाध्वनि की शंका का खण्डन किया है ।

समासोक्ति

समासोक्ति अलंकार का लक्षण है 'परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः ।'

वृत्ति में स्पष्ट किया है कि समास का अर्थ है संक्षेप । अतः जहाँ प्रकृत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य-द्वारा श्लिष्ट विशेषणों की महिमा से, न कि विशेष्य-वाचक शब्दों के सामर्थ्य से भी, जो अप्रस्तुत द्वारा बोध होता है, वह संक्षेप से दो अर्थों का कथन करने के कारण 'समासोक्ति' अलंकार है ।

उदाहरण है 'लब्ध्वा तव···ननु सा ।'[2]

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने 'समासोक्ति' एवं 'रूपक' अलंकार में अन्तर स्पष्ट किया है । 'समासोक्ति' में विशेषण-साम्य के कारण प्रतीयमान अप्रस्तुत के व्यवहारों का प्रस्तुत में आरोप किया जाता है, रूप का समारोप नहीं । 'रूपक' में उपमान के स्वरूप का उपमेय में आरोप किया जाता है । 'रूपक' में रूप का समारोप होता है ।[3]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'समासोक्ति' अलंकार को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'समासोक्ति' में केवल विशेषण ही श्लिष्ट होते हैं, विशेष्य नहीं । इसी कारण 'समासोक्ति' का 'श्लेष से अन्तर स्पष्ट है । 'श्लेष'

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३३४

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण, १०.४३४

३. 'अस्यां विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य प्रस्तुतविशेषकत्वेन प्रतीतिः ।
अतो विशेषकत्वात् व्यवहारसमारोपः । रूपसमारोपे तु रूपकं स्यात् ।'
(संकेत, पृ० २३९)

अलंकार में 'विशेषण और विशेष्य दोनों ही श्लिष्ट होते हैं।' 'समासोक्ति' अलंकार के लक्षण का स्पष्टीकरण मम्मट की भाँति ही किया है 'तेन प्रकृतार्थ-विशेषणवाचिमात्रशब्दस्य श्लेषमहिम्ना यत्र प्रकृतार्थकेन वाक्येनाप्रकृतार्थवचनं सा समासोक्तिः संक्षेपेणार्थद्वयोक्तिः।'

गोविन्द ठक्कुर की 'समासोक्ति' अलंकार में विशेषता यह है कि मम्मट ने 'समासोक्ति' के भेदों की चर्चा नहीं की है परन्तु प्रदीपकार ने समासोक्ति के भेदों की चर्चा अप्रत्यक्ष रूप में की है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'श्लिष्टत्वं चोपलक्षणम्।' 'उपलक्षण' से अभिप्राय है अंग रूप होना। मुख्य रूप से वर्णनीय वस्तु में अंग रूप से वर्णन किया जाना 'उपलक्षण' है। अतः 'समासोक्ति' में मुख्य रूप से प्रस्तुत के वर्णन द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीति होती है परन्तु श्लिष्ट विशेषण के द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीति होती है। यह 'समासोक्ति' लक्षण में 'श्लिष्ट उपलक्षण' का अभिप्राय है। यहाँ हम कह सकते है कि गोविन्द ठक्कुर ने 'श्लिष्ट-विशेषणों से उत्थापित' समासोक्ति भेद की चर्चा की है।

'औपम्यगर्भादीनामपि संभवात्' कथन से गोविन्द ठक्कुर ने समासोक्ति के अन्य भेदों की चर्चा की है। 'औपम्यगर्भ' से अभिप्राय है सादृश्यगर्भित विशेषणों से उत्थापित समासोक्ति।

'औपम्यगर्भादीनां' में आदि पद से अभिप्राय है कि गोविन्द ठक्कुर को 'समासोक्ति' का अन्य भेद 'साधारण विशेषण-समुत्थापित समासोक्ति' भी अभीष्ट है। गोविन्द ठक्कुर ने 'साधारण-विशेषण-समासोक्ति का' उदाहरण विलिखति कुचौ'[२] दिया है।

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने समासोक्ति के भेदों की चर्चा की है और लिखते हैं कि यहाँ तक समासोक्ति विवेचन की चर्चा प्राचीन आचार्यों के मतानुसार है। यहाँ 'प्राचीन' से अभिप्राय मम्मट, रुय्यक तथा विश्वनाथ आदि आचार्यों से है क्योंकि रुय्यक तथा विश्वनाथ आदि ने समासोक्ति के भेदों की चर्चा की है तथा मम्मट एवं रुय्यक आचार्यों ने विशेषण साम्य से प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीति को समासोक्ति का लक्षण माना है।

'अत्र नव्याः' से गोविन्द ठक्कुर ने नवीन मत का भी उल्लेख किया है और अन्त में उस मत का खण्डन करते हुए उसे अयुक्त माना है। प्रदीपकार

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३३४

२. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३३४

लिखते है कि किसी नवीन आचार्य के अनुसार 'परोक्ति' मे पर शब्द का अभिप्राय है 'प्रकृतमप्रकृतं वा विवक्षितम्।' जहाँ अप्राकरणिक विशेषण के सामर्थ्य से प्राकरणिक की प्रतीति होती है, वह भी 'समासोक्ति' अलंकार है। जैसे 'संप्राप्तसकलाङ्ग—उदाहरण में अप्रकृत भृङ्ग के विशेषण सामर्थ्य से असत्पुरुष प्रकृत की प्रतीति हो रही है।[1] गोविन्द ठक्कुर ने 'तन्न युक्तम्' से इस मत का निषेध किया है। प्रदीपकार स्पष्ट करते हैं 'जहाँ अप्रस्तुत की वर्णना द्वारा प्रस्तुत की प्रतीति होती है वहाँ 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार होता है, 'समासोक्ति' नहीं। 'अप्रस्तुप्रशंसा' अलंकार का उदाहरण है 'येनास्याभ्युदितेन···।'

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार और 'समासोक्ति' अलंकार का अन्तर भी स्पष्ट किया है कि 'समासोक्ति' अलंकार में प्राकरणिक के वर्णन से अप्राकरणिक की प्रतीति होती है और 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में अप्राकरणिक की वर्णना द्वारा प्राकरणिक की प्रतीति होती है।

यदि प्रदीपकार की टीकाओं को देखें तो 'प्रभा' 'उद्योत' में भी 'समासोक्ति' अलंकार की विस्तृत चर्चा है।

प्रभा—'प्रभा' में वैद्यनाथ ने स्पष्ट किया है 'औपम्यगर्भादीनामपि' में 'आदि' पद से अभिप्राय 'साधारणविशेषणसारूप्यसंग्रहः' से है। 'विलिखति कुचावुच्चैर्गाढं···'। उदाहरण 'साधारण-विशेषण-समासोक्ति' का है। प्रस्तुत उदाहरण में 'कुचविलेखनकचग्रहादि' श्लिष्ट विशेषणों के बिना ही साधारण नायक के वृत्तान्त की प्रतीति हो रही है।

'औपम्यगर्भविशेषण' का उदाहरण है 'दन्तप्रभा···क्षणा।'[2] प्रस्तुत उदाहरण में नायिका के विशेषण फूलों के समान 'दन्तप्रभा' यह उपमागर्भ समास करने के पश्चात् 'दन्तप्रभा के समान फूलों से लदी हुई', इस दूसरे समास के द्वारा विशेषण साम्य की महिमा से लता व्यवहार की प्रतीति नायिका में हो रही है।

'सारूप्य समासोक्ति' उदाहरण में वैद्यनाथ ने उत्तररामचरित का 'पुरा यत्र स्रोतः' पद्य उद्धृत किया है। प्रस्तुत उदाहरण में दण्डकवन की भूमि के विषय में राम की उक्ति है। यहाँ वनवर्णन के सारूप्य के कारण ऐसे ग्राम या नगर का अप्रस्तुत वृत्तान्त प्रतीत हो रहा है जहाँ के निवासी धन, सन्तानादि,

---

१. काव्यप्रदीप पृ० ३३४

२. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३३५

समृद्धि तथा असमृद्धि के कारण बदल गए हैं। वन वर्णन प्रस्तुत है, ग्राम या नगर अप्रस्तुत है अतः 'समासोक्ति' है। वस्तुतः इस उदाहरण की चर्चा अप्पय्य दीक्षित ने 'सारूप्य समासोक्ति' में की है। परन्तु रसगंगाधर आदि में इस उदाहरण का खण्डन किया है।[1]

उद्योत—'उद्योत' में नागेश भट्ट ने अप्पय्य दीक्षित की समासोक्ति चर्चा का विस्तृत विवेचन किया है। अतः नागेश भट्ट के 'समासोक्ति' अलंकार विवेचन में मौलिकता नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि गोविन्द ठक्कुर तथा वैद्यनाथ ने 'समासोक्ति' अलंकार का विस्तृत विवेचन किया है। गोविन्द ठक्कुर तथा वैद्यनाथ की समासोक्ति के भेदों की चर्चा रुय्यक के 'समासोक्ति' अलंकार भेदों के समान है। रुय्यक ने समासोक्ति के मुख्यतः तीन भेद माने हैं। १. श्लिष्टविशेषणसमुत्थापित, २. साधारणविशेषणसमुत्थापित, ३. सादृश्यगर्भविशेषणसमुत्थापित।

वैद्यनाथ ने 'समासोक्ति' भेदों की चर्चा में उन्हीं उदाहरणों को उद्धृत किया है जिनका उल्लेख रुय्यक ने किया है। इस प्रकार प्रदीपकारादि की चर्चा रुय्यक के अधिक निकट है।

निदर्शना

मम्मट का लक्षण है 'अभवन्वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः।' मम्मट ने 'निदर्शना' अलंकार के तीन उदाहरण दिए हैं—

१. 'क्व सूर्यप्रभवो···सागरम्।'[2]

प्रस्तुत उदाहरण में 'उडुप के द्वारा सागर तरण के समान ही मेरी बुद्धि के द्वारा सूर्यवंश का वर्णन है' इस उपमा में कवि की उक्ति परिणत हो जाती है।

२. उदयति···वारणेन्द्रलीलाम्।'[3]

प्रस्तुत उदाहरण में अन्य की लीला को अन्य कैसे धारण कर सकता है? अतः 'उसके समान' इस उपमा में पर्यवसान हो जाता है।

३. 'दौर्भ्या ··मादधाति।'[4]

यह मालारूप निदर्शना का उदाहरण है।

४. मम्मट ने एक अन्य प्रकार की निदर्शना का उल्लेख किया है जहाँ क्रिया के द्वारा ही अपना तथा अपने हेतु का सम्बन्ध कथन कराया जाता है, वह एक अन्य 'निदर्शना' है।

---

१. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३३५

२.३.४. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४३५, ४३६, ४३७,

उदाहरण है 'उन्नतं···पतत्यधः।'[1]

यहाँ पतन क्रिया के द्वारा अपने स्वरूप पतन का तथा लघु होकर उच्च पद की प्राप्ति का संबंध प्रकट किया जा रहा है।

संकेत – 'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने 'निदर्शना' अलंकार का 'दृष्टान्त' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है। माणिक्यचन्द्र लिखते हैं कि निरपेक्ष वाक्यार्थों का बिम्बप्रतिबिम्बभाव दृष्टान्त होता है। परन्तु जहाँ प्रकृत वाक्यार्थ में दूसरे वाक्यार्थ का समानाधिकरण से आरोप होता है वहाँ संवंध की अनुपपत्ति से होने वाली निदर्शना है। 'निदर्शना' में दोनों वाक्य सापेक्ष होते हैं।[2]

यहाँ माणिक्यचन्द्र ने 'रुय्यक' की चर्चा का पूर्णतः अनुकरण किया है।

बालचित्तानुरंजनी —'बालचित्तानुरंजनी' टीका में श्रीनरहरिसरस्वती-तीर्थ ने 'निदर्शना' के दो प्रकारों की चर्चा की है। निदर्शना दो प्रकार की होती है। –१. वाक्यार्थ निदर्शना, २. पदार्थ निदर्शना। अन्यथा कोई नवीनता नहीं।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर 'निदर्शना' अलंकार को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जहाँ वस्तु संबंध श्रुतमात्र से असंभव होता है अर्थात् सुनने मात्र से जहाँ वस्तु का अन्वय नहीं बन पाता, वहाँ उपमा की कल्पना कर लेना 'निदर्शना' अलंकार का विषय है। गोविन्द ठक्कुर ने 'यथाश्रुतमात्रेण' से 'निदर्शना अलंकार' का स्पष्टीकरण किया है।[3] गोविन्द ठक्कुर ने 'निदर्शना' के दो प्रकार माने हैं—१. वाक्यभेद, २. वाक्यअभेद निदर्शना। 'वाक्यभेद' का उदाहरण 'क्व सूर्य···सागरम्' है। तथा वाक्य-अभेद का उदाहरण उदयति··· वारणेन्द्रलीलाम्' है।[4] 'बालचित्तानुरंजनी' आदि टीकाओं में 'निदर्शना' का 'वाक्यार्थ-निदर्शना' और 'पदार्थ-निदर्शना' के रूप में उल्लेख है। इन टीका-कारों ने 'क्व सूर्य ··' उदाहरण वाक्यार्थ-निदर्शना का माना है और 'उदयति

---

१. काव्यप्रकाश उदाहरण ४३८

२. 'निरपेक्ष वाक्यार्थयोर्बिम्बप्रतिबिम्बत्वे दृष्टान्तस्य लक्षणात्। अत्र प्रकृत वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरारोपात्सापेक्षत्वे सम्बन्धानुपपत्तिमूला निदर्शना, न दृष्टान्तः। (संकेत, मैसूर संस्करण, पृ० ३७०, अलंकार-सर्वस्व, पृ० ९६)

३. काव्यप्रदीप, पृ० ३३५

४. वही, पृ०

······वारणेन्द्रलीलाम्' उदाहरण पदार्थ-निदर्शना का माना है। प्रस्तुत उदाहरण में 'वारणेन्द्रलीला' इस समस्त पद के अर्थ के साथ 'गिरि' शब्द का अन्वय नहीं बनता। अतः 'वारणेन्द्रसदृशी लीला' इस उपमा का बोध होता है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर को 'निदर्शना' अलंकार के यह भेद (वाक्यार्थ और पदार्थ) मान्य नहीं। वह इनका खण्डन करते हुए लिखते है—'अत्रापि लीला-पदार्थमात्रस्यानाक्षेपकत्वात्।' यहाँ 'लीला' पदार्थमात्र से अभिप्राय नहीं है अपितु पूरे वाक्य से अभिप्राय है।[1]

प्रभा—'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने गोविन्द ठक्कुर के अभिप्राय का समर्थन किया है। प्रभाकार लिखते हैं कि 'क्व सूर्यप्रभवो···सागरम्' उदाहरण और 'उदयति···वारणेन्द्रलीलाम्' उदाहरण में एक भेद यह द्रष्टव्य है कि प्रथम-उदाहरण में 'उडुप द्वारा सागरतरणरूप' उपमान अप्रसिद्ध है और द्वितीय-उदाहरण में 'वारणेन्द्रलीलारूप' उपमान प्रसिद्ध है।[2]

'उदयति···वारणेन्द्रलीलाम्' उदाहरण 'पदार्थ-निदर्शना' का है। वैद्यनाथ इसका खण्डन करते हैं कि लीलापदार्थ मात्र से अभिप्राय नहीं है अपितु पूरे वाक्य का ही अभिप्राय है 'तद्वहनरूपवाक्यार्थस्येत्यर्थः' अर्थात् पर्वत का उस शोभा को धारण करना।

अतः स्पष्ट है कि वैद्यनाथ को भी निदर्शना के वाक्यार्थ और पदार्थ भेद मान्य नहीं है।

उद्योत—'उद्योत' में नागेश भट्ट ने 'निदर्शना' और 'दृष्टान्त' अलंकार में अन्तर स्पष्ट किया है। 'दृष्टान्त' में दोनों वाक्य निरपेक्ष होते हैं और निदर्शना में सापेक्ष[3]। नागेश भट्ट ने वाक्यार्थ-निदर्शना के 'आर्थी-वाक्यार्थनिदर्शना' और 'शाब्दी-वाक्यार्थनिदर्शना' भेद माने हैं। 'क्वसूर्य···सागरम्' आर्थी निदर्शना का उदाहरण है। 'त्वत्पाद··हि सः'[4] शाब्दी वाक्यार्थ निदर्शना का उदाहरण है।

नागेश भट्ट ने अप्पय्य दीक्षित के 'ललित' नामक पृथक् अलंकार का खण्डन किया है। अप्पय्य दीक्षित के अनुसार वर्ण्य विषय के उपस्थित होने पर उससे संबद्ध विषय का वर्णन न कर उसके प्रतिबिम्बभूत अन्य वृत्तान्त का वर्णन किया जाए, वहाँ 'ललित' अलंकार होता है। जैसे 'निर्गते तीरे सेतुभेषा

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३३६

२. काव्यप्रदीप, प्रभा पृ० ३४७

३. उद्योत, पृ० ६९

४. उद्योत, पृ० ७०

चिकीर्षति।' अप्पय्य दीक्षित का मत है कि निदर्शना वहीं हो सकती है जहाँ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों वृत्तान्त स्वशब्दोपात्त हो।[1] उद्योतकार अप्पय्य-दीक्षित के मत का और 'ललित' अलंकार का खण्डन करते हैं। वे लिखते हैं कि यह कोई नियम नहीं है कि निदर्शना में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों वृत्तान्त शब्दोपात्त हों। 'नितरां निर्गते तीरे सेतुमेषा चिकीर्षति' उदाहरण में कोई अपराधी नायक किसी तरह नायिका के पास आकर उसे प्रसन्न करने का अनुरोध करता है किन्तु नायिका उसकी उपेक्षा कर देती है, अतः नायक लौट लाता है। उस अन्य नायिकासक्त लौटे हुए नायक को लाने के लिए सखी को भेजने वाली नायिका को उद्दिष्ट करके सखी के वचन आर्थी-निदर्शना ही है।[2]

इस प्रकार निदर्शना अलंकार की विस्तृत चर्चा की गई है। मालारूप-निदर्शना और दूसरी निदर्शना जिसका मम्मट ने उल्लेख किया है, उसका विवेचन टीकाकारों ने मम्मट की भाँति ही किया है। मम्मट ने 'निदर्शना' के प्रकारों की चर्चा नहीं की है परन्तु गोविन्द ठक्कुर आदि टीकाकारों में भेदों के विषय में मतभेद है। गोविन्द ठक्कुर ने पूर्ववर्ती टीकाकारों का खण्डन किया है। नागेश भट्ट ने 'ललित' अलंकार का खण्डन करते हुए उसका समावेश 'आर्थी निदर्शना' में किया है।

अप्रतुतप्रशंसा

मम्मट का लक्षण है 'अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया' अर्थात् अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत विषय की प्रतीति कराना 'अप्रस्तुतप्रशंसा' है।

यह पांच प्रकार की है—१. कार्य, २. निमित्त, ३. सामान्य, ४. विशेष के प्रस्तुत रहने पर उससे भिन्न का तथा ५. तुल्य वस्तु के प्रस्तुत रहने पर उसके समान का कथन। मम्मट ने क्रमशः इनके उदाहरण दिए हैं। तुल्य के प्रस्तुत होने पर तुल्य अप्रस्तुत के वर्णन तीन प्रकार हैं—१. श्लेष, २. समासोक्ति, ३. केवल सादृश्य, ये अप्रस्तुत तुल्य के वर्णन से प्रस्तुत तुल्य की व्यंजकता के हेतु हैं। तुल्य के प्रस्तुत रहने पर तत्तुल्य अप्रस्तुत-वर्णना १. कहीं तो वाच्य अर्थ में प्रतीयमान अर्थ का अध्यारोप किए बिना हो जाती है। २. कहीं वाच्यार्थ में प्रतीयमान अर्थ का अध्यारोप करके होती है। ३. कहीं वाच्यार्थ में प्रतीयमान अर्थ का कुछ अंशों में अध्यारोप करके अप्रस्तुतप्रशंसा होती है।[3]

---

१. वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्। ललितं।... नापि निदर्शना, प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्तयोः शब्दोपात्तयोः। (कुवलयानन्द, पृ० २१३, २१५)

२. उद्योत, पृ० ७०-७१

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४३९ से ४४८ तक।

गोविन्द ठक्कुर के पूर्ववर्ती टीकाकारों ने 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार का विवेचन मम्मट की भाँति ही किया है। अतः उन टीकाकारों ने प्रस्तुत अलंकार विवेचन में विशेष नहीं कहा है।

गोविन्द ठक्कुर की विशेषता ('अप्रस्तुतप्रशंसा' में) यह है कि उन्होंने 'अप्रस्तुतप्रशंसा' और 'समासोक्ति' में अन्तर स्पष्ट किया है। अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार वहाँ होता है जहाँ अप्राकरणिक अर्थात् अप्रस्तुत की वर्णना द्वारा प्राकरणिक की प्रतीति होती है। किन्तु जहाँ प्राकरणिक के वर्णन से अप्राकरणिक का आक्षेप होता है, वहाँ 'समासोक्ति' हुआ करती है।[१]

'श्लेषहेतुक-अप्रस्तुतप्रशंसा' में गोविन्द ठक्कुर ने स्वरचित पद्य उद्धृत किया है।[२]

उद्योत—नागेश भट्ट ने 'उद्योत' टीका में अप्पय्य दीक्षित के 'प्रस्तुताङ्कुर' अलंकार का खण्डन किया है। अप्पय्य दीक्षित ने 'प्रस्तुतांकुर' अलंकार का लक्षण दिया है 'जहाँ प्रस्तुत वृत्तान्त के द्वारा अन्य प्रस्तुत वृत्तान्त की व्यंजना हो, वहाँ 'प्रस्तुतांकुर' अलंकार होता है।'[३] उदाहरण दिया है— 'किं भृङ्ग सत्यां मालत्यां केतक्या कंटकेद्धया।' नागेश भट्ट लिखते हैं कि प्रस्तुतांकुर अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं, इसका अन्तर्भाव 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में ही हो जाता है। किं भृङ्ग······कंटकेद्धया' उदाहरण में नायक-नायिका वृत्तांत में कवि की प्रधान विवक्षा मानने पर तथा उसे व्यंग्य मानने पर भ्रमरविषयक वृत्तान्त गौण हो जाता है इस तरह यहाँ 'अप्रस्तुतप्रशंसा' होगी।[४]

इस प्रकार 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार का गोविन्द ठक्कुर ने 'समासोक्ति' से अन्तर स्पष्ट किया तथा उनके टीकाकार नागेश भट्ट ने अप्पय्य दीक्षित के 'प्रस्तुतांकुर' अलंकार का खण्डन किया है।

प्रतिवस्तूपमा

मम्मट का लक्षण है 'प्रतिवस्तूपमा तु सा। सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः।' अर्थात् जहाँ (उपमेय तथा उपमान) दो वाक्यों में एक ही साधारण धर्म का भिन्न-भिन्न शब्दों से अनेक बार ग्रहण किया जाता है, वह 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार है।

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३३७

२. वही, पृ० ३४०

३. 'प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुर' (कुवलयानंद, पृ० ११५)

४. उद्योत

मम्मट ने 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार के दो उदाहरण दिए हैं—

१. 'देवीभावं···रत्नम् ।'[1]

२. 'यदि दहत्यनलोऽत्र···सतामविषादिता ।'[2]

संकेत - माणिक्यचन्द्र ने 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार का 'तुल्ययोगिता' तथा 'दृष्टान्त' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है । सर्वप्रथम संकेतकार ने प्रतिवस्तूपमा शब्द को स्पष्ट किया है । वे लिखते हैं कि 'प्रतिवस्तूपमा' में वस्तु-शब्द वाक्यार्थ का वाचक है । अतः प्रत्येक वाक्यार्थ में साधर्म्य हो यह प्रतिवस्तूपमा का अनुगत अर्थ लिया जा सकता है । केवल काव्य-सिद्धान्त के कारण ही भिन्न पर्याय से (साधारण धर्म का) पृथक् निर्देश होता है ।

माणिक्यचन्द्र 'तुल्ययोगिता' और 'दीपक' अलंकार से अन्तर स्पष्ट करते हैं कि 'इव' आदि का उपादान न हो और साधारण-धर्म का एक बार ही ग्रहण किया जाए तो वहाँ 'दीपक' तथा 'तुल्ययोगिता' अलंकार होते हैं । परन्तु साधारण धर्म के अनेक बार ग्रहण की स्थिति में शुद्धसामान्य रूप 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार होता है । सामान्य-धर्म के बिम्बप्रतिबिम्ब भाव में 'दृष्टान्त' अलंकार होता है ।[3]

माणिक्यचन्द्र का प्रस्तुत विवेचन रुय्यक के 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार का अक्षरशः अनुकरण है ।[4]

सारबोधिनी सारबोधिनी टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने 'प्रतिवस्तूपमा' का 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है । 'प्रतिवस्तूपमा' में दोनों अर्थों का उपमान-उपमेय भाव होता है किन्तु 'अर्थान्तरन्यास' में दोनों का समर्थ्य-समर्थक भाव होता है ।[5]

काव्यप्रदीप—'प्रतिवस्तूपमा' के लक्षण में 'द्वि' और 'द्वये' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ द्वि और द्वये का अभिप्राय दो न होकर अनेक है—'अत्र द्विः द्वये इत्यनेकोपलक्षके ।' अतएव प्रतिवस्तूपमा अलंकार वहाँ होता है जहाँ उपमेय और उपमान वाक्यों में एक ही साधारण-धर्म का भिन्न-भिन्न शब्दों से अनेक बार ग्रहण किया जाता है ।

गोविन्द ठक्कुर ने 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार के दो भेद माने—१. अमाला

---

१. २. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.४५३, ४५४

३. संकेत, पृ० २४६

४. अलंकारसर्वस्व, पृ० ९१-९१

५. सारबोधिनी, पृ० ३९९

रूप, २. माला रूप। 'अमाला-प्रतिवस्तूपमा' का उदाहरण है—'देवीभावं··· रत्नम्।' 'माला-प्रतिवस्तूपमा' का उदाहरण है 'यदि दहत्यनलोऽत्र··· विषादिता।'

'देवीभावं···' उदाहरण के स्पष्टीकरण में गोविन्द ठक्कुर ने दो मतों की चर्चा की है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि किसी के अनुसार यहाँ परिवारपद-त्वं साधारण-धर्म है। इसी प्रकार 'परिभोगयोग्यत्वं' द्वितीय वाक्य में है जिसे विभिन्न शब्द द्वारा कहा गया है। किसी अन्य के अनुसार प्रस्तुत उदाहरण में 'अनौचित्य' साधारण-धर्म है जिसे 'कथं भजति', 'न खलु' शब्दों द्वारा कहा गया है।[1]

यहाँ गोविन्द ठक्कुर ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि प्रस्तुत दोनों मत किस आचार्य या टीकाकार के हैं। गोविन्द ठक्कुर के पूर्ववर्ती टीकाकारों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन टीकाकारों में ही 'देवीभावं···' उदाहरण के स्पष्टीकरण में विभिन्न मत हैं। संकेत टीका में माणिक्यचन्द्र ने 'परिवारपदत्वं' साधारण धर्म का उल्लेख किया है। माणिक्यचन्द्र लिखते हैं—'अत्र परिवारपदत्वं साधारणो धर्मः। परिभोगयोग्यमिति पर्यायेण भिन्न उक्तः। परिवारपदत्वपरिभोगयोग्यत्वयोरेकार्थत्वात्।'[2]

बालचित्तानुरंजनी—बालचित्तानुरंजनी टीका में श्री नरहरिसरस्वतीतीर्थ ने 'अनौचित्य' साधारण-धर्म की चर्चा की है 'अत्र कथमित्यनेन परिवारपद-भजनस्यानौचित्यं प्रत्याय्यते। न खल्वित्यनेन च परिभोगस्येति स्वमस्यैवा-नौचित्यरूपसामान्यस्य शब्दभेदेन द्विरूपादानम्।'[3]

अतः गोविन्द ठक्कुर ने सम्भवतः अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों के मत का ही उल्लेख किया है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर को कौन-सा मत मान्य है इसका स्पष्टीकरण न तो स्वयं प्रदीपकार ने किया और न ही उनके टीकाकारों (वैद्यनाथ और नागेशभट्ट) ने किया है।

द्वितीय-उदाहरण 'यदि दहत्यनलोऽत्र···विषादिता', 'मालारूप-प्रतिवस्तू-पमा' का है। प्रस्तुत उदाहरण के विषय में सभी टीकाकार एक मत हैं।

---

१ 'अथवानौचित्यस्यैकस्य धर्मस्योपादानादुदाहरणत्वमिति मतान्तरमाह।' (काव्यप्रदीप, पृ० ३४३)

२. संकेत, पृ० २४६

३. बालचित्तानुरंजनी, पृ० ३१९

अतएव गोविन्द ठक्कुर इस उदाहरण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि यहाँ आश्चर्यजनक न होना, साधारण-धर्म को चार वाक्यों में 'किमद्भुतम्', 'किं ततः', 'सदैव' और 'प्रकृतिरेव' इन भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कहा गया है।[1]

प्रभा—'प्रभा' में वैद्यनाथ प्रतिवस्तूपमा शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट करते हैं 'प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमा साधारणधर्मो यत्रेति।' प्रभाकार लिखते हैं कि प्रतिवस्तूपमा के लक्षण में प्रयुक्त 'एकस्य' शब्द 'दृष्टान्त' अलंकार के निराकरण के लिए है। अभिप्राय यह है कि 'प्रतिवस्तूपमा' के दोनों वाक्यों में साधारण-धर्म एक होता है, उसे भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाता है। दृष्टान्त अलंकार में दोनों वाक्यों में साधारण-धर्म समान होते हुए भी पृथक्-पृथक् होते हैं (एक नहीं)। वैद्यनाथ ने 'प्रतिवस्तूपमा' और 'उपमा' अलंकार में अन्तर स्पष्ट किया है। 'प्रतिवस्तूपमा' के लक्षण की 'दिवि भाति यथा भानुस्तथा त्वं भ्राजसि भुवि' वाक्यार्थोपमा में अतिव्याप्ति नहीं है। अर्थात् उपमा में साधर्म्य यथा, इव आदि उपमावाचक शब्दों द्वारा कहा जाता है किन्तु प्रतिवस्तूपमा में वह गम्य होता है।[2] इसी प्रकार 'आननं मृगशावाक्ष्या वीक्ष्य लोलालकावृतम्। भ्रमद्भ्रमरसंभारं स्मरामि सरसीरुहम्।' 'स्मरण' अलंकार के उदाहरण में अतिव्याप्तिवारण के लिए 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार में वाक्यार्थगत विशेषण है अर्थात् उदाहरण में यद्यपि मुख तथा कमल का औपम्य अर्थतः ही प्रतीयमान है तथापि वह औपम्य वाक्यार्थगत नहीं है अपितु पदार्थगत ही है।[3] अतएव 'प्रतिवस्तूपमा' का 'स्मरण' अलंकार से अन्तर स्पष्ट है।

उद्योत—उद्योत टीका में नागेश भट्ट ने भी वैद्यनाथ के समान 'प्रतिवस्तूपमा' का 'दृष्टान्त' 'उपमा' तथा 'स्मरण' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है। मम्मट ने साधर्म्य प्रतिवस्तूपमा के दोनों उदाहरण दिए हैं। नागेश भट्ट की विशेषता यह रही है कि उन्होंने वैधर्म्य प्रतिवस्तूपमा के उदाहरण की भी चर्चा की है।[3]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर और उनके टीकाकारों ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार की विस्तृत चर्चा की है। गोविन्द ठक्कुर ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार के भेदों की चर्चा की है यद्यपि मम्मट ने और किसी अन्य टीकाकार (माणिक्य-चन्द्र, भट्टाचार्य आदि) ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार के भेदों की चर्चा नहीं की

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३४३

२. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३४३

३. उद्योत, पृ० ९१

है। 'देवीभावं गमिता...' उदाहरण की चर्चा में गोविन्द ठक्कुर का विवेचन कुछ शिथिल रहा है क्योंकि अन्य दो मतों की चर्चा करते हुए प्रदीपकार यह स्पष्ट नहीं कर पाये कि उन्हें स्वयं कौन सा मत अभिप्रेत है।

दृष्टान्त

मम्मट का लक्षण है 'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्।' अर्थात् जहाँ साधारण धर्म आदि का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है। मम्मट ने 'दृष्टान्त' अलंकार के दो उदाहरण दिए हैं। प्रथम उदाहरण समान धर्म के संबंध से है और द्वितीय उदाहरण विरुद्ध धर्म के संबंध से है।

उदाहरण है--(i) त्वयि...कुमुद्वत्या:।'[1]

(ii) तवाहवे...पांसवः।'[2]

गोविन्द ठक्कुर ने 'दृष्टान्त' अलंकार का विवेचन मम्मट की भाँति किया है। अतः उनके निरूपण में कोई नवीनता नहीं है।

नागेश भट्ट ने 'दृष्टान्त' अलंकार का 'उपमा' और प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों से अन्तर स्पष्ट किया है। नागेश भट्ट लिखते हैं कि दृष्टान्त अलंकार में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है अर्थात् दोनों वाक्यों में साधारण धर्म समान होते हुए भी एक नहीं होते। प्रतिवस्तूपमा के दोनों वाक्यों में साधारण धर्म एक होता है, उसे भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाता है।[3]

'उपमा' अलंकार से अन्तर बताया है कि उपमा अलंकार मे 'यथा', 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग है परन्तु 'दृष्टान्त' में 'यथा', 'इव' आदि शब्दों का अभाव होता है।[4]

'अर्थान्तरन्यास' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है कि अर्थान्तरन्यास में में सामान्य-विशेष भाव होता है।[5]

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि 'दृष्टान्त' अलंकार में केवल नागेश भट्ट का विवेचन ही महत्त्वपूर्ण है। अन्यथा इस अलंकार में गोविन्द ठक्कुर के विवेचन में कोई नवीनता नहीं है।

दीपक

मम्मट ने 'दीपक' अलंकार का लक्षण दिया है—

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.४५५

२. वही, १०.४५६

३. ४. ५. उद्योत, पृ० ९३

'सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥'

अर्थात् जहाँ उपमेय और उपमान रूप वस्तुओं के क्रियादि रूप धर्म का एक बार ग्रहण किया जाता है या बहुत सी क्रियाओं के होने पर किसी कारक का एक बार ग्रहण किया जाता है। मम्मट ने स्पष्ट रूप से दीपक के प्रकारों की चर्चा नहीं की है। क्रमशः उदाहरण दिए हैं—

१. 'कृपणानां···मृतानाम्।'[1]

२. 'स्विद्यति···शयने।'[2]

मम्मट ने माला दीपक अलंकार की भी चर्चा की है। जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु उत्तरोत्तर वर्णनीय वस्तु में उत्कर्षाधायक होती है वहाँ माला दीपक अलंकार है।

उदाहरण दिया है 'संग्रामाङ्गणमागतेन लोकत्रयम्।'[3]

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने स्पष्ट किया है कि 'दीपक अलंकार गम्यौपम्यमूलक अलंकार है'। औपम्य प्रतीयमान होता है, शब्द नहीं। अतएव दीपक अलंकार का 'उपमा' अलंकार से अन्तर स्पष्ट है। उपमा अलंकार में साम्य प्रतीयमान होता है। 'दीपक' और 'तुल्ययोगिता' अलंकार में भी अन्तर स्पष्ट किया है। दीपक में प्रकृत पदार्थ उपमेय होते हैं और अप्रकृत पदार्थ उपमान। किन्तु तुल्ययोगिता में सभी पदार्थ शुद्ध प्रकृत या शुद्ध अप्रकृत होते हैं। दीपक में एक धर्म का प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों पदार्थों से संबंध दिखलाया जाता है।[4]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने दीपक अलंकार के विवेचन में कोई विशेष बात नहीं कही है। मम्मट ने दीपक के भेदों का स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया है परन्तु प्रदीपकार लिखते हैं कि जहाँ प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) रूप वस्तुओं के क्रियादि धर्म का एक बार ग्रहण किया जाता है वह एक प्रकार का दीपक है अर्थात् क्रियादीपक है।

जहाँ बहुत सी क्रियाओं के होने पर किसी कारक का एक बार ग्रहण किया जाता है वह दीपक का द्वितीय प्रकार है अर्थात् कारक दीपक है। इस प्रकार दीपक दो प्रकार का है—१. क्रिया दीपक, २. कारक दीपक।[5]

---

१. २. ३ काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.४५७, ४५८ ४५९

४. संकेत, पृ० २४७

५. काव्यप्रदीप, पृ० ३४४

अतः गोविन्द ठक्कुर ने केवल दीपक के भेदों का ही उल्लेख किया है अन्यथा कोई नवीनता नहीं है।

प्रभा - प्रभा में वैद्यनाथ ने 'स्विद्यति · शयने' उदाहरण की चर्चा की है। 'स्विद्यति···' उदाहरण में अनेक क्रियाओं में अन्वित एक ही वधू इस कर्त्ता कारक का या 'शयन' इस अधिकरण कारक का ग्रहण किया गया है। प्रस्तुत उदाहरण में समस्त क्रियाएँ प्रकृत ही हैं। कारक दीपक में कहीं समस्त क्रियाएँ प्रकृत होती हैं कहीं समस्त क्रियाएँ अप्रकृत। अतः यहाँ 'दीपक' अलंकार न होकर 'तुल्ययोगिता' अलंकार की शंका होती है क्योंकि तुल्ययोगिता' अलंकार में ही सभी पदार्थ केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत होते हैं। 'दीपक' अलंकार में (लक्षण में स्पष्ट किया है) 'प्रकृताप्रकृतात्मनाम्' आदि होने चाहिए। वैद्यनाथ स्पष्ट करते हैं कि कारक दीपक में 'प्रकृताप्रकृतात्मनाम' लक्षण घटित नहीं होता। यह लक्षण केवल क्रिया-दीपक में ही घटित होता। अतः यह कारक दीपक का ही उदाहरण है।[1]

वैद्यनाथ ने 'केनचित्' से किसी आचार्य के मत का उल्लेख किया है। वस्तुतः वैद्यनाथ ने आचार्य जगन्नाथ के मत की ही चर्चा की है। आचार्य जगन्नाथ ने 'स्विद्यति···' उदाहरण को 'कारक-दीपक' का न मानकर 'तुल्ययोगिता' अलंकार का माना है। जगन्नाथ लिखते हैं कि अनेक प्रस्तुत और अप्रस्तुत क्रियाओं का एक कारक के साथ अन्वय होने पर कारक दीपक होता है। अतः कारक दीपक का उदाहरण 'वसुं दातं···भवान्' है। 'स्विद्यति···' उदाहरण में सब क्रियाएँ प्रकृत होने से 'तुल्ययोगिता' अलंकार है।[2]

उद्योत—'उद्योत' में नागेश भट्ट ने सर्वप्रथम 'दीपक' शब्द का व्युत्पत्तिकृत अर्थ दिया है 'दीप इव दीपकम्।' अर्थात् देहली पर रखा दीपक जिस प्रकार घर और बाहर दोनों जगह प्रकाश फैलाता है उसी प्रकार जहाँ कोई साधारण-धर्म प्रकृत और अप्रकृत दोनों को एक साथ प्रकाशित करता है। 'दीप' शब्द से 'संज्ञायां कन्' इस पाणिनीय सूत्र से कन् प्रत्यय करने पर 'दीपक' पद की सिद्धि होती है।[3]

---

१. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३४५

२ वही, पृ० ३४५

३. 'दीप इव दीपकम्। संज्ञायां कन्। प्रकृताप्रकृतप्रकाशत्वेन च सादृश्यम्। (उद्योत, पृ० ६५)

नागेश भट्ट लिखते हैं कि दीपक में प्रकृत या अप्रकृत दोनों पदार्थों के साथ एक धर्म का सम्बन्ध दिखाया जाता है और उसमें उपमा व्यंग्य होती है। परन्तु यहाँ उपमा की शंका नहीं करनी चाहिए। उपमा और दीपक में अन्तर है। उपमा के व्यंग्य होने से यहाँ ध्वनि की शंका भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ध्वनि में व्यंग्य का प्राधान्य होता है परन्तु यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से बढ़कर नहीं है।

नागेश भट्ट ने दीपक के दो भेद माने—१. क्रिया दीपक, २. कारक दीपक। क्रियादीपक के भी दो प्रकार हैं— १. क्रिया दीपक, २. गुण दीपक। 'क्रियादीपक' का उदाहरण 'कृपणानां···ऽमृतानाम्' है। गुण दीपक के उदाहरण की भी नागेश भट्ट ने चर्चा की है। उदाहरण दिया है 'श्यामलाः··· पंक्तिभिः।'[1] प्रस्तुत उदाहरण में श्यामलत्व साधारण ध्वनि एक बार गृहीत है। इसका प्रकृत और अप्रकृत दोनों में अन्वय है।

प्रभाकार वैद्यनाथ की भाँति नागेश भट्ट ने भी 'स्विद्यति·· शयने' उदाहरण में आचार्य जगन्नाथ के तुल्ययोगिता अलंकार का खण्डन किया है— 'स्विद्यतीत्युदाहरणे क्रियाणां सादृश्यावगतावपि सर्वासां प्रकृतत्वात्कारकतुल्ययोगितात्वमेवोचितमिति च परास्तम्।

नागेश भट्ट ने अप्पय्य दीक्षित के आवृत्ति 'दीपक' अलंकार की भी चर्चा की है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि 'दीपक' अलंकार का विवेचन गोविन्दठक्कुर के टीकाकारों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। गुणदीपक भेद की चर्चा केवल नागेश भट्ट ने की है। 'स्विद्यति···' उदाहरण में तुल्ययोगिता अलंकार का खण्डन नागेश भट्ट और वैद्यनाथ दोनों ने किया है। माणिक्यचन्द्र तथा नागेश भट्ट ने 'उपमा' और 'दीपक' का अन्तर स्पष्ट किया है। वैद्यनाथ तथा नागेश भट्ट के अनुसार कारक दीपक का 'क्रियादीपक' अलंकार से सूक्ष्म भेद है। क्रियादीपक में प्रकृत तथा अप्रकृत दो भिन्न पदार्थों के साथ एक धर्म का सम्बन्ध हुआ करता है परन्तु कारक दीपक में ये क्रियाएँ प्रकृत, अप्रकृत या दोनों तरह की हो सकती हैं।

तुल्ययोगिता

मम्मट का लक्षण है—'नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता।'

---

१. उद्योत, पृ० ९६

वृत्ति में स्पष्ट किया है—'नियतानां' से अभिप्राय 'प्राकरणिक' अथवा 'अप्राकरणिक' से है। दो उदाहरण दिए हैं।

१. पाण्डु...हृदन्तः।'[1]

२. कुमुदकमल...तवाननस्य।'[2]

संकेत—संकेत में माणिक्यचन्द्र ने केवल तुल्ययोगिता के उदाहरणों का स्पष्टीकरण किया है। माणिक्यचन्द्र लिखते हैं 'पाण्डु...हृदन्तः' उदाहरण में सभी वर्णनीय रूप से प्रस्तुत हैं। 'आवेदन क्रिया रूप' साधारण धर्म का ग्रहण किया गया है।

'कुमुद...तवाऽननस्य' उदाहरण में कुमुद आदि सब पदार्थ अप्रस्तुत हैं। कामिनीनयन और मुख प्रस्तुत हैं। पूर्वार्ध में नायिका के नेत्र द्वारा इनकी तुच्छता ही अप्रस्तुत वस्तुओं का साधारण धर्म है जो 'का' पद द्वारा कथित है। इसी प्रकार उत्तरार्ध में 'प्रतिहत' शब्द द्वारा कथन किया गया है।[3]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'तुल्ययोगिता' अलंकार का विवेचन मम्मट की भाँति ही किया है। उदाहरणों का स्पष्टीकरण गोविन्द ठक्कुर ने किया है, परन्तु गोविन्द ठक्कुर से पूर्व 'संकेत' टीका में इस प्रकार का स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

प्रभा—प्रभा में वैद्यनाथ ने 'तुल्ययोगिता' अलंकार को स्पष्ट किया है। लक्षण में 'सकृत्' शब्द से अभिप्राय है कि साधारण धर्म एक होता है और उसका एक बार ही ग्रहण होता है। यही कारण है कि 'मुखं विकसित' और 'दधि मधुरं मधु' उदाहरणों में अतिव्याप्ति नहीं है। 'मुखं विकसित' उदाहरण में भिन्न-भिन्न साधारण धर्मों का भिन्न-भिन्न पदार्थों से सम्बन्ध दिखाया है। दूसरे उदाहरण 'दधि मधुरं' में एक ही साधारण धर्म को अनेक बार वर्णित किया है। अतः तुल्ययोगिता अलंकार नही है।[4]

उद्योत—उद्योत टीका में नागेश भट्ट ने 'तुल्ययोगिता' और 'व्यतिरेक' अलंकार का अन्तर स्पष्ट किया है। 'व्यतिरेक' में उपमेय का उत्कर्ष वर्णित होता है; साम्य की प्रतीति नहीं होती। तुल्ययोगिता में एक साधारण धर्म से

---

१. २. काव्यप्रकाश, उदाहरण, ४६०, ४६१

३. संकेत, पृ० २४८

४ प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३४७

अन्वय होने के कारण साम्य की प्रतीति होती है।[1]

'तुल्ययोगिता' तथा 'दीपक' अलंकार में भी अन्तर स्पष्ट किया है। तुल्ययोगिता में सभी पदार्थ केवल प्रस्तुत या अप्रस्तुत होते हैं और एक धर्म का केवल प्रस्तुत पदार्थों से सम्बन्ध दिखाया जाता है। दीपक में प्रस्तुत पदार्थ उपमेय होते हैं और अप्रस्तुत पदार्थ उपमान होते हैं तथा एक धर्म का प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों से सम्बन्ध दिखाया जाता है।[2]

'तुल्ययोगिता' प्रकरण में नागेश भट्ट ने स्पष्ट किया है कि इस अलंकार में औपम्य नियमतः व्यंग्य होता है क्योंकि औपम्यनियामक साधारण धर्म यहाँ उपात्त रहता है और औपम्यवाचक इव आदि शब्द उपात्त नहीं है।[3]

इस प्रकार 'तुल्ययोगिता' अलंकार में केवल नागेश भट्ट का विवेचन ही दृष्टव्य है।

आक्षेप

मम्मट का लक्षण है 'निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।' अर्थात् जहाँ विशेष के कथन की इच्छा से वक्ष्यमाण बात का निषेध किया जाता है यह 'आक्षेप' अलंकार है। आक्षेप अलंकार दो प्रकार का है—
१. वक्ष्यमाणविषयक २. उक्तविषयक।

मम्मट ने दो उदाहरण दिए हैं—

१. 'ए एहि···भणिष्यामि।'[4]

२. 'ज्योत्स्ना···ब्रूमहे।'[5]

संकेत—संकेत में माणिक्यचन्द्र ने 'आक्षेप' अलंकार की विस्तृत चर्चा की है। संकेतकार लिखते हैं कि प्राकरणिक होने से ही प्रकृत अर्थ का वर्णन अभीष्ट रहता है, अतः इस प्रकार के वर्णनीय का निषेध करना संगत नहीं लगता है। निषेध कर भी दिया जाए तो स्वरूपता बाधित होने से निषेध की तरह लगने लगता है अतः निषेधाभास बन जाता है। निषेध करने से यदि विशेष अर्थ की प्रतीति नहीं होती तो वह गजस्नान के समान निरर्थक हो जाएगा। 'आक्षेप' के दो रूपों (उक्तविषय और वक्ष्यमाणविषयक) की चर्चा

---

१. उद्योत, पृ० ९८

२. वही पृ०

३. वही पृ०

४. ५. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४७१, ४७२

करते हुए लिखते हैं कि उक्त के विषयरूप में आक्षेप वह आलोचना है जो कैमर्थक्य परक होता है। वक्ष्यमाण के विषयरूप में आक्षेप आगूरण (अर्थबल से साधन) है जिसका स्वरूप आनयन होता है। इस प्रकार आक्षेप शब्द के अर्थभेद से दो प्रकार होते हैं। इन दो प्रकार के आक्षेपों का स्वरूप भिन्न है। इनमें शब्द से उपात्त न होने से विशेष प्रतीयमान रूप होता है। उक्तविषयक अलंकार में कही वस्तु का निषेध हो जाता है कहीं वस्तु वस्तु के कथन का। वक्ष्यमाणविषयक में तो वस्तु के कथन का निषेध किया जाता है।[1] मम्मट द्वारा उद्धृत दोनों उदाहरणों की स्पष्ट व्याख्या की है।

मम्मट के उदाहरणों के अतिरिक्त संकेतकार ने एक और उदाहरण 'गच्छ...भवान्'[2] की चर्चा की है। जिसमें बताया है कि अनिष्ट के विधान का आभास भी 'आक्षेपालंकार' होता है। यहाँ अनिष्ट अर्थ है प्रियतम का प्रवास। किसी स्त्री के द्वारा, स्वयं प्रसन्न न होने पर भी प्रस्थान का विधान, निराकरण न करने के माध्यम से किया गया है। इस प्रस्थान का विधि रूप में जो विधान है वह असंगत है। अन्ततः गमन के निषेध का ही अर्थ रखता है जिसे किसी शब्द द्वारा नहीं कहा गया है अपितु 'ममापि जन्म तत्रैव' मंगल-कामना द्वारा जिसका परिणाम अनिष्ट होगा व्यंजित किया गया है।[3]

इस प्रकार माणिक्यचन्द्र ने स्पष्ट किया कि आक्षेपालंकार में जो इष्ट अर्थ होता है उसी का निषेध, निषेध का उपपन्न न हो पाना, अतएव असत्य होगा तथा विशेष का प्रतिपादन, ये चार तत्त्व उपयोगी हैं।

माणिक्यचन्द्र का विवेचन रुय्यक के 'आक्षेपालंकार' विवेचन का पूर्णतः अनुकरण है।[4]

काव्यप्रदीप—गोविन्द-ठक्कुर ने 'आक्षेप' अलंकार के संबंध में विशेष नहीं कहा।

प्रभा—प्रभा टीका में वैद्यनाथ ने लिखा है कि कई आचार्य एक 'आक्षेपा-

---

१. संकेत, पृ० २५४

२. 'गच्छ गच्छसि चेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र यतो भवान्। (संकेत, पृ २५४)

३. 'अत्र कान्तप्रस्थानमनिष्टमप्यनिराकरणमुखेन विहितम्। न चास्य विधिर्युक्तोऽनिष्टत्वात्। तेनायं विधिर्विध्यमासो निषेध एवेत्यर्थः।' (संकेत, पृ० २५४, अलंकारसर्वस्व, पृ० १६९

४. अलंकारसर्वस्व, पृ० १६०

लंकार यह भी मानते हैं जहाँ अनिष्ट के विधान का आभास होता है। उदाहरण दिया है 'गच्छ गच्छसि···भवान्।' वैद्यनाथ ने यहाँ किसी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है। 'अन्यैरुक्तः' से इस 'आक्षेपालंकार' का विवेचन किया है। परन्तु रुय्यक ने इस प्रकार के आक्षेप की चर्चा की है ('संकेत' टीका के विवेचन में स्पष्ट किया है।)

अन्त में यही कहा जा सकता है कि गोविन्द ठक्कुर ने 'आक्षेप' अलंकार का विवेचन मम्मट की भाँति ही किया है। माणिक्यचन्द्र ने विस्तृत विवेचन किया है परन्तु रुय्यक का अक्षरशः अनुकरण होने के कारण महत्त्वपूर्ण नहीं है।

विभावना

मम्मट का लक्षण है 'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना।' वृत्ति में स्पष्ट किया है कि हेतुरूप क्रिया का निषेध होने पर उसके फल का प्रकाशन विभावना है।[1]

उदाहरण दिया है 'कुसुमित···घूर्णंत सा।'[2]

संकेत—संकेत टीका में माणिक्यचन्द्र ने 'विभावना' अलंकार के लक्षण की चर्चा की है कि लक्षण में प्रयुक्त क्रिया शब्द का अभिप्राय 'कारण' से है। सब दार्शनिक यह नहीं मानते हैं कि कार्य क्रिया का फल होता है। इस प्रकार की मान्यता केवल वैयाकरणों की है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं, परन्तु कविजन ऐसा वर्णन करते हैं। अतः 'विभावना' अलंकार का लक्षण है 'क्रिया के अभाव में कार्य का निष्पादन'। विभावना में प्रसिद्ध कारण का अभाव होता है, अप्रसिद्ध कारण वस्तुतः विद्यमान होता है। अतएव विरोध का परिहार हो जाता है। 'विरोधालंकार' से भेद कथन किया है कि कारण के अभाव से प्रारंभ होने वाला कार्य बलवान् (कारण) के द्वारा बाध्यमान रूप में प्रतीत होता है पर इससे कारण का अभाव नहीं होता है। अतः परस्पर की बाधकता से अनुप्राणित 'विरोधालंकार' से 'विभावनालंकार' का भेद है।[3] माणिक्यचन्द्र ने 'विभावना' अलंकार के दो भेद माने—१. अनुक्तनिमित्ता २.उक्तनिमित्ता। अनुक्तनिमित्ता का उपर्युक्त उदाहरण 'कुसुमित···घूर्णंत सा' है। प्रस्तुत उदाहरण में लताप्रहारादि पीड़ा के हेतु हैं परन्तु उनका अभाव

१. काव्यप्रकाश, पृ० ५३२
२. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.४७३
३. संकेत पृ० २५४

होने पर भी कार्य 'पीड़ा' का वर्णन किया है। यहाँ वियोग कारण प्रतीयमान है।

उक्तनिमित्ता का उदाहरण दिया है 'असंभृतं···प्रपेदे ।'[1] प्रस्तुत उदाहरण में यौवन निमित्त है। मद दो प्रकार का होने पर भी अभेदाध्यवसाय होने से अतिशयोक्ति के द्वारा एकरूप हो गया है। 'अतिशयोक्ति' विभावना में सदा रहती है।

माणिक्यचन्द्र ने 'विभावना' अलंकार का विस्तृत विवेचन किया है। परन्तु यह विवेचन संकेतकार की मौलिकता का द्योतक नहीं है क्योंकि माणिक्यचन्द्र ने रुय्यक के 'विभावना' अलंकार का अक्षरशः अनुकरण किया है। रुय्यक ने विभावना अलंकार का लक्षण दिया है 'कारणाभावे कार्यस्तोत्पत्तिर्विभावना', इस प्रसंग में रुय्यक ने वैयाकरणों के मत की चर्चा की है। रुय्यक का मत है कि 'विभावना' अलंकार के लक्षण में यद्यपि अन्य आचार्यों ने कारण शब्द ही रखा है। सब यह नहीं मानते हैं कि कार्य क्रिया का फल होता है। इस प्रकार की मान्यता केवल वैयाकरणों की है।[2] अतः रुय्यक के प्रभावस्वरूप माणिक्यचन्द्र ने इस प्रकार की चर्चा है।

रुय्यक ने 'विभावना' और 'विरोधालंकार' का भेद कथन किया है। माणिक्यचन्द्र ने रुय्यक के कथन को ही ज्यों का त्यों ग्रहण किया है।[3]

मम्मट ने 'विभावना' अलंकार के भेदों की चर्चा नहीं की है परन्तु रुय्यक ने 'विभावना' के दो भेद माने हैं—१. अनुक्तनिमित्ता' २. उक्तनिमित्ता। अतः यह माणिक्यचन्द्र का स्वतंत्र विवेचन नहीं है।

सारबोधिनी—'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य लिखते हैं कि लक्षण में प्रयुक्त क्रिया शब्द का अर्थ 'कारकव्यापार' है। प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्योत्पत्ति का वर्णन 'विभावना' अलंकार है। अप्रसिद्ध कारण के विद्यमान होने से विरोध का परिहार हो जाता है। सारबोधिनीकार ने भी वैयाकरणों के मत की चर्चा की है कि वैयाकरणों ने कार्य को हेतुरूप

---

१. संकेत पृ० २५४

२. अलंकारसर्वस्व पृ० १७५

३. 'कारणभावेन चोपक्रान्तत्वाद् बलवता कार्यमेव बाध्यमानत्वेन प्रतीयते, न तु तेन कारणाभाव इत्यन्योन्यबाधकत्वानुप्राणिताद्विरोधालंकाराद् भेद'। (अलंकारसर्वस्व, पृ० १७५)

क्रिया का फल माना है।[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर के पूर्व टीकाकारों ने (माणिक्यचन्द्र, श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य) विभावना अलंकार का स्पष्ट और विस्तृत विवेचन किया है, अतः गोविन्द ठक्कुर के विवेचन में नवीनता नहीं है। अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों की भाँति प्रदीपकार ने भी वैयाकरण के मत की चर्चा करते हुए 'विभावना' अलंकार को स्पष्ट किया है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं—'वैयाकरणेमते क्रियैव हेतुरिति क्रियेत्युक्तम्। वस्तुतस्तु कारणप्रतिषेधे कार्यवचनं। न च विरोधः। स्वाभाविकत्वस्य कारणान्तरस्य वा विभावनात्।'[2] यहाँ गोविन्द ठक्कुर का 'न च विरोधः' करने का अभिप्राय यह है कि 'विभावना' अलंकार में विरोध की शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि स्वाभाविक रूप में वर्णन होने से, कारणाभाव में कार्योत्पत्ति के विरोध का परिहार हो जाता है। गोविन्द ठक्कुर के पूर्ववर्ती टीकाकारों ने अप्रसिद्ध कारण के विद्यमान होने से विरोध का परिहार माना है।

'न च विरोधः' का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि 'विभावना' और 'विरोध' अलंकार में अन्तर है। अतः 'विभावना' के लक्षण में विरोध की शंका नहीं करनी चाहिए।

उद्योत तथा प्रभा—नागेश भट्ट तथा वैद्यनाथ, दोनों टीकाकारों ने 'क्रिया' शब्द की व्युत्पत्ति की चर्चा की है 'क्रियतेऽनेनेति व्युत्पत्या क्रियाशब्द उक्त इति भावः।' नागेश भट्ट लिखते हैं कि 'कारण' से अभिप्राय प्रसिद्ध कारण से है। क्रिया शब्द से अभिप्राय 'कारण' से है। अतएव विभावना का लक्षण है—'कारणव्यतिरेकसमानाधिकरण्येन प्रतीयमाना कार्योत्पत्तिर्विभावनेत्यर्थः।' अर्थात् जिस अधिकरण में जो कारण नहीं है उस अधिकरण में यदि उस कारण के कार्य की उत्पत्ति वर्णित हो तो उस कार्योत्पत्ति को 'विभावना' अलंकार कहा जाता है। उद्योतकार ने आचार्य जगन्नाथ के 'विभावना' अलंकार के लक्षण को उद्धृत किया है।

---

१. क्रिया कारकव्यापारः। प्रसिद्धसामग्रीनिषेधेऽपि तत्कार्यरूपफलस्याभिव्यक्तिर्विभावना। अप्रसिद्ध कारणमाक्षिप्येति निर्विरोधः। वैयाकरणाः क्रियाया एव हेतुतां स्वीकुर्वंति तन्मतेन व्याकरोति।

(सारबोधिनी, पृ० ४०८)

२. काव्यप्रदीप, पृ० ३५०

नागेश भट्ट ने 'विभावना' और 'विरोधालंकार' के अन्तर को स्पष्ट किया है कि विभावना में कारण के निषेध से कार्योत्पत्ति बाध्यमान होकर भासित होती है परन्तु विरोधालंकार में दोनों विरोधी पदार्थ समान बलशाली रहते हैं। उन दोनों में एक बाधक दूसरा बाध्य नहीं होता।[१]

'प्रभा' में वैद्यनाथ ने विभावना के दो भेद— १. अनुक्तनिमित्ता, २. उक्तनिमित्ता की चर्चा भी है।

इस प्रकार 'विभावना' अलंकार का विस्तृत विवेचन किया गया है। गोविन्द ठक्कुर के विवेचन में नवीनता नहीं है क्योंकि गोविन्द ठक्कुर के पूर्ववर्ती टीकाकारों ने विस्तृत विवेचन किया था। गोविन्द ठक्कुर तथा माणिक्यचन्द्र आदि टीकाकारों का यही अभिप्राय है कि मम्मट ने वैयाकरणों के अनुसार 'विभावना' अलंकार का विवेचन किया है। नागेश भट्ट तथा वैद्यनाथ का विवेचन रुय्यक के 'विभावना' अलंकार विवेचन के अधिक निकट है।

विशेषोक्ति

मम्मट का लक्षण है—'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः' अर्थात् जहाँ प्रसिद्ध कारणों के मिलने पर भी कार्य का कथन नहीं किया जाता, वह 'विशेषोक्ति' अलंकार है। विशेषोक्ति तीन प्रकार की है—१. अनुक्तनिमित्ता, २. उक्तनिमित्ता, ३. अचिन्त्यनिमित्ता। क्रमशः उदाहरण दिए हैं—

१. 'निद्रानिवृत्तावुदिते···सा।'[२]

२. 'कर्पूर इव · मकरकेतवे।'[३]

३. 'स एकस्त्रीणि · न हृतं बलम्।'[४]

संकेत—माणिक्यचन्द्र ने संकेत टीका में 'विशेषोक्ति' अलंकार के विवेचन में वामन, आदि आचार्यों के मत की चर्चा की है और खण्डन किया है। 'एक गुण की हानि की कल्पना में सादृश्य की दृढ़ता विशेषोक्ति है' यह जो विशेषोक्ति का लक्षण दिया है, वह रूपक का ही भेद है, उसे पृथक् मानना उचित नहीं। माणिक्यचन्द्र ने यद्यपि वामन का नामोल्लेख नहीं किया है तथापि 'एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्ति' यह वामन का ही लक्षण है।[५]

---

१. उद्योत, पृ० १११-११२

२. ३. ४. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.४७४, ४७५, ४७६

५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति

माणिक्यचन्द्र ने विशेषोक्ति के लक्षण की चर्चा नहीं की है। केवलमात्र इतना ही लिखा 'एतद्विपर्यये विशेषोक्तिरिति तामाह—विशेषोक्तिरिति।' यहाँ 'एतद्विपर्यय' से अभिप्राय 'विभावना' अलंकार से है।

मम्मट के 'विशेषोक्ति' अलंकार के तीनों उदाहरणों का स्पष्टीकरण किया है। प्रथम उदाहरण 'निद्रानिवृत्तावुदिते……' में निद्रानिवृत्ति आदि हेतुओं के होने पर भी आलिंगन त्याग रूप कार्य का अभाव कहा गया है। 'प्रियानुराग' निमित्त है जो प्रतीयमान है।

द्वितीय-उदाहरण 'कर्पूर इव…' में शरीर दाह रूप कारण के होने पर भी अशक्तता नामक कार्य की अनुत्पत्ति शक्तिमान् होने के विरुद्ध धर्म द्वारा बताई गई है। 'अवार्यवीर्यत्वं' इसका निमित्त कहा गया है।

तृतीय उदाहरण 'स एकस्त्रीणि…' में तनुहरण रूप कारण के होने पर भी बलनाश रूप कार्य का अभाव है। इसके हेतु का विचार नहीं किया जा सकता अतः यह अचिन्त्य है।

माणिक्यचन्द्र का 'विशेषोक्ति' अलंकार निरूपण में आचार्य वामन के मत का खण्डन रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व' में वर्णित 'विशेषोक्ति' अलंकार का अक्षरशः अनुकरण है, स्वतन्त्र विवेचन नहीं है।[1]

दीपिका—चण्डीदास की दीपिका टीका में विशेषोक्ति भेदों की चर्चा मम्मट से कुछ भिन्न है। मम्मट ने विशेषोक्ति के तीन भेद माने हैं—१. उक्तनिमित्ता, २. अनुक्तनिमित्ता, ३. अचिन्त्यनिमित्ता। परन्तु चण्डीदास ने विशेषोक्ति के दो भेद माने हैं—१. उक्तनिमित्ता, २. अनुक्तनिमित्ता। पुनः अनुक्तनिमित्ता के दो भेद चिन्त्य और अचिन्त्य किए हैं। इस प्रकार यह तीन भेद माने हैं।[2]

सारबोधिनी—'सारबोधिनी' टीका में मम्मट के तीनों उदाहरणों का स्पष्टीकरण किया गया है। उदाहरणों का स्पष्टीकरण संकेतादि टीका के ही समान किया है। अतः प्रस्तुत टीका में कुछ विशेष नहीं कहा गया है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर की 'विशेषोक्ति' अलंकार विवेचन में

---

१. या तु 'एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः' इति विशेषोक्तिलक्षिता सास्मिन्दर्शने रूपकभेद एवेति पृथङ् न वाच्या।'

(अलंकारसर्वस्व, पृ० १८१)

२. अनुक्तनिमिक्तोक्तनिमित्तेति च द्विधा भूता, अनुक्तनिमित्तायाश्चिन्त्याचिन्त्यनिमित्ततया द्वैविध्यात्त्रिविधेति भावः।' (दीपिका, पृ० ४४६)

विशेषता यह है कि प्रदीपकार ने 'विशेषोक्ति' अलंकार के लक्षण की चर्चा करते हुए 'विरोध' अलंकार से 'विशेषोक्ति' अलंकार का भेद कथन किया। 'प्रसिद्ध कारण के होने पर भी कार्य का अभाव कथन 'विशेषोक्ति' है परन्तु इस लक्षण का पर्यवसान 'विरोध' में नहीं होता।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने चण्डीदास के समान विशेषोक्ति भेदों की चर्चा नहीं की है अपितु मम्मट के समान तीन भेद माने हैं 'सा च त्रिधा-अनुक्तनिमित्ता उक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता च।'

'विशेषोक्ति' अलंकार के भेद उक्तनिमित्ता उदाहरण की प्रदीपकार ने विशेष चर्चा की है। गोविन्द ठक्कुर ने 'कर्पूर इव···' उदाहरण में भास्कर के मत का उल्लेख किया है। भास्कर के अनुसार प्रस्तुत उदाहरण में 'कर्पूर' और 'कामदेव' में सादृश्य 'दाहमात्र' में है, 'शक्तिमत्त्व' में नहीं। परन्तु गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'शक्तिमत्त्वे इति परमार्थः।' अर्थात् कर्पूर और कामदेव में साम्य 'शक्तिमत्त्व' में है। प्रदीपकार का कथन है कि कर्पूर में अल्पमात्र दग्धता से ही उसकी सुगन्धि चारों ओर फैल जाती है उसी प्रकार कामदेव के भस्म हो जाने पर भी उसकी शक्ति का नाश नहीं हुआ है वह जन-जन में व्याप्त है। नैषध का पद्य भ्रूम्यां···वीर्यताऽऽर्जि', उद्धृत करके गोविन्द ठक्कुर ने अपने कथन की पुष्टि की है।[2] 'कर्पूर इव' उदाहरण में 'अवार्यवीर्यत्व' अर्थात् कामदेव का अकुण्ठित-पराक्रम वाला होना इसका निमित्त उक्त है। शरीरदाह रूप कारण के होने पर भी शक्ति-ध्वंस रूप कार्य का अभाव वर्णित है।

तृतीय-उदाहरण की व्याख्या में गोविन्द ठक्कुर ने विशेष नहीं कहा। 'सः एकः' उदाहरण में तनुहरणरूप कारण के होने पर भी 'बलनाश' रूप कार्य का अभाव वर्णित है। परन्तु इसके हेतु का विचार नहीं किया गया अतः यह अचिन्त्य है।

प्रभा—प्रभा में वैद्यनाथ ने अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति के दो भेद—अचिन्त्य और चिन्त्य मानने वाले आचार्यों का खण्डन किया है। चण्डीदास ने अनुक्तनिमित्ता के भेदों की चर्चा की है। परन्तु वैद्यनाथ मम्मट और गोविन्द ठक्कुर की भाँति विशेषोक्ति के भेदों की चर्चा करते हैं कि अनुक्त-निमित्ता, उक्तनिमित्ता तथा अचिन्त्यनिमित्ता भेदों से विशेषोक्ति के तीन

---

१. 'अत्राप्यप्रसिद्धे कार्याभावहेतौ पर्यवसानद्विरोधाभावः'। (काव्यप्रदीप)

२. काव्यप्रदीप, पृ० ३५१

प्रकार हैं ।

उद्योत—नागेश भट्ट ने विशेषोक्ति विवेचन में वामन के मत का खण्डन किया है । उद्योतकार लिखते हैं कि जो 'एक गुण के अभाव की कल्पना करने पर भी समानता की दृढ़ता विशेषोक्ति' है । जैसे 'द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्' विशेषोक्ति का लक्षण मानते हैं, वह ठीक नहीं । नागेश भट्ट लिखते हैं कि (वामन) इनके अनुसार यहाँ सिंहासनराहित्यरूप एक गुण के अभाव की कल्पना करने पर द्यूत की राज्य के साथ समता दृढ़ की गई है । अतः विशेषोक्ति है । परन्तु उद्योतकार का अभिप्राय है कि विचार करने पर यहाँ दृढ़ारोप रूपक सिद्ध होता है, विशेषोक्ति नहीं । यहाँ आरोप्यमाण राज्य में 'सिंहासनराहित्य' की कल्पना की गई है । अतः दृढ़ारोपरूपक है ।[1]

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि माणिक्यचन्द्र का विवेचन रुय्यक के 'विशेषोक्ति' अलंकार का अनुकरण होने से संकेतकार की मौलिकता का द्योतक नहीं है । दीपिका में चण्डीदास की विशेषोक्ति भेदों की चर्चा मम्मट से भिन्न है । गोविन्द ठक्कुर ने न तो संकेतकार की भाँति किसी आचार्य का अनुकरण किया है और न ही दीपिकाकार की भाँति भेदों की चर्चा की है । टींकाकारों से विशेषता यह रही है कि गोविन्द ठक्कुर ने 'विशेषोक्ति' अलंकार का विरोध अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है । उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति की विशेष करते हुए 'भास्कर' के मत का खण्डन किया है ।

अर्थान्तरन्यास

मम्मट का लक्षण—'सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणतरेण वा ।

वृत्ति में स्पष्ट है कि जहाँ समानधर्मता अथवा विरुद्धधर्मता के विचार से सामान्य का विशेष के द्वारा अथवा विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन किया जाता है वह 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है ।[2]

मम्मट ने चार उदाहरण दिए हैं—

१. 'निजदोषावृत···पीतम् ।'[3]

---

१. उद्योत, पृ० ११६

२. काव्यप्रकाश, पृ० ५३४

३. काव्यप्रकाश उदाहरण १०.४७८,

२. 'सुसितवसनालङ्कारार्या ··शुभप्रदः ।'[1]

३. 'गुणानामेव···गौर्गलिः ।'[2]

४. 'अहो हि मे···गताः ।'[3]

अर्थान्तरन्यास अलंकार का विवेचन गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के समान किया है। परन्तु काव्यप्रदीप के टीकाकार नागेश भट्ट ने 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार की चर्चा करते हुए 'दृष्टान्त', 'काव्यलिंग' आदि अलंकारों से अन्तर स्पष्ट किया है।

उद्योत—उद्योत टीका में नागेश भट्ट ने सर्वप्रथम 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार का दृष्टान्त अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है। 'दृष्टान्त' अलंकार में दोनों अर्थ सामान्य होते हैं या विशेष किन्तु 'अर्थान्तरन्यास' में एक अर्थ सामान्य होता है दूसरा विशेष।[4]

'अर्थान्तरन्यास' का 'काव्यलिंग' अलंकार से भी अन्तर स्पष्ट किया है। काव्यलिंग अलंकार में कारण के द्वारा कार्य का अथवा कार्य के द्वारा कारण का समर्थन किया जाता है किन्तु अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य तथा समर्थक में सामान्य-विशेषभाव होता है।[5] नागेश भट्ट ने अप्पय्य दीक्षित के 'विकस्वर' अलंकार का खण्डन किया है। 'अनन्तरत्न किरणोष्विवाङ्कः'[6] उदाहरण अप्पय्य दीक्षित ने 'विकस्वर' अलंकार का दिया है परन्तु उद्योतकार ने प्रस्तुत उदाहरण को 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार का माना है। नागेश भट्ट लिखते हैं कि यहाँ दो 'अर्थान्तरन्यास' हैं अतः यह अर्थान्तर संसृष्टि का उदाहरण है।

अतः यही कहा जा सकता है कि गोविन्द ठक्कुर की अपेक्षा नागेश भट्ट ने 'अर्थान्तरन्यास' का विस्तृत विवेचन किया है।

विरोध

मम्मट ने विरोध का लक्षण दिया है—

'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः।'

अर्थात् वस्तुतः विरोध न होने पर भी जो दो वस्तुओं का विरुद्धों के समान वर्णन होता है।

मम्मट ने विरोध के १० प्रकारों का उल्लेख किया है। दस प्रकार हैं—जाति का जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य से विरोध (४) गुण का गुण, क्रिया, द्रव्य

१.२.३. काव्यप्रकाश, उदाहरण, १०.४७९, ४८०, ४८१

४. ५. उद्योत, पृ० ११८, ११९

६. उदाहरण, पृ० ११९

से विरोध (३) क्रिया का क्रिया, द्रव्य से विरोध (२) द्रव्य का द्रव्य से ।

इनके क्रमशः मम्मट ने उदाहरण भी दिए हैं—

१. 'अभिनवनलिनी···पविपाते ।'

२. 'गिरयो···नियतम् ।'

३. 'येषां···कौतुकम् ।'

४. 'सृजति···चित्रमिदम् ।'

५. 'सततं···सरोजकुमाराः ।'

६. 'पेशलमपि···प्रमोदयति ।'

७. 'क्रौञ्चादि···सत्यमपूर्वसर्गः ।'

८. 'परिच्छेदातीतः···कुरुते ।'

९. 'अयं वारामेको···जलनिधिः ।'

१०. 'समदमतङ्···कालिन्दी ।'[1]

संकेत — संकेत में माणिक्यचन्द्र ने 'रुद्रट' के मत का उल्लेख किया है । रुद्रट के मतानुसार जाति सदैव द्रव्य में रहती है, अतः जाति और द्रव्य में विरोध नहीं है । इसीलिए द्रव्य और जाति अभिन्न होने से रुद्रट ने विरोध के ९ प्रकार माने हैं । माणिक्यचन्द्र को यह मत मान्य नहीं ।[2] संकेतकार का अभिप्राय है कि जाति गुण में भी है । यदि गुण और जाति में विरोध है तो जाति और द्रव्य में विरोध का अस्तित्व क्यों न हो ?

संकेत में क्रमशः मम्मट के उदाहरणों का स्पष्टीकरण किया गया है । मम्मट ने केवल उदाहरण दिए हैं, उनको स्पष्ट नहीं किया है ।

प्रथम उदाहरण में 'नलिनीत्व' आदि जातियों का 'दहनत्व' जाति से विरोध है क्योंकि 'कमल' आदि दावानल कैसे हो सकते हैं ? अतः यह विरह के उद्दीपक हैं । वियोग दशा होने से 'विरोध' का परिहार हो जाता है ।[3]

द्वितीय उदाहरण में 'गिरित्व' आदि जाति का 'अनुन्नत्व' आदि गुणों के साथ विरोध है ।[4]

तृतीय उदाहरण में धाराधरत्व जाति (खड्गत्व) का अनुरक्त होना और स्नेह प्राप्त करना क्रिया से विरोध है । 'संकेतकार' ने 'पंसुत्व' जाति का 'खण्डन' क्रिया से विरोध बताया है ।[5]

---

१. (काव्यप्रकाश, पृ० ५३९-५४९) उदाहरण, १०.४८२ से ४९१ तक ।

२. ३. ४. ५. संकेत, पृ० २५७-२५८

चतुर्थ उदाहरण में 'शफरत्व' जाति का जनार्दन द्रव्य के साथ विरोध है।

पञ्चम उदाहरण में कठिनता और सौकुमार्य गुण का विरोध है।[1]

षष्ठ उदाहरण में 'पेशलता' गुण का 'दहन' क्रिया का एवं 'परुषता' गुण से 'प्रमोद' क्रिया का विरोध है।[2]

सप्तम उदाहरण यहां 'दृढत्व' रूप गुण का 'अम्भोजदलरूप' द्रव्य के साथ 'विरोध' है।[3]

अष्टम उदाहरण में 'जड़ीकरण रूप' और 'तापकरण रूप' क्रियाओं में विरोध' है।[4]

नवम उदाहरण 'पीत' क्रिया का जलधि (समुद्र) द्रव्य के साथ विरोध है, मुनि प्रभाव से विरोध-परिहार हो जाता है।[5]

दशम उदाहरण में गंगा और यमुना द्रव्यों का विरोध है।[6]

अन्त में माणिक्यचन्द्र लिखते हैं कि 'विरोध' अलंकार स्वतन्त्र विषय रूप में पाया जाता है। श्लेष से गर्भित होने पर उद्भट के अनुयायियों के अनुसार श्लेष ही होगा जो विरोध के छायामात्र का उत्पादक होगा। किन्तु दूसरे मत से 'संकर' अलंकार होगा। 'कुपतिमपि कलत्रवल्लभम्' आदि में एक के ही श्लिष्ट होने पर, एकविषयता होती है वहाँ श्लेषगर्भित 'विरोधालंकार' को ही माना जाता है। विषय के भिन्न होने पर 'असंगति' आदि अलंकार होगा।[7]

माणिक्यचन्द्र ने उपर्युक्त चर्चा रुय्यक के अलंकारसर्वस्व के समान की है।[8]

दीपिका—चण्डीदास ने दीपिका में 'विरोध' अलंकार में यह स्पष्ट किया है कि जहाँ प्रकृत वाच्यार्थ (अभिधा) में विरोध प्रतीत होता है वहाँ विरोधालंकार होता है।[9]

माणिक्यचन्द्र ने संकेत में 'गुण का द्रव्य के साथ विरोध' उदाहरण में 'दृढत्व' रूप गुण का 'अम्भोजदलरूप' द्रव्य के साथ विरोध बताया है। चण्डीदास ने 'कोमलता' गुण का 'क्रौञ्चपर्वत' द्रव्य के साथ विरोध बताया है।

---

१. २. ३. ४. ५. ६. सकेत, पृ० २५८

७. संकेत, पृ० २५६

८. विविक्तविषयत्वेन चास्य...त्वसंगतिप्रभृतिर्वक्ष्यते। (अलंकारसर्वस्व, पृ० १७३-१७४)

९. दीपिका, पृ ४४८

काव्यप्रदीप जैसा कि पीछे स्पष्ट किया है कि मम्मट ने विरोध के दस प्रकारों का उल्लेख किया है। गोविन्द ठक्कुर ने काव्यप्रदीप में विरोधालंकार विवेचन में 'द्रव्य के साथ विरोध' का उल्लेख नहीं किया है। प्रदीपकार लिखते हैं—जाति का जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य से विरोध (४) गुण का गुण, क्रिया, द्रव्य से विरोध (३), क्रिया का क्रिया, द्रव्य के साथ विरोध (२) है। यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि गोविन्द ठक्कुर ने रुद्रट की भाँति विरोध के ९ प्रकार माने हैं। परन्तु मम्मट ने 'द्रव्य का द्रव्य' के साथ विरोध का जो उदाहरण दिया है वहाँ गोविन्द ठक्कुर ने उदाहरण का स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि प्रस्तुत उदाहरण में 'द्रव्य गंगा का द्रव्य यमुना के साथ' विरोध है। इस आधार पर कह सकते हैं कि यद्यपि गोविन्द ठक्कुर ने 'द्रव्य का द्रव्य के साथ' विरोध के भेद का उल्लेख नहीं किया है परन्तु यह भेद मान्य है। यदि प्रदीपकार को यह भेद मान्य न होता तो प्रदीपकार इसके उदाहरण का खण्डन अवश्य करते। अतः गोविन्द ठक्कुर को विरोध के दस भेद ही स्वीकार्य हैं।

गोविन्द ठक्कुर ने 'जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैः···ते दश' सूत्र में विरोध के भेदों की गणना प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। प्रदीपकार लिखते हैं कि जिस प्रकार जाति का जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के साथ विरोध होता है उसी प्रकार गुणादि का भी चारों के साथ विरोध हो सकता है। किन्तु गुण का जाति के साथ जो विरोध होगा उसकी गणना जाति के गुण के साथ विरोध में की जा चुकी है। अतः गुण का विरोध गुण क्रिया और द्रव्य के साथ ही गिना जाएगा। इसी प्रकार क्रिया का विरोध क्रिया और द्रव्य के साथ और द्रव्य का विरोध केवल द्रव्य के साथ गिना जाएगा।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने 'विरोध' अलंकार के दसों उदाहरणों का स्पष्टीकरण किया है तथा यह भी बताया है कि किस प्रकार विरोध का परिहार हो जाता है। जैसे प्रथम उदाहरण 'अभिनव··विपाते' में 'नलिनीत्व' आदि जाति का 'दहनत्व' जाति से विरोध है क्योंकि कमल आदि दावानल रूप कैसे हो सकते हैं। अतः यहाँ वियोग की अतिशयता होने से 'कमल' 'किसलय' आदि विरहोद्दीपक में 'दावानल' की वर्णना की गई है। अतः 'विरोध' का परिहार हो जाता है और विरोधाभास मात्र रह जाता है।[2]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ६५३
२. काव्यप्रदीप, पृ० ३५३

'जाति का क्रिया के साथ विरोध' उदाहरण में गोविन्द ठक्कुर ने धारा-धरत्व जाति का 'अनुराग' और 'क्रिया' के साथ विरोध दिखाया है। खड्ग में अनुराग और स्नेह का होना संभव नहीं। 'अनुरज्यते' का अर्थ रक्त से लाल होना और 'स्नेह' का 'चिकनापन' होने से विरोध का परिहार हो जाता है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि जो 'तीक्ष्णत्व' और 'अनुराग' का विरोध मानते हैं वह ठीक नहीं है। 'तीष्णत्व' और 'अनुराग' में विरोध 'जाति का क्रिया के साथ विरोध' का उदाहरण नहीं हो सकता क्योंकि तीक्ष्णत्व गुण है जाति नहीं।

'गुण का क्रिया के साथ विरोध' में गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के उदाहरण को स्पष्ट किया है कि यहाँ 'पेलवत्व' गुण और 'परुषत्व' गुण का क्रमशः, 'दाह' एवं 'प्रमोद' क्रिया से विरोध है। दूसरे उदाहरण में गोविन्द-ठक्कुर ने अपने भ्राता श्रीहर्ष के पद्य को उद्धृत किया है तथा स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत पद्य में भी गुण का क्रिया के साथ विरोध है। 'दर्शन' और 'गमन' क्रिया का 'गमनाभाव' और 'भुजभाजनत्वाभाव' गुण से विरोध है।[2]

इसके अतिरिक्त अन्य उदाहरणों का भी स्पष्टीकरण किया है।

प्रभा तथा उद्योत—उद्योत तथा प्रभा में 'विरोध' अलंकार और रूपक अलंकार का अन्तर स्पष्ट किया है। टीकाकार लिखते हैं कि मम्मट ने 'जाति का जाति के साथ विरोध' तथा 'जाति और द्रव्य का विरोध' के क्रमशः जो उदाहरण 'अभिनवनलिनी··विपाते' तथा 'सृजति च···चित्रमिदम्'[3] दिए हैं, उन उदाहरणों में 'किसलयमृणालवलयादि दवदहनराशिः' तथा 'शफरो जनार्दनः' आदि में शंका उत्पन्न होती है कि यहाँ रूपक है या विरोधाभास। टीकाकार 'रूपक' और 'विरोध' अलंकार का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जहाँ उपमेय में उपमान का अभेदारोप चमत्कार होता है वहाँ 'रूपक' अलंकार होगा जैसे 'मुखं चन्द्रः' में मुख में चन्द्राभेद ही चमत्कारक है। किन्तु जहाँ विरोध प्रतीति ही चमत्कारक होती है वहाँ 'विरोधाभास' होता है। प्रस्तुत उदाहरण में (किसलयमृणालवलयादि··) में यदि विरहिणी आदि की अवस्था का अत्यन्त अद्भुत होना विवक्षित न हो और पीड़ा-जनकता का अतिशयमात्र कहना अभीष्ट हो तो 'रूपक' ही होगा। किन्तु यहाँ विरहणी की दशा का अत्यन्त अद्भुत होना विवक्षित है। अतः 'विरोध' अलंकार है। इसके

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३५४

२. काव्यप्रदीप पृ० ३५४

३. उदाहरण, काव्यप्रकाश, १०.४८३ से ४८५

अतिरिक्त विरोध में 'अपि' शब्द का प्रयोग होने से विरोध की प्रतीति है रूपक की नहीं। रूपक में 'अपि' शब्द का कोई स्थान नहीं।

इसी प्रकार जहाँ किसी नगर की स्थिति की केवल अद्भुतता बोधनीय हो और कहा जाए 'यत्र नारीणां मुखं चन्द्रः' तो वहाँ 'विरोधाभास' ही अलंकार होगा, 'रूपक' नहीं।[1]

मम्मट के 'क्रिया का द्रव्य के साथ विरोध' उदाहरण 'अयं··· जलनिधिः'[2] को अप्पय्य दीक्षित ने 'असंभव अलंकार माना है। अप्पय्य दीक्षित का कथन है कि 'जहाँ किसी पदार्थ विशेष की उत्पत्ति के विषय में असंभाव्यत्व का वर्णन किया जाए वहाँ 'असंभव अलंकार होता है। 'अयं·· जलनिधि 'असंभव' अलंकार का उदाहरण है। परन्तु नागेश भट्ट ने अप्पय्य दीक्षित के मत का खण्डन किया हैं। उद्योतकार लिखते हैं कि प्रस्तुत उदाहरण में 'पान क्रिया का अगस्त्य मुनि रूप कर्ता (द्रव्य) तथा समुद्र रूप कर्म (द्रव्य) के साथ विरोध है, किन्तु अगस्त्य के तप के प्रभाव की विलक्षणता से विरोध परिहार हो जाता है। अतः यह 'क्रिया का द्रव्य के साथ विरोध का उदाहरण है; 'असंभव' अलंकार का नहीं।[3]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर तथा उसके टीकाकारों ने 'विरोध' अलंकार का विस्तृत विवेचन किया है। उद्योत और प्रभा टीका में 'विरोध' और 'रूपक' अलंकार का अन्तर स्पष्ट किया है। गोविन्द ठक्कुर ने विरोध और रूपक अलंकार के अन्तर की चर्चा नहीं की है। 'संकेत में प्रत्येक उदाहरण का स्पष्टीकरण किया गया है। अतः काव्यप्रदीप में सभी उदाहरणों की चर्चा नहीं की है।

सहोक्ति

मम्मट ने 'सहोक्ति' का लक्षण दिया है—'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्।' वृत्ति में स्पष्ट किया है कि जहाँ एक अर्थ का वाचक पद 'सह' शब्द के अर्थ-सामर्थ्य से दोनों अर्थों का बोधक होता है। उदाहरण दिया है—'सह दिवस ···जीविताशा।'[4]

---

१. (i) वियोगजन्यसंतापातिशायके···दिक्।' (उद्योत, पृ० १२१)
(ii) 'ननु जात्योर्द्रव्ययोश्च···इत्यवधेयम्।' (प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ ३५३)

२. काव्यप्रकाश, १०.४६०

३. उद्योत, पृ० १२६

४. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.४६५

संकेत—माणिक्यचन्द्र संकेत टीका में स्पष्ट करते हैं कि सहोक्ति के लक्षण में 'द्विवाचकम्' से अभिप्राय प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) से है। सहोक्ति में औपम्य की काल्पनिक विवक्षा मानी है। माणिक्यचन्द्र लिखते हैं सहोक्ति में तृतीया विभक्ति में आया हुआ पद नियमतः गौण होने से उपमान बनता है। जो शेष वचा वह प्रधान होने से उपमेय बनता है। इसके मूल में नियमतः अनिशयोक्ति रहती है और यह कार्यकरण के पूर्वापर भाव के विपर्ययरूप तथा अभेदाध्यवसायरूप होती है।[1]

माणिक्यचन्द्र पर पूर्णतः रुय्यक का प्रभाव है। रुय्यक ने अलंकारसर्वस्व में 'सहोक्ति' अलंकार की जो चर्चा की है माणिक्यचन्द्र ने उसका अनुकरण किया है।[2]

काव्यप्रदीप - गोविन्द ठक्कुर ने 'सहोक्ति अलंकार विवेचन मम्मट की भाँति किया है।

उद्योत तथा प्रभा—उद्योत तथा प्रभा टीका में 'सहोक्ति' अलंकार का स्पष्ट विवेचन किया गया है। 'सहोक्ति' अलंकार में क्रिया का एक समय में होना पाया जाता है। गौण तथा प्रधान रूप में रहने वाले दो पदार्थों का एक धर्म से संबंध हुआ करता है। जैसे 'पुत्रेण सहागतः पिता' में पिता प्रधान है और पुत्र गौण है। दोनों का सह अर्थ के द्वारा आगमन क्रिया से संबंध है। तृतीयान्त का विशेषण होने से गौण है। प्रथमान्त का विशेष्य होने से प्राधान्य है। इस प्रकार प्रथमांत में आगमन का शब्द संबंध है, तृतीयान्त का सहार्थ की सामर्थ्य से आर्थ संबंध है। इस प्रकार सहोक्ति में प्रधान और गौण संबंध होता है।[3]

नागेश भट्ट ने 'समुच्चय' अलंकार और 'सहोक्ति' अलंकार का अन्तर स्पष्ट किया है। उद्योतकार लिखते हैं कि समुच्चय में दोनों का प्राधान्य होता है जैसे चैत्र और मैत्र दोनों प्रधान हैं और दोनों का संवंध शाब्द है। अतः चेत्रमैत्रौगच्छतः सहोक्ति नहीं है क्योंकि सहोक्ति में एक प्राधन्य और एक गौण होता है।

---

१. संकेत, पृ० २६१

२. 'तत्र तृतीयान्तस्य नियमेन गुणभावादुपमानत्वम्। अर्थाच्च परिशिष्टस्य प्रधानत्वादुपमेयत्वम्।... तत्र नियमेनातिशयोक्तिमूलत्वमस्याः। सा च कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा अभेदाध्यवसायरूपा च।' (अलंकार-सर्वस्व पृ० १०१-१०२

३. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३५८, उद्योत, पृ० १३०

इस प्रकार सहोक्ति अलंकार का विवेचअ गोविन्द ठक्कुर के टीकाकारों की दृष्टि से ही विवेचनीय है।

परिवृत्ति

मम्मट का लक्षण है 'परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः।' 'परिवृत्ति' के दो प्रकार माने हैं— १. सम परिवृत्ति, २. असम परिवृत्ति। 'असम परिवृत्ति' भी दो प्रकार की है—१. उत्तम से न्यून वस्तु का विनिमय, २. न्यून से उत्तम वस्तु का विनिमय।

मम्मट ने दो उदाहरण दिए हैं—

१. 'लतानामेता···व्यतिकरम्।'[1]

२. 'नानाविध···वितीर्णा।'[2]

'विनिमय' शब्द के विषय में मम्मट से पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों में मतभेद है। मम्मट द्वारा उद्धृत उदाहरणों और टीकाकारों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विनिमय शब्द का अर्थ 'किसी एक वस्तु को देकर उससे दूसरी लेना' है। मम्मट ने एक ही कर्ता माना है जो एक वस्तु को त्यागकर दूसरी वस्तु को लेता है। दण्डी, रुद्रट, जगन्नाथ आदि आचार्यों का यह मत है। इसके विपरीत भामह, उद्भट, वामन और रुय्यक आदि आचार्यों ने 'विनिमय' का अर्थ 'परिवर्तन' किया है।

दीपिका—दीपिका टीका में चण्डीदास ने 'विनिमय' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया है—किसी वस्तु को देकर बदले में किसी वस्तु को लेना 'विनिमय' है। 'परिवृत्तिर्विनियमो योऽर्थानां···' विनिमय के उपर्युक्त लक्षण में यह सन्देह उत्पन्न होता है कि लक्ष्य पद क्या है और लक्षण क्या है? चण्डीदास का कथन है कि कारिका में प्रयुक्त 'परिवृत्ति' पद अलंकार के नाम का द्योतक है—परिवृत्ति और विनिमय परिवृत्ति अलंकार का लक्षण है।[3]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'परिवृत्ति' अलंकार का स्पष्टीकरण

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.४९८

२. वही १०.४९९

३. किञ्चिद् दत्वा कस्याचिदादानं परिवृत्तिस्तदेव विनिमय इति। परिवृत्तिर्विनिमय इत्यत्र किं लक्ष्यपदं किञ्च लक्षणपदमिति सन्देहं निराचष्टे—परिवृत्तिलङ्कार इति। नायं परिवृत्तिशब्दो विनियमात्रार्थः, अलङ्कारविशेषरूपलक्ष्यवाचकत्वादित्यर्थः।' (दीपिका, पृ० ४५३)

चण्डीदास की भाँति ही किया है। 'परिवृत्ति' लक्षण को स्पष्ट करते हुए प्रदीपकार का यह कथन 'परिवृत्तिरिति लक्ष्यालंकारनिर्देशः। पूर्वाचार्याणां तथैवोद्देशदर्शनात्। अतो न लक्ष्यलक्षण संदेहः' चण्डीदास की भाँति है। गोविन्द ठक्कुर ने पूर्वाचार्यों की चर्चा की है कि उनके अनुसार 'परिवृत्ति' उद्देश्य है, शेष लक्षण।

विनिमय शब्द का गोविन्द ठक्कुर ने वही अभिप्राय दिया है जैसा कि दीपिका में चण्डीदास ने दिया है 'विनिमयो हि केनचिद्वस्तुना दत्तेन कस्यचिदादानम्।'

'परिवृत्ति' के भेदों की चर्चा मम्मट के समान की है।

प्रभा—मम्मट तथा गोविन्द ठक्कुर ने परिवृत्ति के प्रथम दो भेद माने—१. सम और २. असम। पुनः असम के दो भेद माने हैं। इस प्रकार परिवृत्ति के तीन भेदों की चर्चा की है। प्रभा टीका में वैद्यनाथ लिखते हैं कि किन्हीं आचार्य के अनुसार परिवृत्ति के चार भेद हैं। उन आचार्य ने सम के भी दो भेद माने हैं- १ उत्तम वस्तुओं से उत्तम वस्तु की परिवृत्ति और न्यून वस्तुओं से न्यून वस्तु की परिवृत्ति। 'असम के भी दो भेद हैं। अतएव 'परिवृत्ति' अलंकार के चार भेद हैं।[1]

यद्यपि वैद्यनाथ ने यहाँ किसी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है परन्तु आचार्य जगन्नाथ के मत की चर्चा की है क्योंकि आचार्य जगन्नाथ ने रसगंगाधर में परिवृत्ति के चार भेद माने हैं।

उद्योत—उद्योत टीका में नागेश भट्ट ने स्पष्ट किया है कि 'परिवृत्ति' में दान या आदान कवि-कल्पित होता है, वास्तविक नहीं। यदि कहीं वास्तविकता होगी वहाँ 'परिवृत्ति' अलंकार नहीं होगा। जैसे 'क्रीणन्ति···बालिकाः' उदाहरण 'परिवृत्ति' अलंकार का नहीं है।[2]

नागेश भट्ट ने 'किमित्यापास्याभरणानि···वल्कलम्' उदाहरण, में विनिमय का अभाव होने से 'परिवृत्ति' अलंकार नहीं माना है। वस्तुतः उपर्युक्त उदाहरण रुय्यक ने 'परिवृत्ति' अलंकार का उद्धृत किया है। रुय्यक ने विनिमय शब्द से अभिप्राय 'एक को छोड़कर दूसरे का ग्रहण लिया है। 'किमित्यपास्या-भरणानि···कल्पते' उदाहरण दिया है। परन्तु नागेश भट्ट ने इस उदाहरण को

---

१. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३५९

२. उद्योत, पृ० १३३

परिवृत्ति का नहीं माना है क्योंकि गोविन्द ठक्कुर तथा नागेशभट्ट आदि ने विनिमय शब्द का अभिप्राय रुय्यक से भिन्न लिया है ।[1]

अन्त में 'परिवृत्ति' अलंकार के विषय में यही कहा जा सकता है कि गोविन्द ठक्कुर आदि टीकाकारों का मुख्य उद्देश्य विनिमय शब्द को स्पष्ट करना रहा है । गोविन्द ठक्कुर का विवेचन इसलिए इतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है क्योंकि प्रदीपकार के पूर्ववर्ती टीकाकार चण्डीदास द्वारा 'परिवृत्ति' अलंकार की चर्चा की जा चुकी थी ।

वैद्यनाथ ने आचार्य जगन्नाथ का उल्लेख किया है और नागेश भट्ट ने आचार्य रुय्यक का उल्लेख किया है ।

भाविक

मम्मट का लक्षण है 'प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः तद्भाविकम्' अर्थात् जहाँ भूत तथा भविष्यकाल में होने वाले पदार्थों को प्रत्यक्ष के समान वर्णित किया जाता है । 'भूत और भावि' में द्वन्द्व समास है ।

उदाहरण है—'आसीद जनमत्रेति'''तवाकृतिम् ।'[2]

संकेत—माणिक्यचन्द्र 'संकेत' टीका में 'भाविक' अलंकार को स्पष्ट करते हैं कि भूत और भावी पदार्थों का अलौकिक होने के कारण अत्यन्त अद्‌भुत होने से तथा व्यस्त सम्बन्ध से रहित शब्द-रचना से समर्पित होने के कारण प्रत्यक्ष सा हो जाना 'भाविक' है । कविगत भाव श्रोता में प्रतिबिम्ब रूप में होता है । 'स्वभावोक्ति' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है कि यह अलंकार 'स्वभावोक्ति' नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें लौकिक वस्तु में विद्यमान सूक्ष्म धर्म वर्णन करने पर साधारण रूप में चित्त-संवाद सम्भव होता है । 'भाविक' अलंकार में लौकिक वस्तुओं की स्फुट रूप से तथा तटस्थ रूप प्रतीति होती है । अद्‌भुत पदार्थ के दर्शन से भूत और भावी पदार्थों की प्रत्यक्ष रूप प्रतीति से 'काव्यलिंग' भी नहीं है । इस प्रकार माणिक्यचन्द्र ने 'भाविक' अलंकार का 'स्वभावोक्ति' तथा 'काव्यलिंग' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है ।

माणिक्यचन्द्र का 'भाविक' अलंकार विवेचन रुय्यक के 'भाविक' अलंकार विवेचन का अक्षरशः अनुकरण है ।

---

१. वही, पृ० १३३

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५००

काव्यप्रदीप · गोविन्द ठक्कुर ने 'भाविक' अलंकार का विवेचन मम्मट की भाँति किया है।

उद्योत – उद्योत टीका में नागेश भट्ट ने 'भाविक' अलंकार का विस्तृत विवेचन किया है। नागेश भट्ट ने स्पष्ट किया है कि भूत तथा भविष्य में होने वाले पदार्थों का प्रतिपादन प्रत्यक्ष के समान कराया जाता है। अत: यह 'भ्रान्ति' नहीं है क्योंकि भूत तथा भावी का भूत तथा भावी के रूप में ही प्रकाशन होता है। यह 'स्वभावोक्ति' भी नहीं है क्योंकि वहाँ वस्तु के असाधारण धर्म का वर्णन होता है। 'भाविक' अलंकार में कवि भावना द्वारा भूत और भविष्य के पदार्थों को प्रत्यक्ष दिखलाया जाता है।

नागेश भट्ट ने स्पष्ट किया है कि 'आसीद जनमत्रेति' उदाहरण (उदाहरण सं० ५००) में 'आसीद्' और 'भावी' शब्द द्वारा भूत तथा भविष्य में होने वाले पदार्थों का कथन किया गया है। परन्तु कहीं-कहीं इन शब्दों के प्रयोग के बिना भी भूत और भावी का निर्देश होता है जैसे 'अहं विलोकयेऽद्यापि युध्यंतेऽत्र सुरासुराः' उदाहरण में।[1]

नागेश भट्ट ने 'भाविक' अलंकार को 'अतिशयोक्ति' अलंकार के तृतीय भेद के अन्तर्गत माना है।

इस प्रकार 'भाविक' अलंकार का विवेचन नागेश भट्ट की दृष्टि से ही विवेचनीय है। माणिक्यचन्द्र का विवेचन रुय्यक के विवेचन का अनुकरण होने से महत्त्वपूर्ण नहीं है।

काव्यलिङ्ग

मम्मट का लक्षण है – 'काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता' अर्थात् जहाँ वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप में किसी अनुपपन्न अर्थ का हेतु कहा जाता है।

यह हेतु कथन दो प्रकार से सम्भव है—एक तो वाक्यार्थ रूप में, दूसरे पदार्थ रूप में। पदार्थ रूप में कहीं तो अनेक पदों द्वारा इसका कथन होता है और कहीं एक पद के द्वारा। इस प्रकार काव्यलिग के तीन भेद हो जाते हैं। क्रमशः उदाहरण दिए हैं—

१. वाक्यार्थता—यथा—'वपुः···द्वयमपि।'[2]

२. अनेकपदार्थता—यथा—'प्रणयिसखी···भुजः।'[3]

---

१. उद्योत, पृ० १३५

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ५०१

३. वही पृ० ५०२

३. एकपदार्थता:—यथा—'भस्मोद्धूलन···निधीयामहे ।'[1]

संकेत—संकेत टीका में माणिक्यचन्द्र ने 'काव्यलिंग' का 'अनुमान' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है। 'काव्यलिंग में कारक का कथन होता है तथा अनुमान में ज्ञापक हेतु का- यही दोनों में अन्तर है। 'काव्यलिंग' में काव्य का प्रयोग किया गया है अतएव इसमें व्याप्ति, पक्षधर्मता तथा उपसंहार आदि नहीं होते हैं।[2]

काव्यप्रदीप—'काव्यलिंग' अलंकार को स्पष्ट करते हुए गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं —'अत्र विवक्षितविवेकेन हेतुवचनं काव्यलिङ्गमिति लक्षणम् ।' यहाँ 'विवेक' द्वारा हेतु कथन से अभिप्राय काव्यशास्त्र में अभिमत लिंग से है न कि तर्कशास्त्र के हेतु से। तर्कशास्त्र का हेतु कथन काव्यशास्त्र के हेतु कथन से नितान्त भिन्न है, अतः गोविन्द ठक्कुर का यह कथन 'अत्र विवक्षितविवेकेन' ······हेतु की दर्शन से भिन्नता स्पष्ट करता है। यह हेतु कथन दो प्रकार से सम्भव है—एक वाक्यार्थ रूप में, दूसरे पदार्थ रूप में।

मम्मट के तीनों उदाहरणों का स्पष्टीकरण किया है—

१. 'वपुः प्रादुर्भाव···अपराधद्वयमपि' हेतु की वाक्यार्थता को स्पष्ट करते हैं कि यहाँ अपराधद्वय का हेतु 'अनमन' है। यह 'पुरा क्वचिदपि नाहं भवन्तं प्रणतवान्' तथा 'अग्रऽहमनतिभाक्' दोनों वाक्यार्थों का अर्थ है। अतः हेतु की वाक्यार्थरूपता है।

२. 'हेतु की अनेकपदार्थता'···'प्रणयिसखी·· भुजः' उदाहरण को गोविन्द-ठक्कुर ने स्पष्ट करते हुए इस बात पर विशेष बल दिया है कि यहाँ वाक्यार्थ के हेतु का कथन नहीं है अपितु अनेक पदार्थों के हेतु का कथत है।

यहाँ भुजपात में शस्त्र प्रहार करना हेतु है। जिसे 'वपुषि शस्त्रमुत्क्षिपतः' आदि पदों के द्वारा इस हेतु का कथन किया गया है। मुख्य क्रिया का अभाव होने से यह पद समूह वाक्य नहीं बन पाया। अतएव यहाँ अनेक पदार्थ बोधित काव्यलिंग है।

३. हेतु की एकपदार्थता—'भस्मोद्धूलन·· निधीयामहे' उदाहरण में महामोह का हेतु 'सुखालोकोच्छेदिता' है। यह समस्तपद होने से एकपद रूप है।[3]

---

१. काव्यप्रकाश उदाहरण ५०३

२. संकेत, पृ० २६३

३. काव्यप्रदीप, पृ० ३६०

गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यलिंग' का 'अर्थान्तरन्यास' से अन्तर स्पष्ट किया है। 'अर्थान्तरन्यास' में वाक्यार्थ तटस्थ होता है अर्थात् एक वाक्य दूसरे वाक्य का हेतु नहीं होता, दोनों वाक्य निरपेक्ष होते हैं और उनका अर्थ अपने आप में पूर्ण होता है। 'काव्यलिंग' में दोनों वाक्यों के हेतु का परस्पर साक्षात् सम्बन्ध होता है। एक वाक्य दूसरे वाक्य का हेतु होता है।[१] गोविन्द ठक्कुर ने हेतु का प्रतिपादन 'विभक्ति' द्वारा माना है। जिसका प्रदीप के टीकाकारों ने खण्डन किया है।

प्रभा प्रभा में वैद्यनाथ ने गोविन्द ठक्कुर के इस कथन का खण्डन किया है—'इह तु साक्षोदव हेतुविभक्त्यादिना हेतुतयोपनिबद्ध···'। वैद्यनाथ लिखते हैं कि 'हेतुविभक्त्यादिना' यह प्रयोग असंगत है यदि हेतु की पंचमा-विभक्ति से अभिव्यक्त माना जाए फिर तो यह 'अलमतिचपलत्वात्' और प्रजानां विनयाधानात्' पद्य भी काव्यलिंग के उदाहरण होंगे। यद्यपि ये काव्यलिंग के उदाहरण नहीं है। अतएव वैद्यनाथ के अनुसार 'साक्षात् या परम्परा से जहाँ अर्थ के उपपादन के लिए कारक हेतु का कथन किया जाए वह 'काव्यलिंग' अलंकार है।' 'अर्थान्तरन्यास' में किसी संभाव्यमान अर्थ के उपपादन के लिए उससे भिन्न किसी दूसरे अर्थ की स्थापना की जाती है।[२] (यही दोनों का भेद है)।

काव्यलिंग के उदाहरणों में अनमन का अपराध में कारक हेतु ही है। 'निजदोषावृत्त···'[३] उदाहरण में सामान्य अर्थ में कारक हेतु नहीं है, अतः यह 'काव्यलिंग' का उदाहरण नहीं है।

वैद्यनाथ का मुख्य अभिप्राय यह है कि 'काव्यलिंग' में कारकहेतु का कथन होता है और 'अर्थान्तरन्यास' में सामान्य-विशेष भाव का।

'काव्यलिंग' और 'अनुमान' में परस्पर भेद यह है कि 'काव्यलिंग' में कारक हेतु का कथन होता है और अनुमान' में ज्ञापक हेतु का।

उद्योत - उद्योत टीका में नागेश भट्ट ने 'काव्यलिंग' अलंकार का विस्तृत विवेचन किया है। नागेश भट्ट ने 'काव्यलिंग' और 'अनुमान' में अन्तर स्पष्ट किया है। उद्योतकार का कथन है कि 'अनुमान' अलंकार का विषय वह लिंग होता है जिसके आधार पर श्रोता को अनुमिति का बोध कराने की

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३६१

२. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३६१-३६२

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.४७८

इच्छा से कवि काव्य का निर्माण करता है। परन्तु काव्यलिंग में ऐसा नहीं होता, यहाँ अनुमिति का बोध श्रोता को कराना अभीष्ट नहीं होता। काव्यलिंग में व्याप्ति आदि का निर्देश नहीं होता है, अनुमान में होता है। यह भेद कथन आचार्य रसगंगाधर ने किया है। अतः उद्योतकार लिखते हैं 'इत्यन्ये'।[१]

गोविन्द ठक्कुर द्वारा प्रयुक्त 'हेतुविभक्त्यादिना' के लिए नागेश भट्ट भी लिखते हैं कि यह 'अपपाठ' है।

नागेश भट्ट प्राचीन आचार्यों के अनुसार 'काव्यलिंग' के लक्षण की चर्चा करते हैं जिस हेतु की हेतुता व्यंग्य होती है वाच्य नहीं उसी को सुन्दरता के कारण 'काव्यलिंग' माना है। अतएव वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं' (मम्मट द्वारा उद्धृत उदाहरण) इस अंश में काव्यलिंग अलंकार नहीं है।[२]

अप्पय्य दीक्षित के मत का उल्लेख किया है कि उनके अनुसार काव्यलिंग में यदि 'सामान्य-विशेषभाव से अनालिंगित' यह विशेषण न दिया जाए तो अर्थान्तरन्यास में अतिव्याप्ति हो ही जाएगी।[3]

नागेश भट्ट ने उन आचार्यों की चर्चा की है जो 'काव्यलिंग' की अलंकारता का खण्डन करते हैं। उद्योतकार लिखते हैं किन्हीं आचार्यों के अनुसार 'काव्यलिंग' 'निर्हेतुरूप' दोष का अभावमात्र है, अलंकार नहीं।[४]

'हेतुहेतुमद्भाव' जिसको 'काव्यलिंग' कहते हैं वह वस्तुसिद्ध है अतः उसमें कवि-प्रतिभा-निर्मितता' का सम्बन्ध नहीं है। तव चमत्कार भी दुर्लभ है।[५]

श्लेषादि का संमिश्रण रहने पर भी उसका ही चमत्कार होता है, अतः उससे भी काव्यलिंग की अलंकारता सिद्ध नहीं होती है।'

इस प्रकार 'काव्यलिंग' का विस्तृत विवेचन कियो गया है। 'संकेत' में 'अनुमान' और 'काव्यलिंग' में अन्तर स्पष्ट किया है। गोविन्द ठक्कुर ने 'अर्थान्तरन्यास' और 'काव्यलिंग' का अन्तर स्पष्ट किया है। प्रभा और उद्योत टीका में प्रदीपकार के 'हेतुविभक्त्यादिना' शब्द का खण्डन किया है। टीकाओं में भी 'काव्यलिंग' का अनुमान और 'अर्थान्तरन्यास' से अन्तर स्पष्ट किया है। नागेश भट्ट ने आचार्य अप्पय्य दीक्षित तथा आचार्य जगन्नाथ के मत की भी चर्चा की है।

---

१. उद्योत, पृ० १३६

२. उद्योत पृ० १३८-१३९

३. ४. ५. उद्योत, पृ० १३८-१३९

उदात्त

मम्मट का लक्षण है 'उदात्तं वस्तुनः सम्पत् ।' अर्थात् जहाँ वस्तु की समृद्धि का वर्णन होता है। जैसे 'मुक्ताः ··त्यागलीलायितम्' उदाहरण है।[१]

द्वितीय उदात्त—'महतां चोपलक्षणम् ।' अर्थात् जहाँ उदारचरितों का अंगरूप में वर्णन किया जाता है। 'उपलक्षण' का अर्थ है अंगरूप होना।

उदाहरण है 'तदिदमरण्यं···रामः ।'[२] प्रस्तुत उदाहरण में वीररस नहीं है क्योंकि वह तो अरण्य वर्णन का अंग है।

संकेत संकेत टीका में माणिक्यचन्द्र ने 'स्वभावोक्ति' और 'भाविक' अलंकार से 'उदात्त' अलंकार का अन्तर स्पष्ट किया है। 'स्वभावोक्ति' और 'भाविक' अलंकार में वस्तुओं का यथावत् वर्णन होता है परन्तु 'उदात्त' अलंकार में कविप्रतिभा से उत्थापित लोकोत्तर समृद्धि का वर्णन होता है।[3]

'द्वितीय उदात्त' के उदाहरण में 'तदिदमरण्यं ··रामः' में माणिक्यचन्द्र लिखते हैं कि यहाँ वीर-रस का वर्णन होने से वीर-रस-ध्वनि की शंका होती है। इसका समाधान यह है कि अरण्य का वर्णन होने से राम के उत्साह का वर्णन उसका अंग होकर आया है अतः यहाँ वीर-रस-ध्वनि नहीं है। माणिक्यचन्द्र लिखते हैं कि यहाँ रसवदलंकार की भी शंका होती है। परन्तु मम्मट ने 'महतां चोपलक्षणम्' कहकर द्वितीय-उदात्त ही माना है।[४]

काव्यप्रदीप –गोविन्द ठक्कुर ने 'उदात्त' अलंकार का विवेचन मम्मट की भाँति ही किया है। संकेतकार की भाँति 'स्वभावोक्ति' और 'भाविक' अलंकार का अन्तर स्पष्ट नहीं किया है। अतः इस अलंकार के विवेचन में नवीनता नहीं है।

उद्योत—उद्योत टीका में नागेश भट्ट ने यह स्पष्ट किया है कि सम्बन्धातिशयोक्ति उदात्त अलंकार का पोषण करती है। नागेश भट्ट ने अप्पय्य दीक्षित के 'अत्युक्ति' अलंकार का खण्डन करते हुए इसे 'उदात्त' अलंकार से पृथक नहीं माना है।

'उदात्त' अलंकार के विवेचन में गोविन्द ठक्कुर की मौलिकता नहीं है।

समुच्चय

मम्मट का लक्षण है—'तत्सिद्धहेतावेस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत्। समुच्चयोऽसौ ।' अर्थात् जिस अलंकार में उस प्रस्तुत कार्य के एक साधक के

---

१. २. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५०५ ५०६

३. ४. संकेत, पृ० २६५

स्थित होने पर अन्य साधकों का कथन किया जाता है। उदाहरण है—'दुर्वाराः······शठः ।'[१]

मम्मट लिखते हैं कि यह 'समुच्चय' ही (रुद्रट' आदि निर्दिष्ट), सद्योग, असद्योग और सदसद्योग में घटित होता है। अतएव यहाँ पृथक्-पृथक् लक्षण नहीं दिया गया। उदाहरण है—सद्योग का 'कुलममलिनं······कृशाः ।'[२]

सदसद्योग का 'शशी······मे ।'[३]

संकेत—माणिक्यचन्द्र ने 'समुच्चय' और 'समाधि' में अन्तर स्पष्ट किया है। 'समाधि' अलंकार में एक कारण कार्य का पूर्णतया साधक होता है दूसरा केवल काकतालीय न्याय से आ जाता है। 'समुच्चय' में सभी कारण एक साथ कार्य करते हैं। माणिक्यचन्द्र ने समुच्चय के तीनों प्रकारों की चर्चा की है।[४]

१. 'कुलममलिनं······' उदाहरण में निर्मल कुछ आदि का सुन्दर-शोभन शरीर आदि के साथ समुच्चय है। यहाँ दर्प रूप हेतु में प्रत्येक का निवन्धन हुआ है।

२. 'दुर्वाराः······' उदाहरण में अशोभन का अशोभन से समुच्चय है। यहाँ काम के वाण सहने में कठिन होने के कारण अशोभन है। इनका उसी प्रकार के 'प्रियतम के दूर होने' आदि से समुच्चय है।

३. 'शशी······शल्यानि मे' उदाहरण की विस्तृत चर्चा की है। प्रस्तुत उदाहरण सत्-असत् का—शोभन-अशोभन का—उसी प्रकार सत्-असत् से समुचित होकर सदसद्योग का उदाहरण है। प्रस्तुत उदाहरण में चन्द्रमा शोभन है किन्तु दिन में कान्तिहीनता से अशोभन है। इसी प्रकार कामिनी आदि शोभन है किन्तु गलित-यौवना होने से अशोभन है। इसी प्रकार अनेक व्यथाकृत् हेतुओं का ग्रहण किया गया है। यहाँ 'नृपाङ्गणगत' की व्याख्या की गई है और उसमें शंका की गई है कि राजदरबार में रहने वाला दुष्ट पुरुष अशोभन है और शेष सभी शोभन है फिर क्यों न दिन के म्लान चन्द्रमादि का उसी प्रकार अशोभन राजदरबार के दुष्ट पुरुष के साथ योग मान लिया जाए। माणिक्यचन्द्र लिखते हैं कि यह शंका अमान्य है क्योंकि शशी आदि प्रथम छह को शोभन और अन्तिम 'राजदरबार के दुष्ट पुरुष' को अशोभन मानने पर प्रक्रम-भंग दोष होगा। दूसरे आचार्यों ने इसमें 'सहचर-भिन्न' अर्थदोष माना

---

१. २. ३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ५०७, ५०८, ५०९

४. संकेत, पृ० २६७

है यदि प्रस्तुत उदाहरण में राजदरबार में रहने के नाते शोभन और दुष्ट होने के नाते अशोभन माना जाए तब भी विशेष्य का शोभन होना और विशेषण का अशोभन होना प्रकरण प्राप्त था परन्तु अन्त में 'राजदरबार का दुष्ट पुरुष' उल्टा होना से यह अंश दोषयुक्त हो गया। संकेतकार का कथन है कि यहाँ पूर्व उदाहरण ('दुर्वाराः स्वरमार्गणाः') के विषय में भी यह शंका हो सकती है कि 'काम के दुर्वार बाण' में भी उपर्युक्त उदाहरण की तरह सदसद्योग क्यों न माना जाए? नहीं, क्योंकि 'दुर्वार......' उदाहरण में शोभन कहना विवक्षित है। अतः दोनों में अन्तर है। इसलिए एक जगह उपसंहार करते हुए कहा है 'दिल के सात घाव हैं' क्योंकि शोभन के रूप में दिल में रहने पर भी व्यथा ही देते हैं। पर दूसरे स्थल में 'कैसे सहा जाए' यह सर्वथा अशोभन होने के अभिप्राय से ही कहा गया है।[1]

माणिक्यचन्द्र ने यह विवेचन रुय्यक के 'समुच्चय' अलंकार के विवेचन के समान किया है।

बालचित्तानुरंजनी—श्री नरहरि सरस्वतीतीर्थ ने भी बालचितानुरंजनी टीका में स्पष्ट किया है कि 'दुर्वारः......इत्थं शठः' उदाहरण में 'सदसद्योग' का अतिप्रसंग नहीं है परन्तु 'शशी दिवसधूरो......' उदाहरण में शोभनत्व की प्रसिद्धि का अभाव है।[2]

सारबोधिनी—सारबोधिनी में श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य ने 'समुच्चय' और 'काव्यलिंग' में अन्तर स्पष्ट किया हैं। 'काव्यलिंग' में हेतुहेतुमद्भावमात्र का कथन होता है, वहाँ हेतुओं का गुणप्रधान भाव या एकत्व-अनेकत्व का विचार नहीं होता। 'समुच्चय' में कार्य करने में असमर्थ हेतुओं का सहभाव होता है।[3]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने काव्यप्रदीप टीका में 'समुच्चय' अलंकार का लक्षण मम्मट की भाँति ही दिया है और लिखा है कि सद्योग, असद्योग तथा

---

१. संकेत, पृ० २६७

२. 'न च दुर्वारा इत्यादावपि सदसद्योगत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम् शशिदिवसमार्गणादीनां स्वतः शोभनत्वस्य प्रसिद्धयभावात्।'
(बालचित्तानुरंजनी, पृ० ४२४)

३. 'काव्यलिङ्गे हेतुहेतुमद्भावमात्रं विवक्षितम्। न पुनर्हेतूनां गुणप्रधानभावमात्रचिन्ता। अत्र त्वेकस्यैवैतत्कार्यकारित्वेऽन्ये त्वेतत्सहाय्यकं कुर्वन्ति ततो भेदः।' (सारबोधिनी, पृ० ४२३)

सदसद्योग में 'समुच्चय' ही घटित होता है। अतएव जिस आचार्य ने इनका पृथक्-पृथक् लक्षण किया है वह अयुक्त है। गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ उस आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है जिन्होंने सद्योग असद्योग और सदसद्योग का पृथक् लक्षण दिया है।

'कुलमलिनं……' उदाहरण में कुल निर्मलता आदि शोभन कारणों का समुच्चय है।

'दुर्वाराः…… उदाहरण में 'स्मरमार्गण' आदि अशोभनों का समुच्चय है।

प्रदीपकार ने शोभन और अशोभन के लिए 'समीचीनानाम्' का प्रयोग किया है।

'शशी दिवसधूसरो…….' उदाहरण की विशेष चर्चा की है। गोविन्द ठक्कुर ने 'सदसद्योग' में द्वन्द्व समास माना है जिसका अभिप्राय हुआ शोभन और अशोभनों का योग। प्रस्तुत उदाहरण में दुर्जन (राजदरबार का दुष्ट पुरुष) अशोभन है और शशी आदि शोभन। यह उदाहरण चिन्तनीय है। पूर्वोक्त उदाहरण 'दुर्वारा……शठः' में गोविन्द ठक्कुर ने यह बताने का प्रयास किया है कि जिस प्रकार यहाँ 'प्रियतम' यह शोभन है परन्तु प्रियतम की दूर स्थिति होने से अशोभन है। इसी प्रकार 'शशी……में' उदाहरण में चन्द्रमा स्वतः शोभन है परन्तु दिन में कान्तिहीन होने से अशोभन है। अतः यह उदाहरण 'असद्योग' का है 'सदसद्योग' का नहीं।[1]

संकेत टीका के विवेचन में इस प्रकार की मान्यताओं का खण्डन किया जा चुका है। गोविन्द ठक्कुर के टीकाकारों ने भी प्रदीप के इस कथन का खण्डन किया है।

प्रभा—'सदसद्योग' में गोविन्द ठक्कुर ने द्वन्द्व समास माना है परन्तु वैद्यनाथ ने कर्मधारय समास माना है। 'शशी…… मे' उदाहरण को 'सदसद्योग' का ही माना है, गोविन्द ठक्कुर की मान्यता का खण्डन किया है। असद्योग के उदाहरण 'दुर्वाराः……', का 'सदसद्योग' के उदाहरण 'शशी……' से अन्तर स्पष्ट किया है। 'दुर्वारा' उदाहरण में प्रियतम को छोड़कर सभी वस्तुएँ अनुपादेय (असत्) हैं। प्रियतम का स्वाभाविक रूप में सत् होने पर भी विरह की असहिष्णुता है अतः कवि का अभिप्राय अशोभन की विवक्षा से है। परन्तु 'शशीदिवसधूसरो' उदाहरण में शोभन का सत् धूसर आदि के द्वारा अशोभन होना ही विवक्षित है। उपसंहार में पूर्वोक्त उदाहरण 'दुर्वार' में

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३६५

'कथं सोढव्य' यह सर्वथा अशोभन होने के अभिप्राय से ही कहा गया है। 'शशीदिवस' उदाहरण में उपसंहार में कहा गया है 'दिल के सात घाव हैं' क्योंकि शोभन के रूप में दिल में प्रविष्ट होने पर भी व्यथा ही देते हैं। इस प्रकार दोनों उदाहरणों का अन्तर स्पष्ट करते हुए वैद्यनाथ ने गोविन्द ठक्कुर के मत का खण्डन किया है।[1]

वैद्यनाथ ने 'समाधि' और 'समुच्चय' अलंकार में अन्तर स्पष्ट किया है।

उद्योत - 'उद्योत' टीका में नागेश भट्ट ने 'समुच्चय' अलंकार का 'समाधि' और 'काव्यलिंग' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है। (अन्तर का स्पष्टीकरण 'संकेत' टीका और 'सारबोधिनी' में किया जा चुका है।)

'सदसद्योग' में नागेश भट्ट ने कर्मधारय समास माना है जिसका अभिप्राय है शोभन और अशोभन दोनों धर्मों से युक्त वस्तुओं का योग। नागेश भट्ट ने भी गोविन्द ठक्कुर के 'शशी''''मे' (असदसद्योग उदाहरण) उदाहरण को असद्योग और द्वन्द्व समास से मानने का खण्डन किया है। नागेश भट्ट लिखते हैं कि 'शशीदिवसधूरो'''' उदाहरण में यदि द्वन्द्व समास से 'शोभन और अशोभन वस्तुओं का योग' माना जाए तो यहाँ 'सहचरभिन्नत्व' दोष होता है या भग्नप्रक्रमता दोष होता है। 'भग्नप्रक्रमता' दोष इसलिए है कि अन्यत्र तो शोभन रूप वस्तुएं विशेष्य रूप से उपनिबद्ध हैं और अशोभन वस्तुएं विशेषण रूप से किन्तु 'नृपाङ्गनपतः खलः' में प्रक्रम उलट गया है यहाँ विशेषण का शोभन और विशेष्य का अशोभन होने से 'भग्नप्रक्रमत्व' दोष है। नागेश भट्ट लिखते है कि 'नृपांगणमद्युतमिति' पाठ होने से दोष परिहार हो जाता है।[2]

इस प्रकार 'समुच्चय' अलंकार की विशेष चर्चा की गई है। सभी टीकाकारों ने 'समुच्चय' का 'समाधि' और 'काव्यलिंग' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है। 'सदसद्योग' का उदाहरण विशेष चर्चा का विषय बना। माणिक्यचन्द्र ने रुय्यक के प्रभावस्वरूप इस उदाहरण की विवेचना में अनेक शंकाओं का निवारण किया है। गोविन्द ठक्कुर का मत प्रस्तुत उदाहरण के विषय में सभी टीकाकारों से भिन्न है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर के मत को आदर प्राप्त नहीं हुआ यहाँ तक की स्वयं उनके टीकाकारों ने उनके मत की आलोचना की है।

---

१. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३६९

२. उद्योत, पृ० १४७

पर्याय

मम्मट का लक्षण है—'एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः' वृत्ति में स्पष्ट किया है कि जहाँ एक ही वस्तु क्रमशः अनेकों में होती है या की जाती है वह 'पर्याय' अलंकार है। मम्मट ने तीन उदाहरण दिए हैं—

१. 'नन्वाश्रयस्थिति···खलानाम्।'[१]

२. 'विम्बोष्ठ···लक्ष्यते।'[२]

३. 'ततेषां···कुसुमबाणेन।'[३]

संकेत—माणिक्यचन्द्र ने संकेत टीका में स्पष्ट किया है कि 'पर्याय' अलंकार के लक्षण में प्रयुक्त 'क्रमेण' शब्द 'विशेषालंकार' वारण के लिए है। 'विशेषालंकार' में एक का अनेक में पाया जाना वर्णित है लेकिन क्रमशः नहीं। 'पर्याय' अलंकार के उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त माणिक्यचन्द्र ने 'श्रोणीवन्ध···यौवनेन' उदाहरण की भी चर्चा की है। सम्भवतः यह उदाहरण काव्यप्रकाश के प्राचीन संस्करण में मिलता हो।[४] उदाहरण को स्पष्ट करते हुए संकेतकार लिखते हैं कि प्रस्तुत उदाहरण में एक पदार्थ का क्रमशः दो आश्रयों में होना वर्णित है। प्रथम पंक्ति में 'तनुत्व' को क्रमशः श्रोणीभाग तथा मध्यभाग में वताया है। द्वितीय पंक्ति में 'तरलगति' की पाद और लोचन में स्थिति बताई है।

'नन्वाश्रय' उदाहरण में एक की अनेक में स्थिति बताई है। यही दोनों उदाहरणों में अन्तर है।[५]

दीपिका—दीपिका टीका में चण्डीदास ने वृत्ति में प्रयुक्त 'भवति' और 'क्रियते' शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया है। 'भवति' शब्द से अभिप्राय है जहाँ प्रयोजक का निर्देश नहीं होता है तथा 'क्रियते' से अभिप्राय है जहाँ प्रयोजक का निर्देश होता है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'पर्याय' अलंकार की विस्तृत व्याख्या की है। जिस प्रकार माणिक्यचन्द्र ने 'पर्याय' अलंकार का 'विशेषालंकार' से अन्तर स्पष्ट किया है उसी प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने लक्षण में प्रयुक्त 'क्रमेण'

---

१. २. ३. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५१३, ५१४, ५१५

४. 'श्रोणीबन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः। पद्भयां मुक्तास्तरलगतयः संश्रितां लोचनाभ्याम्॥ धत्ते वक्षः कुचसचिवतामद्वितीयं च वक्त्रं। तद्गात्राणां गुणविनिमयः कल्पितो यौवनेन।' (संकेत, पृ० २६९)

५. संकेत, पृ० २६९

शब्द-प्रयोग से 'पर्याय' और 'समुच्चय' का अन्तर बताया है—अत्र क्रमेणेति समुच्चय व्यावर्तनाय।' चण्डीदास की भाँति 'भवति' और 'क्रियते' शब्दों को स्पष्ट किया है। 'भवति' शब्द से अभिप्राय है 'प्रयोजकानिर्देशः'। अर्थात् यहाँ प्रयोजक का निर्देश नहीं होता तथा अस्वाभाविक स्थिति होती है। यदि 'भवति' का अर्थ 'स्वाभाविक' स्थिति लिया जाए तो 'नन्वाश्रय···' उदाहरण में 'पर्याय' अलंकार का लक्षण घटित नहीं होगा क्योंकि 'कालकूट' विष की शिव के कण्ठ में स्वाभाविक स्थिति नहीं है। 'कालकूट' आदि की क्रमशः अनेक स्थानों में स्थिति प्रयोजक के विना ही बताई है।[1]

'बिम्वोष्ट···' उदाहरण के द्वारा गोविन्द ठक्कुर ने यह स्पष्ट किया है कि यहाँ वस्तु की वास्तविक एकता विवक्षित नहीं है, अतएव जहाँ कल्पित एकता है वहाँ भी 'पर्याय' अलंकार होता है। प्रस्तुत उदाहरण भी प्रयोजक निर्देश का है। यहाँ ओष्ठ में राग के दोनों अर्थों (लालिमा और और प्रेम) में अभिन्न रूप में एकता मान लेने से दोनों की एकता में विरोध नहीं। 'क्रियते' द्वारा स्पष्ट किया है कि जहाँ प्रयोजक का निर्देश होता है।

'तत्तेषां···' उदाहरण में 'कुसुमबाणेन' अर्थात् कामदेव प्रयोजक है।

गोविन्द ठक्कुर ने 'श्रोणीवन्धस्त्यजति' उदाहरण की चर्चा नहीं की है।

'उद्योत' तथा 'प्रभा' टीकाओं में विशेष व्याख्या नहीं की है।

द्वितीय पर्याय

मम्मट ने 'द्वितीय-पर्याय' का लक्षण दिया है कि जहाँ अनेक वस्तुएँ एक में क्रमशः होती हैं या की जाती हैं वह अन्य पर्याय अलंकार है। मम्मट ने इसके दो उदाहरण दिए हैं—

१. 'मधुरिमरुचिरं···तदेव।'[2]

२. 'तदगेहं···समारोपितः।'[3]

द्वितीय उदाहरण में मम्मट ने स्पष्ट किया है कि यहाँ पर एक ही का लेन-देन विवक्षित नहीं है अतः परिवृत्ति अलंकार नहीं है।

संकेत—संकेत टीका में माणिक्यचन्द्र लिखते हैं कि 'क्रमशः' शब्द प्रयोग द्वारा 'समुच्चय' अलंकार का निराकरण किया है। तद्गेहं······' उदाहरण में 'परिवृत्ति' अलंकार का खण्डन किया है। माणिक्यचन्द्र का कथन है कि यहाँ घर आदि का त्याग किया गया है किसी अन्य के द्वारा उसका ग्रहण नहीं

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३६६

२. ३. काव्यप्रकाश, उदाहरण ५१६, ५१७

किया गया, अतः पर्याय-अलंकार है। 'परिवृत्ति' अलंकार में जो एक के द्वारा दिया जाता है वह दूसरे के द्वारा लिया जाता है। यही दोनों में अन्तर है।[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'प्रथम-पर्याय' अलंकार की भाँति 'द्वितीय-पर्याय' अलंकार का स्पष्टीकरण किया है। 'पूर्ववद्वयाख्येयम्' से गोविन्द ठक्कुर का अभिप्राय है कि प्रथम-पर्याय के उदाहरणों में जिस प्रकार 'भवति' और 'क्रियते' द्वारा विवेचन किया गया है वैसे ही द्वितीय-पर्याय के उदाहरणों का विवेचन है। 'मधुरिमेति' उदाहरण में खलवचनरूप एक ही आधार में 'अमृतव्यंजना' और 'विषकथनं' की क्रमशः स्थिति का वर्णन है और प्रयोजक का निर्देश नहीं है। 'तद्गेहं...' उदाहरण में प्रयोजक का निर्देश है। एक ही द्विज में अनेक मन्दिर आदि का सम्बन्ध दिखाया है।

'परिवृत्ति' अलंकार का निषेध मम्मट की भाँति ही किया है—'न चेयं परिवृत्तिः' हानोपादानयोरविवक्षितत्वात्।'

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने माणिक्यचन्द्र आदि टीकाकारों की अपेक्षा 'पर्याय' अलंकार के उदाहरणों की स्पष्ट व्याख्या की है।

अनुमान

मम्मट का लक्षण है 'अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः।' अर्थात् जहाँ साध्य और साधन भाव का कथन किया जाता है। वृत्ति में स्पष्ट किया है कि रूपत्रयहेतु ही साधक कहलाता है। रूपत्रय है—१. पक्षधर्म, २. सपक्ष में रहना, ३. विपक्ष में न रहना।

उदाहरण है 'यत्रैता...स्मरः।'[2]

अन्त में स्पष्ट किया है कि साध्य और साधन का पूर्व-अपर भाव बदल जाने पर कोई चमत्कार नहीं होता अतः वैसा भेद नहीं किया गया है।

संकेत—संकेत टीका में माणिक्मचन्द्र ने स्पष्ट किया है कि केवल प्रौढोक्ति (कविकल्पना) से सिद्ध अर्थ पर अवलम्बित होने से और एक विशेष प्रकार के सौन्दर्य पर निर्भर होने से इस अलंकार में वैलक्षणता होती है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'अनुमान' अलंकार का विवेचन मम्मट की भाँति किया है। प्रदीपकार ने 'अनुमान' के दो प्रकारों की चर्चा की है प्रथम प्रकार का उदाहरण 'यत्रैता...स्मरः' है। यहाँ पूर्वार्ध में युवतियों द्वारा भौंह चलाने पर बाण का गिरना साधन का कथन है, उत्तरार्ध में रमणियों

---

१. संकेत, पृ० २७०

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५१८

के आगे कामदेव का दौड़ना साध्य का वर्णन होने से 'अनुमान' अलंकार है। द्वितीय प्रकार में साधन के समान साध्य का पूर्व कथन किया जाता है। उदाहरण दिया है 'मधुतिष्ठति वाचि योषिताम्।' परन्तु गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं 'अनुमान' के द्वितीय प्रकार साध्य के पूर्व-कथन में वैचित्र्य का अभाव है, अतएव इस प्रकार के कथन में विशेषता नहीं है।[१]

उद्योत—नागेश भट्ट ने भी उद्योत टीका में स्पष्ट किया है कि यह साध्य-साधन भाव लोकसिद्ध नहीं अपितु कवि-प्रतिभा द्वारा कल्पित है। व्याकरणिक दृष्टि से अनुमान की व्युत्पत्ति की चर्चा की है कि यह अनुपूर्वक मा धातु से ल्युट्-प्रत्यय करने पर बनता है।[२]

नागेश भट्ट ने 'अनुमान' एवं 'उत्प्रेक्षा' अलंकार का अन्तर स्पष्ट किया है। जहाँ हेतु और साध्य की विद्यमानता वो वहाँ मन्ये, शंके, अवैमि आदि पद 'अनुमान' के बोधक होते हैं। जहाँ हेतु-साध्य की विद्यमानता न हो और सादृश्य आदि 'उत्प्रेक्षा' के निमित्त हों वहाँ वह 'उत्प्रेक्षा' बोधक होते हैं। 'अनुमान' अलंकार के विषय में यह समझना चाहिए कि जहाँ मन्ये, शंके आदि वाचक पदों का ग्रहण किया गया हो वहाँ 'अनुमानालंकार' वाच्य कहलाएगा। जहाँ 'वक्ति' 'कथयति' आदि लक्षक पदों का ग्रहण हो वहाँ 'अनुमानालंकार' लक्ष्य माना जाएगा। जहाँ दोनों में से एक का भी ग्रहण न हो तथा साध्य द्वारा अनुमिति का आक्षेप होता है वहाँ 'अनुमानालंकार' प्रतीयमान होता है।[३]

नागेश भट्ट ने आचार्य रसगंगाधर के 'अर्थापत्ति' को पृथक् अलंकार मानने का खण्डन किया है। उद्योतकार का कथन है कि 'अर्थापत्ति' अलंकार का अन्तर्भाव तृतीय अतिशयोक्ति या अनुमान अलंकार में हो जाता है। 'स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः' उदाहरण 'अनुमान' अलंकार का है और 'त्वाग्रे यदि दारिद्र्यं' उदाहरण तृतीय अतिशयोक्ति का है 'अर्थापत्ति' अलंकार के यह उदाहरण नहीं है।[४]

निष्कर्ष रूप से यह कह सकते हैं कि 'अनुमान' अलंकार का विवेचन गोविन्द ठक्कुर की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। नागेश भट्ट ने 'अनुमान'

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३६८-३६९

२. उद्योत, पृ० १५४

३. वही, पृ० १५४

४. वही, पृ० १५५

अलंकार की विशेष चर्चा की है। माणिक्यचन्द्र और नागेश भट्ट ने 'अनुमान' अलंकार में प्रमुख रूप से यह स्पष्ट किया है कि जहाँ साध्य-साधन लोकसिद्ध न होकर कवि-कल्पना सिद्ध हो तो वह ही 'अनुमान' अलंकार का विषय है तथा साध्य-साधन भाव में चमत्कार-जनकता होनी चाहिए। नागेश भट्ट ने 'उत्प्रेक्षा' और 'अनुमान' अलंकार में परस्पर अन्तर स्पष्ट किया है एवं 'अर्थापत्ति' अलंकार का खण्डन किया है।

परिकर

मम्मट का लक्षण है 'विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः।' अर्थात् जहाँ अभिप्राययुक्त विशेषणों के द्वारा विशेष्य की परिपुष्टि होती है।

उदाहरण है—'महौजसो ̈ ̈समीहितुम्।'[1]

यद्यपि अपुष्टार्थत्व को दोष कहा गया है अतः पुष्टार्थत्व दोषाभावमात्र है फिर इसका अलंकारों में पाठ क्यों किया है? 'तथापि' द्वारा इस शंका का समाधान किया है कि साभिप्राय विशेषणों के ग्रहण से विशेष चमत्कार की अनुभूति होती है इसलिए 'परिकर' अलंकार रूप में कथन किया गया है।

संकेत – संकेत टीका में माणिक्यचन्द्र ने स्पष्ट किया है कि यहाँ व्यंग्य अंश के वाच्य के प्रति उन्मुख रहने से यह ध्वनि का विषय नहीं है। 'परिकर' यह नाम सार्थक है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'परिकर' अलंकार में मम्मट से विरुद्ध लक्षण दिया है। मम्मट ने अनेक साभिप्राय विशेषणों के होने पर ही 'परिकर' अलंकार माना है। गोविन्द ठक्कुर के अनुसार एक साभिप्राय विशेषण के होने पर भी 'परिकर' हो सकता है। यहाँ यह शंका उठती है कि प्रयोजन विहीन विशेषण के ग्रहण में 'अपुष्टार्थता' नामक दोष होता है, तब तो प्रयोजनयुक्त विशेषण का होना केवल दोष का अभाव है। अतएव 'परिकर' अलंकार नहीं केवल दोष का अभाव है। गोविन्द ठक्कुर द्वारा शंका का समाधान किया गया है कि अपुष्टार्थदोष के अभाव के कारण जहाँ एक भी विशेषण का साभिप्राय प्रयोग, हो वहाँ चमत्कार विशेष के कारण परिकरत्व की उपपत्ति होती है।[2]

प्रभा—प्रभा में वैद्यनाथ ने प्रदीपकार के भाव को अधिक स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं कि यद्यपि अपुष्टार्थता दोषाभावात्मक पुष्टार्थता और परिकर

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ५१९

२. काव्यप्रदीप, पृ० ३६९

अलंकार दोनों का विषय एक साभिप्राय विशेषण ही है, इसमें कोई संदेह नहीं। परन्तु इन दोनों लक्षणों के विषय पृथक्-पृथक् प्राप्त हैं फिर भी कुछ स्थानों पर अपुष्टार्थत्व दोष एवं परिकर अलंकार संयुक्त रूप से उपस्थित हो सकते हैं किन्तु मूलतत्व जो दोष के अनुपस्थित एवं अलंकार के उपस्थित होने का कारण दर्शाते हैं वह 'वैचित्र्य' है। अभिप्राय यह है कि पुष्टार्थतारूप दोषाभाव और परिकर अलंकार के एक उदाहरण में समाविष्ट होने पर भी उपधेय का सांकर्य भले ही हो जाए उपाधि का सांकर्य नहीं होता।[1]

उद्योत—नागेश भट्ट ने भी स्पष्ट किया है कि एक विशेषण के साभिप्राय होने पर परिकर अलंकार होता है। जैसे 'अयि लावण्यजलाशय' उदाहरण में नायक के एकमात्र विशेषण 'लावण्यजलाशय' से और नायिका के भी एकमात्र विशेषण 'मीननयना' से पूरा वाक्यार्थ चमत्कार हो उठा है।

'सुधांशुकलितोतंस'''उदाहरण में नागेश भट्ट ने स्पष्ट किया है कि यद्यपि यहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है तथापि यह ध्वनि काव्य का उदाहरण नहीं है।

नागेश भट्ट ने अप्पय्य दीक्षित के 'परिकराङ्कुर' अलंकार का खण्डन किया है। नागेश भट्ट लिखते हैं कि जहाँ विशेष्य का प्रयोग साभिप्राय हो वहाँ परिकर अलंकार है। उदाहरण है—'चतुर्णां पुरुषर्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः।' यह लक्षण और उदाहरण अप्पय्य दीक्षित ने 'परिकराङ्कुरालंकार' का दिया है। नागेश भट्ट लिखते हैं कि यहाँ चतुर्भुज विशेष्य इस अभिप्राय से गर्भित है कि विष्णु चार हाथ वाले होने के कारण चारों पुरुषार्थों को देने में समर्थ हैं। अतएव 'परिकरांकुर' पृथक् अलंकार है।

सुधासागर—सुधासागर में भीमसेन दीक्षित का मत है कि केवल विशेष्यांश कभी भी साभिप्राय नहीं हो सकता। अतः विशेषणों के साभिप्राय होने पर ही 'परिकर' अलंकार होता है।

इस प्रकार परिकर अलंकार में गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट से भिन्न विवेचन किया है। प्रभा और उद्योत टीका में गोविन्द ठक्कुर के भाव का समर्थन है कि एक साभिप्राय विशेषण के होने पर भी 'परिकर' हो जाता है। परन्तु नागेश भट्ट ने यह भी स्पष्ट किया है कि विशेष्य के साभिप्राय होने पर भी 'परिकर' अलंकार होता है।

---

१. प्रभा, काव्यप्रदीप, पृ० ३६६

२. उद्योत, पृ० १५७-१५८

व्याजोक्ति

मम्मट का लक्षण है—'व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नरूपवस्तुनिगूहनम् । अर्थात् जहाँ स्पष्ट रूप से प्रकट हुई वस्तु को किसी बहाने से छिपा लिया जाता है । मम्मट ने 'अपह्नुति' से अन्तर स्पष्ट किया हैं कि प्रकृत और अप्रकृत दोनों में स्थित साम्य का अभाव होने से, यह 'अपह्नुति' नहीं है ।

उदाहरण है—'शैलेन्द्रप्रतिपाद्य···शिवः ।'[1]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर तथा उनसे पूर्ववर्ती टीकाकारों ने मम्मट की भाँति ही 'व्याजोक्ति' का 'अपह्नुति' से अन्तर स्पष्ट किया है, जिसका अभिप्राय यही है कि 'अपह्नुति' में प्रकृत और अप्रकृत का साम्य होता है 'व्याजोक्ति' में इसका अभाव होता है । 'अपह्नुति' में गुप्त वस्तु को शब्दों द्वारा कहा जाता है, 'व्याजोक्ति' में स्वयं सद्भावना करनी होती है ।

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यदि यह कहा जाए कि जहाँ सादृश्य अपह्नव के लिए होता है वहाँ 'व्याजोक्ति' अलंकार होता है । परन्तु यह ठीक नहीं है । सादृश्य के कारण दोनों स्थलों पर 'अपह्नुति' ही है । उद्भट आदि आचार्यों ने 'व्याजोक्ति' अलंकार नहीं माना है । उनके अनुसार सादृश्य के लिए जो अपह्नव है वह 'अपह्नुति' है उसी प्रकार 'अपह्नव' के के लिए जो सादृश्य है वह भी अपह्नुति है ।[2]

'शैलेन्द्रप्रतिपाद्य' उदाहरण को मम्मट ने स्पष्ट किया है कि यहाँ रोमांच और कम्पन सात्त्विक अनुभाव के रूप में प्रकट हो रहे हैं किन्तु शीतलता के कारण से होने वाले कहे गए हैं अतएव उनका स्वरूप दिखाया गया है और 'व्याजोक्ति' के प्रयोजक हैं ।[3]

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यहाँ पार्वती विषयक शिवगत गूढ़ रतिभाव पुलक और कम्पन चिह्न द्वारा अभिव्यक्त हो रहा है । पुलक और कम्पन को शीतजन्य बतलाकर उस रतिभाव का निगूहन किया गया है; अतः 'व्याजोक्ति' अलंकार हैं ।

उद्योत—नागेश भट्ट ने 'उद्योत' टीका में अप्पय्य दीक्षित के अनेक अलंकारों का खण्डन किया हैं । उन अलंकारों का अन्तर्भाव नागेश भट्ट ने कहीं तो ध्वनि काव्य में किया, कहीं गुणीभूत व्यंग्य में, कहीं व्याजोक्ति में

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५२०

२. काव्यप्रदीप, पृ० ३७०

३. काव्यप्रकाश, पृ० ५६६

और किसी को अलंकार ही नहीं माना। जैसे 'गूढोक्ति' अलंकार का अन्तर्भाव ध्वनिकाव्य या गुणीभूतव्यंग्य काव्य में किया है। 'विवृतोक्ति' अलंकार को गुणीभूतव्यंग्य माना है। 'लोकोक्ति' को अलंकार नहीं माना। 'छेदोक्ति' अलंकार को भी अलंकार नहीं माना। 'युक्ति' अलंकार को व्याजोक्ति माना है। 'संभावन' अलंकार का अन्तर्भाव 'अतिशयोक्ति' में किया है।[1]

इस प्रकार 'व्याजोक्ति' अलंकार में गोविन्द ठक्कुर ने उद्भट आचार्य के मत का उल्लेख किया है। उदाहरण के स्पष्टीकरण में मम्मट से भिन्न दृष्टि-कोण दिया है। नागेश भट्ट ने अप्पय दीक्षित के अलंकारों का खण्डन किया है।

परिसंख्या

मम्मट का लक्षण है **'किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते।**
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता॥

वृत्ति में स्पष्ट किया है कि शास्त्रादि प्रमाणों द्वारा निश्चित वस्तु भी जब शब्द से प्रतिपादित होकर अन्य प्रयोजन न होने से अपने जैसी अन्य वस्तु का निराकरण कर देती है वह 'परिसंख्या' अलंकार है। 'परिसंख्या' अलंकार दो प्रकार का हैं—१. प्रश्नपूर्वक, २. अप्रश्नपूर्वक। वस्तु भी दो प्रकार की प्रतीयमान या वाच्य रूप में होती है—इस प्रकार 'परिसंख्या' अलंकार के चार भेद हो जाते हैं। क्रमशः इनके उदाहरण दिए हैं।[2]

काव्यप्रदीप—'परिसंख्या' अलंकार का विवेचन गोविन्द ठक्कुर तथा उनके पूर्ववर्ती टीकाकारों ने मम्मट की भाँति ही किया है। गोविन्द ठक्कुर ने आचार्य रुय्यक के प्रभावस्वरूप 'परिसंख्या' अलंकार के अन्त में यह स्पष्ट किया है कि श्लेष का योग होने से 'परिसंख्या' अलंकार में अत्यधिक सौन्दर्य आ जाता है। जैसे 'चित्रेषु वर्णसंकरः', 'खलसंयोगः शलिषु' इत्यादि उदाहरणों में। अन्यथा प्रस्तुत अलंकार में गोविन्द ठक्कुर की नवीनता का परिचय नहीं मिलता।

समाधि

मम्मट का लक्षण है 'समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः।' अर्थात् जहाँ आरंभ किया गया कार्य अन्य साधनों की सहायता से युक्त कर्त्ता द्वारा अनायास ही भली-भाँति कर लिया जाता है, वह 'समाधि' अलंकार है।

---

१. उद्योत, पृ० १५८, १५९, १६०
२. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५२१ से ५२४

उदाहरण है—'मानमस्या···घनगर्जितम् ।'[1]

सारबोधिनी—सारबोधिनी टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने 'समाधि' और 'समुच्चय' अलंकार का अन्तर स्पष्ट किया है। भट्टाचार्य का अभिप्राय है कि 'समाधि' में कार्य का अकस्मात् ही जाना प्रधानतया विवक्षित होता है। 'समुच्चय' में प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के एक साधक के रहते अन्य कारण का भी होना कहा जाता है। अतः 'समुच्चय' में 'कारणानामागम' ही तात्पर्य होता है अर्थात् सभी कारण एक साथ कार्य करते हैं। 'समाधि' में 'कार्य की सुकरता' ही तात्पर्य होता है अर्थात् अन्य कारण बाद में अकस्मात् ही आ जाते हैं यही दोनों में भेद है।[2]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'समाधि' शब्द की व्युत्पत्ति की चर्चा की है—'सम्यगाधिः समाधिरिति।' अर्थात् कार्य के अनायास ही सम्यक् सम्पादन का वर्णन। प्रदीपकार ने भी 'समाधि' और 'समुच्चय' की चर्चा करते हुए बताया है कि दोनों अलंकारों में एक से अधिक कारण किसी कार्य के उत्पादक होते हैं परन्तु फिर भी दोनों में भेद हैं। अत. 'समाधि' का 'समुच्चय' में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है।[3]

उद्योत—नागेश भट्ट 'समाधि' अलंकार का लक्षण स्पष्ट करते हैं कि किसी एक कारण से उत्पन्न होने वाले कार्य में जो अन्य आकस्मिक कारण के आ जाने से सुकुरता होती है उसको 'समाधि' अलंकार कहते हैं। यह सुकरता कहीं कार्य की अनायास सिद्धि के द्वारा होती है और कहीं कार्य की सांगसिद्धि द्वारा। 'कारणान्तरयोग' उपलक्षण है।

नागेश भट्ट ने 'कारणान्तरयोग' का स्पष्टीकरण कहते हुए अप्पय्य दीक्षित के 'प्रहर्षण' अलंकार का खण्डन किया है। नागेश भट्ट ने बताया कि निम्नलिखित दशाओं में 'समाधि' होती है—१. जहाँ किसी विशेष यत्न के बिना ही ईप्सित वस्तु की सिद्धि हो जाए। २. जहाँ अभिप्सित वस्तु से अधिक वस्तु की प्राप्ति हो। ३. जहाँ किसी विशेष वस्तु को प्राप्त करने के उपाय की सिद्धि के लिये किये गये यत्न से साक्षात् उसी वस्तु का लाभ हो जाए।[4]

---

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५३४

२. सारबोधिनी, पृ० ४३८

३. काव्यप्रदीप, पृ० ३७६

४. उद्योत पृ० १७५

अप्पय्य दीक्षित ने 'प्रहर्षण' अलंकार के तीन भेद बताते हुए यह लक्षण दिए हैं—१. 'उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम्। २ वाञ्छिता दधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम् ३. यत्नादुपायसिद्धयर्थात् साक्षाल्लाभः फलस्य च ।[1] परन्तु नागेश भट्ट ने 'समाधि' अलंकार में इन लक्षणों की चर्चा की है और 'प्रहर्षण' अलंकार का 'समाधि' में अन्तर्भाव माना है ।[1]

अप्पय्य दीक्षित के 'पूर्वरूप' नामक पृथक् अलंकार का भी नागेश भट्ट ने खण्डन किया है और इसे 'समाधि' से भिन्न नहीं माना है ।

इस प्रकार 'समाधि' अलंकार में नागेश भट्ट का विवेचन ही विवेचनीय है । गोविन्द ठक्कुर ने 'समाधि' का 'समुच्चय' से अन्तर स्पष्ट किया है ।

सम

मम्मट का लक्षण है 'समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् ।' अर्थात् जब किन्हीं वस्तुओं का सम्बन्ध औचित्य के कारण सर्वसम्मत बतलाया जाता है, वहाँ 'सम' अलंकार होता है ।

'सम' अलंकार दो प्रकार का है—१. दो शोभन पदार्थों के योग में, २. अशोभन पदार्थों के योग में । क्रमशः उदाहरण हैं—

१. 'धातुः······राज्यमेकातपत्रम् ।[2]'

२. 'चित्रं चित्रं···काकलोकः ।[3]

'सम' अलकार की चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के अनुसार की है । नागेश भट्ट के विवेचन में विशेषता यह है कि उन्होंने 'उद्योत' टीका में आचार्य जगन्नाथ के प्रभाव स्वरूप 'सम' अलंकार के अन्य भेद भी किए हैं । जैसे १. कारण से अपने गुण वाले कार्य का वर्णन । उदाहरण है—'मंत्रार्पित··· सुयोधनः ।'

२. जैसे गुण वाली वस्तु से संसर्ग हो वैसे गुण की उत्पत्ति । उदाहरण 'वडवामल ··प्राणवियोगकारणम्' ।[4] कहीं इष्ट की प्राप्ति के लिए कारण का प्रयोग किया गया हो उससे उस इष्ट की प्राप्ति हो । उदाहरण—'उच्चैर्गुजैरेटनमर्थयान···हि सेवा ।[5] अन्य दो भेदों की चर्चा मम्मट की भाँति की है ।

---

१. कुवलयानन्द पृ० २१९-२२०-२२१

२. ३. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५३५,—५३६

४. ५. उद्योत पृ० १७६-१७७

विषम

मम्मट का लक्षण है—क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स एव विषमो मतः ॥

अर्थात् विषम वह अलंकार माना गया है—१. जहाँ कहीं दो सम्बद्ध वस्तुओं का संबंध अतिविलक्षणता के कारण उपपन्न न हो सके, २. कर्त्ता को क्रिया के फल की प्राप्ति न हो प्रत्युत अनर्थ हो जाए। ३-४. जहाँ कार्य के गुण तथा क्रिया से कारण के गुण तथा क्रिया क्रमशः विरुद्ध हों।[1]

क्रमशः उदाहरण दिए हैं—

१. 'शिरीषादपि…मलयानलः ।'[2]

२. 'सिंहिकासुत…सिंहिकासुतः ।'[3]

३. 'सद्यः…प्रसूते ।'[4]

४. 'आनन्दममन्दमिमं…मे ।'[5]

५. 'विपुलेन…दृशा ।'[6]

संकेत, सारबोधिनी आदि टीकाओं में मम्मट की भाँति 'विषम' अलंकार की चर्चा की है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'विषम' अलंकार के संबंध में बताया है कि सूत्र में जो विषम अलंकार के चार भेद किए हैं वे उपलक्षण मात्र हैं। 'विषम' अलंकार के अन्य भेद हो सकते हैं। 'विपुलेन…' उदाहरण में अवयव और अवयवी दो संबंधियों के संबंध की विषमता है। शेष चर्चा मम्मट की भाँति है।

उद्योत—'विषम' अलंकार का विवेचन नागेश भट्ट ने विस्तृत रूप में किया है। 'विपुलेन…' उदाहरण की चर्चा में नागेश भट्ट ने दो प्रकार से 'विषम' अलंकार माना है—१. सागर-शयन और सागर-सहित चतुर्दश-भवनों का पान करना, यह विषम है। २. जिसकी कुक्षि ही चतुर्दश-भुवनों को पीने में समर्थ है उसका नयन-छोर मात्र से पिया जाना—यह विषम है।[7]

---

१. काव्यप्रकाश पृ० ५७६

२. ३. ४. ५. ६. काव्यप्रकाश, उदाहरण ५३७ से ५४१ तक।

७. उद्योत, पृ० १८०

नागेश भट्ट ने 'विषम' अलंकार का विरोध अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है। 'विरोध' अलंकार में विरोधी वस्तुओं का एक आधार में होना चमत्कारक होता है। 'विषम' में कार्य तथा कारण में विजातीय गुण तथा क्रिया का संबंध वर्णन ही चमत्कार करता है।[1]

नागेश भट्ट ने अप्पय्य दीक्षित के 'उल्लास' 'विषाद' 'अवज्ञा', 'विचित्र' आदि अलंकारों का खण्डन किया है और उनका अन्तर्भाव 'विषम' अलंकार में किया है।

नागेश भट्ट का कथन है कि जहाँ किसी अन्य वस्तु के गुण दोष से किसी अन्य वस्तु के गुण दोष का वर्णन किया जाए वहाँ 'विषम' नामक अलंकार ही होता है। वस्तुतः यह लक्षण अप्पय्य दीक्षित ने 'उल्लास' अलंकार का दिया है। परन्तु नागेश भट्ट लिखते हैं—'एतोनात्रोल्लासोऽतिरिक्त इत्यपास्तम्।'

इसी प्रकार अप्पय्य दीक्षित के 'विषादन' अलंकार के लक्षण को विषम अलंकार का ही बताते हैं कि जहाँ अभीप्सित अर्थ से विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति हो वहाँ 'विषम' अलंकार ही होता है। अतएव 'एतेनेदृशस्थले विषादनामाऽलंकार इत्यपास्तम्।[2]

जहाँ किसी एक के गुण दोष के कारण क्रमशः दूसरे के गुण दोष का लाभ न हो, वह 'विषम' अलंकार ही है। वस्तुतः अप्पय्य दीक्षित के अनुसार यह लक्षण 'अवज्ञा' अलंकार का है। परन्तु नागेश भट्ट लिखते हैं 'एतेनैवंविधे विषयेऽवज्ञाऽलंकारान्तरमित्यपास्तम्।[3]

जहाँ कोई व्यक्ति किसी फल की इच्छा से कोई यत्न करे परन्तु वह यत्न काव्य में इस प्रकार सन्निवेशित किया जाए कि वह इच्छा प्राप्ति से विपरीत हो तो वहाँ 'विषम' अलंकार होता है। अप्पय्य दीक्षित का यह लक्षण 'विचित्रालंकार' का है। परन्तु नागेश भट्ट लिखते हैं—'एतेनात्र विचित्रालंकारः पृथग्त्यिपास्तम्।'[4]

'विषम' अलंकार विवेचन में नागेश भट्ट की मुख्य चर्चा का विषय अप्पय्य दीक्षित के अलंकारों का खण्डन करके उनका 'विषम' अलंकार में समावेश करना है। अन्यथा 'विषम' अलंकार में कोई नवीनतता नहीं।

एकावली

मम्मट का लक्षण है—'स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।

---

१. उद्योत, पृ० १८०

२. ३. ४. वही, पृ० १८१

विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ।' अर्थात् जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तर-उत्तर वस्तु का अनेक बार विशेषण रूप में स्थापन या निषेध किया जाता, वहाँ 'एकावली' अलंकार है । उदाहरण हैं—

१. 'पुराणि···कुसुमायुधस्य ।'[1]

२. 'न तज्जलं···यन्मनः ।'[2]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'एकावली' अलंकार विवेचन में किसी अन्य आचार्य के एकावली लक्षण का उल्लेख किया है जिसके अनुसार 'जहाँ उत्तर-उत्तर पदार्थ के प्रति पूर्व-पूर्व वस्तु विशेषण रूप में स्थापति की जाती है या निषेध की जाती है वहाँ 'एकावली' अलंकार है' । परन्तु गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यह लक्षण मम्मट के लक्षण के विरुद्ध होने के कारण मान्य नहीं है । प्रदीपकार ने मम्मट के लक्षण में प्रयुक्त 'स्थाप्यते' का अभिप्राय 'विधि' और 'अपोहो' का निषेध किया है । अतः 'एकावली' का अभिप्राय है कि जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तर उत्तर वस्तु का अनेक बार (बाहुल्येन) विधान या निषेध किया जाता है वह 'एकावली' अलंकार है ।[3]

'पुराणि यस्य···' उदाहरण स्थापक विषयक उदाहरण है । जहाँ कि अन्तःपुरों का वराङ्गनायें, उनका शरीर के विशेषण द्वारा रूप, उसके विलास तथा उन विलासों का आस्त्र, इस क्रम से विशेषण रूप में स्थापन किया गया है ।

'न तज्जलं···' उदाहरण अपोहक विषयक है । यहाँ जल में पंकज की, पंकज में षट्पदों की, षट्पद में गुंजन की, और उसमें मनोहारिता की विशेषणता के उत्तरोत्तर निषेध की योजना है ।

प्रभा—गोविन्द ठक्कुर ने 'एकावली' लक्षण में 'कश्चित्तु' से जो अन्य लक्षण की चर्चा की है, वैद्यनाथ भी उस लक्षण का निषेध करते हुए लिखते हैं कि यह लक्षण मम्मट के सूत्र के अनुसार नहीं है तथा मम्मट द्वारा उद्धृत 'पुराणि यस्यां' उदाहरण में भी इस लक्षण की अव्याप्ति है ।

उद्योत—नागेश भट्ट ने उद्योत टीका में यह स्पष्ट किया है कि जहाँ पूर्व-पूर्व पदार्थ उत्तर-उत्तर के प्रति विशेषण होता है वह भी 'एकावली' का एक प्रकार है । उदाहरण दिया है —'धर्मेण बुद्धिस्तत···कीर्तिः ।' यहाँ उत्तरोत्तर विशेषण पूर्व-पूर्व के प्रति विशेष्य है । नागेश भट्ट लिखते हैं कि 'एकावली' के

---

१. २. काव्यप्रकाश, उदाहरण ५४८, ५४९

३. काव्यप्रदीप, पृ० ३८७

नागेश भट्ट ने 'विषम' अलंकार का विरोध अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है। 'विरोध' अलंकार में विरोधी वस्तुओं का एक आधार में होना चमत्कारक होता है। 'विषम' में कार्य तथा कारण में विजातीय गुण तथा क्रिया का संबंध वर्णन ही चमत्कार करता है।[1]

नागेश भट्ट ने अप्पय्य दीक्षित के 'उल्लास' 'विषाद' 'अवज्ञा', 'विचित्र' आदि अलंकारों का खण्डन किया है और उनका अन्तर्भाव 'विषम' अलंकार में किया है।

नागेश भट्ट का कथन है कि जहाँ किसी अन्य वस्तु के गुण दोष से किसी अन्य वस्तु के गुण दोष का वर्णन किया जाए वहाँ 'विषम' नामक अलंकार ही होता है। वस्तुतः यह लक्षण अप्पय्य दीक्षित ने 'उल्लास' अलंकार का दिया है। परन्तु नागेश भट्ट लिखते हैं—'एतोनात्रोल्लासोऽतिरिक्त इत्यपास्तम्।'

इसी प्रकार अप्पय्य दीक्षित के 'विषादन' अलंकार के लक्षण को विषम अलंकार का ही वताते हैं कि जहाँ अभीप्सित अर्थ से विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति हो वहाँ 'विषम' अलंकार ही होता है। अतएव 'एतेनेदृशस्थले विषादनामाऽलंकार इत्यपास्तम्।[2]

जहाँ किसी एक के गुण दोष के कारण क्रमशः दूसरे के गुण दोष का लाभ न हो, वह 'विषम' अलंकार ही है। वस्तुतः अप्पय्य दीक्षित के अनुसार यह लक्षण 'अवज्ञा' अलंकार का है। परन्तु नागेश भट्ट लिखते हैं 'एतेनैवंविधे विषयेऽवज्ञाऽलंकारान्तरमित्यपास्तम्।[3]

जहाँ कोई व्यक्ति किसी फल की इच्छा से कोई यत्न करे परन्तु वह यत्न काव्य में इस प्रकार सन्निवेशित किया जाए कि वह इच्छा प्राप्ति से विपरीत हो तो वहाँ 'विषम' अलंकार होता है। अप्पय्य दीक्षित का यह लक्षण 'विचित्रालंकार' का है। परन्तु नागेश भट्ट लिखते हैं—'एतेनात्र विचित्रालंकारः पृथग्त्यिपास्तम्।'[4]

'विषम' अलंकार विवेचन में नागेश भट्ट की मुख्य चर्चा का विषय अप्पय्य दीक्षित के अलंकारों का खण्डन करके उनका 'विषम' अलंकार में समावेश करना है। अन्यथा 'विषम' अलंकार में कोई नवीनतता नहीं।

एकावली

मम्मट का लक्षण है—'स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।

---

१. उद्योत, पृ० १८०

२. ३. ४. वही, पृ० १८१

विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा।' अर्थात् जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तर-उत्तर वस्तु का अनेक वार विशेषण रूप में स्थापन या निषेध किया जाता, वहाँ 'एकावली' अलंकार है। उदाहरण हैं—

१. 'पुराणि···कुसुमायुधस्य।'[1]

२. 'न तज्जलं···यन्मनः।'[2]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'एकावली' अलंकार विवेचन में किसी अन्य आचार्य के एकावली लक्षण का उल्लेख किया है जिसके अनुसार 'जहाँ उत्तर-उत्तर पदार्थ के प्रति पूर्व-पूर्व वस्तु विशेषण रूप में स्थापति की जाती है या निषेध की जाती है वहाँ 'एकावली' अलंकार है'। परन्तु गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यह लक्षण मम्मट के लक्षण के विरुद्ध होने के कारण मान्य नहीं है। प्रदीपकार ने मम्मट के लक्षण में प्रयुक्त 'स्थाप्यते' का अभिप्राय 'विधि' और 'अपोहो' का निषेध किया है। अतः 'एकावली' का अभिप्राय है कि जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तर उत्तर वस्तु का अनेक वार (बाहुल्येन) विधान या निषेध किया जाता है वह 'एकावली' अलंकार है।[3]

'पुराणि यस्य···' उदाहरण स्थापक विषयक उदाहरण है। जहाँ कि अन्तःपुरों का वराङ्गनायें, उनका शरीर के विशेषण द्वारा रूप, उसके विलास तथा उन विलासों का आस्त्र, इस क्रम से विशेषण रूप में स्थापन किया गया है।

'न तज्जलं···' उदाहरण अपोहक विषयक है। यहाँ जल में पंकज की, पंकज में षट्पदों की, षट्पद में गुंजन की, और उसमें मनोहारिता की विशेषणता के उत्तरोत्तर निषेध की योजना है।

प्रभा—गोविन्द ठक्कुर ने 'एकावली' लक्षण में 'कश्चित्तु' से जो अन्य लक्षण की चर्चा की है, वैद्यनाथ भी उस लक्षण का निषेध करते हुए लिखते हैं कि यह लक्षण मम्मट के सूत्र के अनुसार नहीं है तथा मम्मट द्वारा उद्धृत 'पुराणि यस्यां' उदाहरण में भी इस लक्षण की अव्याप्ति है।

उद्योत—नागेश भट्ट ने उद्योत टीका में यह स्पष्ट किया है कि जहाँ पूर्व-पूर्व पदार्थ उत्तर-उत्तर के प्रति विशेषण होता है वह भी 'एकावली' का एक प्रकार है। उदाहरण दिया है—'धर्मेण बुद्धिस्तत···कीर्तिः।' यहाँ उत्तरोत्तर विशेषण पूर्व-पूर्व के प्रति विशेष्य है। नागेश भट्ट लिखते हैं कि 'एकावली' के

---

१. २. काव्यप्रकाश, उदाहरण ५४८, ५४६

३. काव्यप्रदीप, पृ० ३८७

इस उदाहरण में यदि पूर्व-पूर्व के द्वारा किया जाता हुआ उत्तरोत्तर का उपकार यदि एक रूप हो जाए तब 'एकावली' के इस द्वितीय-प्रकार को ही प्राचीनों ने 'मालादीपक' कहा है।

नागेश भट्ट 'एकावली' लक्षण में प्रयुक्त 'स्थाप्यते' और 'अपोहते' शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करते हैं कि 'स्थाप्यते' से अभिप्राय है कि जो अपने संबंध के द्वारा विशेष्यतावच्छेदक का नियमन करता है और अपोहक उस विशेषण को कहते हैं जो अपने अभाव के द्वारा विशेष्यतावच्छेदक के अभाव के ज्ञान को उत्पन्न करता है।

इस प्रकार 'एकावली' अलंकार विवेचन में 'एकावली' के दो लक्षणों की चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने की है। एक लक्षण मम्मट का है जहाँ पूर्व-पूर्व पदार्थ के प्रति उत्तर-उत्तर पदार्थ विशेषण है। दूसरे लक्षण में पूर्व-पूर्व पदार्थ विशेषण है। यह लक्षण किस आचार्य का है इसका गोविन्द ठक्कुर ने नामोल्लेख नहीं किया है। गोविन्द ठक्कुर के पूर्ववर्ती आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में 'एकावली' के लक्षण में 'एकावली' के दो प्रकारों की चर्चा की हैं। प्रथम प्रकार वह है जहाँ पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु के विशेष रूप से उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु वस्तु का स्थापन अथवा अपोहन कहा जाया करता है। 'एकावली' के द्वितीय प्रकार की चर्चा करते हुए साहित्यदर्पणकार का कथन है कि 'एकावली' में यदा-कदा ऐसा भी हुआ करता है कि विशेष्य का उत्तरोत्तर विशेषण रूप से स्थापन अथवा अपोहन किया जाया करता है।[1] सम्भवतः गोविन्द ठक्कुर ने 'क्वचित्तु' से आचार्य विश्वनाथ के मत का ही उल्लेख किया है।

'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने 'एकावली' के द्वितीय लक्षण का खण्डन किया है। परन्तु नागेश भट्ट ने इस लक्षण की चर्चा करते हुए इसे 'एकावली' का ही एक प्रकार माना है। गोविन्द ठक्कुर के परवर्ती आचार्य अप्पय्य दीक्षित और आचार्य जगन्नाथ ने इस प्रकार की चर्चा की है कि (जहाँ पूर्व-पूर्व पदार्थ विशेषण रूप में वर्णित है)। अतएव इन्हीं आचार्यों के प्रभाव स्वरूप नागेश भट्ट को भी एकावली का यह मत मान्य है।

---

१. 'पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम्। स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा।' आगे लिखते हैं—' 'क्वचिद्विशेष्यमपि यथोत्तरं विशेषणतया स्थापितमपोहितं च दृश्यते।'

(साहित्यदर्पण, पृ० ८३५)

स्मरण

अम्मट ने 'स्मरण' का लक्षण दिया—

यथाऽनुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः स्मरणम् ।

वृत्ति में स्पष्ट किया कि जो पदार्थ किसी आकार से विशिष्ट रूप में (नियत) किसी समय अनुभव का विषय हुआ था, कालान्तर में उस जैसी अन्य वस्तु का ज्ञान होने से उसका उस प्रकार स्मरण किया जाता है, वही 'स्मरण' अलंकार है। मम्मट ने स्पष्ट रूप से 'स्मरण' के भेद नहीं किए। परन्तु उदाहरण दो दिए हैं—

१. 'निम्ननाभिकुहरेषु...सुरतकण्ठरुतानाम् ।'[1]

२. 'करयुगगृहीत...रोमाञ्चम् ।'[2]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'स्मरण' का लक्षण मम्मट की भाँति ही दिया है। उसमें कोई विशेषता नहीं। गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट रूप से 'स्मरण' अलंकार के दो प्रकार माने—१. इस जन्म में अनुभूत वस्तु का स्मरण, २. जन्मान्तर में अनुभूत वस्तु का स्मरण। इनके क्रमशः उदाहरण दिए हैं।

उद्योत—नागेश भट्ट ने 'स्मरण' अलंकार को अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने लिखा कि स्मृति के अनेक प्रकार हो सकते हैं 'अदृष्ट जन्मान्तरणीयसंस्कार जन्यस्मृति'। परन्तु सभी को 'स्मरण' अलंकार नहीं कह सकते। 'स्मरण' के लिए 'सादृश्य' का होना आवश्यक है। 'तावद्बिभ्रदीनां...' उदाहरण में सादृश्य का अभाव है अतः स्मरण नहीं है। किन्तु स्मृति रूप संचारी भाव भूभृद्विषयक रति भाव का अंग होने से 'प्रेय' अलंकार है।[3] इस प्रकार नागेश भट्ट ने 'स्मरण' अलंकार को स्पष्ट किया है। गोविन्द ठक्कुर ने तो मम्मट के समान ही चर्चा की है।

भ्रान्तिमान्

मम्मट का लक्षण है 'भ्रान्तिमानन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने'। वृत्ति में स्पष्ट किया है 'तत्' शब्द द्वारा अन्य अर्थात् अप्राकरणिक का निर्देश किया गया है। 'तत्तुल्य' इससे यहाँ प्रस्तुत का ग्रहण होता है। अतः जहाँ सादृश्य के कारण प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु के रूप में निश्चयात्मक ज्ञान होता है वह 'भ्रान्तिमान्' अलंकार है। यह 'रूपक' या 'अतिशयोक्ति' नहीं है क्योंकि इनमें

---

१. २. काव्यप्रकाश, उदाहरण, १०.५५०-५५१

३. उद्योत, पृ० १८९

वास्तविक भ्रम का अभाव होता है। 'भ्रान्तिमान्' यह अन्वर्थ संज्ञा है।

उदाहरण है—'कपाले मार्जारः···विभ्रमयति।'[१]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की भाँति ही 'भ्रान्तिमान्' अलंकार का विवेचन किया है।

उद्योत नागेश भट्ट ने 'उद्योत' में 'रूपक' और 'अतिशयोक्ति' के अतिरिक्त अन्य अलंकारों से भी भ्रान्तिमान् का अन्तर स्पष्ट किया है। जैसे 'भ्रान्तिमान्' का 'सन्देह' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है। 'कांते तव मुखं पद्मं चंद्रो वेति न निर्णयः' इस प्रकार संदेह में भ्रान्तिमान् की अतिव्याप्ति नहीं है। अभिप्राय यह है कि 'संदेह' में निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच पाते। 'भ्रान्तिमान्' का 'स्मरण' से भेद है। 'स्मरण' में स्मृत और इष्ट दोनों वस्तुओं का पृथक् ज्ञान रहता है किन्तु 'भ्रान्तिमान्' में दृष्ट वस्तु का ज्ञान नहीं जाता, दृष्ट वस्तु को भ्रम से स्मृत वस्तु के रूप में समझ लिया रहता है।[२]

'भ्रान्तिमान्' में प्रयुक्त 'अप्राकरणिकतादात्म्य' के द्वारा 'मीलित,' 'सामान्य' और 'तद्गुण' अलंकार का वारण हो गया है।

'भ्रान्ति' अलंकार कवि प्रतिभा द्वारा निर्मित होता है। 'रंगे रजतमिति' भ्रान्ति अलंकार का उदाहरण नहीं है।

'उद्योत' तथा 'प्रभा' टीका में स्पष्ट किया है कि 'भ्रान्तिमान्' में 'भ्रम' शब्द से या 'इति' शब्द से भ्रम को प्रकट किया जाता है किन्तु रूपक या अतिशयोक्ति में ऐसा नहीं होता।

इस प्रकार 'भ्रान्तिमान्' अलंकार में नागेश भट्ट की चर्चा ही विशेष है। गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के अनुसार निरूपण किया।

प्रतीप

मम्मट का लक्षण है—'आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता। तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम्।' अर्थात् उपमान का आक्षेप किया जाए अथवा उसका तिरस्कार करने के लिए उसकी उपमेय रूप में कल्पना की जाए।

उदाहरण हैं—

१. 'लावण्यौकसि'''कुलक्ष्माभृतः।'[३]

---

१. काव्यप्रकाश, पृ० ५५२

२. उद्योत, पृ० १६१

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५५३

२. 'अयि एहि···अनेन ।'[1]

'द्वितीय-प्रतीप' दो प्रकार का है—१. कहीं तो कल्पित उपमा की असिद्धि द्वारा उपमान का तिरस्कार प्रकट होता है जैसे 'गर्वमसंवाहमिमं··· नीलनलिनानि ।'[2] २. कहीं निष्पन्न अर्थात् सिद्ध हुई उपमा द्वारा उपमान का तिरस्कार प्रकट होता है जैसे 'अहमेव···दुर्जनानाम् ।'[3]

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने स्पष्ट किया है 'लावण्य···' उदाहरण में 'लावण्यौकसि' इत्यादि का 'इन्दु' आदि के साथ क्रमशः अन्वय होने से 'यथासंख्या' अलंकार भी कहा जा सकता है ।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने भी माणिक्यचन्द्र की भाँति 'लावण्यौकसि' उदाहरण में 'यथासंख्या' अलंकार की भी चर्चा की है । लेकिन गोविन्द ठक्कुर ने यह स्पष्ट किया है कि उपमान का आक्षेप विशेष चमत्कार होने से 'प्रतीप' अलंकार है । अन्य चर्चा मम्मट की भाँति है ।

उद्योत—'उद्योत' टीका में नागेश भट्ट ने 'प्रतीप' और 'व्यतिरेक' का अन्तर स्पष्ट किया है । 'प्रतीप' में उपमान का तिरस्कार होता है । 'व्यतिरेक' में उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य दिखलाया जाता है ।[4]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने 'प्रतीप' अलंकार के विषय में विशेष नहीं कहा । 'लावण्यौकसि' उदाहरण में संकेतकार की भाँति ही यथासंख्या अलंकार माना है परन्तु प्रधानता 'प्रतीप' की मानी है ।

सामान्य

मम्मट का लक्षण है 'प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया । ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ।' जहाँ वर्णनीय वस्तु का अन्य अर्थात् अप्रस्तुत वस्तु के सम्बन्ध से अपने गुणों को त्यागे बिना ही प्रस्तुत वस्तु का उसकी एकात्मकता रूप में प्रतिपादन किया जाता है वह समान गुणों के सम्बन्ध से होने के कारण 'सामान्य' अलंकार है ।[5]

उदाहरण हैं—

१. 'मलयजरस···सारिकाः ।'[6]

२. 'वेत्रत्वचा···चम्पकानि ।'[7]

---

१. २ ३. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५५४, ५५५; ५५६

४. उद्योत, पृ० १९३

५. काव्यप्रकाश, कारिका १०-१३४

६. ७. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५५७, ५५८

संकेत—माणिक्यचन्द्र ने 'संकेत' टीका में स्पष्ट किया है कि 'सामान्य' में अपने गुणों का त्याग न होने से 'तद्‌गुण' से भेद स्पष्ट है। इसे 'अपह्नुति' अलंकार भी नहीं माना जा सकता क्योंकि यहाँ किसी एक का निषेध कर दूसरे की स्थापना नहीं होती।

दीपिका—चण्डीदास ने भी 'दीपिका' टीका में 'सामान्य' अलंकार विवेचन में 'अपह्नुति' अलंकार का निषेध किया है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'सामान्य' अलंकार विवेचन में यह स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत अलंकार में 'अपरित्यक्तनिजगुणमेव' विशेषण का विशेष महत्त्व है क्योंकि इस विशेषण द्वारा 'सामान्य' अलंकार लक्षण की 'तद्‌गुण' अलंकार में अतिव्याप्ति नहीं है।[1] 'तद्‌गुण' में प्रस्तुत निज गुण का परित्याग कर देता है परन्तु 'सामान्य' में अपने गुणों को त्यागे बिना ही अप्रस्तुत के साथ एकरूपता की प्रतीति होती है।

लक्षण में प्रयुक्त 'वध्यते' का अभिप्राय प्रतिपादन करना है, व्यक्त करना नहीं। 'मलयज' उदाहरण में शुक्लता की समानता के कारण प्रस्तुत अभिसारिका तथा अप्रस्तुत चन्द्रिका की एकरूपता का प्रतिपादन 'अविभाव्यतां गताः' द्वारा किया गया है।

उद्योत—नागेश भट्ट ने 'उद्योत' टीका में 'सामान्य' अलंकार का 'मीलित' अलंकार से अन्तर वताया है।[2] 'मीलित' में एक वस्तु में समान धर्म उत्कृष्ट कोटि का होता है और उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के द्वारा निकृष्ट गुण वालों का तिरोधान हो जाता है किन्तु 'सामान्य' अलंकार में दोनों वस्तु तुल्य गुण वाली होती है अतएव दोनों के भेद का ग्रहण नहीं होता।

'भ्रान्तिमान्' अलंकार से 'सामान्य' अलंकार का भेद यह है कि 'भ्रान्तिमान्' में प्रस्तुत में स्मृत अप्रस्तुत वस्तु की भ्रान्ति होती है किन्तु 'सामान्य' में अनुभूत वस्तुओं में एकरूपता होती है। इसी प्रकार 'रूपक' तथा 'प्रथमातिशयोक्ति' से भी 'सामान्य' अलंकार भिन्न है क्योंकि 'रूपक' आदि में उपमेय की उपमानरूपता प्रतीत होती है, किन्तु यहाँ उपमान तथा उपमेय की एकरूपता प्रतीत होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नागेश भट्ट ने 'सामान्य' अलंकार का अन्य अलंकारों से अन्तर स्पष्ट किया है। गोविन्द टक्कुर के विवेचन में ऐसा नहीं

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३८४

२. उद्योत पृ० १९६

है। गोविन्द ठक्कुर ने केवल 'सामान्य' का 'तद्गुण' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है।

विशेष

मम्मट का लक्षण है—१. जहाँ प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय वस्तु की स्थिति अथवा २. एक वस्तु की अनेक वस्तुओं में एक साथ एकरूप से स्थिति अथवा ३ वेग से अन्य कार्य करते हुए के किसी अन्य अशक्य कार्य का उसी प्रकार से करने का वर्णन किया जाता है, वह तीन प्रकार का 'विशेष' अलंकार है।[1]

अन्त में मम्मट ने स्पष्ट किया है कि इस प्रकार के स्थलों में सर्वत्र 'अतिशयोक्ति' ही प्राण रूप में स्थित होती है, उसके बिना तो प्रायः अलंकार होना सम्भव नहीं है। भामहाचार्य की उक्ति—'सैषा•••विना' उद्धृत की है।[2]

क्रमशः विशेष अलंकार के उदाहरण दिए हैं—

१. दिवमप्यु•••वन्द्याः।[3]

२. सा वसति•••पापानाम्।[4]

३. (i) स्फुरदभुत•••बृहस्पतिश्च।[5]

(ii) गृहिणी•••हृतम्।[6]

'विशेषालंकार' विवेचन में मम्मट का यह कथन चर्चा का विषय हैं कि 'सर्वत्र एवं विधविषयेऽतिशयोक्तिरेव•••।' यहाँ 'अतिशयोक्ति' के विषय में यह शंका उत्पन्न होती हैं कि 'अतिशयोक्ति' अलंकार ही समस्त अलंकारों का जीवन है अथवा 'अतिशयोक्ति' से अभिप्राय 'अतिशय उक्ति' अर्थात् विचित्र कथन रूप 'अतिशयोक्ति' से है।

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने सर्वप्रथम यह स्पष्ट किया है कि तृतीय 'विशेष' भेद में मम्मट ने दो उदाहरण दिए हैं, इसका अभिप्राय यह है कि 'स्फुरद्' इत्यादि में 'यथासंख्या' अलंकार' भी हो सकता है अतएव दूसरा उदाहरण दिया है।

---

१ विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा॥
अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः॥
(काव्यप्रकाश, कारिका १०-१३५, १३६)

२. काव्यप्रकाश, पृ० ५६६-५६८

३. ४. ५. ६. काव्यप्रकाश, उदाहरण ५५९ से ५६२ तक

सारबोधिनी—'सारबोधिनी' टीका में श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने 'द्वितीय विशेष' के उदाहरण 'सा वसति···पापानाम्' उदाहरण में पर्याय अलंकार' का निषेध करते हुए 'पर्याय' और 'विशेष' अलंकार में अन्तर स्पष्ट किया है। 'पर्याय' अलंकार में एक ही वस्तु क्रमशः अनेक में होती है। 'विशेषालंकार' में एक ही वस्तु एक ही रूप में एक साथ अनेक स्थानों में विद्यमान रहती है। यही दोनों में भेद है।[1]

माणिक्यचन्द्र, श्री नरहरिसरस्वतीतीर्थ, श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य आदि टीकाकारों ने मम्मट की वृत्ति में प्रयुक्त 'अतिशयोक्ति' का अभिप्राय 'अतिशयोक्ति' अलंकार से नहीं लिया है अपितु अतिशयोक्ति का अर्थ सारबोधिनीकार ने स्पष्ट किया है 'चमत्कारविशेषकारिण्युक्ति' है, जो समस्त अलंकारों का बीज है। अतिशयोक्ति का दूसरा नाम वक्रोक्ति है जिसे भामह ने 'सेषा···विना' कारिका में स्पष्ट किया है।

काव्यप्रदीप—'द्वितीय विशेषालंकार' का गोविन्द ठक्कुर ने 'यथासंख्या' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है। 'विशेषालंकार' में एक ही वस्तु एक ही रूप में अनेक स्थानों में विद्यमान रहती है। 'यथासंख्या' में किसी क्रम से उक्त पदार्थों का उसी क्रम में अन्वय होता है। अभिप्राय यह है कि द्वितीय 'विशेषालंकार' में 'एकस्य' 'एकात्म' विशेषण से 'यथासंख्या' अलंकार का निवारण है। 'युगपत्' विशेषण से 'पर्याय' अलंकार का निवारण है। (पर्याय और विशेषालंकार में अन्तर 'सारबोधिनी' टीका के विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है।) जिस प्रकार संकेतकार ने स्पष्ट किया है कि तृतीय विशेषालंकार में दो उदाहरण इसलिए दिए हैं कि प्रथम उदाहरण में 'यथासंख्या' अलंकार की शंका होने से द्वितीय उदाहरण दिया है परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि तृतीय विशेषालंकार के प्रथम उदाहरण 'स्फुरद···' में 'अन्य' अशक्य कार्य करने का करण शब्द है। कहीं यह करण व्यंग्य होता है जैसे जैसे 'गृहिणी···' द्वितीय उदाहरण में। यहाँ 'इन्दुमतीहरणरूप' एक कार्य करने वाली मृत्यु का उसी प्रयत्न के द्वारा सचिव-हरण आदि अन्य अशक्य करने का वर्णन व्यंग्य है।

गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि 'विशेषालंकार' में यह शंका हो सकती है कि आधार के बिना आधेय की स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती, एक ही वस्तु एक ही रूप में अनेक स्थानों में विद्यमान नहीं रह सकती एवं एक

---

१. सारबोधिनी, पृ० ४५१

ही यत्न से दो कार्यों का होना भी असम्भव है, फिर इनके वर्णन को अलंकार कैसे कहा जा सकता है। प्रदीपकार लिखते हैं कि अतिशयोक्ति के आलम्ब्य से 'विशेषालंकार' संभव है। मम्मट ने 'सर्वत्र एवं विध' अवतरण द्वारा इसका समाधान किया है जिसका अभिप्राय यही है कि 'विशेषालंकार' के इन स्थलों में अतिशयोक्ति ही प्राण रूप में स्थित है। उसके बिना तो प्रायः अलंकार होना संभव नहीं है। गोविन्द ठक्कुर का अभिप्राय भी अन्य टीकाकारों की भाँति यही है कि 'अतिशयोक्ति' नामक अलंकार की चर्चा यहाँ नहीं है।[1]

मम्मट ने 'सेषा सर्वत्र...' कारिका को उद्धृत किया है परन्तु यह किसकी कारिका है इसका उल्लेख नहीं किया है। श्रीनरहरिसरस्वतीतीर्थ, श्री वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने इसे भामह की कारिका माना है। गोविन्द ठक्कुर ने भामह का नामोल्लेख नहीं किया है। केवल 'एवाहुः' से इसकी चर्चा की है।

प्रभा – 'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने भी 'स्फुरद्' उदाहरण में 'यथा-संख्या' अलंकार भी माना है परन्तु 'विशेष' अलंकार का चमत्कार अधिक होने से उसी की प्रधानता है। 'सैषा सर्वत्र...' कारिका आचार्य दण्डी की है, वह प्रभाकार लिखते हैं।

उद्योत—नागेश भट्ट ने मम्मट की 'सर्वत्र एवंविध...' वृत्ति को विवेचित करते हुए स्पष्टतः उल्लेख किया है कि यहाँ 'अतिशयोक्ति से अभिप्राय 'अतिशयोक्ति' अलंकार से नहीं है। 'अतिशयोक्ति' का अर्थ है 'अतिशयेनोक्ति-मित्यर्थः' अर्थात् वैचित्र्यपूर्ण उक्ति। नागेश भट्ट लिखते हैं कि मम्मट ने 'विशेषालंकार' लक्षण में जो तीन प्रकार के 'विशेषालंकार' माने हैं, यह तीनों उपलक्षण हैं। नागेश भट्ट ने अप्पय्य दीक्षित के 'अनुज्ञा' और 'लेश' अलंकार का खण्डन किया है और 'विशेष' अलंकार में ही अन्तर्भूत किया है। नागेश भट्ट का कथन है कि जहाँ किसी दोष की इच्छा इसलिए की जाए कि उसमें किसी विशेष गुण की स्थिति हो वहाँ 'विशेष' अलंकार है। इसके अतिरिक्त जहाँ दोष तथा गुण को क्रमशः गुण तथा दोष के रूप में कल्पित किया जाए वह भी विशेष अलंकार ही है।[2] वस्तुतः अप्पय्य दीक्षित के 'अनुज्ञा' अलंकार और 'लेश' अलंकार के ये लक्षण हैं।

बालबोधिनी—वामनाचार्य झलकीकर ने 'सर्वत्र एवंविध' मम्मट की

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३८५
२. उद्योत, पृ० २०१

वृत्ति की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है 'अतिशयोक्ति' शब्द योगरूढ़ हैं जिसका प्रयोग 'अतिशयोक्ति' अलंकार के लिए होता है परन्तु यहाँ अतिशयोक्ति शब्द यौगिक है। अतएव वह अलंकार नहीं है अपितु सब अलंकारों का बीजभूत है।

मम्मट ने 'प्रायेणालंकारत्वायोगात्' में प्रयोग शब्द इसलिए प्रयुक्त किया है कि स्वभावोक्ति आदि अलंकारों का आधार यह अतिशयोक्ति नहीं होती।[1]

वैद्यनाथ ने 'सैषा···सर्वत्र' कारिका को दण्डी की कारिका माना है परन्तु झलकीकर ने प्रभाकार का खण्डन किया है वे लिखते हैं कि 'काव्यादर्श' में यह श्लोक नहीं मिलता है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में यही कह सकते हैं कि गोविन्द ठक्कुर और उनके टीकाकारों ने 'विशेषालंकार' का विस्तृत विवेचन किया है। नागेश भट्ट ने 'विशेषालंकार' का विस्तृत लक्षण दिया है क्योंकि उन्होंने 'अनुज्ञा' और 'लेश' अलंकार के लक्षण को 'विशेष' अलंकार का ही माना है। गोविन्द ठक्कुर ने 'तृतीय विशेषालंकार' में दो उदाहरणों का उल्लेख किया है, परन्तु माणिक्यचन्द्र से भिन्न कारण दिया है। प्रदीपकार ने भी अन्य टीकाकारों की भाँति यहाँ 'अतिशयोक्ति' का अभिप्राय अतिशयोक्ति अलंकार से नहीं लिया है परन्तु इसका अधिक स्पष्टीकरण नागेश भट्ट और वामनाचार्य ने किया है। गोविन्द ठक्कुर ने 'विशेष' अलंकार का 'पर्याय', 'यथासंख्या' आदि अलंकार से अन्तर भी स्पष्ट किया है।

तद्‌गुण

मम्मट का लक्षण है 'स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्जवलगुणस्य यत्। वस्तु तद्‌गुणतामेति भण्यते स तु तद्‌गुणः।' अर्थात् न्यून गुण वाली वस्तु उज्जवल गुण वाली वस्तु के सम्बन्ध से अपने रूप को त्यागकर उस समीपगत वस्तु के रूप को ही प्राप्त कर लेता है वह 'तद्‌गुण' अलंकार हैं।

उदाहरण है 'विभिन्नवर्णा···वंशकरीरनीलैः।'[2]

प्रस्तुत उदाहरण में सूर्य के अश्वों की अपेक्षा गरुड के अग्रज अर्थात् अरुण के और उसकी अपेक्षा हरितमणियों के गुण-प्रकर्ष का वर्णन किया है।

---

१. 'अतिशयोक्तिपदं योगरूढम् अत्र तु यौगिकमेवेति नास्या अलंकारत्वम् किं तु सर्वालंकारबीजभूतत्वमेव।' (बालबोधिनी, पृ० ७४४)

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५६३

संकेत—संकेत में माणिक्यचन्द्र ने 'तद्‌गुण' अलंकार का 'मीलित' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है। 'मीलित' में प्रस्तुत वस्तु वस्त्वन्तर से आच्छादित रूप में प्रतीत होती है। किन्तु 'तद्‌गुण' अलंकार में प्रस्तुत का स्वरूप अपह्नत न होकर वस्त्वन्तर के गुण से उपरंजित रूप में प्रतीत होता है। यही दोनों में भेद है।

'बालचित्तानुरंजनी', 'दीपिका' और 'सारबोधिनी' आदि टीकाओं में भी 'तद्‌गुण' और 'मीलित' अलंकार का परस्पर अन्तर स्पष्ट किया गया है।

काव्यप्रदीप—पूर्ववर्ती टीकाकारों के अनुसार गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्य-प्रदीप' टीका में 'तद्‌गुण' अलंकार का 'मीलित' अलंकार से अन्तर स्पष्ट किया है। 'विभिन्नवर्णा नीलैः।' उदाहरण में मम्मट की भाँति दो स्थलों पर 'तद्‌गुण' अलंकार माना है। प्रदीपकार ने 'तद्‌गुण' अलंकार का एक अन्य लक्षण भी दिया है परन्तु यह लक्षण किस आचार्य का है गोविन्द-ठक्कुर ने इसका नामोल्लेख नहीं किया है। 'केनचित्' से इस लक्षण का उल्लेख किया है, अपने गुण को त्यागकर पुनः उसकी प्राप्ति 'तद्‌गुण' अलंकार है परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने इस लक्षण का खण्डन किया है क्योंकि यह लक्षण मम्मट के विरुद्ध है। मम्मट के लक्षण में प्रस्तुत अपने गुण को त्यागकर अप्रस्तुत के उत्कृष्ट गुण को प्राप्त करता है। मम्मट के 'संकर' अलंकार के उदाहरण 'आत्ते सीमान्तरत्ने' को उद्धृत करते हुए गोविन्द ठक्कुर यह स्पष्ट करते हैं कि इस उदाहरण में 'तद्‌गुण' अलंकार है। अतः यहाँ भी इस लक्षण 'स्वगुणत्यागानन्तरं पुनस्तत्प्राप्तिस्तद्‌गुणः' को स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि प्रस्तुत पद्य में वस्तु की पुनः अपने स्वरूप की प्राप्ति नहीं है।[१] अतएव गोविन्द ठक्कुर को मम्मट का लक्षण ही मान्य है।

उद्योत—नागेश भट्ट ने भी 'तद्‌गुण' का 'मीलित' अलंकार से भेद स्पष्ट किया है परन्तु नागेश भट्ट ने 'तद्‌गुण' और 'मीलित' अलंकार के अन्तर में जो तर्क दिए हैं वे अन्य टीकाकारों से भिन्न हैं। नागेश भट्ट लिखते हैं कि 'मीलित' और 'सामान्य' में एक वस्तु के द्वारा तिरोहित हो जाने के कारण अन्य धर्मी का ग्रहण ही नहीं होता जबकि 'तद्‌गुण' में केवल गुण का ही अभिनव होता है धर्मी का तो पृथक् भास होता ही रहता है। नागेश भट्ट ने 'तद्‌गुण' अलंकार का 'भ्रान्तिमान्' अलंकार से भी अन्तर स्पष्ट किया है कि 'भ्रान्तिमान्' में एक वस्तु दिखलाई देती है। उसमें स्मृत

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३८७-३८८

वस्तु का आरोप करके उसे दूसरी समझ लिया जाता है किन्तु 'तद्‌गुण' में दोनों वस्तु दिखाई देती हैं जिनमें एक का गुण दूसरी में भासित होने लगता है।

नागेश भट्ट ने अप्पय्य दीक्षित के 'पूर्वरूप' अलंकार का खण्डन किया है और उसे 'तद्‌गुण' अलंकार ही माना है। इसके अतिरिक्त अप्पय्य दीक्षित ने माना हैं कि जहाँ कोई वस्तु अन्य वस्तु की संनिधि के कारण अपने पूर्वसिद्ध गुण का अधिक उत्कर्ष धारण करे, वहाँ 'अनुगुण' अलंकार होता है। 'नीलोत्पलानि···लताम्' उदाहरण दिया है। परन्तु नागेश भट्ट ने 'अनुगुण' के इस लक्षण को 'तद्‌गुण' अलंकार का लक्षण बताया है और 'अनुगुण' को पृथक् अलंकार मानने का खण्डन किया हैं।

इस प्रकार 'तद्‌गुण' अलंकार के विवेचन में गोविन्द ठक्कुर तथा काव्य-प्रकाश के अन्य टीकाकारों ने 'मीलित' और 'तद्‌गुण' में अन्तर स्पष्ट किया है। नागेश भट्ट ने 'तद्‌गुण' का 'भ्रान्ति' अलंकार से भी अन्तर स्पष्ट लिया है।[1]

गोविन्द ठक्कुर ने 'स्वगुणत्यागानन्तरं पुनस्तत्प्राप्तिस्तद्‌गुणः' लक्षण की जो चर्चा की है वह स्पष्ट नहीं है कि उपर्युक्त लक्षण किस आचार्य का है। गोविन्द ठक्कुर के परवर्ती आचार्य अप्पय्य दीक्षित ने पूर्वरूप अलंकार का यह उपर्युक्त लक्षण माना है जिसका नागेश भट्ट ने 'तद्‌गुण' में अन्तर्भाव किया है।

व्याघात

'व्याघात' अलंकार केवल नागेश भट्ट की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। नागेश-भट्ट ने इस अलंकार चर्चा में अप्पय्य दीक्षित के अनेक अलंकारों का खण्डन किया है। 'निरुक्ति' अलंकार का खण्डन करते हुए नागेश भट्ट ने बताया कि यह 'श्लेष' विशेष है। 'विधि' अलंकार ध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य काव्य में अन्तर्गत है। 'प्रतिषेध' अलंकार का समावेश ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य-काव्य में किया है। कुछ अलंकारिकों ने आठ प्रमाणालंकारों का निरूपण किया था। नागेश भट्ट ने माना है कि उनमें से 'प्रत्यक्ष' भाविक अलंकार के द्वारा और 'उपमान' उपमा के द्वारा ही गतार्थ है। 'अनुमान' अलंकार को स्वीकार किया है। अन्य को चमत्कारविहीन होने से अलंकार नहीं माना।[2]

---

१. उद्योत, पृ० २०३-२०४

२. उद्योत, पृ० २०६

संकर

मम्मट ने 'संकर' के तीन भेदों का उल्लेख किया है। प्रारम्भ में मम्मट ने तीनों भेदों का नामोल्लेख नहीं किया है परन्तु 'संकर' विवेचन के अन्त में स्पष्ट किया है कि यह तीन प्रकार का संकर है १. अङ्गाङ्गिभाव, २. सन्देह रूप, ३. एकपदानुप्रवेश संकर। गोविन्द ठक्कुर ने अङ्गाङ्गिभाव संकर के उदाहरण और एकपदानुप्रवेश संकर का विवेचन मम्मट से भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए किया है। अन्य विवेचन मम्मट के समान है।

१ अङ्गाङ्गिभाव संकर—

मम्मट का लक्षण है 'अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः' अर्थात् जहाँ दो या अधिक अलंकार स्वतन्त्र रूप से स्थित नहीं होते तथा परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव को धारण कर लेते हैं वह 'अङ्गाङ्गिभाव' संकर है। तीन उदाहरण दिए हैं—

१. 'आत्ते सीमान्तरत्ने···हरन्ति।'[1]

२. 'जटाभाभिर्भाभिः ··चरति।'[2]

३. 'राजति···वनदा।'[3]

द्वितीय और तृतीय उदाहरण की विशेष चर्चा की है।

'जटाभाभिर्भाभिः···चरति।'

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने उदाहरण को स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत उदाहरण में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और श्लेष अलंकार अङ्गाङ्गिभाव से प्रतीत हो रहे हैं 'जटाभाभिः' में उपमा वलय में रूपक, वियोगव्यापत्तेरिव में उत्प्रेक्षा, वैराग्येति में 'श्लेष' है। यहाँ सभी अलंकार परस्पर सापेक्ष हैं। 'श्लेष' का उपकारी 'उपमा' है। 'श्लेष' भी 'रूपक' और 'उत्प्रेक्षा' का उपकारी है।[4]

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने इस उदाहरण की विस्तृत व्याख्या की है। गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्ट किया है कि 'जटाभि पितृवन इव' में 'उपमा' अलंकार है। 'कलङ्काक्षवलय, तारापरिकरकपाल' में रूपक है। 'वियोग-व्यापत्तेरिव' में 'उत्प्रेक्षा' है। 'वैराग्यविशद' में 'श्लेष' है।

यह अलंकार किस प्रकार परस्पर सापेक्ष है इसे गोविन्द ठक्कुर; स्पष्ट करते है। 'वैराग्यविशद' में उत्प्रेक्षा, श्लेष का अंग है तभी द्वितीय अर्थ प्रतीत होता है। 'श्लेष' 'रूपक' तथा 'उपमा' का अंग है क्योंकि इसके

---

१. २. ३. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५७०-५७१-५७२

४, संकेत, पृ० २६०

द्वारा अवगत निर्वेद की महिमा से जटाधारण ओर अक्षवलयधारण की संगति बैठती है। 'तारापरिकर' इत्यादि रूपक 'पितृवन इव' इस उपमा का अंग है क्योंकि रूपित कपाल के आश्रय से सादृश्य वन पड़ता है। अन्त में गोविन्द-ठक्कुर लिखते हैं कि सर्वत्र अंगों की चारुता के लिए अंगों की अपेक्षा है। समासोक्ति को यहाँ अंगी अलंकार माना है और कहा है कि मम्मट ने स्पष्ट होने के कारण इसका उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार समासोक्ति की चर्चा न मम्मट ने की है और न ही माणिक्यचन्द्र ने अतः गोविन्द ठक्कुर की इस विषय में नवीन दृष्टि है।

तृतीय उदाहरण 'राजति···वनदा' में मम्मट ने स्पष्ट किया है कि यहाँ यमक तथा अनुलोमप्रतिलोम चित्रनामक अलंकार दोनों परस्पर सापेक्ष हैं

संकेत—'संकेत' टीका में माणिक्यचन्द्र ने प्रथम तो यह स्पष्ट किया है कि यहाँ अनुग्राह्यानुग्राहकरूप से दो शब्दालंकारों का संकर है। अथवा दूसरा अभिप्राय यह है कि यहाँ शब्दालंकारों की संसृष्टि मानना अधिक उचित है। अथवा यहाँ दो शब्दालंकारों के एक वाचक में प्रविष्ट होने के कारण एकवाचकानुप्रवेश संकर है।[1]

यहाँ माणिक्यचन्द्र ने रुय्यक के मत की चर्चा की है।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि यद्यपि यमक और अनुलोम प्रतिलोम 'चित्रालंकार' की परस्पर सापेक्षता स्पष्ट नहीं है तथापि यमक निर्वाह में प्रवृत्त कवि बिना किसी अतिरिक्त प्रयत्न के चित्रालंकार की उत्पत्ति में सफल हो जाता है। अतएव 'चित्रालंकार' की उत्पत्ति में यमक की अपेक्षा है, यमक की चारुता प्रतीति में चित्रालंकार की अपेक्षा है। यह प्राचीन आचार्यों का मत है। गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं वस्तुतः यमक निर्वाह में कवि की प्रवृत्ति निश्चयात्मक नहीं है अर्थात् वास्तव में ऐसा कुछ नहीं है जिसके माध्यम से हम यह निश्चित करें कि कवि केवल यमक निर्वाह में निमग्न है। अथवा इसे मान भी लिया जाए तथापि यमक चित्रालंकार का हेतु नहीं है, अपितु उसके लिए किया गया प्रयास है। अतः चित्र यमक की अपेक्षा नहीं

---

१. 'मिथो विवेकेन द्वयोरिह वृत्तेरभावात् सापेक्षत्वेनानुग्राह्यानुग्राहकभावः। अथवाऽसावनुग्राहक इति निर्णेतुमशक्यत्वे मिथः काऽपेक्षा शब्दालङ्कारयो-रिति संसृष्टिरेवात्र युक्ता। यद्वा शब्दालंकारद्वयस्यैकवाचकगत्वे तृतीय-सङ्करः।' (संकेत, पृ० २९१)

करता । अतएव प्रस्तुत उदाहरण 'अनुग्राह्यानुग्राह्क' संकर का नहीं है ।[1]

उद्योत—उद्योत टीका में नागेश भट्ट लिखते हैं कि गोविन्द ठक्कुर के 'तेषामाशयः' का अभिप्राय है कि यहाँ अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक के मत का खण्डन हैं । रुय्यक ने यहाँ संसृष्टि अलंकार माना है । नागेश भट्ट लिखते हैं कि इस प्रकार (पूर्वजों के अनुसार) यहाँ अनुग्राह्यानुग्राहक संकर है । यद्यपि यहाँ दो शब्दालंकारों में शब्दों की भाँति उपस्कारक और उपस्कार्य का संबंध नहीं है किन्तु अलंकारसर्वस्वकार का संसृष्टि अलंकार भी नहीं है ।[2]

इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के प्रस्तुत उदाहरण को अनुग्राह्यानु ग्राहक रूप मानने का खण्डन किया है ।

मम्मट ने 'संकर' के तृतीत-भेद (एकपदप्रतिपाद्य) संकर का लक्षण दिया है 'स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालङ्कृतिद्वयम् व्यवस्थितं च ।' अर्थात् जहाँ एक ही विषय में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोंनों स्पष्टतया व्यवस्थित होते हैं ।

उदाहरण 'स्पष्टोल्लसत्किरण···सङ्चुकोच ।'[3]

प्रस्तुत उदाहरण में 'रूपक' और 'अनुप्रास' दोनों उपस्थित है । अभिप्राय यह है कि मम्मट ने तृतीय-संकर में शब्दालंकार और अर्थालंकार का संकर माना है ।

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर ने 'संकर' के तृतीय-भेद में मम्मट से भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए यह स्पष्ट किया है कि यह आवश्यक नहीं कि शब्दालंकार और अर्थालंकार का संकर हो अपितु दो शब्दालंकारों और अर्थालंकार का भी संकर हो सकता हैं जैसे 'कलकलोऽलकलोलदृशान्यया' में यमक और अनुप्रास, दो शब्दालंकारों का संकर है ।

इसके अतिरिक्त संकर-अलंकार का विवेचन मम्मट की भाँति किया है । अतएव गोविन्द ठक्कुर के विवेचन में कोई नवीनता नहीं है ।

संसृष्टि

मम्मट का लक्षण है 'सैषा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ।' अर्थात् परस्परनिरपेक्षभाव से दो या अधिक अलंकारों की एकत्र स्थिति होती है वह 'संसृष्टि' है । 'संसृष्टि' तीन प्रकार की है । १. शब्दालंकार की संसृष्टि, २. अर्थालंकार की संसृष्टि, ३. शब्दालंकार और अर्थालंकार की संसृष्टि,

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ३९१

२. उद्योत, पृ० २१४

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५७६

क्रमशः उदाहरण हैं—

१. 'वदनसौरभ...ऽन्यथा।'[1]

२. 'लिम्पतीव...गता।'[2]

३. 'स नास्त्यत्र...निवारयति।'[3]

अन्त में मम्मट लिखते है कि यहाँ अनुप्रास और रूपक परस्पर निरपेक्ष हैं और उन दोनों का एक वाक्य या छन्द में संबंध होने से दोनों की संसृष्टि है।

संकेत—'संकेत' टीका' में माणिक्यचन्द्र ने 'संसृष्टि' और 'संकर' का परस्पर अन्तर स्पष्ट किया है। तिल और चावल की भाँति परस्पर निरपेक्ष रूप से मिलना 'संसृष्टि' है। 'दूध' और पानी की भाँति साक्षेप रूप से मिलना 'संकर' अलंकार है।[1]

'बालचित्तानुरंजनी' टीका में श्री नरहरितीर्थ ने भी संकेतकार की भाँति 'संसृष्टि' और 'संकर' अलंकार का अन्तर स्पष्ट किया है।

काव्यप्रदीप—'संसृष्टि' और 'संकर' अलंकार के संबंध में गोविन्द ठक्कुर लिखते हैं कि जिस प्रकार स्वर्ण, मणि से युक्त अलंकार परस्पर मिले-जुले होने पर भी प्रथम रूप से चमत्कार के हेतु होते हैं। उसी प्रकार अनेक अलंकारों का मिश्रण होने पर एक नया अलंकार उत्पन्न होता है। इस अलंकार-रूपता के दो रूप हैं—१. संसृष्टि, २. संकर। परस्पर निरपेक्ष अभाव से अवस्थित 'संसृष्टि' अलंकार है और परस्पर सापेक्ष रूप से स्थित होना 'संकर' अलंकार है। यही इन दोनों अलंकारों में अन्तर है।[4]

प्रभा—'प्रभा' टीका में वैद्यनाथ ने स्पष्ट किया है कि 'संसृष्टि' लक्षण में प्रयुक्त 'भेदेन' 'स्थिति' शब्दों से, इस लक्षण की 'संकर' अलंकार में अतिव्याप्ति नहीं होती है। 'संकर' के 'एकवाचकानुप्रवेश' संकर भेद के उदाहरण 'स्पष्टोल्लास...' में रूपक और अनुप्रास दो अलंकार हैं परन्तु दोनों अलंकार परस्पर सापेक्ष हैं। 'संसृष्टि' में दोनों अलंकार परस्पर निरपेक्ष अर्थात् स्वतन्त्र होते हैं।[5]

इस प्रकार 'संकर' अलंकार विवेचन में गोविन्द ठक्कुर, वैद्यनाथ तथा पूर्ववर्ती टीकाकारों का प्रमुख दृष्टिकोण 'संकर' और 'संसृष्टि में अन्तर

---

१. २. ३. काव्यप्रकाश. उदाहरण १०.५६७, ५६८, ५६९

४. काव्यप्रदीप, पृ० २८८

५. काव्यप्रदीप, प्रभा, पृ० ३८८

स्पष्ट करने का रहा है ।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि गोविन्द ठक्कुर द्वारा किया गया अलंकारों का सुसंबद्ध, स्पष्ट एवं विस्तृत विवेचन कई दृष्टियों से मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण है । गोविन्द ठक्कुर ने कोई नूतन अलंकार की स्थापना न करते हुए भी इस विवेचन में कहीं प्रतिपादन में, कहीं किसी अलंकार के खण्डन में, कहीं समर्थन में अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है । अलंकारों का परस्पर अन्तर स्पष्ट करना इस अध्याय का मुख्य विषय रहा है । जहाँ माणिक्यचन्द्र ने रुय्यक के अलंकारसर्वस्व का स्थान-स्थान पर अनुकरण किया है वहाँ गोविन्द ठक्कुर का विवेचन रुय्यक की मान्यता का खण्डन करते हुए मौलिक हो उठा है । गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के अलंकार-विवेचन को नूतन सा कर दिता है । 'अलंकार' विवेचन में गोविन्द ठक्कुर के टीकाकारों का पर्याप्त सहयोग रहा है । वैद्यनाथ तथा नागेश भट्ट आदि टीकाकारों ने अप्पय्य दीक्षित और आचार्य जगन्नाथ के मतों का स्थान-स्थान पर खण्डन करते हुए गोविन्द ठक्कुर के अलंकार-विवेचन को सुदृढ़ किया है । जहाँ गोविन्द ठक्कुर का कथन अत्यन्त संक्षिप्त है वहाँ उनके टीकाकारों ने इस अभाव की पूर्ति की है । इस प्रकार अलंकारों का विस्तृत विवेचन गोविन्द ठक्कुर के गहनचिन्तन का द्योतक है ।

नवम अध्याय

गोविन्द ठक्कुर की अधमोत्तमर्णता

काव्यप्रदीप में आचार्यों एवं टीकाकारों की चर्चा

'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ मम्मट के समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है। मम्मट ने प्राचीन आचार्यों के मत को ग्रहण करते हुए स्वमत की स्थापना की है। टीकाकार होने के कारण गोविन्द ठक्कुर ने भी उन सभी आचार्यों की चर्चा की है जिनका उल्लेख मम्मट ने किया है। परन्तु इन स्थलों के अतिरिक्त 'काव्यप्रदीप' टीका में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ गोविन्द ठक्कुर ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों एवं टीकाकारों का उल्लेख किया है। आचार्य भरत, भामह, दण्डी, भट्टोद्भट, धनंजय, भोजराज, महिमभट्ट, रुय्यक, आचार्य विश्वनाथ आदि की चर्चा स्पष्ट और अस्पष्ट रूप में 'काव्यप्रदीप' में उपलब्ध है। अस्पष्ट से अभिप्राय है कि गोविन्द ठक्कुर ने कहीं-कहीं किसी भी आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया है परन्तु उस आचार्य के मत की चर्चा की है। टीका में सर्वत्र आचार्यों और टीकाकारों के मतों को पूर्णतः ग्रहण किया गया है ऐसा नहीं है अपितु यथासमय परिष्कार तथा खण्डन भी किया गया है। पूर्ववर्ती टीकाकारों में 'चण्डीदास' और 'भास्कर' की विशेष चर्चा है।

कालक्रमानुसार आचार्यों का उल्लेख

१. आचार्य भरत

गोविन्द ठक्कुर ने आचार्य भरत की चर्चा चतुर्थ उल्लास में नामोल्लेख किए बिना की है। सात्त्विक भावों का उल्लेख करते हुए प्रदीपकार ने आचार्य भरत की कारिका को उद्धृत किया है।[1]

२. आचार्य भामह

(i) 'प्रथल उल्लास' के 'काव्य-प्रयोजन' प्रसंग में 'यदाहुः' से गोविन्द ठक्कुर ने आचार्य भामह की कारिका को उद्धृत किया है।[2]

---

१. 'स्वेदः··············मताः' (काव्यप्रदीप, पृ० ६१)

२. 'यदाहुः—'स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं·········भेषजम्।' (काव्यप्रदीप, पृ॰ ६)

(ii) दशम-उल्लास में 'व्याजोक्ति' अलंकार में 'यदाहुः' से आचार्य भामह का उल्लेख किया है ।[1]

३. आचार्य दण्डी

(i) प्रथम उल्लास में 'काव्यलक्षण' की चर्चा में गोविन्द ठक्कुर ने आचार्य दण्डी का नामोल्लेख किया है ।[2]

(ii) सप्तम उल्लास के आरंभ में 'दोष' का सामान्य परिचय देते हुए 'यदाह' से दण्डी के मत की चर्चा की है ।[3]

४. आचार्य भट्टोद्भट

(i) गोविन्द ठक्कुर ने नवम उल्लास में 'श्लेष' अलंकार में भट्टोद्भट की उक्ति को उद्धृत किया है ।[4]

(ii) दशम उल्लास में 'ससन्देह' अलंकार तथा 'कारणमाला' अलंकार में 'भट्टोद्भट' का उल्लेख 'काव्यप्रदीप' टीका में मिलता है ।[5]

५. आचार्य आनन्दवर्धन

आचार्य आनन्दवर्धन की चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने स्पष्टतः नामोल्लेख से एवं विस्तृत रूप में की है । आचार्य आनन्दवर्धन का प्रभाव मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' पर पर्याप्त मात्रा में है । सम्भवतः यही कारण है कि गोविन्द ठक्कुर ने स्थान-स्थान पर अपने कथन की पुष्टि के लिए आचार्य आनन्दवर्धन को उद्धृत किया है । सर्वप्रथम 'काव्य-लक्षण' में गोविन्द ठक्कुर ने स्वमत की पुष्टि के लिए आचार्य आनन्दवर्धन को उद्धृत किया है ।[6]

(ii) 'काव्यभेद' प्रसंग में 'चित्रकाव्य' भेद का विवेचन करते हुए प्रदीप-कार ने 'यदुक्तं ध्वनिकृता' से आनन्दवर्धन का उल्लेख अपने मत के समर्थन के

---

१. 'यदाहुः — 'साम्यायापह्नवो''''''यस्मिन्नेषाऽप्यह्नुति (वही, पृ० ३७०)

२ 'दण्डऽप्याह — 'त्वन्मुखं त्वन्मुखनेव तुल्यं नान्येन केनचित् ।'(वही, पृ० ६)

३. 'यदाह — 'स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेण दुर्भगम् ।'
(वही, पृ० १६८)

४. एक प्रयत्नोच्चार्याणां''''''''तत्प्रतीयताम् ।
(वही पृ० २९८)

५. (i) 'तर्त्कि भट्टोद्भटेनायमुपेक्षितः ।' (वही, पृ० २९८)
(ii) उक्तश्चायं भट्टोद्भटेन—'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतुः' इति (वही, पृ० ३७२)

६. अतएव ध्वनिकारेणोक्तम्''''''''''''पुष्णाति ? (वही, पृ० ८-९)

लिए किया है ।[१]

(iii) चतुर्थ उल्लास में ध्वनि-भेदों की चर्चा में जहाँ यह विवेचन किया गया है कि अन्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यादि ध्वनि भेद पद में भी होते हैं वहाँ गोविन्द ठक्कुर ने 'ध्वनिकार' का उल्लेख किया है ।[२] यहाँ थोड़ा पाठान्तर है । 'ध्वन्यालोक' में 'विच्छित्तिशोभिनैकेन' पद का प्रयोग है[3] तथा गोविन्द ठक्कुर ने 'एकावयवसंस्थेन' का प्रयोग किया है ।

(iv) पंचम उल्लास में ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य के मिश्रण से ध्वनि की भेद संख्या का उल्लेख करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने आचार्य आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है ।[४]

(v) सप्तम उल्लास के दोष प्रकरण में 'सञ्चार्यादिविरुद्धस्य बाध्य स्योक्तिर्गुणावहा' सूत्र की व्याख्या में मम्मट ने 'पाण्डु क्षामं`` हृदन्तः' और 'सत्यं मनोरमा'''जीवितम्' दो उदाहरणों को उद्धृत किया है । इन पद्यों की व्याख्या करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने ध्वनिकार के मत को उद्धृत करते हुए खण्डन किया है ।[५]

६. महिमभट्ट

पंचम उल्लास में 'व्यंजना की स्थापना' के प्रकरण में मम्मट की भाँति ही गोविन्द ठक्कुर ने महिमभट्ट की चर्चा की है । इसके अतिरिक्त 'सप्तम-उल्लास के 'दोष' प्रकरण में भी महिमभट्ट का उल्लेख किया है ।[६]

---

१. यदुक्तं ध्वनिकृता—'रसभावादिविषय·········मतः ।'
(काव्यप्रदीप, पृ० १६)

२. यदुक्तं ध्वनिकृता –
'एकावयवसंस्थेनभूषणेनेव कामिनी । पदव्यङ्ग्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ।' (वही, पृ० १११)

३. 'विच्छित्तिशोभिनेकेन भूषणेनेव कामिनी । पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ।' (ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० १६३)

४. ध्वर्नेयः······प्रतिभागुणः ।' (काव्यप्रदीप पृ० १४६)

५. (i) इत्यत्र'''तदयुक्तम् । (वही, पृ० २६९)
(ii) ध्वनिकारस्तु'''समाधिरिति ।' (वही, पृ० २६९)

६. 'यदुक्तं महिमभट्टेन—'अतएव ''शक्तिमुपदध्युरनन्तरे ।'
(वही, पृ० २३७)

७. अभिनवगुप्त

गोविन्द ठक्कुर ने आचार्य अभिनवगुप्त का उल्लेख कहीं भी प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया है। परन्तु कहीं-कहीं गोविन्द ठक्कुर का विवेचन अभिनवगुप्त के प्रभाव की झलक दिखाता है। चतुर्थ उल्लास में गोविन्द ठक्कुर ने 'रस-निष्पत्ति' में अभिनवगुप्त के मत को स्वीकार्य किया है। भट्टलोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के मत का स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया है परन्तु अभिनवगुप्त के मत को स्वीकार्य करते हुए विस्तृत विवेचन किया है।

अष्टम उल्लास के गुण विवेचन में भी गोविन्द ठक्कुर ने अभिनवगुप्त को दृष्टि में रखा है। 'माधुर्य-गुण' का विवेचन करते हुऐ गोविन्द ठक्कुर के इस कथन में 'शान्ते तु जुगुप्साद्यन्वयादोजोलेशानुविद्धमिति' पर अभिनवगुप्त का प्रभाव है। मम्मट तथा आनन्दवर्धन ने इस प्रकार की चर्चा नहीं की है अपितु अभिनवगुप्त ने लोचन में यह चर्चा की है।[1] अतएव गोविन्द ठक्कुर ने अभिनवगुप्त की मान्यता को ग्रहण किया है। इस प्रकार 'प्रसाद-गुण' में भी गोविन्द ठक्कुर पर अभिनवगुप्त का प्रभाव है।

८. धनंजय —

(i) काव्यप्रदीप टीका के चतुर्थ उल्लास में गोविन्द ठक्कुर ने एक-दो स्थलों में 'धनंजय' को बिना नामोल्लेख किए उद्धृत किया है। श्रृंगार रस की चर्चा में गोविन्द ठक्कुर ने धनंजय की कारिका को उद्वृत किया है।[2]

(ii) 'व्यभिचारी भावों का स्पष्टीकरण गोविन्द ठक्कुर ने धनंजय की भाँति किया है (जैसा कि पीछे पंचम अध्याय में विवेचन किया है।) निर्वेद, शंका, असूया, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह आदि व्यभिचारी भावों को स्पष्ट करते हुए जिन कारिकाओं का उल्लेख किया है वे 'दशरूपक से उद्धृत है।[3]

---

१. 'शान्ते तु विभाववैचित्र्यात्कदाचिदोजः प्रकृष्टं कदाचिदन्माधुर्यमिति विभागः। हास्यस्य श्रृंङ्गाराङ्ग तया माधुर्यं प्रकृष्टं।

(लोचन, पृ० ११३)

२. 'अनुकूलो'''मुदान्वितः। (काव्यप्रदीप पृ० ७५)

३. निर्वेद के लिए धनंजय के कारिका है—

(i) 'तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यदिनिर्वेदः स्वावमाननम्।
तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः।

—(दशरूपक, चतुर्थ उल्लास)

यही कारिका गोविन्द ठक्कुर ने उद्धृत की है (काव्यप्रदीप, पृ० ८५)

९. आचार्य भोजराज

गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में तीन-चार स्थानों में आचार्य भोजराज की चर्चा की है। चतुर्थ उल्लास के 'शृंगार रस' प्रकरण में गोविन्द ठक्कुर ने 'भावों...तदोच्यते' से जिस कारिका को उद्धृत किया है, उस कारिका का उल्लेख भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में किया है। चतुर्थ उल्लास में ही 'निपात की व्यंजकता' के उदाहरण की व्याख्या करते हुए भोजराज का नामोल्लेख किया है।[1]

(ii) सप्तम उल्लास के दोष प्रकरण में 'ग्राम्य' दोष की चर्चा करते हुए 'अपरे तु' से गोविन्द ठक्कुर ने जिस मत का उल्लेख किया है वह आचार्य भोजराज का मत है। यहाँ गोविन्द ठक्कुर ने भोजराज के मत का खण्डन किया है।[2]

(iii) सप्तम उल्लास के 'अर्थदोष' प्रकरण में आचार्य भोजराज का उल्लेख है।[3]

१०. आचार्य रुय्यक

गोविन्द ठक्कुर ने आचार्य रुय्यक का उल्लेख नवम, दशम उल्लास के 'अलंकार-प्रकरण' में किया है। नवम उल्लास में 'श्लेष' अलंकार का विवेचन करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक का नामोल्लेख किया है।[4]

(ii) 'भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति।
नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते।'
—(काव्यप्रदीप, पृ० ७५)

१. 'अत एवोक्तं भोजराजेनोपमाप्रकरणे...
'नहीवादेः सार्थकत्वेऽपि पृथक्पदतामनुशास्ति'।
—(काव्यप्रदीप, पृ० १२८)

२. अपरे तु 'देश्यमनेन संगृह्यते। कटिशब्दादयस्तु नोदाहर्तव्याः। किं तु गल्लभल्लादयः' इत्याहुः। तदुभयमप्यसत्।' (वही, पृ० १८०)

३. 'यदुक्तं भोजराजेन—'काव्येतिहासादावर्थवृत्त्या लब्धस्य साक्षाद्भणनमपौनरुक्त्याय' इति (वही, पृ० २३३)

४. 'द्विविधोऽप्यलंकारसर्वस्वकारादिभिरर्थाश्रितत्वेनार्थालंकारमध्ये पठितस्तत्कथं शब्दालंकारमध्ये पठ्यते इति।' (वही, पृ० २९९)

(ii) दशम उल्लास में 'उत्प्रेक्षा' अलंकार का विवेचन करते हुए गोविन्द-ठक्कुर ने रुय्यक के मत का खण्डन किया है।[1]

(iii) 'रूपक अलंकार' विवेचन में गोविन्द ठक्कुर ने 'प्रसिद्धि' का अर्थ स्पष्ट करते हुए रुय्यक का उल्लेख किया है और उसके मत को ग्रहण किया है।[2]

इसके अतिरिक्त अनेक अलंकारों के विवेचन में गोविन्द ठक्कुर ने आचार्य रुय्यक का प्रभाव ग्रहण किया है (जिसका उल्लेख 'अलंकार-विवेचन' शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

११. आचार्य विश्वनाथ

अन्तिम आचार्य विश्वनाथ हैं जिनका उल्लेख गोविन्द ठक्कुर ने अनेक स्थानों पर किया है। आचार्य विश्वनाथ के संवंध में 'काव्यप्रदीप' टीका में एक विशेष बात यह देखने को मिली है गोविन्द ठक्कुर ने विश्वनाथ का कहीं भी नामोल्लेख नहीं किया है। गोविन्द ठक्कुर ने सर्वत्र विश्वनाथ की आलोचना नहीं की है अपितु अनेक स्थलों का विवेचन विश्वनाथ के प्रभाव-स्वरूप किया है। परन्तु जहाँ कहीं भी विश्वनाथ ने मम्मट के मत का खण्डन किया है वहाँ गोविन्द ठक्कुर विश्वनाथ के मत की आलोचना करने से चूके नहीं है। प्रकाशकार के विरुद्ध विश्वनाथ का मत गोविन्द ठक्कुर द्वारा अपास्त हुआ है।

(i) सर्वप्रथम विश्वनाथ का उल्लेख 'काव्य-लक्षण' के 'यः कौमारहरः' उदाहरण प्रसंग में मिलता है। यद्यपि यहाँ विश्वनाथ की स्पष्ट रूप में चर्चा नहीं है परन्तु गोविन्द ठक्कुर के विवेचन से ऐसा लगता है कि उन्होंने प्रस्तुत उदाहरण में 'विभावना' और 'विशेषोक्ति' अलंकार मानने वाले विश्वनाथ के मत का खण्डन किया है।[3]

(ii) 'काव्य-लक्षण' विवेचन के अन्त में गोविन्द ठक्कुर ने 'अर्वाचीनास्तु' से विश्वनाथ के मत का उल्लेख किया है जिसमें बताया है कि विश्वनाथ के

---

१. 'अत एव 'तमसो लेपनकर्तृत्वमत्रोप्रेक्ष्यम्' इत्यालंकारसर्वस्वकारमतमापास्तम्।' (काव्यप्रदीप, पृ० ३२४)

२. तथापि श्लेषापवादकं रूपकमित्यालंकारसर्वस्वकारादिप्रसिद्यनुरोधेनोक्तः। (वही, पृ० ३३०)

३. 'अत्र रूपकदीनामसंभव एव ···प्रधान्यात्।' (वही, पृ० ९-१०-११)

अनुसार 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' काव्य का लक्षण है ।[१]

(iii) 'उत्तम-काव्य' के उदाहरण 'निश्शेषच्युतचन्दनं' की व्याख्या में गोविन्द ठक्कुर ने 'अत्र केचित्' से विश्वनाथ के मत का उल्लेख किया है पुनः उस मत का विस्तृत विवेचन करते हुए खण्डन भी किया है ।[२]

(iv) द्वितीय उल्लास के लक्षण प्रसंग में विश्वनाथ के मत का उल्लेख किया है कि 'अन्यत्र' उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षण को 'जहत्स्वार्था-वृत्ति' तथा 'अजत्स्वार्था वृत्ति' कहा गया है । विश्वनाथ ने गौणी लक्षणा के भी उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा दो भेद माने हैं ।[3] अतएव यहाँ गोविन्द ठक्कुर ने विश्वनाथ का खण्डन किया है ।

(v) चतुर्थ उल्लास के विवेचन में विश्वनाथ का पर्याप्त प्रभाव गोविन्द-ठक्कुर पर अप्रत्यक्ष रूप में है । 'स्थायी-भाव' का स्पष्टीकरण करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने 'यदुक्तम्' से आचार्य विश्वनाथ के मत का उल्लेख किया है ।[४]

(vi) करुण रस, रौद्र रस, वीर रस, भयानक रस का स्पष्टीकरण विश्वनाथ की भाँति किया है ।[५]

(vii) 'व्यभिचारी भावों' को गोविन्द ठक्कुर ने धनंजय और आचार्य विश्वनाथ की भाँति स्पष्ट किया है ।[६]

(viii) 'व्यभिचारी भावों' के विवेचन में प्रदीपकार ने 'तदुक्तम्' से विश्वनाथ के मत का उल्लेख किया है । उन कारिकाओं में स्पष्ट किया है कि कौन सा स्थायी-भाव किस रस में व्यभिचारी भाव बन जाता है ।[७]

(ix) 'शान्त रस' की चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने विश्वनाथ के समान की है । मम्मट ने 'शान्त रस' का स्थायी-भाव 'निर्वेद' माना है परन्तु विश्वनाथ ने 'शम' स्थायी भाव माना है । गोविन्द ठक्कुर ने भी 'शम' स्थायी भाव की चर्चा की है और विश्वनाथ के समान कृष्ण द्वैपायन व्यास के श्लोक 'यच्च

---

१. अर्वाचीनास्तु'''गौणः इत्याहुः । (काव्यप्रदीप, पृ० ११)
२. अत्र केचित्'''इत्याहुः । (वही पृ० १३)
३. एते एवान्यत्र'''मेवम् । (वही, पृ० २८-२९)
४. यदुक्तम्—'विरुद्धा अविरुद्धा—स्थायिपदास्पदम् ।' (वही, पृ० ६३)
५. वही, पृ० ८१-८२-८३
६. वही, पृ० ८७-८८-८९
७. तदुक्तम्—शृङ्गारवीर'''भावितबुद्धिभिः ।' (वही, पृ० ८९)

कामसुखं' को भी उद्धृत किया है।[१]

(x) चतुर्थ उल्लास में ध्वनि-भेदों की गणना में 'अत्रार्वाचीनाः' से विश्वनाथ के ध्वनि-भेदों का एवं उनकी गणना प्रणाली का उल्लेख किया है तथा उस प्रणाली का खण्डन किया है।[२] (इसका विस्तृत विवेचन 'चतुर्थ-अध्याय' के विवेचन में किया गया है)।

(xi) दशम उल्लास के 'एकावली अलंकार' विवेचन में गोविन्द ठक्कुर ने 'कश्चित्तु' से विश्वनाथ के 'एकावली' अलंकार लक्षण की चर्चा की है एव विश्वनाथ का लक्षण काव्यप्रकाशकार के विरुद्ध होने के कारण अमान्य ठहराया है।[३]

इस प्रकार स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर ने ध्वनिकार आनन्दवर्धन और साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के मत का उल्लेख विस्तृत रूप में किया है। जहाँ एक ओर ध्वनिकार की नामनिर्देश से चर्चा की है वहाँ आचार्य विश्वनाथ के मत की चर्चा विना नामोल्लेख से 'अर्वाचीनाः' 'कश्चित्तु' आदि शब्दों से की है। अन्य आचार्यों का कहीं-कहीं गोविन्द ठक्कुर पर प्रभाव है।

टीकाकार

पूर्ववर्ती टीकाकारों का गोविन्द ठक्कुर पर प्रभाव

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त 'काव्यप्रकाश' के टीकाकारों का भी उल्लेख 'काव्यप्रदीप' में मिलता है। टीकाकारों में प्रमुख रूप से गोविन्द-ठक्कुर ने दो टीकाकारों के मत का उल्लेख करते हुए खण्डन किया है। वे टीकाकार हैं भास्कर और चण्डीदास।

१. भास्कर

(i) भास्कर' टीकाकार का नामोल्लेख और उनके मत का विवेचन द्वितीय उल्लास के 'अभिधा' प्रकरण में उपलब्ध है। गोविन्द ठक्कुर ने यहाँ 'भास्कर' के मत का खण्डन भी किया है।[४]

(ii) सप्तम उल्लास के दोष-प्रकरण के आरम्भ में 'दोष' का सामान्य परिचय देते हुए गोविन्द ठक्कुर ने 'भास्कर' के मत को उद्धृत करते हुए

---

१. तस्माच्छमोऽस्य स्थायी। निर्वेदादयस्तु व्यभिचारिणः। स च शमो निरीहावस्थायामानन्दः। (काव्यप्रदीप, पृ० ९०-९१)

२. 'अत्रार्वाचीनाः—' गणनेयमयुक्ता। तथाहि— संकीर्ण-भेदा इत्येव ज्यायः 'इति वदन्ति।' (वही, पृ० १३०-१३१)

३. कश्चित्तु – इत्यादिप्रकाशविरुद्धम्। (वही, पृ० ३८१)

४. भास्करस्तु···लाभात्। इत्याह (वही, पृ० २१)

खण्डन किया है ।[१] 'अपदस्थसमास' के गुण होने में भी 'भास्कर' की चर्चा की है ।[२]

(iii) अष्टम उल्लास के गुण प्रकरण में 'माधुर्य-गुण' का विवेचन करते हुए गोविन्द ठक्कुर ने 'भास्कर' के अनुसार माधुर्य-गुण का लक्षण दिया है तथा उसका खण्डन किया है ।[३]

अतएव स्पष्ट है कि सम्पूर्ण टीका में चार बार भास्कर का उल्लेख किया है ।

२. चण्डीदास

दूसरे टीकाकार 'चण्डीदास' हैं जिनका गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' टीका में अनेक वार स्मरण किया है । (i) सर्वप्रथम द्वितीय उल्लास के संकेतग्रह के प्रसंग में चण्डीदास की चर्चा की है ।[४] 'तच्च भाष्यविरुद्धम्' से गोविन्द ठक्कुर ने चण्डीदास के मत का खण्डन किया है ।

(ii) 'हिमपयः शङ्खाद्याश्रयेषु···' आदि पंक्तियों की व्याख्या के अन्त में 'येषां मते' से चण्डीदास के मत को उद्धृत किया है ।[५]

(iii) 'लक्षणा तेन षड्विधा' की व्याख्या में गोविन्द ठक्कुर ने चण्डीदास के मत की आलोचना की है ।[६]

(iv) द्वितीय-उल्लास में ही 'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्' कारिका की व्याख्या में चण्डीदास के मत को उद्धृत किया है और खण्डन किया है ।[७]

---

१. 'अत्र भास्करः···' सत्यमुच्यते······तन्नातिमनोरमम् ।'
(काव्यप्रदीप, पृ० १७०)

२. भास्करस्तु 'शृङ्गारे ससासस्यानौचित्यादस्थानस्थत्वम्' । इत्याह ।
(वही, पृ० २६१)

३. भास्करस्तु श्राव्यत्वं माधुर्यस्य लक्षणमाह स्म । तद्युक्तम् ।
(वही, पृ० २७९)

४. चण्डीदासस्तु···प्रतीयते । इति वृत्त्यर्थमाह । (वही, पृ० २४)

५. येषां मते···चिन्त्यम् । (काव्यप्रदीप, पृ० २५)

६. रूढिप्रयोजनोपादानलक्षणरोपा···इति चण्डीदासव्याख्यानं तत्···नादेयम् ।
(वही, पृ० ३६)

७. यत्तूक्तं यथाश्रुते चण्डीदासेन···ज्ञानस्य विषयातिरिक्तं···स्वाव्यभिचारः ।
(वही, पृ० ४१)

(v) सप्तम उल्लास के 'दोष' प्रकरण में तीन स्थानों में चण्डीदास की चर्चा है। पदैकदेश की निरर्थकता के उदाहरण में[१], विवक्षित व्यंग्य योगाभाव-निमित्तक उदाहरण की व्याख्या में[२], पर्यायप्रक्रमभङ्ग के उदाहरण[3] में चण्डीदास का उल्लेख किया गया है।

(vi) अष्टम उल्लास के गुण-विवेचन में 'चण्डीदास' के मत का उल्लेख करते हुए खण्डन किया है।[४]

अतएव यह स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर ने इन टीकाकारों के मतों का सर्वत्र खण्डन किया है। यद्यपि गोविन्द ठक्कुर के पूर्ववर्ती अनेक टीकाकार हैं परन्तु प्रदीपकार ने विशेषतः दो टीकाकारों का ही उल्लेख किया है। सम्भवतः कारण यही रहा होगा कि इन दोनों टीकाकारों का मत गोविन्द-ठक्कुर के मत के प्रतिकूल होने के कारण ही आलोचना का विषय है।

३. श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य

गोविन्द ठक्कुर ने श्रीवत्सलाञ्छन.भट्टाचार्य की 'सारबोधिनी' टीका का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु 'काव्यप्रदीप' टीका के अध्ययनोपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'काव्यप्रदीप' टीका पर कहीं-कहीं सारबोधिनी टीका का भी प्रभाव है। 'क.व्यप्रदीप' टीका में अनेक ऐसी पंक्तियाँ हैं जिनका साम्य 'सारबोधिनी' टीका की पंक्तियों से है। श्रीभट्टाचार्य का समय गोविन्द-ठक्कुर से कुछ ही पूर्व का है एवं नैयायिकशैली के लेखक गोविन्द ठक्कुर की टीका 'काव्यप्रदीप' पर अप्रत्यक्ष रूप में सारबोधिनीकार का प्रभाव है। जैसे (i) प्रथम उल्लास के मंगलाचरण विवेचन में 'नियति' शब्द की व्याख्या गोविन्द ठक्कुर ने 'सारबोधिनी' टीका के अनुसार की है।[५]

(ii) 'काव्यहेतु' प्रसंग में 'दण्डचक्रादिन्यायों' की चर्चा दोनों टीकाओं (काव्यप्रदीप, सारबोधिनी) में उपलब्ध है।[६]

---

१. एतेन 'अवयवाभिप्रायेण'''इति चण्डीदासमतमनादेयम्।
(काव्यप्रदीप, पृ० २०२)

२. 'एवं च चण्डीदासादिव्याख्यानमनादेयम्। (वही, पृ० २२०)

३. 'एतेन साधुरेव 'पुत्रवतः' इति पाठः—वृत्तिकृतोऽत्रानुमतिरेव। इति चण्डीदासमतमनादेयम्। (वही, पृ० २२८)

४. चण्डीदासस्तु—'रसधर्ममात्रं लक्षणं, उत्कर्षहेतुत्वं गुणशब्दप्रवृत्तिबीजम् इत्याह। (वही, पृ० २७४)

५. सारबोधिनी, पृ० ५—काव्यप्रदीप, पृ० २

६. सारबोधिनी, पृ० १०, काव्यप्रदीप, पृ० ११

(iii) 'काव्यलक्षण' निरूपण में दोनों टीकाकारों ने (श्रीभट्टाचार्य, गोविन्द ठक्कुर) 'अदोष' शब्द की व्याख्या में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के मत का उल्लेख विश्वनाथ के नामोल्लेख किए बिना ही किया है। गोविन्द ठक्कुर ने 'अर्वाचीनास्तु से तथा श्रीभट्टाचार्य ने 'अत्र केचित्' से विश्वनाथ के मत की चर्चा की है।[1]

(iv) सप्तम उल्लास के दोष-प्रकरण में गोविन्द ठक्कुर पर श्रीभट्टाचार्य की 'सारबोधिनी टीका का काफी प्रभाव है। श्रुतिकटु दोष, च्युतसंस्कृति दोष, अविमृष्टविधेयांश दोष की चर्चा, वाक्यदोष तथा अर्थदोषों के विवेचन में सारबोधिनी टीका का प्रभाव है।

इस चर्चा के पश्चात् निष्कर्ष यह है कि गोविन्द ठक्कुर ने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत को ग्रहण करते हुए या कहीं-कहीं उन आचार्यों की युक्ति-युक्त समीक्षा करते हुए एक सामंजस्य पूर्ण मान्यता निर्धारित करने का सफल प्रयास किया है। अतएव स्वमत प्रतिपादन और वैचारिक पुष्टि के लिए गोविन्द ठक्कुर ने पूर्ववर्ती आचार्यों को अपनी टीका में उद्धृत किया है और पूर्ववर्ती टीकाकारों का खण्डन भी किया है।

'गोविन्द ठक्कुर का परवर्ती टीकाकारों पर प्रभाव'

यह निर्विवाद सत्य है कि काव्यप्रकाश की अनेक टीकाओं में 'काव्य-प्रदीप' टीका उच्चकोटि की है। 'काव्यप्रदीप' टीका में गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के भावों का गहन चिन्तन और विस्तृत विवेचन किया है जिसके फलस्वरूप परवर्ती टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में स्थान-स्थान पर गोविन्द-ठक्कुर का स्मरण किया है। यशोविजयी जी की काव्यप्रकाश टीका, कमलाकर-भट्ट की कमलाकरी, नरसिंह ठक्कुर की नरसिंह मनीषा तथा भीमसेन दीक्षित की सुधासागर टीकाओं में गोविन्द ठक्कुर की विशेष चर्चा है।

कमलाकर भट्ट की कमलाकरी तथा नरसिंह ठक्कुर की टीका 'नरसिंह मनीषा' उपलब्ध न होने के कारण यहा चर्चा का विषय नहीं है।

१. यशोविजयी

(i) सर्वप्रथम यशोविजयी जी की टीका है। इस टीका का स्वतंत्र रूप से कोई नाम नहीं है। यह टीका 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय एवं तृतीय उल्लास तक ही उपलब्ध है। इन दो उल्लासों में यशोविजयी जी ने अनेक बार गोविन्द-ठक्कुर का उल्लेख किया है। प्रस्तुत टीका में कहीं गोविन्द ठक्कुर की

---

१. सारबोधिनी, पृ० २२, काव्यप्रदीप, पृ० २०-२१

आलोचना की है और कहीं-कहीं यशोविजयी जी का विवेचन 'काव्यप्रदीप' टीका से अत्यधिक साम्य रखता है।

(i) सर्वप्रथम द्वितीय उल्लास के 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' सूत्र की व्याख्या में गोविन्द ठक्कुर के मत की चर्चा की है।[१]

(ii) 'साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचक:' सूत्र के विवेचन में श्री यशोविजयी जी ने गोविन्द ठक्कुर का नामोल्लेख करते हुए उनके (गोविन्द ठक्कुर) मत को उद्धृत किया है।[२]

(iii) मुकुल भट्ट के 'ताटस्थ्य' सिद्धान्त का खण्डन करते हुए मम्मट की 'तटादीनां गंगादिशब्दैः ··मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणाया: को भेद:' वृत्ति का स्पष्टीकरण करते हुए यशोविजयी जी ने गोविन्द ठक्कुर का आशय दिया है।[३]

(iv) 'लक्षणा तेन षड्विधा' सूत्र की व्याख्या में गोविन्द ठक्कुर ने चण्डीदास के मत का उल्लेख करते हुए चण्डीदास का खण्डन किया है। यशोविजयी जी ने गोविन्द ठक्कुर की इस चर्चा का उल्लेख किया है।[४]

(v) 'लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो··' सूत्र (२६) की व्याख्या में श्रीयशोविजयी जी ने गोविन्द ठक्कुर के मत को उद्धृत किया है।[५]

(vi) अभिधामूलाव्यंजना में 'सन्निधि' के लक्षणा में गोविन्द ठक्कुर का उल्लेख किया है।[६]

(vii) अभिधामूला व्यंजना प्रकरण में 'स्वर' का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए यशोविजयी जी ने गोविन्द ठक्कुर का निर्देश किया है।[७]

(viii) तृतीय उल्लास के आरंभ में यशोविजयी ने प्रदीपकार के मत का

---

१. प्रदीपकृतस्य तात्पर्यार्थोऽपीत्यादीनामन्यथाऽर्थमामनन्ति, तथाहि—ननु वृत्तिप्रतिपाद्यवाच्याद्यर्थवद्वृत्यप्रतिपाद्योऽपि वाक्यार्थस्तात्पर्यार्थापरनामधेयोऽस्ति स कुतो नोक्त: ? अत आह···' (काव्यप्रकाश टीका, पृ० १२)

२. प्रदीपकृतस्तु·········प्राहु:। (वही पृ० २८)

३. ननु············इति प्रदीपकृत्प्रभृतय:।' (वही पृ० ७७)

४. अत्र चण्डीदास ·····शब्दयोरेवमसङ्गत्यापत्ति: (वही, पृ० ९७)

५. प्रदीपकृतस्तु······शेष इति वदन्ति। (वही पृ० १२३)

६. 'प्रदीपकृतस्तु समानार्थकशब्दान्तरसामानाधिकरण्यं तदर्थ:।' (वही, पृ० १३३)

७. 'बाहुल्येनेति शेष:, वृष्टि: पंकजवैरिणीत्यादौ तुल्यन्यायेन काव्येपि तत्सम्भवादिति प्रदीपकृत:' (वही, पृ० १३६)

उल्लेख किया है कि यहाँ अर्थ का निरूपण छोड़कर व्यंजना का निरूपण किया जा रहा है इसका यह अभिप्राय नहीं कि यहाँ अर्थ-निरूपण का अनादर किया गया है।[1]

(ix) आर्थी व्यंजना के काकु वैशिष्ट्य उदाहरण 'तथाभूतां दृष्ट्वा' की व्याख्या में गोविन्द ठक्कुर का मत उद्धृत करते हुए उसका खण्डन किया है।[2] जिसकी विस्तृत चर्चा आर्थी व्यंजना के प्रसंग में की गई है।

अतएव 'प्रदीपकृतस्तु' से श्रीयशोविजयजी ने स्वयं नौ बार गोविन्द ठक्कुर का उल्लेख किया है। परन्तु कहीं कहीं यशोविजयी जी का विवेचन प्रदीपकार के विवेचन से इतना अधिक साम्य है कि वहाँ प्रदीपकार का प्रभाव लक्षित होता है। जैसे 'अभिधा' की चर्चा में चण्डीदास के मत की चर्चा करना पुनः उस मत का खण्डन करना गोविन्द ठक्कुर के अभिधा विवेचन के समान हैं।[3]

'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते' (सूत्र ११) की व्याख्या यशोविजय जी ने गोविन्द ठक्कुर के समान की है।[4]

'द्वितीय एवं तृतीय उल्लास' तक उपलब्ध टीका में अनेक बार गोविन्द-ठक्कुर का स्मरण इस बात का प्रतीक है कि सम्पूर्ण टीका में भी इसी प्रकार गोविन्द ठक्कुर के प्रति यशोविजयी जी का अत्यधिक झुकाव रहा होगा।

२. भीमसेन दीक्षित

गोविन्द ठक्कुर का 'सुधासागर' टीका पर सर्वाधिक प्रभाव है। 'सुधासागर' टीका के अध्ययनोपरान्त हम निश्चित रूप में कह सकते हैं कि कुछ स्थलों को छोड़कर सम्पूर्ण 'सुधासागर' टीका 'काव्यप्रदीप' टीका का ही अनुकरण है। 'सुधासागर' टीका में 'प्रदीप' टीका की चर्चा तीन प्रकार से की गई है—

प्रथम तो वह है जहाँ भीमसेन दीक्षित ने गोविन्द ठक्कुर को उद्धृत करके पुनः उनके मत का खण्डन किया है। द्वितीय में गोविन्द ठक्कुर के मत का उल्लेख है, खण्डन नहीं। तृतीय प्रकार वह है जहाँ भीमसेन दीक्षित ने स्वयं गोविन्द ठक्कुर की नाम निर्देश से चर्चा नहीं की है परन्तु उनकी टीका में अधिकांश ऐसे स्थल हैं जिनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे स्थल 'प्रदीप'

---

१. 'नन्वर्थे..............इति प्रदीपकृतः' (काव्यप्रकाश टीका पृ० १४७)

२. 'प्रदीपकृतस्तु.........बाधकमत आह (वही पृ० १५६)

३. काव्यप्रदीप, पृ० २४, काव्यप्रकाश टीका, पृ० ३९

४. काव्यप्रदीप, पृ० २५, काव्यप्रकाश टीका, पृ ५३

टीका के ही ज्यों के त्यों उद्धृत हैं। इन स्थलों के विषयों में तो इतना अधिक भ्रम होता है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि यह स्थल 'प्रदीप' टीका के हैं या 'सुधासागर' टीका के। परन्तु 'काव्यप्रदीप' टीका के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह विवेचन मूलतः प्रदीपकार का ही है।

प्रथम प्रकार (खण्डन के स्थल)

सर्वप्रथम उन स्थलों का विवेचन किया है जहाँ भीमसेन दीक्षित ने प्रदीपकार के मत का उल्लेख करते हुए खण्डन भी किया हैं।

(i) 'काव्यहेतु' प्रसंग में गोविन्द ठक्कुर की 'प्रतिभा' संबंधी व्याख्या का खण्डन करते हुए भीमसेन दीक्षित ने स्वमत की चर्चा की है।[1]

(ii) 'काव्यहेतु' में ही गोविन्द ठक्कुर के इस कथन 'तथा च काव्यं भ्रमः कार्यः' का भीमसेन दीक्षित ने 'तन्न स्पष्टप्रतिपादकम्' से खण्डन किया है।[2]

(iii) द्वितीय उल्लास के 'अभिधा' प्रकरण में 'वाचक-शक्ति' की व्याख्या में गोविन्द ठक्कुर के मत का उल्लेख करते हुए 'तदयुक्तम्' से भीमसेन दीक्षित ने गोविन्द ठक्कुर के मत का खण्डन किया है।[3]

(iv) चतुर्थ उल्लास की 'श्रृंगारहास्य...स्मृताः' कारिका की चर्चा में सुधासागरकार ने गोविन्द ठक्कुर के मत का उल्लेख करते हुए 'तन्नादरणीयम्' से प्रदीपकार का मत अमान्य ठहराया है।[4]

(v) चतुर्थ उल्लास में ही 'कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुरूप व्यंजक' के उदाहरण 'रात्रीषु... विजृम्भमाणः'[5] की व्याख्या में प्रदीपकार का उल्लेख करते हुए अन्त में 'प्रमादः' आदि शब्द-कथन से गोविन्द ठक्कुर के प्रति निरादर की भावना व्यक्त की है।[6]

---

१. 'यत्तूक्तं प्रदीपकारैः—प्रतिभाव्यपदेश इति। तत्तुच्छम्। अनन्यपरतन्त्रामित्यत्र कवेस्तत्प्रतिभायाश्चाऽन्यो य आत्मनः पर इति व्याख्यानविरोधात्।' (सुधासागर, पृ० १४)

२. सुधासागर, पृ० १८

३. यत्त्वत्र..............त्वाच्च। तदुक्तम्। (सुधासागर पृ० ५१-५२)

४. प्रदीपकारास्तु ....तन्नादरणीयम्। (सुधासागर, पृ० १३६)

५. काव्यप्रकाश, उदाहरण ४-८४

६ अखण्डाऽऽज्ञाविषयो.........गोविन्दमहामहोपाध्यायप्रभृतीनां महतामपि महान् प्रमादः।' (सुधासागर, पृ० २१०)

(vi) सप्तम उल्लास के दोष प्रकरण' में 'अभवन्मतयोग' के 'न्यूनतानिमित्तक' भेद की चर्चा में गोविन्द ठक्कुर के मत को उद्धृत करके 'तन्न...... रमणीयम्' से निषेध किया है।[1]

(vii) सप्तम उल्लास के 'प्रसिद्धि-विरुद्ध' दोष के उदाहरण 'उपपरिसरं... कञ्चुकः' में गोविन्द ठक्कुर के मत को उद्धृत करते हुए भीमसेन दीक्षित ने अत्यन्त-निरादरसूचक शब्दों द्वारा गोविन्द ठक्कुर के मत का खण्डन किया है।

(vii) दशम उल्लास में 'समुच्चय अलंकार' के उदाहरण 'शशी... शल्यानि मे'[4] में गोविन्द ठक्कुर के मत का उल्लेख करते हुए 'तत्प्रामादिकम्' से निराकरण किया हैं।[5]

अतएव इन स्थलों में 'सुधासागर' टीका के प्रदीपकार में मत का खण्डन किया है।

द्वितीय प्रकार (गोविन्द ठक्कुर का उल्लेख)

'सुधासागर' टीका में गोविन्द ठक्कुर के मत का एक वह रूप भी उपलब्ध है जहाँ भीमसेन दीक्षित ने 'काव्यप्रदीपकारैः' या 'गोविन्दमहामहोपाध्याय' से स्पष्टतः नामनिर्देश करते हुए प्रदीपकार के मत को उद्धृत किया है परन्तु खण्डन नहीं किया है अपितु उस मत के साथ सुधासागरकार ने सहमति प्रकट की है। ऐसे स्थलों की संख्या 'सुधासागर' टीका में पर्याप्त मात्रा में है। अतः यहाँ उन स्थलों का विस्तृत विवेचन न करके केवल पृष्ठ संख्या का उल्लेख किया गया है। वे पृष्ठ हैं—

प्रथम उल्लास

सुधासागर, पृष्ठ २४-२५ 'अतएव गोविन्दमहामहोपाध्यायैः... '
(काव्य-लक्षण में)

सुधासागर, पृ० ३६-३७ 'अतएव काव्यप्रदीपकारैरुक्तम्। ...'
(उत्तमकाव्य के उदाहरण में)

सुधासागर, पृ० ४२ 'अत्रोक्तं प्रदीपकारैः...' (चित्रकाव्य के उदाहरण में)

---

१. प्रदीपकारैरुक्तम्....... तन्न रमणीयम्। (सुधासागर पृ० ३८८)

२. काव्यप्रकाश, उदाहरण ७-२६५

३. एवं च यत्प्रदीपकारैरुक्तम्...पुनर्मानुषामशकाः। (सुधासागर पृ० ४२३)

४. काव्यप्रकाश, उदाहरण १०.५०९

५. यत्तु काव्यप्रदीपकारैरुक्तम्...तत्प्रामादिकम्। (सुधासागरम् पृ० ६४२)

द्वितीय उल्लास

सुधासागर, पृ० ४५-४६ 'एतदेवाभिप्रेत्योक्तं काव्यप्रदीपकारैः····'

(तात्पर्य की चर्चा में)

सुधासागर, पृ० ६१ '···इति प्रदीपकाराः' से उल्लेख है।'

(संकेतग्रह के प्रसंग में मीमांसकों के मत की चर्चा में)

चतुर्थ उल्लास

सुधासागर, पृ० १०५ में···नचैतत् प्रदीपकारोक्तमेवेति शङ्क्यम् से उल्लेख।' (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि के उदाहरण में)

सुधासागर, पृ० ११० में '···अतएव काव्यप्रदीपकारैर्व्याख्यातम्···।'

(रसवत् अलंकार की चर्चा)

सुधासागर, पृ० १४७ में 'आधुनिकाः प्रदीपकारादयस्तु···'

(शापहेतुक पद्य की चर्चा)

गुधासागर, पृ० १७६ 'अतएव प्रदीपकारैर्व्याख्यातम्···।'

(शब्दशक्तिमूलक अलंकार ध्वनि के उदाहरण में)

सुधासागर, पृ० २१४ में 'प्रदीपकारास्तु······।'

(कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु द्वारा वस्तु व्यंजना में)

सुधासागर, पृ० २२४ में 'अतएव प्रदीपकारैरुक्तम्'।

(षष्ठी विभक्ति के रूप में पदैकदेश की श्रृंगार व्यंजकता के उदाहरण में)

पंचम उल्लास

सुधासागर, पृ० २५५, 'अत्र प्रदीपकाराः···।'

(गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के शुद्ध भेदों की चर्चा में)

सुधासागर, पृ० २७४ में 'उक्त च प्रदीपकारैः···।'

तथा'अतएवोक्तंप्रदीपकारैः·······।

(व्यंजना की चर्चा)

सप्तम उल्लास

सुधासागर, पृ० ३२२ '···इति प्रदीपकारः' (दोष चर्चा)

सुधासागर, ३३३ 'यच्च गोविन्दमहामहोपाध्यायैर्व्याख्यातम्···।'

(अप्रतीत दोष में)

सुधासागर, पृ० ३४६ 'यत्तूक्तं प्रदीपकारैः···।'

(अनुचितार्थ-दोष के उदाहरण में)

सुधासागर, पृ० ३५० 'अतएव प्रदीपकारैर्व्याख्यातम्'

(अवाचक दोष में)

सुधासागर, पृ० ३५३, 'अत्र काव्यप्रदीपकाराः प्राहुः...।'

(कथितपद-दोष के उदाहरण में)

सुधासागर, पृ० ३९१ 'अतएव प्रदीपकारैर्व्याख्यातम्...।'

(विवक्षितव्यङ्ग्य योगाभावनिमित्तक में)

सुधासागर, पृ० ४३० 'उक्तं च प्रदीपकारैः......।'

(विशेषपरिवृत्त दोष में)

सुधासागर, पृ० ४३३ 'अतएव प्रदीपकारैर्व्याख्यातम्...।'

(साकाङ्क्ष अर्थ में)

सुधासागर, पृ० ४३४ 'अतएवप्रदीपकारैरुक्तम्......।'

(अपदयुक्त में)

सुधासागर, पृ० ४४२ 'अतएवप्रदीपकारैर्व्याख्यातम्......।'

(दोष समाधान की कारिका में)

सुधासागर, पृ० ४७८ 'व्याख्यातं च प्रदीपकारैः...।'

(प्रतिकूलविभावादि ग्रह की अदोषता में)

सुधासागर, पृ० ४८०-४८१ 'व्याख्यातं च प्रदीपकारै...।'

(रसविरोध के परिहार के उपाय में)

सुधासागर, पृ० ४८३ 'व्याख्यातं च प्रदीपकारैः...।'

(रस-विरोध के परिहार में)

सुधासागर, पृ० ४८४ 'व्याख्यातं च प्रदीपकारैः......।'

(रस-विरोध के अपवाद में)

अष्टम उल्लास

सुधासागर, पृ० ४८९ 'व्याख्यातं च प्रदीपकारैः...।'

(गुण और अलंकार विवेचन की कारिका में)

सुधासागर, पृ० ४९४ में 'अत्रप्राञ्चः' से प्रदीपकार का उल्लेख है।

(अलंकार द्वारा वाच्य का उपकार नहीं)

नवम उल्लास

सुधासागर, पृ० ५०९ 'एवं च प्रदीपकारैर्वृत्ति व्याख्याय यदुक्तम्...।'

(अनुप्रास अलंकार में)

सुधासागर, पृ० ५३७, 'प्रदीपकारास्तु......।'

(शब्द-श्लेष में)

दशम उल्लास

सुधासागर, पृ० ५५७-५५८ 'प्रदीपकारैर्व्याख्यातम्…।'

(उपमा अलंकार में)

सुधासागर, पृ० ५७० 'व्याख्यातं च प्रदीपकारैः।'

(अनन्वय अलंकार में)

सुधासागर, पृ० ५७४ 'अतएव प्रदीपकारैरुक्तम्…।'

(उत्प्रेक्षा अलंकार में)

सुधासागर, पृ० ५८४ 'अतएवोक्तं प्रदीपकारैः…।'

(अर्थ-श्लेष में)

सुधासागर, पृ० ६११ 'व्याख्यातं च प्रदीपकारैः…।'

(दीपक अलंकार में)

सुधासागर, पृ० ६३४ 'व्याख्यातं च प्रदीपकारैः…।'

(परिवृत्ति अलंकार में)

सुधासागर, पृ० ६४४ 'व्याख्यातं च प्रदीपकारैः…।'

(पर्याय अलंकार में)

सुधासागर, पृ० ६५६ 'व्याख्यातं च प्रदीपकारैः…।' (सूक्ष्म अलंकार में)

इस प्रकार भीमसेन दीक्षित ने इन स्थलों पर 'काव्यप्रदीप' टीका को उद्धृत किया है।

तृतीय प्रकार

तृतीय प्रकार वह है जहाँ भीमसेन दीक्षित ने गोविन्द ठक्कुर का उल्लेख तो नहीं किया है परन्तु उनके विवेचन से यह प्रतीत होता है कि 'काव्य-प्रदीप' की चर्चा का ही भीमसेन दीक्षित ने अनुकरण किया है। यहाँ हम उन पृष्ठों का उल्लेख करेंगे जिसमें 'सुधासागर' टीका की चर्चा 'काव्यप्रदीप' टीका के समान है --

प्रथम उल्लास

काव्यप्रदीप, पृ० ६-११ 'अत्र रूपकादीनामसम्भव एव…विभावनीयम्' तक की चर्चा सुधासागर में पृष्ठ २७ से २९ तक है।

मध्यम-काव्य की चर्चा 'अतिशयितचमत्कारानाधायके…अनुपपत्ति' का उल्लेख काव्यप्रदीप, पृ० १४ और सुधासागर, पृ० ३७ में है।'

काव्यप्रदीप, पृ० १५ में चित्रकाव्य की चर्चा 'तेनाव्यङ्ग्यं…गुणालंकार-योगि', सुधासागर, पृ० ३९ में हैं।

'चित्रकाव्य' के उदाहरण 'स्वच्छन्दोच्छल' (उदाहरण ४ काव्यप्रकाश) का विवेचन काव्यप्रदीप, पृ० १६ तथा सुधासागर पृ० ४१ में एक समान है।

द्वितीय उल्लास

'काव्यप्रदीप' पृ० २१-२२ तथा सुधासागर, पृ० ५४-५५ में एक समान है 'नन्वयं विभागोऽनुपपन्न:···संकेत: ।'

काव्यप्रदीप, पृ० २४, सुधासागर पृ० ५६-६० में 'डित्थादिशब्दानां अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य'' में चण्डीदास की चर्चा समान है ।

उपादान और शुद्धा-लक्षणा में 'केचित्पुनराचक्षते···भेदमात्रप्रतीते:' तक की चर्चा काव्यप्रदीप, पृ० ३० तथा सुधासागर, पृ० ६८ में समान है ।

काव्यप्रदीप, पृ० ३१ में 'अत्र प्रतिपादने इति···तत्सूत्रीयष्यति योग: फलेन नो इति' तक की चर्चा, सुधासागर, पृ० ६८ में है ।

'सारोपा तु अन्या···' काव्यप्रदीप, पृ० ३१, सुधासागर, पृ० ६९ समान है।

'इमावरोपाध्यवसानरूपो···इति ।' काव्यप्रदीप, पृ० ३२ और सुधासागर, पृ० ६९-७० में समान है ।

तृतीय उल्लास

तृतीय उल्लास का प्रारम्भ प्रदीप जैसा है- काव्यप्रदीप, पृ० ४८, सुधासागर, पृ० ८७

'तथाभूतां दृष्ट्वा····' की व्याख्या—'अत्रखेदे·····तात्पर्यमाहु:' काव्यप्रदीप, पृ० ५०-५१, सुधासागर, पृ० ९२

चतुर्थ उल्लास

चतुर्थ उल्लास के प्रारम्भ की चर्चा प्रदीप के समान है—काव्यप्रदीप, पृ० ५६, सुधासागर, पृ० १०३

काव्यप्रदीप, पृ० ५७ और सुधासागर, पृ० १०४ समान चर्चा ।

'कारणान्यथ···स्मृत:' (कारिका ४३) में में 'अथेति समुच्चये व्यभिचारिण: तक की चर्चा समान है। काव्यप्रदीप, पृ० ६०-६२, सुधासागर, पृ० ११०-१११

भट्ट लोल्लट की व्याख्या 'नटे तु···भावाच्च' तक एक जैसी—काव्यप्रदीप, पृ० ६३, सुधासागर, पृ० ११५

शंकुक का खण्डन समान है—काव्यप्रदीप, पृ० ६५, सुधासागर, पृ० ११८

अभिनवगुप्त के मत की व्याख्या समान है—काव्यप्रदीप, पृ० ६७-७०, सुधासागर, पृ० १२१-१२२

'ध्वनि-भेदों' की गणना में प्रदीप के अनुसार विवेचन है—काव्यप्रदीप, पृ० १३०-१३१, सुधासागर, पृ० २३२-२३३-२३४

पंचम उल्लास

उदाहरण ११५ की चर्चा 'अत्रानुनायको······व्यनक्ति' तक काव्यप्रदीप, पृ० १३५, सुधासागर, पृ० २४०

काव्यप्रदीप, पृ० १३५ 'पूर्ववद्ध्वनेरिव····गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वाकाशः' तक की चर्चा सुधासागर, पृ० २५५

सप्तम उल्लास

सप्तम उल्लास के आरम्भ में काव्यप्रदीप, पृ० १६८-१६९-१७० एवं सुधासागर पृ० ३१४-३१५-३१६-३१७

'अर्थविशेषलक्षणानि···पदेषूपदेशस्यावश्यकत्वादिति'—काव्यप्रदीप, पृ० १७० सुधासागर, पृ० ३१७-३१८

'दुष्टं पदीमिति···तदर्थत्वात्' यह चर्चा, काव्यप्रदीप, पृ० १७१, सुधासागर, पृ० ३१८

'तत्र श्रुतिकटुत्वं यद्यपि···तच्च दुर्वचत्वम्—काव्यप्रदीप, पृ० १७१, सुधासागर, पृ० ३१८

काव्यप्रदीप, पृ० १७१-१७२ और सुधासागर ३२१-३२१ समान है।

दोष प्रकरण के संबंध में तो यहाँ तक कह सकते हैं कि सारी चर्चा सुधासागर ने प्रदीप की भाँति की है।

काव्यप्रदीप के १७२ से १८५ तक सुधासागर, पृ० ३२० से ३४३ तक, समान है।

काव्यप्रदीप पृ० १८७, सुधासागर पृ० ३५४-३४६ के समान।

काव्यप्रदीप पृ० १८८-१८९, सुधासागर पृ० ३४९-३५० और समान।

काव्यप्रदीप पृ० १९१-१९३-१९४ और सुधासागर पृ० ३५३-३५४-३५५-३५६-३५७ समान।

काव्यप्रदीप पृ० १९९-२००-२०१-२०२, सुधासागर पृ० ३६३-३६४-३६६ समान।

काव्यप्रदीप पृ० २०८, सुधासागर, पृ० ३७५

काव्यप्रदीप पृ० २१३, समान सुधासागर, पृ० ३८३।

काव्यप्रदीप पृ० २१३, सुधासागर, पृ० ३८४ समान 'समाप्तपुनरात्तम्—विरोधात्।'

काव्यप्रदीप पृ० २१५-२१६, सुधासागर, पृ० ३८६-३८७, समान

काव्यप्रदीप पृ० २१७ से २२३, और सुधासागर पृ० ३८९-३९७ तक समान।

काव्यप्रदीप पृ० २२८ से २३४ और सुधासागर, पृ० ४०५ से ४१४ तक समान।

काव्यप्रदीप पृ० २३९-२३८ सुधासागर, पृ० ४२०-४२१ समान।

काव्यप्रदीप पृ० २४० से २४६, सुधासागर, पृ० ४२६-४३७ तक, समान।

काव्यप्रदीप पृ० २५१-२५२-२६१-२६२-२६३-२६४-२६६-२६७-२६८,

सुधासागर पृ० ४४२-४४३-४३५-४६१-४६४-४७१-४७४-४७५

अष्टम उल्लास

काव्यप्रदीप पृ० २७८-७९ 'इत्यत्र पूर्वार्धे ··तात्पर्यम्।' सुधासागर, पृ० ४९७, समान

काव्यप्रदीप पृ० २७९-२८० सुधासागर, पृ० ४८९-५००,

नवम उल्लास

काव्यप्रदीप पृ० २८६, सुधासागर, पृ० ५०२

काव्यप्रदीप २८६-२९०-२९१-२९२-२९७-२९८-२९९-३०३

सुधासागर पृ० ५०२-५०७-५१०-५११-५१२-५३२-५३३-५३४-५३५-५४१

दशम उल्लास

प्रारम्भ की चर्चा काव्यप्रदीप पृ० ३०७-३०८, सुधासागर पृ० ५४८-५४९,

काव्यप्रदीप पृ० ३०९-३१०-३११-३१२-३१३-३२१-३२२-३२४-३३०-३३४-३३५

सुधासागर, पृ० ५५२-५५३-५५४-५५७-५५७-५७०-५७४-५८४-५९१।

काव्यप्रदीप ३३७-३४७-३५०-३५९-३६०-३६५-३६६-३६७-३६८,

सुधासागर, पृ० ५९४-६१४-६२२-६३४-६३५-६४३-६४८-६४५-६४६-६४७।

काव्यप्रदीप पृ० ३६९ से ३७२ तक, सुधासागर पृ० ६४९ से ६५४ तक, समान।

काव्यप्रदीप पृ० ३७५-३७८ तक, सुधासागर, पृ० ६५९ से ६६४, समान।

काव्यप्रदीप ३८०-३८१-३८३-३८३-३८४-३८७-३८८-३८९,

सुधासागर पृ० ६७६-६६८-६७१-७७२-६७४-६७५-६७९-६८१-६८२,

इस प्रकार 'सुधासागर' के अनगणित स्थल हैं जहाँ सुधासागरकार ने बिना प्रदीप का नामोल्लेख किए अपनी दृष्टि से विवेचन किया है।

सुधासागर में एक-दो स्थलों की व्याख्या में गोविन्द ठक्कुर की उदाहरण-दीपिका की भी चर्चा है। 'काव्यप्रकाश' के उदाहरणों की चर्चा वैद्यनाथ की 'उदाहरणचन्द्रिका' के समान है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में यही कह सकते हैं कि गोविन्द ठक्कुर का सबसे अधिक प्रभाव 'सुधासागर' टीका पर है। खण्डन के कुछ अंशों को छोड़कर भीमसेन दीक्षित ने गोविन्द ठक्कुर के विवेचन को उसी रूप में ग्रहण किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर का 'काव्यप्रदीप' ऐसा प्रकाश-स्तम्भ है जो अतीत की समस्त उपलब्धियों को अपने में समेट कर परवर्ती युग को अपनी किरणों से आलोकित करता है। गोविन्द ठक्कुर ने पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रति श्रद्धा रखते हुए, काव्य-जगत् में प्रचलित मान्यताओं का सार-संकलन 'काव्यप्रदीप' में किया है जो परवर्ती युग में अनेक सिद्धान्तों के विकास का मूल स्रोत बना है।

दशम अध्याय

उपलब्धियाँ

'टीका साहित्य की गूढ़ निधियों की कुंजी है' अथवा 'टीका गुरूणाँ गुरूः' जैसी महत्त्वपूर्ण सूक्तियाँ निस्सन्देह टीकाओं का महत्त्व प्रतिपादित करती है। साहित्यशास्त्र के इतिहास में साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों की सुदीर्घ परम्परा को देखते हुए यह तथ्य सामने आता है कि जहाँ एक ओर ग्रन्थ रचना का कार्य हो रहा था वहाँ उसके कुछ समय पश्चात् ही ग्रन्थ विशेष पर टीकाओं का निर्माण भी प्रारम्भ हो गया। कठिन से कठिन शैली में रचे गये ग्रन्थ को सहज, सरल बनाने का कार्य टीका के माध्यम से अति सरल हो जाता है। आज स्थिति यह है कि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के साथ-साथ उस ग्रन्थ विशेष पर लिखी गई टीकाएँ भी अध्ययन का विषय हैं। 'काव्यप्रकाश' के पूर्ववर्ती ग्रन्थों पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि प्रत्येक ग्रन्थ पर एक या दो टीकाएँ लिखी गई हैं। जैसे भरत के नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' प्रसिद्ध टीका है। उद्भट के 'अलंकारसारसंग्रह' पर मुकुलभट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज की टीका है। रुद्रट के 'काव्यालंकार' पर नमिसाधु की प्राचीन टीका है। आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' पर अभिनवगुप्त की 'लोचन' टीका है। धनंजय के 'दशरूपक' पर धनिक की 'अवलोक' टीका है। परन्तु मम्मट के 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ का नाम आते ही उस ग्रन्थ पर लिखी गई टीकाओं की विशाल-शृंखला हमारे समक्ष आती है। यद्यपि काव्यप्रकाश ग्रन्थ को पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करने में सभी टीकाओं का न्यूनाधिक रूप में योगदान रहा है तथापि विगत अध्यायों में 'काव्यप्रदीप' टीका का गवेषणात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि 'काव्यप्रदीप' टीका का काव्यप्रकाश के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योगदान है। 'काव्यप्रदीप' टीका के महत्त्वपूर्ण विषयों का तुलनात्मक पद्धति द्वारा चिन्तन करके यह निष्कर्ष सामने आता है कि यद्यपि गोविन्द-ठक्कुर की मौलिकता नूतन-सिद्धान्त-निर्माणात्मक नहीं तथापि उनकी प्रदीप टीका में कुछ महान् उपलब्धियाँ एवं प्राचीन मान्यताएं नई आभा के साथ प्रकाश में आई हैं।

'काव्यप्रदीप' टीका का महत्त्व उसके नाम में ही निहित है। संस्कृत-साहित्य में नामकरण में बड़ी कलात्मकता पाई जाती है। केवल काव्यग्रन्थों का ही नहीं अपितु साहित्य की किसी भी विधा से सम्बन्धित ग्रन्थों के नाम का चयन लेखक की विदग्धता का सूचक होता है। ग्रन्थकार जिस विशेष उद्देश्य को लेकर ग्रन्थ-रचना करता है, जिस सिद्धान्त की वह प्रतिष्ठा करना चाहता है उसकी अभिव्यक्ति सर्वप्रथम ग्रन्थ के नामकरण के माध्यम से स्पष्ट होती है। जैसे काव्य के विविध अंगों की चर्चा जिनमें की गई है उन ग्रन्थों को 'काव्यमीमांसा', 'काव्यानुशासन' आदि नाम दिए गए हैं। काव्य के किसी विशिष्ट अंग की विवेचना जिनमें हो वे ग्रंथ उन्हीं विषयों के अनुसार नामांकित किए गए हैं जैसे अलंकार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह का ग्रन्थ 'काव्यालंकार' है। ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध करने वाले आनन्दवर्धन का ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है। औचित्य की विवेचना जिसमें है वह 'औचित्यविचारचर्चा' है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय से सम्बन्धित आचार्य कुन्तक का ग्रन्थ 'वक्रोक्ति-जीवित' है। परन्तु मम्मट का 'काव्यप्रकाश' किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का द्योतक नहीं है। मम्मट ने समन्यवादी दृष्टिकोण अपनाकर नाट्य को छोड़कर काव्य के विविध अंगों को प्रकाशित किया है और स्वयं को किसी सम्प्रदाय विशेष की परिधि में नहीं बाँधा है। अतएव स्पष्ट है कि ग्रन्थों के नाम ग्रन्थगत विषय को लक्ष्य करके बनाये जाते हैं। इस दृष्टि से यदि 'प्रदीप' टीका के नामकरण पर विचार किया जाए तो स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर ने भी टीका के नामकरण में अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में काव्य के विविध अंगों को प्रकाशित किया, परन्तु वह प्रकाश निराधार नहीं है, उस प्रकाश का आधार भी कहीं न कहीं विद्यमान होना चाहिए · अतएव इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए गोविन्द ठक्कुर ने अपनी टीका को 'दीपक' बनाया। जिस प्रकार देहरी पर रखा गया दीपक भीतर और बाहर दोनों स्थानों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार गोविन्द-ठक्कुर का 'काव्यप्रदीप' अतीत की समस्त उपलब्धियों को आत्मसात् करता हुआ एवं अपने समय में विद्यमान मान्यताओं का दिग्दर्शन कराता हुआ, यत्र-तत्र नवीनता की प्रकाश रश्मियाँ विकीर्ण करता है। 'प्रभा' और 'उद्योत' टीकाओं की रचना द्वारा मानो चिन्तन दीप अपने प्रकाशपुंज की चरमदीप्ति में उद्भासित हो उठा है। अतएव स्पष्ट है कि जिस प्रकार आलोक (ध्वन्यालोक) का आनन्द लोचन (लोचन टीका) द्वारा लिया जा सकता है

उसी प्रकार प्रकाश (काव्यप्रकाश) की सार्थकता भी प्रदीप (काव्यप्रदीप) द्वारा ही सिद्ध है। 'दीप' में 'प्र' उपसर्ग है।

नामकरण पर विचार करने के पश्चात् यदि काव्यप्रदीप टीका की विशेषताओं का उल्लेख किया जाए तो मन में उठ रही इस शंका का समाधान हो जाता है कि काव्यप्रकाश की विविध टीकाओं की श्रेणी में 'काव्यप्रदीप' टीका ही महत्त्वपूर्ण क्यों है। वैसे तो ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर गोविन्द-ठक्कुर की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, परन्तु सम्पूर्ण टीका के सम्बन्ध में सर्वप्रथम जिस वात की ओर ध्यान आकृष्ट होता है वह है कि 'काव्यप्रदीप' टीका में काव्यप्रकाश की कारिकाओं और उदाहरणों को ही उद्धृत किया गया है वृत्ति भाग को नहीं। 'काव्यप्रकाश' की अन्य सभी टीकाओं में कारिका, वृत्ति और अन्त में टीकाकारों की टीकाएँ हैं। परन्तु 'काव्यप्रदीप' में ऐसा नहीं है। यहाँ मम्मट की कारिका के पश्चात् गोविन्द ठक्कुर की प्रदीप टीका है। अतः यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि गोविन्द-ठक्कुर ने केवल कारिका भाग की ही टीका लिखी है वृत्ति भाग की नहीं। परन्तु 'काव्यप्रदीप' के अध्ययन से यह शंका निराधार सिद्ध होती है। 'टीका' में यद्यपि कारिका भाग के साथ वृत्तिभाग नहीं है परन्तु टीकाकार की सूक्ष्म दृष्टि ने वृत्ति भाग को अछूता नहीं छोड़ा है। 'प्रदीप' टीका में स्थान-स्थान पर गोविन्द ठक्कुर का यह कथन 'वृत्तौ षड्रसा न च हृद्यैव तैः', 'नवरसरुचिर-त्वरूपविशिष्ट ·····वृत्तिप्रतिपाद्यत्वात्', 'न च वृत्तिविरोधः' आदि, इस बात की पुष्टि करता है कि उन्होंने सर्वत्र वृत्ति की व्याख्या की है।

'प्रदीप' टीका पर आचार्य विश्वनाथ का प्रभाव है और कहीं-कहीं आचार्य विश्वनाथ की उन मान्यताओं का खण्डन भी है जो मम्मट के संबंध में विवाद उत्पन्न करती हैं। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने जिस प्रकार निःसंकोच आचार्य आनन्दवर्धन, आचार्य दण्डी आदि का नामोल्लेख किया है, वहाँ 'काव्यप्रदीप' में आचार्य विश्वनाथ का कहीं भी नामोल्लेख नहीं किया है। टीका में सर्वत्र 'अर्वाचीनास्तु' 'अत्र केचित्' आदि द्वारा विश्वनाथ के मत का उल्लेख है।[1] अतः यहाँ यह प्रश्न उठता हैं कि ऐसा क्यों है? संभवतः इसका कारण यह रहा हो कि अन्य आचार्यों (आनन्दवर्धन, दण्डी) की अपेक्षा विश्वनाथ गोविन्द ठक्कुर के अत्यधिक समीप है। अतः उन्होंने विश्वनाथ के

१. अर्वाचीनास्तु—'यथोक्तस्य काव्यलक्षणत्वे काव्यपदं निर्विषयं प्रविरल-विषयं वा स्यात्।' (काव्यप्रदीप, पृ० ११)

मत को उद्धृत करते हुए 'अर्वाचीन' होने के कारण उनके नाम का निर्देश न किया हो या यह भी संभव है कि विश्वनाथ के मत से वैषम्य होने के कारण उन्होंने उनके नाम का उल्लेख न करके उनकी उपेक्षा की हो।

गोविन्द ठक्कुर पर अप्रत्यक्ष रूप से सारबोधिनीकार श्रीवत्सलाञ्छन-भट्टाचार्य का भी प्रभाव है परन्तु गोविन्द ठक्कुर के समकालीन होने के कारण श्री भट्टाचार्य के नाम का उल्लेख भी 'प्रदीप' टीका में नहीं है। 'काव्यप्रदीप' का दोष-प्रकरण 'सारबोधिनी' टीका के दोष विवेचन से साम्य रखता है। 'गुण' विवेचन में माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण की चर्चा भी गोविन्द ठक्कुर ने चण्डीदास और श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य के समान की है। परन्तु प्रदीपकार ने किसी टीकाकार का नामोल्लेख नहीं किया है।

गोविन्द ठक्कुर ने अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों में केवल दो टीकाकारों (चण्डीदास और भास्कर) के मत का ही खण्डन किया है अन्य टीकाकारों के मत का नहीं।

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में कई स्थलों पर प्राकृत के उदाहरणों की चर्चा की है। उसी प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने भी 'काव्यप्रदीप' टीका में प्राकृत के उदाहरण ही उद्धृत किए हैं उनका संस्कृत रूप नहीं दिया है। गोविन्द ठक्कुर के टीकाकारों (नागेशभट्ट और वैद्यनाथ) ने प्राकृत के उदाहरणों का संस्कृत रूप दिया है।

'काव्यप्रकाश' के तीन अंश हैं—१. कारिका, २. वृत्ति, ३. उदाहरण। गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' में मम्मट की कारिकाओं को सूत्र नाम से अभिहित किया है।

'काव्यप्रकाश' के टीकाकारों में गोविन्द ठक्कुर मौलिक प्रतिभा वाले आचार्य थे। उन्होंने सर्वत्र मम्मट के भावों का अनुकरण नहीं किया है अपितु जहाँ मम्मट का मत उन्हें ग्राह्य नहीं वहाँ विस्तृत टीका लिखते हुए स्वमत प्रस्तुत किया है। स्वमत की चर्चा गोविन्द ठक्कुर ने 'वयं तु पश्यामः' या 'अत्र ब्रूमः' से की है। इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं मम्मट का अभिप्राय स्पष्ट नहीं या अत्यन्त संक्षिप्त है वहाँ गोविन्द ठक्कुर का विस्तृत और स्पष्ट विवेचन पाठक की जिज्ञासा को शान्त करता है। जैसे 'वाचक' शब्द की विस्तृत चर्चा, 'लक्षणा' शक्ति की विस्तृत व्याख्या 'दोषों' का विस्तृत विवेचन मम्मट की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है।

'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में मम्मट कहीं-कहीं वृत्ति भाग के व्याख्यान में असमर्थ रहे हैं और कहीं-कहीं सूत्र वृत्ति की रचना सन्तोषजनक नहीं है। ऐसे स्थलों पर गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट के इस अभाव की पूर्ति की है। जैसे 'काव्यलक्षण' में मम्मट का वृत्ति भाग न्यून है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने 'निर्दोषत्वादिविशेषणविशिष्टौ—पूरणीयमिति'[1] तक काव्यलक्षण की विस्तृत व्याख्या की है। मम्मट ने हास्यादि रसों के केवल उदाहरण दिए हैं, उनका समन्वय करके नहीं दिखाया है। इसी प्रकार व्यभिचारी भावों की भी केवल सूची दी है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने हास्यादि आठों रसों और व्याभिचारी भावों के लक्षण भी दिए हैं।

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को उद्धृत किया है। परन्तु मम्मट ने कई स्थलों पर उन मतों का खण्डन नहीं किया है। अतएव ऐसे स्थलों पर मम्मट की तटस्थता पाठक को अखरती है और मम्मट का अभिप्रेत मत जानने में कठिनाई अनुभव होती है। परन्तु गोविन्द ठक्कुर के विवेचन में इस प्रकार की त्रुटि का अभाव है। प्रदीपकार को जिस आचार्य का मत ग्राह्य नहीं वहाँ स्पष्ट शब्दों में उसका खण्डन किया गया है। जैसे संकेतग्रह में नव्य-नैयायिक, मीमांसक, न्याय-वैशेषिक, बौद्धमत आदि का खण्डन किया है और वैयाकरणों की मान्यता को स्वीकार किया है। 'गौर्वाहीक' आदि में लक्षणा कैसे कार्य करती है? इसका विवेचन करते हुए तीन मतों का उल्लेख है। गोविन्द ठक्कुर ने प्रथम दो मतों का खण्डन किया है और तृतीय मत को मम्मट का अभिप्रेत मत स्वीकार किया है। इसी प्रकार रस-निष्पत्ति की व्याख्या में भट्ट लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के मत का स्पष्टतः खण्डन किया है और अभिनवगुप्त के मत की स्थापना की है।

'काव्यप्रदीप' टीका में गोविन्द ठक्कुर के मनोरम कवित्व रूप के दर्शन भी होते हैं। स्थान-स्थान पर गोविन्द ठक्कुर के स्वरचित उदाहरण केवल उनके कवित्व का कोरा प्रदर्शन नहीं करते, अपितु उनके वक्तव्य को पारदर्शिता एवं निर्मलता प्रदान करते हैं। 'प्रदीप' टीका में गोविन्द ठक्कुर के स्वरचित उदाहरणों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि इन उदाहरणों का प्रयोग अप्रासंगिक हुआ है। कहीं-कहीं गोविन्द ठक्कुर को मम्मट का उदाहरण असंगत प्रतीत हुआ वहाँ उनका कवि पक्ष उभरा और स्वरचित पद्यों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया। जैसे 'चित्रालंकार' के विवेचन में गोविन्द-

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० ८

ठक्कुर को मम्मट द्वारा उद्धृत 'अर्थ-चित्र' का उदाहरण उचित प्रतीत नहीं हुआ और उन्होंने स्वरचित उदाहरण की चर्चा की है। कई स्थलों पर मम्मट के भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए भी गोविन्द ठक्कुर ने स्वरचित पद्यों को प्रस्तुत किया है।

गोविन्द ठक्कुर के पूर्ववर्ती टीकाकारों ने 'काव्यप्रकाश' का विवेचन किया है परन्तु उन टीकाकारों में मौलिक चिन्तन की प्रतिभा का प्रायः अभाव है। 'काव्यप्रदीप' टीका में गोविन्द ठक्कुर की सूक्ष्मावगाहिनी दृष्टि एवं उनकी स्वतन्त्र मौलिक चेतनाओं के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। मम्मट ने भरतमुनि से लेकर आचार्य भोजराज तक के समय में चर्चित अलंकारशास्त्र के व्यापक विषयों का चिन्तन करते हुए 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया जो परवर्ती युग में सर्वाधिक चर्चा का विषय बना। परन्तु गोविन्द ठक्कुर ने विश्वनाथ द्वारा उठाई गई आपत्तियों का समाधान करते हुए, प्राचीन मान्यताओं का दृढ़ता-पूर्वक विश्लेषण करके, स्वसमय तक निर्धारित विषयों का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया और मम्मट के काव्य-लक्षण का परिष्कार करते हुए 'नीरसे स्फुटालंकारविरहिणि न काव्यत्वम्। यतो रसादिरलंकारश्च द्वयं चमत्कारहेतुः' कथन द्वारा स्वमत की चर्चा की है।

गोविन्द ठक्कुर की तलस्पर्शिनी प्रज्ञा का नया रूप शब्द-शक्ति-विवेचन में परिलक्षित होता है जहाँ 'अभिधा' 'लक्षणा' एवं 'व्यंजना' शक्तियों का गहन चिन्तन मनन किया गया है। 'अभिधा शक्ति' का विवेचन करते हुए संकेतग्रह की चर्चा वैयाकरणों के मतानुसार की है। 'लक्षणा' शक्ति के विवेचन में गोविन्द ठक्कुर ने नैयायिक मान्यता को स्वीकार किया है। प्राचीन आचार्यों के लक्षणा संबंधी लक्षण का खण्डन गोविन्द ठक्कुर की तीक्ष्ण दृष्टि का परिचायक है। 'व्यंजना' शक्ति के विवेचन में गोविन्द ठक्कुर का विशेष उद्देश्य मम्मट की भाँति व्यंजना की स्थापना रहा है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के मतों का अवलम्ब लेकर गोविन्द ठक्कुर ने अपनी तर्क-बुद्धि द्वारा व्यवस्थित, सुदृढ़ मार्ग प्रशस्त किया है।

गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' में अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों की सभी विचारधाराओं को उपस्थित किया है, पर दासवत् अनुसरण नहीं किया है। 'नीरक्षीरविवेकन्याय' से जिसे उचित समझा उसे अपनी 'टीका' में उचित स्थान दिया, जिसे प्रतिकूल समझा उसकी प्रबल तर्कों द्वारा सम्यक् आलोचना

की है। जैसे 'रस-विवेचन' गोविन्द ठक्कुर की तर्क-बुद्धि एवं स्वतन्त्र समीक्षा शक्ति की मौलिक प्रसूति है। माणिक्यचन्द्र आदि प्राक्तन टीकाकारों ने 'रस-विषयक' शास्त्रीय चर्चा नहीं की है केवल अभिनवभारती में उद्धृत मतों का अनुकरण किया है। इस दृष्टि से गोविन्द ठक्कुर ने 'रस' का मौलिक चिन्तन किया है। रस-निरूपण में यद्यपि प्रदीपकार ने अभिनवगुप्त तथा मम्मट का आश्रय लिया है तथापि कुछ नवीन उद्भावनाएँ भी कीं हैं, जिसका अध्ययन गत अध्याय में किया गया है। रस-निष्पत्ति के अवसर पर भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त चारों व्याख्याकारों के मत का संकलन करके उनकी उसी रूप में व्याख्या नहीं की है, अपितु अपने मौलिक विचारों की उद्भावना की है। गोविन्द ठक्कुर ने भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक तथा भट्टनायक के मतों का अपने प्रबल तर्कों से खण्डन करते हुए अभिनव के रस-सिद्धान्त को चिरकाल तक प्रतिष्ठित रहने की क्षमता प्रदान की है। भट्टलोल्लट आदि के मतों पर सामाजिक के दृष्टिकोण से विचार किया है। 'साधारणीकरण' सिद्धान्त का विवेचन भी गोविन्द ठक्कुर की महान् उपलब्धि है। 'शान्त रस' विवेचन की भी अपनी विशेषता है। 'शान्त रस' की स्थिति के विषय में न केवल आधुनिक विद्वानों में किन्तु प्राचीन विद्वानों में भी मतभेद पाया जाता है। मम्मट ने 'शान्त रस' को नवम रस स्वीकार किया है और 'निर्वेद' उसका 'स्थायी भाव' माना है। गोविन्द ठक्कुर ने 'शान्त रस' की चर्चा करते हुए 'शम' स्थायी भाव स्वीकार किया है।

उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त 'काव्यप्रदीप' टीका के विशेष विवेचनीय स्थल हैं--काव्य-भेदों की चर्चा, लक्षणा तेन षड्विधा का विवेचन, दोषों का विशद् विवेचन, गुण तथा अलंकारों का पार्थक्य, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार में विशेष अलंकारों का विवेचन।

माणिक्यचन्द्र ने 'संकेत' टीका में रस-विवेचन एवं अलंकार-विवेचन में अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' तथा रुय्यक की 'अलंकारसर्वस्व' में की गई चर्चा का अक्षरशः अनुकरण किया है। इसी प्रकार नागेश भट्ट ने आचार्य जगन्नाथ की 'रसगंगाधर' में की गई चर्चा और अप्पय्य दीक्षित की 'कुवलयानन्द' में की गई चर्चा का अनुकरण किया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि माणिक्यचन्द्र आदि ने कहीं भी इन आचार्यों (अभिनवगुप्त, रुय्यक) का नामोल्लेख नहीं किया है। इस दृष्टि से यदि प्रदीपकार की तुलना करें तो हम देखते हैं कि गोविन्द ठक्कुर पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रति पूर्ण आस्था रखते हैं। परन्तु जहाँ कहीं किसी आचार्य के मत का उल्लेख करना गोविन्द ठक्कुर

को अभिप्रेत है वहाँ उस आचार्य के नाम का स्पष्टतः उल्लेख करते हैं जैसे····'ध्वनिकारेणोक्तम्', 'दण्ड्यप्याह' आदि । इस दृष्टि से गोविन्द ठक्कुर का महत्त्व अन्य टीकाकारों की अपेक्षा अधिक है ।

गोविन्द ठक्कुर ने अपनी टीका में अनावश्यक विस्तार नहीं किया है । कई स्थलों पर तो ऐसा देखने को मिलता है कि मम्मट के विचारों की जहाँ प्रदीपकार के पूर्ववर्ती टीकाकारों ने अधिक विस्तृत व्याख्या की है वहाँ गोविन्द ठक्कुर मौन रहे हैं अथवा अपने कथन को अत्यन्त संक्षिप्त रखा है ।

उपर्युक्त विवेचन से गोविन्द ठक्कुर की शैलीगत विशेषताएँ भी प्रकाश में आई हैं । इन विशेषताओं के अतिरिक्त गोविन्द ठक्कुर ने कही-कहीं भावों की स्पष्टाभिव्यक्ति के लिए तथा अपनी शैली को सुन्दर बनाने के लिए कुछ शास्त्रीय-न्यायों की चर्चा भी की है जैसे 'तृणोपलन्याय', 'सूचीकटाहन्याय', 'स्रकसूत्रन्याय', 'फेनबुद्बुद्न्याय' आदि ।

काव्यप्रकाश के विषयों को व्यवस्थित एवं सुनियोजित ढंग से उपस्थित करने के लिए गोविन्द ठक्कुर ने सूक्ष्मावगाहिनी एवं परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग किया है । कहीं-कहीं नव्य-न्याय के अध्ययन से उनकी भाषा में दुरूहता आ गई है । आज के परिप्रेक्ष्य में नैयायिक शब्दावली से अपरिचित पाठक के लिए भाषा की दुरूहता गंभीर वातावरण का निर्माण करती है ।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त गोविन्द ठक्कुर की प्रमुख विशेषता है—सफल टीकाकार के रूप में गोविन्द ठक्कुर के व्यक्तित्व का विकास । वस्तुत: ग्रन्थकार की अपेक्षा टीकाकार का दायित्व मयत्त्वपूर्ण होता है । टीकाकार को टीका की रचना करते समय दोहरे व्यक्तित्व का विकास करना पड़ता है । एक ओर तो ग्रन्थकार ने जिन परिस्थितियों में ग्रन्थ की रचना की, उस समय की भावनाओं को समझकर टीकाकार उसी परिप्रेक्ष्य में ग्रन्थकार के भावों की अभिव्यक्ति करता है तथा दूसरी ओर ग्रन्थकार की भावनाओं के साथ-साथ टीकाकार स्वयं अपनी भावनाओं को भी पाठक तक पहुँचाना चाहता है । अभिप्राय यह है कि टीकाकार को ग्रन्थकार का संदेश पहुँचाने के लिए अतीत में प्रवेश करना पड़ता है और स्वयं अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए वर्तमान को खोजना पड़ता है । अधिकांश टीकाओं में पाँच वातें अवश्य देखी गई हैं—

> 'पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।
> आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम् ।'

इसी प्रकार उदाहरण-प्रस्तुति, भाव-निष्कर्षण, रसापोषण, आदि की

अनिवार्यता भी अपेक्षित मानी गई है। इस दृष्टि से यदि गोविन्द ठक्कुर की 'प्रदीप' टीका का मूल्यांकन करें तो प्रदीपकार एक सफल टीकाकार सिद्ध होते हैं। गोविन्द ठक्कुर ने ग्रन्थ और ग्रन्थकार के हृदय को समझने का प्रयास किया है। उत्तम-पद्धति के विषय से अन्तरंग तत्त्वों को प्रस्फुटित करते हुए काव्यप्रकाश के विषयों का गम्भीर चिंतन, गवेषणात्मक दृष्टि, नवीन उद्भावनाएँ, शंकाओं का निराकरण, विशिष्ट स्थलों की तर्कयुक्त व्याख्या, ग्रन्थकार के प्रति आस्था, आलोचना में स्पष्टवादिता आदि गुण 'प्रदीप' टीका में सहज परिलक्षित होते हैं। केचित्, कश्चित्, इतरे, अपरे, आदि पदों के द्वारा अन्यान्य विद्वानों के अभिमत उपस्थित किए हैं जो टीका में महत्त्व की अभिवृद्धि में सहायक हैं। गोविन्द ठक्कुर ने किसी विषय विशेष का खण्डन-मण्डन ही नहीं किया अपितु स्वयं का तर्कशुद्ध मत प्रस्तुत करने का साहसपूर्ण कार्य भी किया है। काव्यप्रकाश के विवेच्य विषयों का जागरूक एवं उदार समालोचक के नाते विश्लेषण किया है।

अतएव स्पष्ट है कि गोविन्द ठक्कुर ने टीकाकार की मर्यादायों का यथोचित पालन करते हुए अपने दायित्व का समुचित निर्वाह किया है। इस प्रकार विगत अध्याओं में 'काव्यप्रदीप' के विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र की आचार्य-चेतना, काव्यप्रकाश के टीकाकार की चेतना एवं कवि-चेतना के एकाकार रूप ने गोविन्द ठक्कुर के व्यक्तित्व में अद्भुत गरिमा का समावेश किया है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उद्भावनाओं की स्थापनाएँ मम्मट ने की है, उन स्थापनाओं का परिमार्जन गोविन्द ठक्कुर ने किया है। मम्मट से अतिरिक्त किसी नवीन सिद्धान्त की उद्भावना नहीं की है अपितु मम्मट की मान्यताओं को ही प्रदीपकार ने अपनी मौलिकता का पुट देकर व्यवस्थित किया है। आज काव्यप्रकाश ग्रन्थ का इतना महत्त्व न होता यदि गोविन्द ठक्कुर जैसे मेधावी टीकाकारों की प्रतिभा का स्पर्श न मिलता। गोविन्द ठक्कुर ने अपनी असाधारण मेधा और प्रौढ़-विवेचना द्वारा काव्यप्रकाश विषयक समस्त भ्रान्तियों और आक्षेपों को निर्मूल करते हुए 'काव्यप्रदीप' रूपी 'दीप' प्रदान किया जिसकी अपूर्व किरणें अतीत के शास्त्रीय सिद्धान्तों को आलोकित कर परवर्ती टीकाकारों को नवीन दिशा प्रदान करती हैं। भीमसेन दीक्षित आदि टीकाकारों ने उसी दीप के प्रकाश में अपना पथ-निर्धारित किया। गोविन्द ठक्कुर की विलक्षण प्रतिभा के कारण हम उनकी

गणना उन टीकाकारों की श्रेणी में नहीं करते जो केवल दुर्बोध्य अंश को स्पष्टार्थ कहकर छोड़ देते हैं, स्पष्टार्थ वाले अंशों को व्यर्थ के समासादि देकर फैला देते हैं तथा कहीं-कहीं अनावश्यक कथन द्वारा भ्रम उत्पन्न करते हैं। गोविन्द ठक्कुर की मौलिकता और उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन करने के पश्चात् यह कहना उचित है कि न केवल काव्यप्रकाश के टीकाकारों में अपितु संस्कृत के प्रमुख आचार्यों में भी प्रदीपकार का विशिष्ट स्थान है। गोविन्द ठक्कुर की उपर्युक्त सभी विशेषताएँ उनकी 'काव्यप्रदीप' टीका को यशस्वी बनाने में सहायक सिद्ध हुई हैं।

अनुशीलित ग्रन्थानुक्रमणिका

संस्कृत

ग्रन्थ	लेखक	सम्पादक
अग्निपुराण	श्रीमन्महर्षिकृष्णद्वैपायन-व्यास	आचार्य बलदेव उपाध्याय वाराणसी १९६६
अभिधा-वृत्तिमातृका	मुकुलभट्ट	बम्बई, १९१६
अभिनवभारती	अभिनवगुप्त	डा० नगेन्द्र, दिल्ली, १९६०
अलंकारसर्वस्व 'संजीवनी' टीका सहित	रुय्यक श्री विद्याचक्रवर्ती	डा० रामचंद्र द्विवेदी दिल्ली, १९६५
अष्टाध्यायी (भाष्य)	पाणिनि	अमृतसर, १९६८
आनन्दवर्धन		डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी भोपाल, १९७२
औचित्य-विचार-चर्चा	क्षेमेन्द्र	इलाहाबाद, संवत् २०२१
काव्यप्रकाश	मम्मट	श्रीनिवास शास्त्री, मेरठ, तृतीय संस्करण, १९७०
काव्यप्रकाश	मम्मट	आचार्य विश्वेश्वर, डा० नगेन्द्र, वाराणसी, संवत् २०१७ वि० ।
काव्यप्रकाश	मम्मट	डा० सत्यव्रतसिंह, वाराणसी, १९६० ई० ।
काव्यप्रकाश	मम्मट	वाराणसी, सं० २०२९ वि० ।
काव्यप्रकाश 'बालबोधिनी' टीका	वामनाचार्यझलकीकर	पूना १९५०
काव्यप्रकाश 'दीपिका' टीका	चण्डीदास	शिवप्रसाद भट्टाचार्य, तीन भाग—वाराणसी, १९६३-६५
काव्यप्रकाशटीका	श्रीयशोविजयजीमहाराज	डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, बम्बई, प्रथम संस्करण, १९७६
काव्यप्रकाश 'संकेत' टीका	माणिक्यचन्द्र	डा० अभ्यंकर, पूना १९२१
काव्यप्रकाश 'संकेत' टीका	माणिक्यचन्द्र	डा० आर० शर्मा शास्त्री मैसूर, १९२२ ई०

काव्यप्रकाश 'विवेक' टीका	श्रीधर	पं० शिवप्रसाद भट्टाचार्य, कलकत्ता, भाग (१-४ उल्लास) १९५६, भाग २ (५-१० उल्लास) १९८१ तमेशकवतसरे
काव्यप्रकाश 'काव्यादर्श' अथवा 'संकेत' टीका	सोमेश्वर	आर० सी० पारिख, जोधपुर, १९५९ ई०।
काव्यप्रकाश 'वालचित्तानुरंजनी', 'काव्यदर्पण' और 'सारबोधिनी' टीकाओं सहित	श्री नरहरि सरस्वती तीर्थ विश्वनाथ और श्री वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य	डा० गोपराजुरामा, जगन्नाथ पाठक, प्रयाग, १९७६
काव्यप्रकाश 'सम्प्रदायप्रकाशिनी'— टीका	श्री विद्याचक्रवर्ती	श्री एच० हरिहरशास्त्री, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज,
काव्यप्रकाश 'साहित्यचूड़ामणि'— टीका	लोहित्यभट्ट गोपाल	१९२६, १९३० (दो भागों में)
काव्यप्रकाश 'सुधासागर' टीका सहित	आचार्य भीमसेन दीक्षित	श्री नारायणशास्त्री खिस्ते, वाराणसी, १९२७
काव्यप्रकाशखण्डन	सिद्धिचन्द्रगणि	प्रो० रसिकलाल छोटालाल पारिख, बम्बई, २००९ सं०
काव्यपरीक्षा	श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य	श्रीपरशुरामशर्मा १९५६
काव्यप्रकाश 'रसप्रकाश' टीका	श्रीकृष्ण शर्मा	डा० एस एन० घोषाल, वाराणसी, १९७३
काव्यप्रकाश, 'नागेश्वरी' टीका	श्री हरिशंकर शर्मा	वनारस
काव्यप्रकाश 'सारदीपिका' टीका	गुणरत्नगणि	टी० एस० नन्दी, अहमदाबाद, १९७६
Kavyaprakasa of Mammata		A. B: Gajendra Gadkar, 1939.
Kavyaprakasa of Mammata (Ullasa X)		Har Dutt Sharma, Poona, 2nd Ed., 1951.

Kavyaprakasa of Mammata		Dr. Ganga Nath Jha, Varanasi, 1967
Kavyaprkasa (Ullasa 1,2,3)		S. S. Sukthankar Bombay, Ed. 1933
(The Poetic Light) Kavyaprakasa of Mammata (Vol. 1 Ullasa I-VI)		R. C. Dwivedi, Delhi 1977
काव्यप्रदीप	गोविन्द ठक्कुर	पं० दुर्गाप्रसाद, दम्बई १९३३
काव्यप्रकाश 'विवरण' टीका	गोकुलनाथोपाध्याय	कविशेखर—श्री बद्रीनाथ झा वाराणसी, १९२२
काव्यालंकार	भामह	देवेन्द्र नाथ शर्मा, पटना, १९६२
काव्यालंकार टिप्पण सहित	रुद्रट	डा० सत्यदेव चौधरी, दिल्ली, १९६५
काव्यादर्श	दण्डी	श्रीरामचन्द्र मिश्र, वाराणसी, १९५८
काव्यलक्षण	दण्डी	
काव्यानुशासन	हेमचन्द्र	बम्बई, १९६४
काव्यानुशासन	वाग्भट द्वितीय	बम्बई, १९१५
काव्यमीमांसा	राजशेखर	पटना सम्वत् २०२७
काव्यालंकार-सार-संग्रह	उद्भट	डा० राममूर्ति त्रिपाठी, प्रयाग, १९६६
काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 'कामधेनु' टीका सहित	वामन	कृष्णसूरी, १९०९
कुवलयानन्द	अप्पय्यदीक्षित	डा० भोलाशंकर व्यास, बनारस, १९५६
चन्द्रालोक	जयदेव	(i) पं० बदरीनाथ शुक्ल, दिल्ली १९६६
चन्द्रालोक	जयदेव	(ii) बनारस, १९५०
चित्रमीमांसा 'सुधा' संस्कृत व्याख्या सहित	अप्पय्य-दीक्षित श्रीधरानन्द	श्रीजगदीशचन्द्र मिश्र वाराणसी, वि० सं० २०२८
दशरूपक 'अवलोक' टीका सहित	धनंजय	डा० भोलाशंकर व्यास वाराणसी, १९६७
ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन	डा० नगेन्द्र, वाराणसी, संवत् २०१९

ध्वन्यालोक 'लोचन' सहित	अभिनवगुप्त	डा० रामसागर त्रिपाठी, दिल्ली, १९६३
नाट्यदर्पण	रामचन्द्र-गुणचन्द्र	आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली १९६१
नाट्यशास्त्र	भरत	श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री वाराणसी, १९७२
नाट्यशास्त्र	भरत	डा० रविशंकर नागर दिल्ली, १९८१
परमलघुमंजूषा	नागेशभट्ट	पण्डित अलखदेव शर्मा, वाराणसी, १९७४
मम्मट	प्रो० धुंडिराजगोपाल सप्रे	मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ-अकादमी, १९७१
महिमभट्ट	डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी	प्रथम संस्करण, दिल्ली, १९६८
रसगंगाधर 'चन्द्रिका' संस्कृत व्याख्या सहित	पण्डितराज जगन्नाथ	(i) पण्डित श्रीमदनमोहन झा वाराणसी (ii) साहित्याचार्य श्रीमधुसूदनशास्त्री, वाराणसी
वक्रोक्तिजीवित	कुन्तक	श्रीराधेश्याम मिश्र, वाराणसी, १९६७
व्यक्तिविवेक	महिमभट्ट	श्रीमधुसूदन शास्त्री, बनारस, १९३६
व्यंजना-विमर्शः	डा० रविशंकर नागर	दिल्ली, १९७७
वाक्यपदीय	भर्तृहरि	के० बी० अभ्यंकर, पूना, १९६५
वाग्भटालंकार	वाग्भट प्रथम	डा० सत्यव्रतसिंह, वाराणसी, १९५७
शृंगारप्रकाश	भोज	जी० आर० ज्योशेर मैसूर, १९५५
सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण	दिल्ली, १९६६
साहित्यदर्पण	विश्वनाथ	(i) डा० सत्यव्रतसिंह, वाराणसी, १९५७ (ii) श्री शालिग्राम शास्त्री, दिल्ली, १९६१
सरस्वतीकण्ठाभरण	भोज	डा० कामेश्वरनाथ मिश्र, वाराणसी, १९७६

हिन्दी-ग्रन्थ

अलंकार मीमांसा	रामचन्द्र द्विवेदी	दिल्ली, १९६५

अलंकारों का क्रमिक विकास	पुरुषोत्तम शर्मा, चतुर्वेदी	दिल्ली, १९६२
अभिनव का रस विवेचन	नगीनदास पारेख	वाराणसी, १९७४
आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन	जयशंकर त्रिपाठी	इलाहाबाद, १९६८
आधुनिक हिन्दी मराठी में काव्यशास्त्रीय अध्ययन	मनोहर काले	बम्बई
काव्यात्म मीमांसा	जयमन्त मिश्र	वाराणसी, १९६४
काव्यप्रकाश	पारसनाथ द्विवेदी	आगरा, १९७४
काव्यदोषों का उद्भव और विकास	शम्भुदत्त	पटना, १९७६
काव्यशास्त्र	भगीरथ मिश्र	वाराणसी, १९६६
काव्यदर्पण	रामदहिन मिश्र	पटना, १९४७
काव्य का स्वरूप	सत्यदेव चौधरी	दिल्ली, १९७४
भारतीय काव्य सिद्धान्त	काका कालेलकर एवं डॉ० नगेन्द्र	इलाहाबाद, १९६९
भारतीय काव्यशास्त्र और काव्यालङ्कार	डॉ० भोलाशंकर व्यास	
भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त	कृष्णदेव झारी	दिल्ली, १९७०
भारतीय साहित्यशास्त्र	गणेश त्र्यम्बक देशपाण्डे	बम्बई, १९६०
भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त	राजवंश सहाय हीरा	वाराणसी, १९६७
भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन	विशम्भर नाथ उपाध्याय	१९७९
भारतीय काव्यांग	सत्यदेव चौधरी	इलाहाबाद, १९५९
भारतीय साहित्यशास्त्र	बलदेव उपाध्याय	काशी, संवत्, २००७
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	डॉ० नगेन्द्र	दिल्ली
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	डॉ० नगेन्द्र	दिल्ली
भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र की भूमिका	डॉ० नगेन्द्र	दिल्ली
शब्द-शक्ति	पुरुषोत्तम दास अग्रवाल	जयपुर, १९७०

शान्त रस एक विवेचन		दिल्ली, १९६८
श्रृंगार रस का शास्त्रीय विवेचन	इन्द्रपाल सिंह	वाराणसी, १९६७
समीक्षाशास्त्र के भारतीय तथा पाश्चात्य मानदण्ड	रामसागर त्रिपाठी और श्याममिश्र	दिल्ली, १९७२
साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष	राममूर्ति त्रिपाठी	वाराणसी
साहित्य विवेचन	क्षेमचन्द्र सुमन एवं योगेन्द्र कुमार मलिक	दिल्ली, १९५२
संस्कृत साहित्य का इतिहास	कन्हैयालाल पोद्दार	१९३८
संस्कृत साहित्य का इतिहास	बलदेव उपाध्याय	वाराणसी, १९६६
संस्कृत साहित्य का इतिहास	ए० बी० कीथ (अनुवाद) मंगलदेव शास्त्री	दिल्ली, १९६७
संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास	मायारामशर्मा (अनुवादक)	पटना, १९७८
संस्कृत साहित्य में शब्दालंकार	रुद्रदेव त्रिपाठी (सं.) डॉ० मण्डन मिश्र	दिल्ली, १९७४
हिन्दी अलंकार साहित्य	ओमप्रकाश	दिल्ली, १९५६
हिन्दी काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त	सच्चिदानन्द चौधरी	कानपुर, १९६५
हिन्दी में शब्दालंकार विवेचन	देशराजसिंह भाटी	दिल्ली, १९६९
रस सिद्धान्त	आनन्दप्रकाश दीक्षित	दिल्ली, १९६०
रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन	गणपति चन्द्र गुप्त	दिल्ली, १९७०
रस सिद्धान्त की दार्शनिक व्याख्या	तारकनाथ बाली	१९६४
रस सिद्धान्त	नगेन्द्र	दिल्ली, १९६४
रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन	प्रेमस्वरूप गुप्त	अलीगढ़, १९६२
रस विमर्श	राममूर्ति त्रिपाठी	वाराणसी, १९६५
रस प्रक्रिया	शंकरदेव अवतरे	दिल्ली, १९७५
रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन	ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री	दिल्ली, १९६५

ENGLISH

Chowdhary, Satya Deva	Essays on Sanskrit Poetics, Delhi, 1965.
Dasgupta and De	History of Sanskrit Literature, Vol I, Calcutta, 1962.
De, S. K.	(i) Some problems of Sanskrit Poetics, Calcutta, 1959. (ii) Sanskrit Poetics, Calcutta, 1960
Dwivedi, R. C.	Principles of Literary Criticism in Sanskrit, Delhi, 1969.
Gupta, D. K.	A Critical Study of Dandin and His Work, Delhi, 1970.
Gupta, Rakesh	Psychological Studies in Rasa, 1950.
Jha, Bechan	Concept of Poetic Blemishes in Sanskrit Poetics, Varanasi, 1965.
Kane, P. V.	History of Sanskrit Poetics, Delhi, 1971.
Krishna Chaitanya	Sanskrit Poetics, Delhi, 1965.
Lahiri, P. C.	Concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics, Dacca, 1937.
Macdonell, A. A.	A History of Sanskrit Literature, Delhi, 1962.
Masson and Patwardhana	Santa Rasa and Abhinava Gupta's Philosophy of Aesthetics, Poona, 1969.
Pandeya, K. C.	Comparative Aesthetics, Vol. I, Varanasi, 1959.
Raghavan, V.	(i) The Number of Rasas, Madras, 1940. (ii) Some Concepts of the Alankara Sastra, Madras, 1942.
Sankaran, A.	The Theories of Rasa and Dhvani, Madras, 1929.
Sharma, Mukunda Madhava	The Dhvani Theory in Sanskrit Poetics, Varanasi. 1968.

पत्रिका १. संस्कृत विमर्श
२. शोध प्रभा ३. विश्व ज्योति

कोश भारतीय साहित्यशास्त्र कोश—डॉ० राजवंश सहाय हीरा
संस्कृत हिन्दी कोश—वामन शिवराम आप्टे